जीवन
के
सम-विषम पथ पर
निरन्तर अग्रसर
आदरणीय अग्रज
श्री नन्दकिशोरसिंह यादव
के
कर-कमलों में सादर समर्पित

प्राक्कथन

मैंने 'प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति' को आद्योपान्त पढा है। मुझे प्रसन्नता है कि लेखकों ने पुस्तक के लिखने मे सचमुच परिश्रम किया है। विद्यार्थियो के लिए आवश्यक सम्पूर्ण सामग्री एक स्थान पर एकत्र तो कर ही दी गई है। किन्तु विशेषता यह है कि विषय वस्तु को बडे ही सुव्यवस्थित ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। पढने पर प्राचीन भारतीय संस्कृति और कला का सजीव चित्र पाठक के सामने उपस्थित हो जाता है। लेखको ने केवल सकलन का काम नही किया है। उनका अपना दृष्टिकोण भी है। मुझे प्रसन्नता है कि उन्होने उसे छिपाया नही है, बल्कि निर्भीकता के साथ उसको स्पष्ट किया है।

पुस्तक की शैली और भाषा सरल तथा सुबोध है। मुझे आशा है कि विद्यार्थियो को इससे अवश्य लाभ होगा, साथ ही साथ उन्हे प्राचीन भारतीय संस्कृति का अधिक गम्भीर अध्ययन करने की प्रेरणा भी मिलेगी।

आगरा कालेज,
आगरा
दिनांक १४ ३ ६८

डा० सत्यनारायण दुबे
एम० ए० (इतिहास राजनीति),
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीति शास्त्र विभाग

द्वितीय सस्करण की भूमिका

प्राचीन भारतीय कला एव सस्कृति" का सशोधित तथा परिवर्द्धित द्वितीय सस्करण पाठको के कर-कमलो म समर्पित करते हुए हमे विशेष हर्ष हो रहा है। जिस समय यह ग्र थ प्रकाशित हुआ था हम आशा नही थी कि इसका इतना आदर तथा सत्कार होगा। इसे सस्कृत विभाग के एम० ए० तथा बी० ए० इतिहास के पाठयक्रम म निर्धारित कर अनेक विश्वविद्यालयो ने गुण ग्राहकता का परिचय दिया है।

उत्तर प्रदेशीय सरकार से भी इसे पुरस्कृत होने का गौरव प्राप्त हुआ है। हम इस गुण ग्राहकता के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयो एव उत्तरप्रदेशीय सरकार के आभारी हैं।

इस पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए परमादरणीय श्री परमान द जी भूतपूर्व सचिव शिक्षा परिषद् उत्तरप्रदेश तथा डा० ओमप्रकाश, इतिहास विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अनेक सुझाव प्राप्त हुए है। तदर्थ हम उनके हृदय से आभारी हैं।

इस नवीन सस्करण मे ग्र थ का यथास्थान सशोधन एव परिवद्धन किया गया है। अत विश्वास है कि यह और भी अधिक उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध होगा।

गगा दशहरा
सवत् २०२८

लेखक

निवेदन

अपने राष्ट्र की संस्कृति से परिचय प्राप्त करना परम आवश्यक है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के ज्ञान के बिना किसी राष्ट्र के नवयुवक की शिक्षा-दीक्षा सर्वथा अपूर्ण रहती है, जब तक उसके ज्ञान विज्ञान पर उसकी संस्कृति का वरदहस्त नहीं होगा, तब तक वह अपने देश के धर्म, दर्शन एवं ऐतिहासिक ज्ञान से सर्वथा अपरिचित ही रहेगा। अतः संस्कृति का अध्ययन अध्यापन नितांत अपरिहार्य है।

किसी राष्ट्र की संस्कृति अपने धर्म, दर्शन कला एवं मानसिक चिन्तन के स्वरूप को व्यक्त करती है। मानव जिस रूप में अपने धर्म का विकास करता है, दर्शनशास्त्र के रूप में चिन्तन करता है, साहित्य एवं कला का जिस प्रकार सृजन करता है और अपने समष्टिगत जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए शासन प्रबन्ध और आर्थिक स्थिति को विकसित करता है, उन सबका समावेश संस्कृति' में होता है।'

प्राचीन भारत की कला एवं संस्कृति" पुस्तक का सृजन विश्वविद्यालयों में स्वीकृत पाठ्यक्रम की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया है। इसमें सिंधु, वैदिक, रामायण-महाभारत मौर्य शुङ्ग सातवाहन, कुषाण शक और गुप्त युग की सांस्कृतिक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है इसके साथ ही भारतीय धर्म, दर्शन, शिक्षा-संस्थायें संस्कार, वर्ण व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था एवं पर्व-पर्व आदि पर भी विस्तार से विचार किया गया है। इस पुस्तक का विशिष्ट अंश है—प्राचीन भारत (गुप्तयुग तक) की कला (वास्तु मूर्ति एवं चित्र) के ऐतिहासिक विकास का सर्वेक्षण, पूर्व मौर्य युग, मौर्ययुग शुङ्ग-सातवाहन, कुषाण तथा गुप्तयुग की कला का विस्तृत विवेचन। इस विवेचन में भारतीय दृष्टिकोण को महत्त्व देते हुए भी तत्सम्बन्धी पाश्चात्य विचारों का भी ध्यान रखा गया है।

भारतीय संस्कृति पर भारतीय तथा पाश्चात्य अनेक विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है, इसलिए अनेक ग्रन्थ भी मिलते हैं, किन्तु अधिकांश ग्रन्थ या तो अंग्रेजी भाषा में हैं अथवा ऐतिहासिक महत्त्व के हैं जिनमें राजनीतिक घटनाओं को महत्त्व प्राप्त है अथवा वे इतने विस्तृत हैं कि छात्र अपने उपयोग की सामग्री की खोज में भटक कर रह जाता है, परिणामतः यह विषय छात्रों को विषम रूप में भयावह बनकर भारतीय कला और संस्कृति के अध्ययन से विमुख करता रहा है। पाठकों की इन समस्त असुविधाओं को इस पुस्तक में दूर किया गया है।

इस पुस्तक की रचना म लेखको ने अनेक विद्वाना के ऐतिहासिक महत्त्वपूण अध्ययन का पूरा-पूरा लाभ उठाने की चेष्टा की है। इसके लिए हम उन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता पूवक अपना आभार व्यक्त करते हैं। यह विषय ही ऐसा है, जिसम 'मौलिकता एव क्रांतिकारी गवेषणा' करने की घोषणा नहीं की जा सकती है, फिर भी जो कुछ किया ह वह सस्कृति के पाठको को लाभ दे सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास ह।

हम प्राक्कथन के लेखक श्रद्धेय डा० सत्यनारायण जी दुबे के विशेष आभारी हैं, क्योंकि उन्होने अपने बहुमूल्य समय म पुस्तक को पढकर हमारे उत्साह को द्विगुणित किया है।

पुस्तक के विषय म सत्परामश सादर आमंत्रित है।

१४ माच, १९६८
गोकुलपुरा,
आगरा।

—लेखक द्वय

विषय सूची

द्वितीय खण्ड सस्कृति

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

ततीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

1

विषय-प्रवेश

- सस्कृति, इतिहास एव कला
- इतिहास जानने के साधन
- भारत के भूगोल का उसके सास्कृतिक इतिहास पर प्रभाव

सस्कृति, इतिहास एव कला

सास्कृतिक इतिहास का महत्व स्वयसिद्ध है। सस्कृति किसी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की धरोहर होती है। सस्कृति के वरदहस्त से अनुप्राणित राष्ट्र निरन्तर प्रगति के पथ को प्रशस्त करते हैं। अत सस्कृति के इतिहास को प्रस्तुत करने वाले तत्व निश्चय ही महान् होते हैं।

सस्कृति आन्तरिक वस्तु है। इसके अन्तगत मनुष्य के आचार विचार, उसके जीवन-मूल्य, उसकी नतिकता, सस्कार, आदश, शिक्षा, धम, साहित्य और कला का समावेश होता है, अत सस्कृति एक व्यापक तत्व है। निश्चय ही सस्कृति मानव की साधना की सर्वोत्तम परिणति है। इस सर्वोत्तम परिणति का ज्ञान इतिहास स होता है अत इतिहास एव सस्कृति का अभेद-सम्बध है।

इतिहास और सस्कृति का ज्ञान साहित्य एव कला से होता है। अत सस्कृति एव कला का सम्बध भी निकट का है। इसीलिए भारतीय-सस्कृति मे वैदिक-साहित्य, रामायण, महाभारत आदि का महत्व अक्षुण्ण है। केवल इन ग्रथो का ही महत्व अक्षुण्ण नही है, इनके अतिरिक्त सास्कृतिक थाती को शाश्वत रखने वाली भारतीय कलाओ का भी मूल्य अपूव है। क्योंकि, प्राचीन सास्कृतिक परम्पराओ की निर्णायक निधि तो कला के कोष म ही समाहित है। कला की भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होती है। हम किसी देश की भाषा से अपरिचित हो सकते हैं किन्तु किसी देश की, किसी काल की, कोई भी कला-कृति विश्व के किसी भी व्यक्ति के सिर पर चढ कर अपनी कथा सुना सकती है। हम उसके सदेश को हृदयगम कर सकते हैं।

कलाकार के मनोभावों में साधारणीकरण कर सकते हैं। इन कलाओं में किसी भी देश की संस्कृति को मूर्तरूप में देख सकते हैं। इस दृष्टि से भारत का उत्तरदायित्व विशेष है क्योंकि भारत में ही अतीत का अपनी परम्पराओं का मूल्य विशिष्ट है, अतः उसके अध्ययन के लिए भारतीय कला और संस्कृति के अध्ययन की ओर रुचि का होना भी सिद्ध है।

भारत की आध्यात्मिकता भारत का धर्म, और उसका जीवन-दर्शन भारत की प्राचीन कला में मूर्त है। भारतीय कलाकार के स्वप्न में, उसकी दृष्टि में भारत की सामाजिक परम्परा और सांस्कृतिक विरासत के स्वर विराजमान हो उठे हैं। अतः इन कलाओं का अध्ययन सांस्कृतिक अध्ययन के लिए परम अभीष्ट है।

किसी भी संस्कृति एवं सभ्यता की स्थायी सफलता उसकी कला में निहित रहती है। सामाजिक आदर्श आर्थिक वैभव और धर्म के रूप बदल सकते हैं, साम्राज्य बदल सकते हैं किन्तु कला में उनकी अमूल्य निधियाँ सुरक्षित रहती हैं जिनसे हम सांस्कृतिक-तत्त्व मिल जाते हैं। भारतीय कला सदा से ही धार्मिक सत्य और नैतिक आदर्शों की संवाहिका रही है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'कला व्यक्ति की चिरस्थायी कीर्ति और संस्कृति की अनश्वर निधि ही नहीं अपितु उसकी प्रमुख प्रेरणा भी है। कला स्फूर्ति देती है प्रोत्साहित तथा शिक्षित भी करती है। कला एक-सूत्र में बाँधने वाली महान् शक्ति है। उसकी छाप जन-जीवन पर सदा व्याप्त रहती है।'[1] निश्चय ही कला राष्ट्रीय चेतना की महत्तम प्रतीक है। राष्ट्र की कला जन-जीवन से प्रेरणा प्राप्त करती है और उसे जीवन्त बनाती है। अतः हमारा विचार है कि भारत की सांस्कृतिक निधि की खोज के लिए यहाँ कला का इतिहास इतिहास के जानने के साधन तथा इतिहास और भूगोल का सम्बन्ध आदि का अध्ययन अपेक्षित है। इस प्राचीन भारतीय कला और संस्कृति नामक ग्रन्थ में इन्हीं तत्त्वों पर विचार किया गया है।

इतिहास जानने के साधन

इतिहास शब्द की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने मतानुसार की है। एक ओर नेपोलियन ने लिखा है "इतिहास सर्वसम्मत कपोल कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" तो दूसरी ओर एच० जी० वेल्स महोदय कहते हैं "मानव इतिहास सारतः विचारों का इतिहास है। डा० जी० जी० गोखले के शब्दों में हम कह सकते हैं 'चूंकि इतिहास उन बातों का वृत्तान्त होता है जो भूतकाल में

---

[1] डा० मुकर्जी : द सोसल फंक्शन्स ऑफ आर्ट, पृ० xvii

Art is thus not only the enduring glory of the individual and the imperishable record of culture but it is also its principal impulsion Art inspires exhorts and educates Art is the great binder, the ubiquitous seal of the community life and action

हुई हो इसलिए मूलत महत्वपूण तथ्यो को चुनकर अतीत का पुनर्निर्माण करने को ही इतिहास कहते हैं।"

उपयुक्त परिभाषाओ से स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास भूतकाल का अध्ययन है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास अत्यन्त गौरव मण्डित होते हुए भी शृङ्खलाबद्ध रूप मे प्राप्त नही है। उससे अवगत होने के लिए हमे इधर उधर बिखरी हुई सामग्रियो का सहारा लेना पडता है। सम्भवत हमारे पूवज इतिहास के महत्व को समझते नही थे और अपने काल की प्रमुख घटनाओ को लिपिबद्ध करने की ओर उनका ध्यान नही रहता था। वे सदव पारलौकिक विषयों के चितन मे लीन रहते थे और लौकिक विषयो को उपेक्षणीय समझते थे। इसीलिए डब्लू० डी० ह्विटने ने लिखा है कि "भारतीय साहित्य के इतिहास म दी हुई सारी तिथियाँ कागज मे लगाई गई उन पिनो के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं।" प्राचीन भारत मे कोइ महत्वपूण और स्मरणीय घटना नही घटी, ऐसा कहना अनुचित होगा। सच तो यह है कि भारत का अतीत वीरता और पराक्रम के कार्यों से ओतप्रोत है तथा राजवशो का उसम समय समय पर उत्थान पतन हुआ है। क्या साहित्य, क्या विज्ञान, क्या धम और क्या कला कौशल सभी दृष्टियो से भारत विश्व के अन्य राष्ट्रो का पथ प्रदशक था[1] और अपनी समृद्धि के कारण 'सोने की चिडिया' के नाम से विख्यात था। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओ को लिपिबद्ध करने म भारतीयो की उदासीनता रही। इस उदासीनता का उल्लेख करते हुए अरबी यात्री अल्बरूनी ने लिखा है कि, 'दुर्भाग्यवश भारतीय इतिहास की ओर अधिक ध्यान नही देते हैं। ऐतिहासिक विवरणो के सग्रह म व अत्यन्त उदासीन रहे हैं। ऐतिहासिक सूचनाएँ देने के लिए उन्ह बाध्य किया गया तो वे किंकतव्यविमूढ होकर खडे रह गये। वस्तुत भारतवासी 'क्या लिखा गया है' की ओर अधिक ध्यान देते रहे हैं, किसने लिखा', 'कब लिखा' क्यो लिखा की जानकारी से उन्ह विशेष प्रयोजन नही रहता है।" परिणामस्वरूप भारतवष के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे हम अन्धकार मे हैं। क्रमबद्ध और सुसगठित रूप म हमे प्राचीन भारत का इतिहास नही मिलता है। इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उस काल के शिलालेख, सिक्के, इमारतें, ऐतिहासिक व अनतिहासिक ग्रन्थ तथा विदेशी यात्रियो के विवरणो का सम्बल ग्रहण करना पडता है। एल्फिस्टन आदि इतिहासकारो के मतानुसार ये साधन अत्यन्त स्वल्प हैं और इनके द्वारा प्राचीन भारत के इतिहास का साङ्गोपाङ्ग वणन नही हो सकता है। अस्तु इन्ही सामग्रियो के आधार पर हम प्राचीन भारत के इतिहास का विवरण जान सकते हैं। वज्ञानिक ऐतिहासिक ग्रन्थो के अभाव मे प्राचीन भारत के

---

[1] मनुस्मृति एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन पृथिव्या सवमानवा ॥

सम्बन्ध में निर्णय निकालना अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है और आज के इतिहासकार को उसके लिए बड़े ही विवेक, धैर्य और परिश्रम की आवश्यकता है।

प्राचीन भारत के इतिहास का परिज्ञान हम जिन सामग्रियों के आधार पर होता है वे दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—साहित्यिक तथा पुरातत्व विषयक। साहित्यिक कृतियाँ भी दो प्रकार की हैं—भारतीय तथा अभारतीय। पुरातत्व सामग्री में शिलालेख, सिक्के, इमारतें तथा खुदाई में प्राप्त अन्य वस्तुएँ आती हैं। अब हम इन सबका विस्तार से अध्ययन करेंगे।

साहित्यिक सामग्री—प्राचीन भारत के इतिहास का ज्ञान कराने वाली साहित्यिक सामग्री के अन्तर्गत ऐतिहासिक और अनैतिहासिक दोनों प्रकार के ग्रन्थ आते हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थ वे हैं जिन्हें लौकिक ग्रन्थ भी कहा जा सकता है तथा अनैतिहासिक ग्रन्थों के अन्तर्गत हम धार्मिक साहित्य की गणना कर सकते हैं।

अनैतिहासिक अथवा धार्मिक ग्रन्थ—भारत का प्राचीनतम साहित्य सर्वथा धार्मिक होते हुए भी ऐतिहासिकता से नितान्त शून्य नहीं है। विद्वानों ने अत्यन्त श्रमपूर्वक उसमें से इतिहास के कणों का संचय किया है। धार्मिक साहित्य को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(क) ब्राह्मण साहित्य, (ख) बौद्ध साहित्य, और (ग) जैन साहित्य।

(क) **ब्राह्मण साहित्य**—ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। यद्यपि ये मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थ हैं किन्तु तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद से आर्यों की भारत में स्थिति उनके आन्तरिक संघर्ष और आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्धों आदि विषयों पर सामग्री उपलब्ध होती है। चारों वेदों में ऋग्वेद ही सबसे अधिक प्राचीन है और यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इसके पश्चात आते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का सविस्तार वर्णन, वैदिक मन्त्रों का प्रयोग तथा उनकी व्याख्या मिलती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय, पंचविंश, शतपथ, तैत्तिरीय आदि प्रमुख हैं। उपनिषदों में बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य आदि महत्वपूर्ण हैं।

वैदिक साहित्य के पश्चात सूत्र-साहित्य आता है। सूत्रों के कल्प-सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र नामक तीन विभाग हैं। कल्प-सूत्रों में वैदिक यज्ञों का शास्त्रीय विवरण है। गृह्य-सूत्र में गृहस्थ से सम्बन्ध रखने वाले संस्कारों और यज्ञों आदि का वर्णन है। धर्म-सूत्रों में सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक व्यवस्था दी हुई है। वेदांगों को सूत्र साहित्य के साथ-साथ लिया जा सकता है। वेदांग छः हैं— शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष।

सूत्र-साहित्य के पश्चात रामायण और महाभारत महाकाव्य आते हैं। रामायण के रचयिता वाल्मीकि थे और महाभारत की रचना व्यास ने की थी। डा०

रमाशकर त्रिपाठी का इन महाकाव्यो के सम्बन्ध मे मत है, "इसम सन्देह नही कि इन प्रबन्ध काव्यो म भारत की तात्कालिक धार्मिक और सामाजिक स्थितिया का रुचिकर सग्रह हुआ है। परन्तु राजनीतिक घटनाओ के क्रमबद्ध इतिहास के रूप म ये नितान्त असन्तोषप्रद हैं। तिथिपरक विकृतियो और कल्पित कथाओ से तो ये काफी भरे हैं।"[1]

रामायण और महाभारत के अनन्तर पुराणो का नाम लिया जा सकता है। पुराणो की सख्या १८ है। साधारणत उनके वर्णित विषय पाच प्रकार के हैं— (१) सर्ग (आदि सृष्टि), २ प्रतिसर्ग (प्रलय के अनन्तर पुन सृष्टि), ३ वश (देवताओ और ऋषियो की वशावली) ४ मन्वन्तर(कल्पो के महायुग), ५ वशानुचरित (प्राचीन राजकुला का इतिवृत्त)। यद्यपि पुराणो मे अनेकों भूलें और अशुद्धिया हैं तथापि उनके महत्व की उपेक्षा नही की जा सकती है। डा० स्मिथ का मत है कि यदि पुराणो को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो बहुत सी अच्छी एव मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती है। डा० त्रिपाठी ने भी पुराणो को अन्धकूप म आलोक रश्मि का काम करने वाला बताया है।

(ख) बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य के अन्तगत सर्वप्रथम स्थान जातक कथाओ का है। भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की काल्पनिक कथाएँ ही यद्यपि इसम सगृहीत हैं। किन्तु तत्कालीन समाज का सुन्दर चित्र हम इनमे प्राप्त होता है। इसके पश्चात् त्रिपिटक ग्रन्थ आते हैं—सुत्त पिटक अभिधम्म पिटक और विनय पिटक। ये ग्रन्थ पालि भाषा म है। इनम भगवान बुद्ध के वचना और सिद्धान्ता का सग्रह है। पालि क अतिरिक्त सस्कृत म भी बौद्ध ग्रन्थ मिलते है और इन ग्रन्थो के नाम महावस्तु ललित विस्तर, बुद्धचरित, दिव्यावदान लकावतार आदि है।

(ग) जैन साहित्य—जैन साहित्य अर्धमागधी भाषा म है और परिमाण म भी अत्यन्त स्वल्प है। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा लिखित परिशिष्ट पर्वन ग्रन्थ' बहुत प्रसिद्ध है। भद्रबाहु चरित नामक ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ—प्राचीन भारत का इतिहास जानने म हमे जिन ऐतिहासिक ग्रन्था से सहायता मिलती है उनम कल्हण की 'राजतरगिणी' सबसे महत्त्वपूर्ण है। डा० रमाशकर त्रिपाठी ने लिखा है, 'सस्कृत साहित्य म कल्हण की राजतरगिणी एकमात्र ग्रन्थ है जिसे हम अपने अर्थ म इतिहास का निकटतम प्रयास कह सकते हैं।"[2] इस ग्रन्थ म प्राचीन काल से १२वी शताब्दी तक का काश्मीर का इतिहास है। कल्हण का यह ग्रन्थ अपने रचनाकाल के कुछ पूर्व तक की शताब्दियो के सम्बन्ध म तो प्रामाणिक सामग्री प्रदान करता है परन्तु अत्यन्त प्राचीन काल की घटनाओ के

---

[1] डा० रमाशकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३

[2] वही, पृ० ४

सम्बन्ध म प्रामाणिक नही है। इन ग्रन्थ के एतिहासिक आधार सुव्रत, क्षेमेन्द्र हेला राज, पद्ममिहिर नीतमुनि आदि की रचनाएँ तथा राजकीय शासन पत्र व प्रशस्तियाँ है। कल्हण की राजतरंगिणी के अतिरिक्त प्राचीन काल के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ है— बाण का 'हर्षचरित', सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित', आनन्दभट्ट का 'वल्लाल चरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसाङ्कचरित' विल्हण का 'विक्रमांकदेव चरित', सोमेश्वर की 'कीर्ति कौमुदी' तथा जयानक का 'पृथ्वीराज विजय'। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का महत्व भी कम नही है। उससे मौर्य वंश के शासन प्रबन्ध का पता चलता है। यही नही प्राचीन काल के 'मुद्राराक्षस' तथा 'शकुन्तला' आदि नाटक भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था व रीतिरिवाजो के परिचायक हैं। हर्ष रचित नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटक भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व रखते हैं।

अभारतीय साहित्य—प्राचीन भारत के इतिहास जानने के साधन के रूप में अभारतीय साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके *अन्तर्गत विदेशी यात्रियों और* लेखको के वर्णन आते है। ग्रीक, रोमन, चीनी, तिब्बती और मुस्लिम यात्री समय समय पर भारत आये और उन्होंने यहाँ का विवरण लिखा है। प्राचीनतम लेखक है हेरोडोटस जो कि ग्रीक लेखक था और उसने पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के भारतीय सीमा प्रान्त और हखमी साम्राज्य के राजनीतिक सम्पर्क का वर्णन किया है। ईरान के सम्राट आर्टजेरेक्सस मेमन के राजवैद्य टेशियस ने भी भारत के सम्बन्ध में वर्णन किया है। सिकन्दर के नियार्कस अरिस्टोबुलस आदि साथियो ने भी भारत के सम्बन्ध म लेख लिखे। *यद्यपि आज वे विवरण उपलब्ध नहीं है किन्तु इनका उल्लेख परवर्ती* लेखको ने किया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय म मेगास्थनीज यूनानी राजदूत के रूप म भारत आया और दस वर्षों तक यहाँ रहा। अपनी पुस्तक 'इण्डिका' म उसने भारतीय जन-जीवन का विवेचन किया। दुर्भाग्यवश यह पुस्तक तो लुप्त हो गई है किन्तु प्राचीन यूनानी लेखको की रचनाओ म इसके उद्धरण मिलते है। टालेमी का भूगोल प्राचीन भारतीय व्यापार और भूगोल पर प्रकाश डालता है। प्लिनी की 'नेचुरल हिस्ट्री' भी हमारे लिए उपयोगी पुस्तक है।

ग्रीक और रोमन यात्रियो के पश्चात् चीनी यात्रियो का स्थान है। चीन म बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण भारत और चीन के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इसलिए चीन के अनेक बौद्ध-यात्री समय समय पर भारत आये। उनका उद्देश्य तीर्थाटन और बौद्ध साहित्य का अनुशीलन रहता था। फाह्यान ह्वेनसांग और ईत्सिंग नामक चीनी यात्रियो के नाम हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बी०जी० गोखले ने लिखा है 'इन तीनो चीनी यात्रियो ने अपनी यात्राओ के रोचक वृत्तान्त लिखे हैं जिनमे उन्होने हमारे देशवासियो के रीति रिवाजो के बारे मे, उस देश के निवासियो के रीति रिवाजो के बारे म जहाँ वे बौद्ध धर्म ग्रन्थो की खोज मे

ये थे अपने अवलोकन अंकित किये हैं।"[1] ऐतिहासिक दृष्टि से ह्वेनसांग के विवरण इसे महत्वपूर्ण हैं क्योंकि फाह्यान और इत्सिग ने बौद्धमत के प्रति इतनी आसक्ति कि उन्होंने तत्कालीन घटनाओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया। फाह्यान के समय भारतवर्ष पर महान प्रतापी नरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था किन्तु उसने उनका कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है। जबकि ह्वेनसांग ने तात्कालिक शासक हर्षवर्धन के सम्बन्ध की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है। नालन्दा के विश्वविद्यालय में भी वह कुछ समय तक रहा था और उसके सम्बन्ध में भी उसने वर्णन किया है।

मुस्लिम पर्यटकों के ऐतिहासिक महत्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनमें सर्वप्रथम महत्वपूर्ण स्थान अल्बरूनी का है जिसने अपने तहकीकए हिन्द नामक पुस्तक में भारत के जन जीवन का उल्लेख किया है। यह यात्री महमूद गजनवी के समय में भारत आया था और १०३० ई० में उसने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। अन्य मुस्लिम ग्रन्थों में अल इस्तखरी का 'किताब उल अकालून', अल उतबी का तारीखए-यमीनी', निजामुद्दीन का तबकात एअकबरी' आदि मुख्य हैं।

पुरातत्व विषयक सामग्री—प्राचीन भारत के इतिहास को जानने में पुरातत्व विषयक सामग्री महत्वपूर्ण योगदान देती है। अभिलेख, सिक्के तथा इमारतें इसके अन्तर्गत आते हैं।

अभिलेख—अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है। इतिहास के अनेक युग तो इन्हीं के कारण अन्धकार से आलोक में आये हैं। ये अभिलेख शिलाओं, प्रस्तर खण्डों, स्तम्भों तथा धातुपत्रों पर खुदे हुए मिलते है। अधिकतर अभिलेख ब्राह्मी लिपि में हैं किन्तु कुछ खरोष्ठी लिपि में भी हैं। ब्राह्मी लिपि बाइं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती है और खरोष्ठी दाहिनी ओर से बाइं ओर को लिखी जाती है। ये अभिलेख दान अथवा विजय के स्मारक रूप में खुदवाये गए हैं। सम्राट अशोक ने जनता को उपदेश अभिलेखों पर खुदवाये हैं। इलाहाबाद में स्थित अशोक की लाट पर समुद्रगुप्त का राज्य विस्तार खुदा हुआ है। तिथियों की स्थापना तथा प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में इन अभिलेखों का महत्व असंदिग्ध है। खारवेल और समुद्रगुप्त के सदृश शक्तिशाली सम्राटों की कीर्ति भी इनके अभाव में अंधकार में रह जाती।

सिक्के—प्राचीन भारत का इतिहास जानने में सिक्के भी महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुए हैं। सिक्के सोना, चाँदी ताँबा तथा मिश्रित धातुओं के प्राप्त हुए हैं तथा इन पर लक्ष्य व चिन्ह आदि खुदे हुए हैं। जिन सिक्कों पर तिथियाँ भी हैं, वे इतिहास के निर्माण तथा इतिहास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का महत्वपूर्ण

---

[1] प्राचीन भारत, पृ० ६

पन है। बहुत पुराने सिक्कों पर चिह्न मात्र अंकित है किन्तु मौर्यकाल के परवर्ती सिक्कों पर शासकों के नाम, उनकी उपाधियाँ व मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं। राजाओं की वंशावली और तिथिक्रम के निर्धारण में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। सिकन्दर के अलावा यूनानी, हिन्द-शक और हिन्द-यूनानी शासकों के सम्बन्ध में साहित्य द्वारा हमें कोई सामग्री नहीं प्राप्त होती। इस सम्बन्ध में सारी जानकारी सिक्कों द्वारा ही मिली है। कनिष्क के सिक्कों से पता चलता है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। समुद्रगुप्त के बहुत से सिक्कों पर वह वीणा बजाता दिखाया गया है जिससे पता चलता है कि वह संगीत कला का प्रेमी था। [illegible] तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पराक्रमपूर्ण कार्यों का पता भी सिक्कों पर खुदे लेखों से होता है। जिस सम्राट के सिक्के जिस स्थान पर प्राप्त होते हैं वह स्थान उसके अधिकार में होगा यह बात भी सिक्कों की प्राप्ति से स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इस सम्बन्ध में सतर्क होकर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए क्योंकि कभी-कभी भ्रम हो जाने की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में रोमन सिक्कों के पाये जाने का यह अर्थ नहीं है कि दक्षिण भारत पर रोमन साम्राज्य का प्रभुत्व था। ये रोमन सिक्के तो केवल इसलिए वहाँ आये क्योंकि दक्षिण भारत का रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और भारत के गरम मसाले और विलास सामग्रियों के बदले ये सिक्के भारत आये।

इमारतें तथा खुदाई से प्राप्त अन्य वस्तुएँ—प्राचीन भारत का इतिहास जानने की पुरातत्व विषयक सामग्री के अन्तर्गत इमारतें तथा खुदाई से प्राप्त अन्य वस्तुएँ भी आती हैं। प्राचीन भग्नावशेष उस पुरातन युग की सभ्यता और संस्कृति की कथा सुनाते हैं। साँची, भरहुत, अजन्ता, एलोरा, महाबलिपुरम, नासिक और कार्ले के स्मारक इतिहास जानने का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। मन्दिर, स्तूप और विहार हमें यह बतलाते हैं कि उस युग में राजा और प्रजा किस धर्म के अनुयायी थे, सम्राट की धार्मिक नीति कैसी थी और वास्तु कला की कौन कौन सी शैलियाँ प्रचलित थीं। जावा, कम्बोडिया आदि द्वीपों में प्राप्त मन्दिर और मूर्तियाँ यह सिद्ध करते हैं कि भारतीयों ने वहाँ अपने उपनिवेश बसाकर अपनी संस्कृति को फैलाया था। पुरातत्व वेत्ता प्राचीन भग्नावशेषों के द्वारा विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं और प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जानकारी अर्जित करते हैं। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, मलाया, बोर्नियो आदि विविध द्वीपों में भारतीयों के स्मारक पाये गये हैं जो कि हमारी सभ्यता के वहाँ फैले होने के प्रमाण हैं। प्रागैतिहासिक भारत का सारा इतिहास ही इन भग्नावशेषों के आधार पर लिखा गया है। सिन्धु घाटी की सभ्यता का परिचय हम मोहनजोदडो तथा हडप्पा की खुदाइयों से प्राप्त होता है। विशाल स्नानागार, पक्की ईंटों के मकान, अन्य इमारतें, नालियाँ, मुहरें, आभूषण, बर्तन आदि यह प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन काल में वहाँ सभ्यता विद्यमान थी।

प्राचीन भवन और मन्दिर भी हमारे ऐतिहासिक ज्ञान को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। अजन्ता एलोरा की गुफाओं की चित्रकारी, देवगढ़ का पत्थर का मन्दिर, कानपुर जिले में भीतर गाँव का ईंटों का मन्दिर, नालंदा की बुद्ध की ताम्र प्रतिमा आदि गुप्त युग की कला के चरमोत्कर्ष के प्रतीक हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इमारतें, मूर्तियां और चित्र इतिहास जानने के महत्वपूर्ण साधन हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन भारत का इतिहास जानने के साधन अत्यन्त स्वल्प हैं। फिर भी इन स्रोतों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिलेखों और सिक्कों का महत्व सर्वाधिक है। यद्यपि अभिलेखों में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति का दोष है और वे अपने सम्पूर्ण रूप में मिलते भी नहीं हैं, किन्तु जो भी हैं हमारे ऐतिहासिक ज्ञान को सुदृढ़ बनाते हैं। विदेशी यात्रियों के विवरण भी महत्वपूर्ण सामग्री हैं और प्रायः विश्वसनीय भी हैं। शेष साहित्यिक सामग्री इतिहास का ज्ञान प्राप्त करते समय अत्यन्त सतर्क भाव से काम में लेनी चाहिए। पुराणों की रचना ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से की गयी है। दीपवंश तथा महावंश आदि पालि ग्रंथों में बौद्धों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टि है। ऋग्वेद में तत्कालीन घटनाओं का उल्लेख है परन्तु अत्यन्त ही स्वल्प मात्रा में। इस प्रकार इतिहास जानने के ये साधन परिमाण में कम तो हैं किन्तु फिर भी इनके आधार पर ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। आवश्यकता है श्रम, विवेक और अध्यवसाय की। जैसा कि डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है "इतिहासकार को आकर श्रमिक की भांति शूल और फावड़े से काम लेना है। उसके शूल और फावड़े अध्यवसाय और सतर्क धारणा हैं। इन्हीं की सहायता से वह अतिरंजन और अलंकार के शब्दजाल से रहित इतिहास स्वर्ण हस्तगत कर सकता है।"[1]

भारत के भूगोल का उसके सांस्कृतिक इतिहास पर प्रभाव

प्रत्येक देश का इतिहास वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों की उपज होता है। भौगोलिक अवस्था ही इतिहास की रूपरेखा निर्मित करती है। प्राकृतिक परिस्थितियाँ, जलवायु भूमि की खनिज शक्ति आदि देश की राजनीतिक, समाज, धर्म और व्यवस्था को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। भारत का इतिहास भी इस सत्य का अपवाद नहीं है। हमारे देश के भूगोल ने उसके इतिहास पर अपना अमिट प्रभाव डाला है जिसे समझने के लिए देश की प्राकृतिक बनावट पर एक सम्यक दृष्टिपात वाञ्छनीय है।

विशाल भारत भूमि को प्राकृतिक बनावट के आधार पर चार भागों में बाँटा जा सकता है—

---

[1] डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ९

१ उत्तरी सीमा,
२ उत्तरी मैदान,
३ विन्ध्याचल और दक्षिण पठार, तथा
४ तटवर्तीय मैदान।

१ उत्तरी सीमा—हमारे देश के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक हिमालय पर्वत तथा अन्य पर्वत श्रेणियाँ फैली हुई हैं जिनकी लम्बाई लगभग २ हजार मील एवं चौड़ाई २०० मील है। यह हिमालय पर्वत एक सुदृढ़ प्राचीर की भांति स्थित है और बाह्य आक्रमणों से हमारे देश की रक्षा करता है। उत्तर से आने वाली ठण्डी हवाओं को भी यह रोकता है तथा समुद्र में उठने वाली मानसूनी हवाओं को रोककर देश में पानी बरसाता है। इसी हिमालय पर्वत से उत्तरी भारत को सींचने वाली नदियाँ निकली हैं। भारत के राजनीतिक जीवन पर भी हिमालय का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। उत्तर में एक अडिग प्रहरी की भाँति अवस्थित यह पर्वत बाह्य आक्रमणकारियों के लिए रुकावट उपस्थित करता है। किन्तु इसमें कुछ दर्रे हैं जिनसे होकर आक्रमणकारी देश में घुसे और उन्होंने देश की शान्ति को भंग किया। ये दर्रे भारत और विदेशों के मध्य सम्पर्क का माध्यम बने। विदेशी जातियाँ इनमें प्रविष्ट होकर भारत आईं और यहाँ की संस्कृति में विलीन हो गईं। तिब्बत, चीन आदि के निवासी इन्हीं दर्रों से भारत आये। भारत के धर्म और साहित्य को भी इन पर्वत श्रेणियों ने प्रभावित किया। इसकी गगनचुम्बी चोटियों और गहरी कन्दराओं ने विचारकों और योगियों को जीवन और जगत सम्बन्धी प्रश्नों पर चिन्तन मनन करने के लिए उत्साहित किया। भारत के सांस्कृतिक जीवन पर देश की उत्तरी सीमा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

२ उत्तरी मैदान—हिमालय पर्वत के नीचे गंगा सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियों के मैदान हैं। इन नदियों के तट पर बड़े-बड़े नगरों की नींव पड़ी और ये नगर सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्र बने। बनारस सारनाथ, पटना आदि नगर गंगा तट पर स्थित हैं। भारत का प्रमुख व्यावसायिक नगर कानपुर भी गंगा के तट पर है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर लखनऊ गंगा की सहायक नदी गोमती के तट पर स्थित है। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियों के मैदानों ने भी भारत के सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया है। सिन्धु घाटी की खुदाई ने इतिहास के ग्रंथ में एक नवीन अध्याय जोड़ा है और हमें यह सिद्ध करके चमत्कृत कर दिया है कि आर्य सभ्यता के पूर्व भी भारत उन्नति के उच्च शिखर पर आसीन था।

उत्तरी भारत के मैदान के निवासियों को निरन्तर नदियों के जल से सिंचित होने के कारण अत्यन्त उपजाऊ भूमि मिली। इस कारण उन्हें अपना पेट भरने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा और वे कला, साहित्य, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में प्रगति-पथ पर अग्रसर हुए।

उत्तरी भारत के मैदानो के अन्तगत मालवा और राजपूताना आदि हैं। राजपूताने मे वर्षा कम होती है तथा नदियाँ भी नही हैं। इन रेगिस्तानी इलाको म जनसख्या कम है और अपना पेट भरने के लिए मनुष्यो को कठोर श्रम करना पडता है। फलत वीरता और साहस उनम कूट कूट कर भर गया है। यही कारण है कि भारत पर मुसलमानी प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर भी यहाँ के निवासियो ने उनका डटकर सामना किया।

३ विन्ध्याचल और दक्षिणी पठार—भारत के ठीक मध्य म विन्ध्याचल और सतपुडा पवत हैं जो कि पश्चिम म अरबसागर से पूव मे बगाल की खाडी तक फले हुए हैं। ये पवत, सघन वन प्रान्त एव नवदा व ताप्ती नदियाँ उत्तरी भारत को दक्षिणी भारत से विभक्त किये हुए हैं। इन्ही के परिणामस्वरूप उत्तरी भारत के शासक दक्षिण भारत पर अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित करन मे असमथ रहे। उत्तरी और दक्षिणी भारत के रीति रिवाज और मान्यताएँ भी एक दूसरे से पृथक दिखाई देती हैं।

विन्ध्याचल पवत के नीचे तीन ओर पहाडो की दीवार से घिरा दक्षिणी पठार है। इसके उत्तर मे विन्ध्याचल पूव म पूर्वी घाट व पश्चिम म पश्चिमी घाट है। इस पठारी प्रदेश म वर्षा अत्यन्त कम होने के कारण भूमि अनुपजाऊ है और निवासियो को अपनी जीविकोपाजन के लिए कठोर श्रम करना पडता है। यही कारण है कि यहाँ के निवासी वीर, साहसी एव परिश्रमी होते हैं। मराठे इसी स्थान के निवासी हैं। गोदावरी, कृष्णा और कावरी नदियाँ यत्र-तत्र इस प्रदेश को सिंचित करती हुई बहती है।

४ तटवर्ती मदान—दक्षिणी पठार के पूर्वी तथा पश्चिमी किनारा पर मदान हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी घाट की पवत श्रेणियाँ इन्ह दक्षिणी पठार से पृथक करती हैं। इन पवत श्रेणियो का हमारे देश के इतिहास पर गहरा प्रभाव पडा है। आक्रमणकारी द्वारा पठार को विजित कर लेने पर वहाँ के निवासी इन पहाडियो म छिपकर अपनी रक्षा कर लेते थे। मराठा ने इस प्रदेश म बहुत से दुग बनाकर मुगल सेनाओ को बहुत दिनो तक परेशान किया।

हमारे देश का समुद्र तट अच्छे-अच्छे बदरगाहो स रहित है। अधिक कटे-फटे समुद्र तट म अच्छे बदरगाह बनते हैं और वे देश की समुद्री शक्ति को मजबूत करते है। हमारे यहाँ इसका अभाव रहा। परिणामस्वरूप अच्छी समुद्री शक्ति वाले अग्रेजो ने हमे परास्त किया और वर्षों पराधीन बनाय रखा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भौगोलिक परिस्थितियो ने हमारे इतिहास पर अपना अमिट प्रभाव डाला है।

भारतवष का सास्कृतिक विकास यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियो स पूण रूपेण प्रभावित हुआ है। कल-कल निनाद गति से प्रवाहित होती हुई नदियाँ भार

तीय जन-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वैदिक काल में इन्हीं नदियों के तट पर ऋषियों ने सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना की थी और इनके किनारे ही प्राचीन आर्यों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति को विकास पथ पर अग्रसर किया था। चीन, मिस्र, बेबीलोनिया आदि प्राचीन देशों की संस्कृतियाँ नदियों के किनारे ही फली फूली।

भारतवर्ष की प्राकृतिक दशा अत्यन्त मनोहारी है। नदियाँ निर्झर, मलय पवन पर्वत फल फूल आदि सभी कुछ यहाँ विद्यमान हैं। प्रकृति के कण कण में सौन्दर्य की छटा बिखरी हुई है और उसने कवियों के अन्तर को अपने आकर्षण में बाँधकर श्रेष्ठ काव्य सृजन की प्रेरणा दी है। डा० शिवदत्त ज्ञानी ने सत्य ही लिखा है 'इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है कि कालिदास, भास, अश्वघोष, बाण भवभूति आदि कवियों ने प्रकृति देवी के ही सौन्दर्य को अपनी रचनाओं में भर दिया है। यदि भारत में घने जंगल नदी पर्वत आदि न होते तो कदाचित यहाँ काव्य विकसित ही न हो पाता।'[1] इस प्रकार यह प्रकट है कि भारत के श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के मूल में यहाँ का प्राकृतिक वातावरण ही है।

भौगोलिक परिस्थितियों ने ही भारत भूमि को हरी भरी छटा प्रदान की है। परिणामस्वरूप मनुष्यों को अपनी क्षुधा निवारण के लिए कठोर परिश्रम नहीं करना पड़ता। जीवन की आवश्यकताएँ सहजता से पूर्ण हो जाती हैं और तभी मनुष्यों का ध्यान आध्यात्मिक चिन्तन की ओर आकृष्ट होता है। पेट भरने के लिए ही यदि मनुष्य को सारे दिन कठोर परिश्रम करना पड़े तो जीवन और जगत के गूढ़ प्रश्नों को हल करने का उसे समय ही न मिलता। किन्तु भारत में शस्य श्यामला वसुन्धरा ने यहाँ के निवासियों की जीविकोपार्जन की चिन्ता को आसान कर दिया तथा इसी के परिणामस्वरूप वेद उपनिषद् आदि ग्रन्थ रचे गए। ब्रह्म जीव जगत एवं पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्तों के चिंतन मनन की ओर भारतवासी झुके। न केवल कला और दर्शन के क्षेत्र में अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे उन्नति पथ पर अग्रसर हुए और उन्होंने एक ऐसी आदर्श संस्कृति का निर्माण किया जो विश्व के लिए भी मार्ग दर्शक बना।

भारतवर्ष में संस्कृति का सर्वाङ्गीण विकास अत्यन्त प्राचीन काल में हो हो गया था और इसका कारण भौगोलिक परिस्थितियाँ ही थीं। ऋग्वेद में ही हम धर्म दर्शन राजनीति साहित्य कला अर्थशास्त्र और गणित आदि का यथोचित विकास देखते हैं। ऋग्वेद में परिलक्षित होने वाला यह सांस्कृतिक विकास इस बात को सिद्ध करता है कि भौगोलिक परिस्थितियों ने ही उसके सृजन का पथ प्रशस्त किया। इस

---

[1] वरदासान सप्ताह पृ० ५७

सांस्कृतिक विकास को आर्यों ने आगे बढ़ाया। भारतीय संस्कृति की उस गौरव-गरिमा ने विदेशियों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। जिस समय विश्व के अन्य भू खण्डों में मनुष्य सभ्यता से कोसों दूर असभ्य और बर्बर जाति के रूप में अपना जीवन-यापन कर रहे थे, उस समय भारत सभ्यता और संस्कृति की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था। इस सांस्कृतिक गौरव-गरिमा के मूल में यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियां निहित थीं। यदि नदियाँ, पर्वत, मैदान और शस्य श्यामला वसुन्धरा हमें न मिली होती तो सम्भवतः हमारा सांस्कृतिक विकास भी न हुआ होता और भारत अपनी सांस्कृतिक गौरव-गरिमा से युक्त न दिखाई देता। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास को यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने निश्चय ही बहुत अधिक प्रभावित किया है।

प्रथम खण्ड

प्राचीन भारतीय कला

१

कला

- कला शब्द की व्युत्पत्ति
- कला की परिभाषा
- विविध कलाएँ उनका वर्गीकरण एव परिचय

कला

कला का उदय मानव की सौन्दर्य भावना का परिचायक है। इस भावना की तृप्ति के लिए और मानसिक विकास के लिए विभिन्न कलाओ का उदय प्राचीन काल म हुआ था। प्राच्य एव पाश्चात्य सभी विद्वानो ने कला के सम्बन्ध म पर्याप्त विवेचन किया है। सस्कृत साहित्य म ज्ञान का विभाजन दो रूपो मे किया गया है—विद्या और उपविद्या। विद्या के अन्तगत काव्य को स्थान दिया गया है और विभिन्न कलाओ को उपविद्या के अन्तगत। भत हरि ने काव्य एव कला को भिन्न माना है। उनके अनुसार "साहित्य सगीत कलाविहीन साक्षात पशुपुच्छविषाणहीन" अर्थात् साहित्य, सगीत और कला के ज्ञान से रहित मनुष्य साक्षात पशु ही है। अत साहित्य और कला का महत्व स्वयसिद्ध है।

कला शब्द की व्युत्पत्ति

कला शब्द की रचना कल+अच्+टाप् धातु एव प्रत्ययों के सयोग से हुई है। कला का शाब्दिक अर्थ है—किसी वस्तु का छोटा अश, चन्द्रमण्डल का षोडश अश राशि के तीसवें भाग का साठवा अश। कल धातु भी आवाज, गणना आदि अर्थों की सूचक है। आवाज अथवा ध्वनि से हमारा आशय अव्यक्त से व्यक्त की ओर उन्मुख होना है, क्योकि कलाकार भी अपने अव्यक्त भावों को कतिपय साधना के

द्वारा व्यक्त करता है।' डा० रामदत्त भारद्वाज ने 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की है ' 'कवि' और लास्य' इन दोनो शब्दो के प्रथमाक्षरो से 'कला' शब्द निर्मित है। कवि का लास्य ही कला है। 'लास्य' शब्द का कोशाथ है—नृत्य अथवा उछलकूद। कवि के काव्य मे कवि के अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है। उसके अव्यक्त भाव शब्दो के माध्यम से और आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते हैं।"[1] केवल कवि ही क्यो अन्य कलाकार (वास्तुकार, मूर्तिकार, चित्रकार आदि) भी अपने अव्यक्त भावो को अपनी रचना के माध्यम से व्यक्त करते है। कला की तृतीय व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है क+ला। क=कामदेव, सौन्दय, प्रसन्नता, हर्ष, आनन्द। ला=देना। क लाति ददातीति कला अर्थात सौन्दय की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु का नाम कला है। इसी भाव म दण्डी ने कला को 'नृत्य गीत प्रभतय कला कामाथ सश्रया" कहा है।

क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्शिणी' म कला को वस्तु के रूप सवारने वाली प्रतिभा या अभिव्यक्ति कहा है—'कलयति स्वरूप आवेशयति वस्तूनि वा' अर्थात कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलकृत करती है। भारतीय विद्वानो ने कला को साहित्य ज्ञान विद्या आदि से भिन्न स्वीकार किया है। सम्भवत भरत ने इसी लिए "न तज्ज्ञान न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला" कहा है। अभिनवगुप्त नाटय शास्त्र की इस पक्ति की व्याख्या करते हुए कला को 'कला गीत वाद्यादिका" लिखते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भारत म कला शब्द का प्रयोग 'Fine Arts के लिए भी होता था।

कला की परिभाषा

श्री रवीन्द्रनाथ टगोर ने *'Personality* नामक पुस्तक मे What is Art' शीर्षक लेख म मानव के दो पक्ष कला और विज्ञान स्वीकार करते हुए इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है— In art man reveals himself and not his object His objects have their place in books of information and science" अर्थात कला मनुष्य की बाह्य वस्तुओ की अपेक्षा स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है। वस्तुत रवीन्द्र के मत म कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है। कला क काय का उल्लेख करते हुए रवीन्द्र लिखते हैं—कला का काय मानव के लिए सत्य और सौन्दय की एक सजीव सृष्टि करना है— This building of man's true world the living world of truth and beauty is the function of art ' पाश्चात्य विचारक रस्किन प्रत्येक महान कला को ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति मानते हैं— All great art is the expression of man s great delight in God s work and not his own ' फ्रायड के मत म

---

[1] काव्य शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ८

कला हृदय में दबी हुई वासनाओं का अभ्युत्थान अथवा व्यक्त रूप है। कला के सम्बन्ध में टाल्स्टाय ने विस्तार से विचार करते हुए लिखा है कि कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द आदि के सहारे दूसरे के हृदय तक पहुंचा देना ही है—"To evoke in ourself a feeling one has once experienced and having looked it in oneself, then, by means of movements line, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that is the activity of art' आचार्य शुक्ल एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुंचा देना ही कला का रहस्य स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार गुप्तजी "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला" कहते हैं।

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों की कला सम्बन्धी परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत के आचार्यों का कला सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यापक है, तथा पाश्चात्य आलोचकों से भिन्न है।

विविध कलाएँ एवं उनका वर्गीकरण

भारतीय साहित्य में चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। कामशास्त्र के अनुसार वे निम्न हैं—

गीत, वाद्य, नृत्यम् आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्य, तण्डुलकुसुम-बलिविकारा, पुष्पास्तरण, दशनवसनाङ्गराग, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम् उदकवाद्यम् उदकाघात, चित्राश्चयोगा माल्यग्रथनम्, विकल्पा, शेखरकापीडयोजनम् नेपथ्यप्रयोगा, कर्णपत्रभङ्गा, गन्धयुक्ति, भूषणयोजनम् ऐन्द्रजाला, कौचुमाराश्चयोगा, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूपभक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्र क्रीडा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगा, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम् पट्टिकावेत्रवानविकल्पा, तक्षकर्माणितक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागाकरज्ञानम् वृक्षायुर्वेदयोगा, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादनसंवाहनेकेशमर्दने च कौशलम् अक्षरमुष्टिकाकथनम् म्लेच्छितविकल्पाः देशभाषाविज्ञानम् पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम् यन्त्रमातृका, धारणमातृका, साम्पाठ्यम् मानसीकाव्यक्रिया अभिधानकोष छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्प छलितकयोगा, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषा, आकर्ष क्रीडा बालक्रीडनकानि, वैनयिकीनां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम् इति चतुष्षष्ठिरङ्गविद्याकामसूत्रस्यावयविन्द। उपर्युक्त चौसठ कलाओं का उल्लेख अन्य ग्रन्थों शुक्रनीति आदि में कुछ नामान्तर से मिलता है। इसके अतिरिक्त 'प्रबन्ध कोष' में बहत्तर, बौद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तर' में छियासी कलाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु चौसठ कलाएँ ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक काल में कलाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है — (क) उपयोगी कला (ख) ललित कला। जीवन के लिए उपयोगी कला ही उपयोगी कला के अन्तर्गत समाहित होती है। ये उपयोगी कलाएँ हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं उदाहरण के लिए भोजन निर्माण, वस्त्र निर्माण, आभूषण निर्माण, बढ़ईगीरी तथा लुहारगीरी आदि। इन कलाओं के द्वारा हमारे जीवन को सुविधा प्राप्त होती है इनके अभाव में जीवन असम्भव हो सकता है। इन उपयोगी कलाओं के अतिरिक्त कुछ इस प्रकार की कलाएँ भी हैं जिनसे सौन्दर्य की अनुभूति और आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्हें हम ललित कलाएँ कह सकते हैं। अनुभूत सौन्दर्य के जिस पुनर्विधान से हमारी चेतना सजीव हो यही ललित कला है जिसके द्वारा हमारी आत्मा का विकास हो हमारे मन का रंजन हो सकता है। इन कलाओं को प्राचीन भारतीय साहित्य में यही ललित कला के नाम से अभिहित किया जा नाम से अभिहित नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में अज के इन्दुमती विलाप प्रसंग में 'ललिते कलाविधौ' शब्द का प्रयोग किया है जोकि गीति एवं नृत्य मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत ललित कला शब्द पाश्चात्य Fine art शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। पाश्चात्य विद्वानों ने पाँच प्रमुख कलाएँ स्वीकार की हैं जोकि क्रमश स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य कला नामक हैं। बसफील्ड ने नाट्य, नृत्य एवं भाषण कला तीन कलायें और स्वीकार की हैं। हेगल ने मूर्त आधार और अमूर्त आधार वाली कलायें ये दो ललित कलाओं के भेद बताये हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में इन्हीं मूर्त और अमूर्त आधार वाली कलाओं का नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करने वाली तथा श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से तृप्ति प्रदान करने वाली कला दो भेद किये हैं।

वास्तु कला—वास्तु कला को स्थापत्य कला भी कहते हैं। इस कला के अन्तर्गत भवन निर्माण, मन्दिर मस्जिद बाँध पुल आदि के निर्माण का कार्य होता है। वास्तु कला के आधार रूप में ईंट पत्थर सीमेंट लोहा लकड़ी आदि हैं और साधन के रूप में करनी वसूला फावड़ा आदि। वास्तु कला में लम्बाई चौड़ाई और मोटाई तीन तत्त्व होते हैं। स्थापत्य कला द्वारा व्यक्त भावों की अपेक्षा अन्य कलाओं द्वारा व्यक्त भाव अधिक आकर्षक होते हैं। सूक्ष्मता उनकी विशेषता है।

मूर्तिकला—स्थापत्य की अपेक्षा मूर्तिकला अधिक उन्नत कला है। इसमें रूप, रंग एवं आकार होता है। लम्बाई चौड़ाई और मोटाई भी होती है। यह कला वास्तु की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि इसके साधन अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म हैं, यह कला वास्तु की अपेक्षा उत्कृष्ट मनोभावों को व्यक्त कर सकती है।

चित्रकला—वास्तु एवं मूर्ति की अपेक्षा चित्रकला अधिक उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म कला है। यद्यपि वास्तु और मूर्ति के समान रूप, रंग और आकार इसमें भी होता

है किन्तु इस कला के मान तीन—लम्बाई, चौडाई और मोटाई—न होकर केवल दो—लम्बाई और चौडाई—ही होते हैं। रग, कूची, लेखनी इसके साधन हैं। वास्तु एव मूर्ति की अपेक्षा चित्र कला मनोभावो को अधिक स्पष्ट करती है।

सगीतकला—प्रथम तीन कलाओ की अपेक्षा सगीतकला अधिक उत्कृष्ट है। इसका आधार नाद अथवा स्वर होता है। इस कला के द्वारा व्यक्त भाव अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट होते हैं। सगीत कला का विशेषण अपनी कला से श्रोता को रुला भी सकता है और हसा भी। इसमे पूर्वोक्त कलाओ की भाति तीन मान नही होते हैं।

काव्यकला—काव्य का स्थान ललित कलाओ मे सर्वोत्कृष्ट है इसके आधार शब्द और अर्थ हैं। जहा सगीत कला मे केवल स्वरो का प्रयोग होता है, वहा काव्य कला मे स्वर और व्यजन दोनो ही प्रयुक्त होते हैं। सगीत विशेषज्ञ एक दो स्वरो के आरोह और अवरोह के द्वारा श्रोता को भावविभोर कर सकता है किन्तु यह भाव विभोर की स्थिति स्थायी नही होती जबकि कवि व्यजना और स्वरो के प्रयोग तथा उनके अर्थ के द्वारा चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ललित कलाओ मे निम्न तत्त्व सर्वसामान्य होते हैं—(१) आधार तथा साधन, जैसे ईंट, पत्थर, लोहा, कूची, कपडा, नाद व्यजन तथा शब्द। साधनो मे छेनी, कूची, कठ, वाद्य, भाषा। (२) उपकरण—इन ललित कलाओ के उपकरणो मे नेत्र और कर्ण हैं। वास्तु, मूर्ति और चित्र के उपकरण हैं नेत्र तथा सगीत और काव्य कला के उपकरण हैं कर्ण। (३) **सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण**—प्रत्येक कलाकार सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे ललित कलाओ मे से वास्तु, मूर्ति एव चित्र कला के उद्भव, विकास तथा उनके स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया गया है।

२
भारतीय कला की विशेषताएँ

- भावाभिव्यंजन
- आध्यात्मिकता
- धर्म प्राधान्य
- परम्परागतता
- अनामता
- प्रतीकात्मकता
- भारतीय कला और लोक जीवन

भारतीय कला की विशेषताएँ

कला का महत्त्व स्वयंसिद्ध है कला रूपों की निर्माणकर्त्री है। रूप स्वयं जीवन में आते हैं और जीवन को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार कला एक ओर लोकोपयोगी है और दूसरी ओर लोक का निर्माण करती है। कलात्मक रूपों का नाम ही संस्कृति है। कला भावी जीवन की आवश्यकता है। विश्व के मानव अन्य भाषाओं को न जानते हुए भी कला की भाषा को सहज ही समझ लेते हैं। इस प्रकार विश्व बन्धुत्व एवं पारस्परिक सद्भाव के लिए तो कला को सुरक्षित रखना ही होगा क्योंकि कला में प्राचीन परम्परागत अमूल्य निधियाँ सुरक्षित रहती हैं। कला की भाषा अन्तर्राष्ट्रीय है और एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ रहते हुए भी हम किसी किसी कला के [illegible] को पढ़ सकते हैं। भावात्मक एवं रागात्मक एकता के लिए कलाएँ सर्वाधिक उपयोगी साधन हैं। इसलिए मानव कल्याण के निमित्त प्राचीन कला का उद्धार और उचित मूल्याङ्कन आवश्यक है।

कला मानव भावनाओं को तृप्ति प्रदान करती है। पीड़ित मानव चित्र और मूर्तियों में अपने को मनोयोग से लीन कर संतोष प्राप्त करता है। दूसरी ओर पीड़ित व्यक्ति अपनी भावनाओं को भावुकतावश अभिव्यक्त कर कला का सृजन करता है। कला मानव की भावनाओं की तृप्ति के साथ मानव को शक्ति भी प्रदान करती है। " कला केवल पीड़ाओं से छुटकारा ही नहीं देती, बल्कि शक्ति भी देती है—उच्छृंखलता के बदले आत्मसंयमपूर्वक, दबी भावनाओं के अभिव्यक्तिकरण में सबल बनती है। वह उसे बराबर उत्साह और स्फूर्ति देती रहती है। कला परमात्मा का ओजपूर्ण और आनन्ददायक आत्मप्रदर्शन करने का माध्यम है, इसलिए वह वास्तव में पीड़ित आत्मा और समाज के लिए शान्तिदायक और कष्ट निवारक आनन्दप्रद औषध है।'

डा० मुकर्जी के शब्दों में—*कला व्यक्ति की चिरस्थाई कीर्ति और संस्कृति की* शाश्वत धरोहर ही नहीं अपितु उसकी प्रधान प्रेरणा भी है। कला स्फूर्ति देती है, प्रोत्साहित और सुशिक्षित करती है। कला सबको एक सूत्र से बांधने वाली एक महान् *शक्ति है जन जीवन पर उसका प्रभाव सर्वव्याप्त है।*[1]

पुनश्च वे लिखते हैं कि कला का यही कार्य है कि वह मृत्यु के शिकंजे में से पीड़ित मानवता को अनवरत जीवन दान करती रहे।[2]

कला का क्षेत्र व्यापक है समग्र सृष्टि ही उसकी क्रीड़ाभूमि है। कला शाश्वत है, किन्तु कला को वर्तमान की सदा अपेक्षा रहती है। प्रसिद्ध कलाकार पिकासो ने ठीक ही कहा है कि—कला का न अतीत है और न भविष्य। जो कला वर्तमान में *अपनी सत्ता प्रमाणित नहीं कर सकती वह कभी अपना स्थान नहीं बना सकेगी*—

"Art has neither a past nor a future Art which is powerless to affirm itself in the present will never come to its own '

भारतीय कला अपनी इसी विशेषता के कारण अतीत में मानव मन को आलोकित करती रही है और भविष्य में भी देश दशान्तरों को आलोक दीप बनकर प्रकाशित करती रहेगी। ऐसा हमारा चिरन्तन विश्वास है।

भारतीय कला की अपनी कुछ मौलिक विशेषतायें हैं। उसकी प्रधानभूत विशेषता भावाभिव्यंजन की है। आकृति, प्रतिकृति और अभिव्यक्ति के प्राधान्य से

[1] दि सोशल फंक्शन ऑफ आर्ट, पृ० १७
'Art is thus not only the enduring glory of the individual not the imperishable record of culture, but it is also its principal impulsion Art inspires, exhorts and educates Art is the great *binder, the ubiquitous seal of the community life and action* "

[2] वही, पृ० ३८
The function of art is to ceaselessly renew and refurnish man kind's sinking heart under the grip of death '

कला को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है। जो कला प्रधानतया सौन्दयमयी आकृतियो का निर्माण करती है, वह कला आकृति प्रधान (Formal) कहलाती है। जिस कला म रमणीय प्रकृति, घटना मानवीय सौन्दय की यथाथ प्रतिकृति की जाती है वह प्रतिकृति प्रधान (Representative) कला होती है। जिस कला म अमूत भावो को कल्पना के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है वह अभिव्यक्ति प्रधान (Expressive) कला कहलाती है। विश्व की कला शलियो म चीनी आकृति प्रधान को महत्त्व देते हैं यूनानी तथा पाश्चात्य देश प्रतिकृति प्रधान को महत्त्व देते हैं—व लेख्य वस्तु का अकन करते हैं और इसम उन्हे विशेष सफलता मिलती है। इस प्रकार उनकी रचनायें आकषक होती हैं। किन्तु भारतीय कलाकृतियो के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता है। भारतीय कलाकार बाह्य-सौन्दय को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा आन्तरिक भावो के अकन की ओर विशेष आग्रह रखता है। यदि उदाहरण रूप म देखें तो भारतीय कलाकारो ने बुद्ध के अग-सौष्ठव के प्रदशन की अपेक्षा उनके मुखमण्डल पर दिव्य आभा को व्यक्त किया है। नटराज की मूर्तियो मे शिव आसुरी शक्ति के सहारक के रूप म दृष्टिगत होते हैं।

भारतीय कला की दूसरी विशेषता मानव भावनाओ की अभिव्यक्ति की अपेक्षा उसकी आध्यात्मिकता है। प्राचीन काल स भारत मे कला धम की चेरी रही है। भारतीय मूर्तिकारो और चित्रकारो ने अपनी कला द्वारा भगवान गौतम बुद्ध तथा पौराणिक देवी देवताओ की अनेक मूर्तियो का निर्माण किया है। भारत म कला का विकास कला क लिए न होकर आत्मस्वरूप क साक्षात्कार या परमतत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिए हुआ है। भारतीय कलाकारो के अनुसार उसे पयोपभोग मे प्रवृत्त करने वाली कला कला नही है अपितु जिससे आत्मा परमतत्त्व म लीन हो वही श्रेष्ठ कला है—

'विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।'

इस प्रकार भारतीय कलाकार के लिए सौन्दय ही ईश्वर है वही सत्य है—'Beauty is truth Beauty is God' इसी ईश्वर की रूप कल्पना और प्रतिमा निर्माण भक्तो के लिए होता है— साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणरूपकल्पनम। निष्पाप रूप सौन्दय ही जीवन की सुन्दरता है[1] —निष्पाप सौन्दय ईश्वर का ही हो सकता ह। भारतीय आत्मा ईश्वर और धम स परे नही ह। इस प्रकार भारतीय कला राष्ट्रीय संस्कृति एव सनातन भावो, विश्वासो और आस्थाओ को ही व्यक्त करती ह। भारतीय सिद्धान्तो और विश्वासो के दशन हम भारतीय कला मे

---

[1] कालिदास, कुमारसम्भव, ५/३६
यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच।
तथाहि त शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम॥

हज ही हो जाते हैं। अनेक विद्वान भारतीय कला की इस विशेषता को अनेक रूपों में व्यक्त करते हैं। विलियम रॉथ राथ"सटाइन ने लिखा है— हम लोग भारत की उन्नत कला में भारतीयों की धार्मिक भावनाओं और ईश्वर के प्रति उनके गम्भीर चिन्तन का प्रभावपूर्ण, श्रेष्ठ और पर्याप्त वर्णन पाते हैं। ऐसे तो सभी प्राचीन संस्कृतियों की कला प्रधानतया धर्म विषयक रही है किन्तु भारतीय कला की यह विशेषता अत्यन्त स्पष्ट है। व्यक्ति या समाज के साधारण गुणों तथा भावों को गौण करके उनकी विशिष्ट सामाजिक और आध्यात्मिक रुचि को चित्रित कर कला उस समाज और सभ्यता को प्रतिबिम्बित ही नहीं करती वरन अमरता प्रदान करती है।"[1]

कला और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय कला सदा ही सामाजिक जीवन से प्रभाव ग्रहण करती रही है। वह धार्मिक और नैतिक आदर्शों का वाहक रही है। जब महायान बौद्ध सम्प्रदाय का समाज में प्रभाव बढ़ा कला में उसे ग्रहण किया गया। ब्राह्मण धर्म के उदय तथा विकास के साथ भारतीय कला का विकास देखा जा सकता है। भारतीय आदर्शों के अनुरूप भवन निर्माण, मूर्ति निर्माण एवं चित्र निर्माण हुए हैं। डा० राधाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है—

"साहित्य और कला राष्ट्रीय चेतना के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं और उनकी सबसे महान शक्तिमान शक्तियाँ तथा सुकुमारतम भावनायें तो और भी उत्तम प्रतीक हैं। राष्ट्र की कला जन जीवन से उत्साह पाती है और अपनी ओर से उसे प्राणवन्त या उत्तेजित करती है—' These represent the highest point of the nation's consciousness, its greatest powers and most delicate sensibility The art of a nation derives its inspiration from the people's life and in turn quicken it

भारतीय जन जीवन सदा ही धर्मप्राण रहा है, इसलिए भारत में धार्मिक स्मारकों मन्दिरों, चैत्यों और देवी देवताओं की मूर्तियों की आवश्यकता सदैव रही है। परिणामस्वरूप भारतीय कला का विकास सहज नैय है। किसी राष्ट्र की कला उसके जीवन और आत्मा का प्रतिबिम्ब होती है। राष्ट्रीय जातीय अनुभूतियों, चेतना आदि के अध्ययन के लिए उस राष्ट्र की कला कृतियों का अध्ययन अपेक्षित है।

भारत की आध्यात्मिकता—धार्मिकता उसकी अपनी एक विशिष्ट विशेषता है। भारतीय मूर्तिकला एवं स्थापत्यकला में भारतीय कलाकारों का आध्यात्मिक उद्वेलन अभिव्यक्त हुआ है। इस भाव को व्यक्त करने में भारतीय कलाकारों को पूर्ण सफलता मिली है। जाज कैटलिन ने लिखा है—'भारत का यह दावा है कि संसार में कोई अन्य देश उससे अधिक आध्यात्मिक देन नहीं दे सका है और पीड़ित जगत् के लिए इससे अधिक अत्यावश्यक संदेश भी दूसरा नहीं है।"

एक अन्य यूरोपीय विद्वान का कथन है कि—' भारत ने ललित कला और सौंदर्य शास्त्र के क्षेत्र की तरह ही मानव के सांस्कृतिक विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान

[1] भारतीय कला को बिहार की देन पृ० ४

दिया है। मानव की श्रेष्ठतम आत्मिक अभिलाषाओ म कला का उचित स्थान क्या हो इन गम्भीर समस्याओ की माप भारतीय ऋषियो ने बहुत गहराई तक की है।'[1]

भारतीय कला का प्रधान प्रयोजन धम रहा है। अत आध्यात्मिकता की छाप इसमे होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भारतीय कला म मानव श्रेष्ठ नही है अपितु वह सृष्टि का अग है। अत यहाँ की कला म सृष्टि चित्रण का प्राधान्य है। इसीलिए उसम मानव, पशु और जड पदार्थों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सृष्टि के कण-कण म एक सत्य की सत्ता सत्य है, अत सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व समान स्तर पर आ जाता है। सभवत इसीलिए भारतीय कला म सभी तत्त्व प्राणवान और सजीव हैं।

तरलता भारतीय शिल्पकला की विशेषता है। ठोस प्रस्तर की मूर्ति म कोमलता और तरलता भरी मिलती है। किसी भी सुदर प्रतिमा को देखिए, हृदय भाव विभोर हो उठता है।

भारतीय कला राजकीय कभी नही रही। अय देशो म तथा मुगल काल मे कला प्रधानत राजकीय थी। राजदरबारो म फली-फूली कला सदा ही राजदरबारो के साथ समाप्त हो गई। भारतीय कला मौयकाल म अवश्य ही राजकीय रही किन्तु उसके पूव तथा अन तर वह जन जीवन मे ही पल्लवित हुई।

भारतीय कला परम्परागत (Traditional) है। इसीलिए हम देखते हैं कि भारतीय कला अपने प्राचीन शिल्पियो की सदा कृतज्ञ रही है। इसके अतिरिक्त वह नये गुणो आकृतियो और सिद्धान्तो को भी सहज स्वीकार करती रही है किन्तु अपनी मौलिकता की सुरक्षा करते हुए। अपने पूवजो से प्राप्त आदर्शों और चेष्टाओ की कभी इस कला ने अवहेलना नही की।

भारतीय कला की एक अय विशेषता उसकी अनामता है। नाम और लोकैषणा महापुरुषो की महानतम दुबलता है किन्तु भारतीय कलाकार इस दुबलता से सदा मुक्त रहे हैं। भारतीय शिल्प वास्तु और चित्रकला के अयतम उदाहरणों म कही भी किसी कलाकार का नामोल्लेख नही मिलता है। भारतीय कलाकार कला के अतिरिक्त अय किसी वस्तु को नही जानता। नाम तो आत्माभिव्यक्ति और विज्ञापन की भावना के कारण दिया जाता है किन्तु भारतीय कलाकारो की कला तो दाशनिक तथा धार्मिक थी। उसम भगवान् की महिमा का गान था, और उन्हीं को समपण थी।

भारतीय कला प्रतीकात्मक भी है। भगवान् असीम और अनन्त है। इस अनन्त भगवान् की सान्त प्रतिमा कैसे निर्मित हो सकती है इसलिए मूर्ति भगवान् का केवल प्रतीक है। भारतीय कला इस प्रतीकात्मकता (Symbolism) से आपूर्ण

---

1 Art and Thought, p 23

है। कलाकारों का प्रमुख उद्देश्य दार्शनिक गूढ़ तत्त्वों का उद्घाटन करना था। "इसीलिए इनके बारे में कहा जाता है कि वे पहले धर्मवेत्ता और दार्शनिक थे और बाद में कलाकार। उनका प्रधान उद्देश्य सूक्ष्म धार्मिक भावनाओं को स्थूल रूप देना था। उन्होंने सुंदर कलाकृतियों का निर्माण किया, किन्तु आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति के लिए ही। मध्ययुग के यूरोपीय कलाकारों की भांति भारतीय शिल्पियों ने जो कुछ बनाया, प्राय भक्तिभाव से अनुप्राणित होकर ही।[1]

इस भावभूमि पर आधारित भारतीय कला के कुछ दृश्य प्रतीकात्मक हैं। उदाहरण के लिए त्रिमूर्ति केवल तीन मूर्तियां की प्रतीक नहीं है अपितु वह परब्रह्म की सृजन, पालन और संहारक शक्तियों की प्रतीक है। प्रणव से लेकर त्रैगुण्यपर्यन्त विराट् भावों की अभिव्यक्ति त्रिमूर्ति के द्वारा ही होती है। 'एकव मूर्तिविभिदे त्रिधा सा।" माया ही संसार को धारण करती है, देवता भी मायाजन्य हैं माया के कारण ही जीवन और स्थिति है। सृजन और विसर्जन माया शक्ति के कारण ही हैं। यह नारी रूपा है। इसे स्त्री संज्ञा भी प्राप्त है। यह माया शक्ति मातृ रूप में चित्रित मिलती है। "वात्सल्य और करुण भाव से ओत प्रोत इन नारी मूर्तियों के प्रति आदर और भक्ति रखना मूर्तिकार और भक्त के लिए स्वाभाविक हो जाता है। पर माया तो जीवन के रस और आनन्द की जननी है अतः भारतीय कला में नारी मूर्ति को अत्यन्त कोमल और आनन्द विभोर दिखाया गया है।' भारतीय कला में इस भाव को शालभंजिका, यक्षिणी उमा लक्ष्मी और प्रज्ञापारमिता आदि के द्वारा व्यक्त किया गया है। ये सभी नारी प्रतिमाएँ माया की सृजन विसर्जन शक्ति की प्रतीक हैं। भारतीय कला में नाग" के अनेक चित्र मिलते हैं। नाग परमेश्वर का एक प्रतिरूप है, यह शिव की ग्रीवा में माला रूप में रहता है, विष्णु की शय्या के रूप में मिलता है, यह अनन्त है, शेष है, जो कि शाश्वत है। इन भावों की अभिव्यक्ति नाग प्रतिमा से होती है।

शेषशायी विष्णु भी भारतीय कला का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। सहस्र शीर्ष पुरुष अनन्त है। उसके एक अंश में यह विश्व प्रतिष्ठित है। विष्णु उसी का स्वरूप है जो इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। अवशिष्ट जो शतकोटि अनन्त ब्रह्म है वही सहस्र शीर्ष पुरुष है। उसी का नाम शेष है। विश्व व्यापक विष्णु उसी शेष का आधार ग्रहण करते हैं। इस सम्पूर्ण दार्शनिक ग्रंथि को भारतीय कलाकारों ने "शेषशायी विष्णु' की प्रतिमा से व्यक्त किया है। विश्व की साम्यावस्था शेष की शय्या पर सोते हुए विष्णु का रूप है, वही विष्णु की योगनिद्रा है। सृष्टि के लिए जो बहिर्मुख प्रेरणा है वही विष्णु की नाभि से बहुणात्मक तत्त्व या ब्रह्मा का विकास है। ब्रह्मा के सम्मुख रज और तम रूपी मधु-कैटभ नामक दानवों का द्वन्द्व गुण वैषम्य की प्रचण्ड अवस्था है। लक्ष्मी के द्वारा विष्णु के चरण-संवाहन का सौम्य

---

[1] हरिदत्त वेदालंकार, भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १४२–१४३

दृश्य सृष्टि के साथ 'श्री' का सभोग है।" यह समग्र भावधारा शेषशायी विष्णु की प्रतिमा से व्यक्त होती है।

'हंस' भारतीय कला का एक प्रमुख प्रतीक है। हंस परमेश्वर का प्रतीक है। अनेकश पुराणो मे भगवान् अपने को हंस कहते हैं। जीव को परमात्मा का अंश माना जाता है उसे भी हंस कहा गया है। जिस प्रकार जीव पृथ्वी पर अवस्थित होने पर भी संसार से बँधा नही है और न पृथ्वी से जुड़ा ही है उसी प्रकार जल म विहार करने वाला हंस भी सरोवर से बंधा नही है। इसी प्रकार जीव हंस ईश्वरीय गुण को प्रतिबिम्बित करता है, जो व्यक्ति म रह कर भी उससे परे है। हंस का रंग श्वेत है और माया रहित जीव के सत्व गुण का रंग भी शुभ्र माना गया है। हंस का बौद्ध और हिन्दू—दोनो कलाओ म समुचित प्रतिनिधित्व है। ब्रह्मा का वाहन हंस है। सरस्वती के साथ हंस का सहयोग सर्वविदित है।

'कमल' भी भारतीय कला का प्रमुख प्रतीक है। कमल भारतीय कला म पृथ्वी मा का प्रतिरूप है। पृथ्वी से ही विश्व की उत्पत्ति हुई है, अत सृष्टिकर्त्ता विष्णु के हाथो म प्राय कमल दिखाया जाता है। कमल की स्वरूपभूता लक्ष्मी कमलासीन चित्रित की जाती है। कमल मातृदेवी के रूप का सूचक है, परमेश्वर इसी के माध्यम से पृथ्वी का सजन करते हैं। ब्रह्मा का स्वय भी नाम कमलयोनि है। इसके द्वारा भी कमल का मातृस्वरूप स्पष्ट है। इस तरह जब सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से हुई तब कमल का जगज्जननी होना निश्चित है। लक्ष्मी को भी पद्मसंभवा पद्मरुहा पद्मासि आदि कहा गया है। जगत् पिता विष्णु की प्रिया जो जगज्जनयित्री लक्ष्मी है वह भी कमलासीन पद्मसंभवा ही है। इस प्रकार भी कमल सृष्टि का कारण है।"[1]

भारतीय कला मे हाथी, बल और वृषभ का चित्रण भी प्रतीकात्मक है। ये दिशाओ के पालक दिग्पालो का प्रतिनिधित्व करते हैं। मिथुन दृश्यो के द्वारा शिव उमा आदि की मूर्तियो के द्वारा विरुद्ध गुणो के परस्पर सहयोग की अभिव्यक्ति है। सृष्टि के सजन और सहार म परस्पर विरोधी भावना अन्तर्निहित है विष्णु लक्ष्मी तथा शिव उमा आदि के चित्रो द्वारा विरोधी गुणो को मूर्तिमान किया गया है। शिव का ताण्डव नृत्य भी हमारी कला का परिनिष्ठित सूत्र है। "दुधर्ष सृजन शक्ति के स्पन्दन को एक केन्द्र पर लाकर उसको कल्याणमयी कल्पना शिव का ताण्डवनृत्य है।'

भारतीय कला म चक्र भी एक प्रतीकात्मक तत्त्व है। धर्म और कर्म के द्वन्द्व का इसी चक्र के द्वारा व्यक्त किया गया है। स्वस्तिक का चिह्न जीवन के स्वस्ति भावना का बोधक है।

भारतीय कला की उपयुक्त विशेषतायें प्रसिद्ध हैं। भारतीय कलाओ पर आलो

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ३०

चकों ने अस्वाभाविकता का दोपारोपण किया है। अस्वाभाविकता का दोष होने पर भी उसमे अनेक विशेषतायें परिलक्षित होती हैं। भारतीय कला की आत्मा बलवती है। आत्मा का सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए भारतीय कला मानव से विशिष्ट देवताओं की मूर्तियों को अपनाती है जिनके मूल मे उनकी कल्पना का प्राधान्य होता है। हैवल ने ठीक ही लिखा है कि 'Indian art is essentially idealistic, mystic, symbolic and transcendents" अर्थात् भारतीय कला प्राधान्येन आदर्शवादी, रहस्यात्मक, प्रतीकात्मक और सर्वातिरिक्त है।

भारतीय कला और लोक जीवन

भारतीय कला की अपनी एक विशेषता यह है कि वह लोक को लेकर चलती है। उसमे विश्व का सर्वाङ्गीण जीवन प्रतिबिम्बित है। सम्भवत इसीलिए बाणभट्ट ने कादम्बरी के उज्जयिनी वर्णन मे 'दर्शिता विश्वरूपा' कहा है। यह कथन भारतीय कला के लिए भी सर्वथा उचित है।

लोक का प्रधान व्यक्ति ही कला का नायक बनता है। कला के द्वारा उसके कार्य कलापों का अंकन किया जाता है। मनुष्य अपने सद्गुणों से देवत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इन उपायों व कार्यों का चित्रण भारतीय कला मे यत्र तत्र सर्वत्र मिलता है।

देवों के जीवन मे देवियों का महत्त्वपूर्ण समान भाग है। नारी की कमनीय प्रतिमा के बिना कला ही नहीं विश्व भी अपूर्ण है। नारी का लावण्य कला का ललाम भाव है। वह रस बनकर कला मे ओत प्रोत है। भारतीय कला मे देव और देवियों का समान रूप से अंकन किया गया है। जहां भारतीय कला मे यक्ष, नाग, किन्नर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि अनेक देव हैं वहीं देवियों की कल्पना भी की जाती है। इसी प्रकार महापुरुषों के जीवन का अंकन भी भारतीय कला की विशेषता है। भगवान् बुद्ध जैसे लोकोत्तर व्यक्ति को अपनी कला का प्रमुख आधार बनाकर भारतीय कला ने अमरत्व प्राप्त किया है।

भारतीय समाजशास्त्र के अनुसार राजा भी देवत्व के अंश से युक्त होता है। इस राजा का चित्रण भी यहाँ की कला मे मिलता है। राजा का ऐश्वर्य, राज सिंहासन राजलक्ष्मी, छत्र, चामर, चतुरङ्गिणी सेना उनके उत्सव, यात्रा, संगीत, नृत्य आदि का चित्रण भारतीय कलाकारों ने राजप्रासादों तक मे किया है। इसी प्रकार राजाओं के अन्तःपुर का चित्रण उसमे परिचर्या करने वाले पार्श्वचर, अनुचर बौने हिजड़े आदि का चित्रण भी भारतीय कला मे हुआ है।

राजकीय वर्ग तथा उनके उपकरणों के अतिरिक्त जन सामान्य का जीवन भी भारतीय कला का विषय रहा है। बैल, बैलगाड़ी सार्थवाह, व्यापारी, नाविक, यात्री गृहस्थ जन, उनकी स्त्रियाँ, परिवार आदि भी भारतीय कला के प्रमुख अंग हैं।

कला की पूर्णता के लिए—लोक-जीवन को ग्रहण करने के लिए मनुष्य ने प्रकृति को भी अपनी कला का श्रृंगार बनाया है। वृक्ष लता पत्र पुष्प, फूल-वनस्पति, पशु-पक्षी आदि सभी भारतीय कला में यत्र तत्र सर्वत्र देखे जाते हैं और इनके बिना भारतीय कला अपूर्ण लगती है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने स्मिथ के कथनानुसार लिखा है कि " पत्र और पुष्प के बहुविध चित्रण में जो सफलता भारतीय कलाकार को मिली है वह संसार की और किसी कला शैली में नहीं पाई जाती। कल्पसूत्र के एक वाक्य में पशु और वनस्पति जगत के इस चित्रण का सुन्दर वर्णन किया है जहाँ राज प्रासाद के बहुमूल्य परदे पर तरह तरह की भक्ति (अभिप्राय या डिजाइन के लिए संस्कृत शब्द) जैसे ईहामृग, वृषभ तुरगनर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु मृग, शरभ चमर कुंजर वनलता, पद्म लताओं के चित्रण का उल्लेख है।"[1]

भारतीय कला लोक-जीवन का चित्रण नाना प्रकार के आभूषणों के माध्यम से भी करती है। भारतीय कला की उपकरण सामग्री में आभूषण शृङ्गार आदि की वस्तुयें आती हैं। यह सामग्री वस्तुत लोक जीवन का यथार्थ चित्रण करती है। गुप्तकालीन कला में सन्तानमालाओं से युक्त मुकुट मकरिका मुक्ताकलाप एकावली, ताटंक कुण्डल उत्तरी मेखला आदि प्रमुख रूप से अंकित हैं। इस प्रकार प्रत्येक युग में अपनी अपनी मान्यताओं के अनुरूप अनेक आभूषणों का कला में प्रयोग होता रहा है।

उपर्युक्त समस्त उपकरण मूर्तियों एवं भवनों में यत्र-तत्र अंकित अथवा चित्रित हैं। इसके अतिरिक्त मूर्तियों और भवनों को अलंकृत करने के लिए भी वनस्पति और आभूषणों आदि का प्रयोग होता रहा है। इन्हीं भारतीय अलंकरणों में शालभंजिका अशोकपुष्पप्रचायिका उद्दालक पुष्पभंजिका वीरण पुष्प प्रचायिका, अशोकोत्तंसिका ताल भंजिका सहकार भंजिका दमन भंजिका बिसखादिका अभ्यूष खादिका इक्षु भंजिका उदकक्ष्वेडिका आदि अनेक प्रकार की क्रीडाएँ उस समय प्रचलित थी जिनको कलाकारों ने यथासम्भव अपने अलंकरणों में स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार विचार करने पर पता चलता है कि भारतीय कला में लोक जीवन को पूर्णत प्रतिबिम्बित किया गया है। जीवन के आदर्श सिद्धान्त जनजीवन के उपयोगी देव देवी राजा रानी पशु पक्षी आभूषण एवं वस्त्र, तथा अस्त्र शस्त्र जीवन में ऐसा क्या है जिसे भारतीय कला में चित्रित नहीं किया गया है अत कहा जा सकता है कि भारतीय कला लोकजीवन की कला है।

---

[1] कला और संस्कृति पृ० २०७

[2] वही, पृ० २०३

३

भारतीय वास्तुकला

- वास्तुकला का उद्भव और विकास
- नागरिक वास्तु
- धार्मिक वास्तु
    १ स्तम्भ
    २ स्तूप
    ३ मन्दिर
    ४ चैत्य
    ५ विहार
- मुस्लिम वास्तु
    १ मस्जिद
    २ मकबरा
    ३ राजप्रासाद

विषय परिचय

'भवन निर्माण एव शिल्प विज्ञान का नाम वास्तुकला है।" वास्तुकला का उद्भव एव विकास मानव सभ्यता के विकास की कहानी के साथ सम्बद्ध है। प्राणि-मात्र मे आत्मरक्षा एव सुख प्राप्त करने की भावना सहज रूप से होती है। इसलिए पक्षी, चूहे, दीमक, सिंह आदि सभी अपनी सुरक्षा के लिए घोसले बिल, भीटे, माद आदि का निर्माण करते हैं। जब मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणियो मे भी गृह निर्माण की भावना पाई जाती है फिर मानव मे इस भावना की अधिकता की भी कल्पना तो सहज ही की जा सकती है।

मानव का प्रारम्भिक जीवन विचरणशील रहा है। वे झुण्ड के झुण्ड एक स्थान से दूसरे स्थानों पर घूमते हुए डेरे डालकर रहते होंगे, फिर क्रमशः गुफा आदि के रूप में विकास करते हुए सुन्दर भवनों तक पहुंचे होंगे। मानव की इसी क्रमिक यात्रा का सफल परिणाम वास्तुकला है। इस वास्तुकला का सभ्यता के विकास के साथ अलंकरण की ओर अग्रसर होना भी स्वाभाविक है। इसीलिए आज भव्य भवन बनते हैं। उनके स्थायित्व के लिए प्रयत्न किये जाते हैं। इसीलिए कलाकार क्रमशः अपना वास्तुकला की शैलियों में परिवर्तन करता रहा होगा। यही नहीं, भवन निर्माण के लिए योजना निर्माण और एकरूपता आदि की ओर भी उसने ध्यान दिया—फलतः एक शिल्प का—वास्तुकला का उदय होना भी सहज स्वाभाविक है।

नागरिक वास्तु

आर्यों ने अपने ऋग्वेद में भवन निर्माण के सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सहस्र स्थूणों वाले भवनों तक का आर्यों ने निर्माण किया है। राजा का द्रोही न होकर राजा तथा मैत्री हम उत्तम तथा हजार स्तम्भों वाले भवन में रहे। (ऋग्वेद २।४१।५) इसी प्रकार अन्यत्र पत्थर निर्मित मकान (ऋग्वेद ४।३०।२०) लोहे और पत्थर से निर्मित नगर (ऋग्वेद ७।८५।१, २।२०।८, १।५८।८, ७।३।७ ७।१५।१४) आदि के भी वर्णन ऋग्वेद में उपलब्ध हैं।

मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की संस्कृति, सभ्यता तथा उनका नागरिक जीवन इस बात का प्रतीक है कि भारतवर्ष में वास्तुकला का अतीत वैभवपूर्ण है। ई० पू० ४००० वर्ष पूर्व की इस सभ्यता की खुदाई से उपलब्ध अवशेषों के देखने से विदित होता है कि उस काल में नगर एवं भवन निर्माण एक निश्चित योजना के आधार पर किया जाता था। वहां से उपलब्ध भवन गलियां इतने सुव्यवस्थित एवं एकरूप हैं कि इस काल में इस वैभवपूर्ण वास्तुकला को देखकर आश्चर्य ही करना पड़ता है अस्तु।

मोहनजोदड़ो की वास्तुकला

मोहनजोदड़ो सिंधु नदी के तट पर स्थित एक नगर का नाम था। मोहनजोदड़ो का अर्थ है—मृतकों का टीला। हड़प्पा नगर रावी नदी के तट पर स्थित है। हड़प्पा की अपेक्षा मोहनजोदड़ो नगर छोटा था। अनुमानतः इसका विस्तार एक वर्गमील का रहा होगा। इन दोनों नगरों की खुदाई के पश्चात् अनेक भवन तथा सुव्यवस्थित नालियाँ, सड़क वहाँ उपलब्ध हुई हैं। 'मोहनजोदड़ो के अवशेषों की अवस्था हड़प्पा से अधिक अच्छी है। उसमें सड़कें सीधी और समकोण पर मिलती हैं। उनके दर्शन से जान पड़ता है कि नगर के विस्तार का नियंत्रण अवश्य किसी विशेष अधिकारी द्वारा होता था। नगर निर्माण का इतना सुरुचिपूर्ण प्रयत्न इस काल में अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं पड़ता।[1]

---

[1] भारतीय वास्तुकला पृ० ६

इस प्रदेश की खुदाई से प्राप्त अवशेषो के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नगरो का निर्माण एक योजनाबद्ध कार्य था। इसीलिए नगर मार्ग सकीर्ण न होकर पर्याप्त विस्तृत हैं। सडकें प्राय सीधी हैं तथा परस्पर समकोण पर काटती हैं। एक चौराहे का निर्माण करती हैं। इन सडको से शाखा के रूप मे गलिया भी निकाली गई हैं।

"वहा गलियाँ और सडकें पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण एकदम सीध मे गई हैं। उसकी कुछ सडकें काफी बडी और काफी चौडी हैं। एक सडक जिसकी लम्बाई का पता लगभग आधा मील तक लगा है एकदम सीधी और उत्तर से दक्षिण जाती है और ३३ फुट तक चौडी है। अनुमान किया जाता है कि वही मुख्य मार्ग है। इसके दक्षिण और एक दूसरी ओर अधिक चौडी सडक आकर इसे काटती है। पहली को काटने वाली तक तीसरी सडक १८ फुट चौडी है। एक अन्य सडक १३½ फुट चौडी है और उत्तर से दक्षिण जाती है। इनके अतिरिक्त अन्य सडकें ९ से १२ फुट तक चौडी हैं। गलिया भी कम से कम ४ फुट चौडी हैं। सडकें सभवत पक्की नही होती थी। केवल एक सडक पर इटो के टुकडे और बर्तनो के फूटन डालकर पक्का करने की चेष्टा की गई जान पडती है।"[1]

हडप्पा एव मोहनजोदडो के समस्त भवन तथा गृह इटो से निर्मित थे और प्रायश पक्की इटो का ही प्रयोग हुआ है, जिनका रग हलका लाल है। कही-कही नीव मे कच्ची तथा पक्की इटो का भी प्रयोग किया गया है। इटे कच्ची हो या पक्की—एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि इटें सुडौल तथा अनुपात मे हैं। सामान्यतया उनकी लम्बाई चौडाई से दुगुनी है और मोटाई आधी है। भारतीय वास्तुकला के लेखक लिखते हैं कि 'इनके आकार १०.२५"×५"×२.२५" से २०.०५"×८.५"×२.५" के बीच भिन्न भिन्न हैं। बहुत बडी ईंटो का उपयोग विशेष कामो—यथा नाली आदि ढकने के लिए किया गया है। मकानो मे १०"×५.२५"×२.२५" की ही ईंटो का प्रयोग हुआ है। कच्ची ईंटों का जहा जहाँ उपयोग हुआ है वहाँ उनका आकार १३.९"×७.३५"×३.५" से १५"×७.१५"×३.१" तक है। इन ईंटो के अतिरिक्त कुछ विशेष आकार की ईंटें मिली हैं। कुआ मे जो ईंटें लगी हैं वे चौडाई मे एक ओर कम और दूसरी ओर अधिक हैं। इस प्रकार की ईंटो का प्रयोग साधारणतया वर्तुलाकार वास्तु के बनाने मे किया जाता है, पर मकानो मे आवश्यकता होने पर भी उनका कही भी प्रयोग नही हुआ है। फर्श आदि कामो के लिए छोटे छोटे टुकडो यथा ६.५"×४.३५"×२" मे काटकर ईंटो का प्रयोग किया गया है और उनको कोने रगडकर चिकनी कर ली गई हैं। कही-कही कोने पर ∠ आकार की ईंटो का प्रयोग किया गया है।"[2]

---

[1] भारतीय वास्तुकला पृ० ९-१०

[2] वही, पृ० १०

दीवारों की चिनाई भी आधुनिक ढग पर ही है। दीवारों में ईंटों को लगाने के लिए गारे तथा चूने का प्रयोग किया गया है। दीवारों की ऊंचाई २५ फीट तक है। मकानों मे पत्थर का प्रयोग नही मिलता है। छतों के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि वे प्रायः सपाट रही होंगी। पानी के बहने के लिए पनाले लगे रहते थे जिनसे पानी गली में गिरा करता था। खपरेल के अवशेष उपलब्ध नही हुए हैं, अतः उनके प्रयोग का पता नही लगता है। छतों के सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जाता है कि पहले शहतीरें डाली जाती थी, फिर चटाई बिछाई जाती थी। फिर चटाई पर मिट्टी डालकर उसकी कुटाई की जाती थी।

खिड़कियां थी या नहीं, इस विषय में केवल अनुमान ही है कि लोगों को हवा एवं रोशनी द्वार से ही प्राप्त होती रही होगी क्योंकि खिड़कियों के चिन्ह इन भवनों के अवशेषों में उपलब्ध नही हुए हैं। दरवाजों की चौड़ाई ३ ४' है, किन्तु कही कही ७ १०' तक के फाटक उपलब्ध हो जाते हैं। मकानों में स्तम्भों का भी प्रयोग हुआ है, जो कि छत के भार को रोके हुए है। वे सामान्यतः आयताकार हैं। एक ऐसा भी स्तम्भ मिला है जिसका आधार ३ वर्गफुट है और शीर्ष २½ फुट है। इस काल में मकान कई खण्ड वाले थे। इसका अनुमान दीवारों की मोटाई के आधार पर किया गया है। भवन छोटे छोटे तथा विशाल दोनों रूपों मे थे। एक प्राप्त विशाल भवन की लम्बाई २४२ फीट व चौड़ाई ११२ फीट है तथा दीवारों की मोटाई ५ फीट है। इसी प्रकार ८० वर्गफीट का एक विशालाकार मध्य हाल भी मिला है। नगर के चारों ओर प्राकार तथा परिखा के ध्वसावशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

इस नागर संस्कृति में प्रत्येक घर के साथ स्नानागार था जो कि मकान के एक कोने में होता था। कुछ मकानों में शौचालय भी मिले हैं। स्नानागार और शौचालय मकान के नीचे और ऊपर किसी भी खण्ड में हो सकते थे। दोनों ही स्थानों से पानी के बहने के लिए उपयुक्त परनाला की व्यवस्था थी जिससे पथिकों पर पानी आदि के छींटे न पड़ें।

सम्भवतः इस काल में इस प्रदेश में वर्षा अधिक होती थी इसीलिए यहाँ पर नालियों की सुन्दरतम व्यवस्था थी। नालियाँ-नाले ढके हुए भी थे। नालियां सम्भवतः गन्दे पानी के लिए तथा नाले बरसाती पानी के लिए थे। मोहनजोदड़ो में पानी की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। पर्याप्त मात्रा में कुएँ पाये जाते हैं। बड़े मकानों में भी कुएँ होते थे जिनकी मन पक्की होती थी। किसी किसी कुएँ पर बैठने के लिए चबूतरे भी मिलते हैं। साधारणतया कुएँ ३ फुट चौड़े होते थे पर कहीं-कहीं दो फुट से लेकर सात फुट चौड़े कुएँ भी उपलब्ध होते हैं।

स्थापत्य कला की अनुपम कृति सार्वजनिक सभा भवन तथा स्नानागार हैं, जो कि उस काल की स्थापत्य कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभा भवन का हाल

८५′ वर्गाकार है जिसकी छत इंटो के २० आयताकार स्तम्भो पर बनी रही होगी, जो पाँच पाच स्तम्भों के ४ पक्ति म बने थे। इंटो का पक्का फश ह, केवल बीच म उत्तर से दक्षिण ३½ फुट चौडी एक कच्ची पट्टी है। इस हाल के सम्बन्ध में सर जान माशल का विचार है कि वह किसी प्रकार का धार्मिक सभा भवन रहा होगा, किन्तु अर्नेष्ट के मत से यह कोई मण्डी थी जिसम स्तम्भो के मध्य मे दूकाने रही होगी। स्तूप के पश्चिम की ओर एक भवन मे विशाल स्नान का जलकुण्ड है। यह जलकुण्ड ३९ ३″ लम्बा तथा २२ २″ चौडा पक्की ईटो से निर्मित है। कुण्ड म उतरने के लिए चारो ओर सीढियाँ हैं, जो ६″ चौडी और ८″ ऊँची हैं। ऊपर सीढिया के चारो ओर एक १५ फुट चौडा माग है, जो कि फश स युक्त कुण्ड के पूरव म एक बडा सा कुआँ है। कुण्ड के उत्तर म ८ स्नानागारो का समूह है। इनम चार माग के उत्तर की ओर तथा चार दक्षिण की ओर हैं। मध्य म जल प्रवाहिका नाली भी है। प्रत्यक प्रकोष्ठ के फश जडे हुए ह तथा ऊपर जाने के लिए सीढियो के अवशेष आज भी दृष्टिगत होते हैं। इन कमरो म जाने वाला माग अतीव सकुचित है, परिणामस्वरूप बाहर से प्रवेश करने पर भी अन्दर की वस्तु दृष्टिगत नही हो सकती है। इन स्नानागारों के उपयोग के सम्बन्ध म अनुमान किया जाता है कि वे सम्भवत पुरोहित आदि कर्मकाण्डी लोगों के लिए बने थे, जो स्नानागारों के ऊपरी तल्लो म रहा करते थे। सारे भवन का सम्ब ध किसी धार्मिक कृत्य से लगाया जाता है।″

मोहनजोदडो नगर के उत्तर भाग म २४०′×११२′ आकार के भवन का एक भग्नावशेष भी मिला है। इस भवन के बाहर की दीवारो की मोटाई ५ फुट है और उसके दक्षिण पश्चिमी भाग म प्रवेश द्वार है। दक्षिण की ओर एक दूसरा भवन है। विद्वाना के अनुमान से यह राजमहल होगा। इसके साथ म नौकरो के रहने के लिए भी मकान और भण्डार घर दृष्टिगत होते हैं। यह सम्पूण स्थान २२०′ लम्बा और ११५′ चौडा है और इसकी दीवारें ५ फुट तक मोटी हैं। इस भवन तथा स्थान के चारो ओर मुख्य सडकें है।

सिन्धु सभ्यता के काल मे वास्तुकला अपने सर्वांग रूप म विकसित थी। इस वास्तुकला की समता म परवर्ती काल म शताब्दियो तक कोई निदशन दृष्टिगत नही होता है। यह एक आश्चयजनक कि तु सत्य घटना है। परमेश्वरीलाल गुप्त 'भारतीय वास्तुकला' म लिखते हैं—'इस प्रकार हम देखते हैं कि स धव सभ्यता की वास्तुकला प्रत्येक अग म पूण एव विकसित थी। वसी विकसित वास्तु व्यवस्था का परिचय हमें इस युग के बाद बहुत दिना तक नही मिलता। चौथी पाँचवी शताब्दी ईसा पूव तक तो किसी भी प्रकार के नागरिक अथवा अन्य प्रकार के वास्तु का पता ही नही लगता। उसके पश्चात् भी नागरिक-वास्तु का पता उतने विस्तृत रूप म नही लगता जितना हडप्पा और मोहनजोदडो के भग्नावशेषो को देखकर सैंधव सभ्यता का होता है।'[1]

---

[1] वही, पृष्ठ १८

धार्मिक वास्तु

मानव मस्तिष्क के विकास के साथ ही उसका परिचय प्राकृतिक शक्तियों से हुआ। उन प्राकृतिक शक्तियों की महत्ता—शक्तिमत्ता, को देखकर मानव मन में उनकी जानकारी के लिए सहज जिज्ञासा उदित हुई होगी। उस जिज्ञासा का उत्तर ही देवता ईश्वर की भावना के उदय का कारण बना होगा। इस शक्तिशाली पदार्थ की प्रसन्नता के लिए मानव उपासना पूजा की ओर उन्मुख हुआ होगा इसी भावना ने धर्म अधर्म पाप पुण्य आदि के उदय में योग दिया होगा।

विश्व के विभिन्न देशों के व्यक्तियों ने उस परम शक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएं कीं। अपनी अपनी कल्पना के अनुसार देवों की कल्पना की उनकी उपासना के लिए विधान रचे और स्तूप, मन्दिर आदि की कल्पना की, परिणामतः धार्मिक वास्तुकला का उदय हुआ।

आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में यज्ञवेदी और यज्ञशाला का उल्लेख उपलब्ध होता है। इसे हम भारतवर्ष की आरम्भिक धार्मिक वास्तुकला कह सकते हैं। इसका प्रारम्भिक रूप एक चबूतरे से प्रारम्भ होकर कलात्मक वेदिका आदि के रूप में परिणत हुआ। विभिन्न आकारों (पक्षी रथ कटोत्तान मानव) की वेदिकाओं के उल्लेख वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध हैं।

वैदिक कालीन वास्तु सम्बन्धी इन यज्ञशालाओं के अतिरिक्त ई० पू० षष्ठ शतक तक हमें धार्मिक वास्तु का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से बौद्ध धर्म का उदय हुआ और उनके निर्वाण के अनन्तर स्तूप नामक वास्तु का उदय हुआ। इस स्तूप के मूल में वैदिक कालीन समाधि ही थी। इसके साथ साथ स्तूप भवन और विहार भी बौद्ध वास्तुकला के दो तत्व हैं। इनके अतिरिक्त 'मन्दिर' नामक वास्तु ब्राह्मण धर्म का प्रमुख तत्व है जो कि चतुर्थ शतक से लेकर आज तक निरन्तर भारतवर्ष की वास्तुकला का प्रिय विषय बना हुआ है और जिसने भारतीय वास्तुकला के विकास परिष्कार तथा मूल्यांकन का अवसर प्रदान किया है इस प्रकार वास्तुकला के प्रमुख उपकरण—निम्नांकन स्तम्भ स्तूप, मन्दिर, भवन आदि तत्व हैं। हम इनके उद्भव तथा विकास पर क्रमशः विचार करेंगे।

स्तम्भ

वास्तुकला की दृष्टि से स्तम्भ भी महत्वपूर्ण हैं। भारत में चिर प्राचीन काल से स्तम्भों की स्थापना की जाती रही है। ये स्तम्भ दो प्रकार के होते थे—एक धार्मिक दूसरे राजनीतिक। अशोक ने अनेक धर्मस्तम्भों को स्थापित किया था। वैसे भी भारत धर्म प्रधान देश है अतः प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के स्मारक रूप में इनका प्रयोग वैदिक काल में भी होता रहा होगा। इन स्तम्भों से पृथक्तर वस्तुतः विशुद्ध धार्मिक स्तम्भों की भी प्रचुरता इस देश में रही होगी मनुष्यों की। अनेक धार्मिक स्तम्भ ऐसे भी थे जिन पर जिनका उद्देश्य देव विशेष का महत्व प्रकाशित करना था। इस

कार के अनेक स्तम्भ आज भी इस देश में खड़े हैं। धर्म प्रधान देश में इनका न होना आश्चर्य की बात होती।"[1]

दूसरा वर्ग उन स्तम्भों का है जो राजनीतिक हैं जैसे कीर्ति स्तम्भ, लाटें, मीनार आदि। उनका भी इस देश में पर्याप्त प्रयोग किया गया है। प्रत्येक राजा विजयी होने पर उसकी यादगार के रूप में इन स्तम्भों की प्रतिष्ठा करता था।

यहां पर हम केवल उन्हीं स्तम्भों की चर्चा करेंगे जो वास्तुकला के लिए महत्वपूर्ण हैं तथा जिनकी स्वतन्त्र सत्ता थी और जो धर्म, विजय आदि के स्मारक रूप में निरवलम्ब भूमि पर खड़े हुए हैं।

भारत यज्ञ प्रधान देश है। यज्ञों में पशु बलि के अवसर पर 'स्तम्भ' या 'यूप' का प्रयोग वैदिक है। 'यूप' यज्ञ स्तम्भ विशेष का नाम है। भारत में जिस अनुपात में यज्ञ होते थे उसी अनुपात में यूपों की स्थापना भी होती थी। गंगा यमुना के संगम पर वैदिक संस्कृति के यज्ञों की अधिकता से उस स्थल का नाम ही 'प्रयाग' हुआ। कालिदास ने भी रघुवंश में गाथा के यज्ञ-यूपों का उल्लेख किया है।[2] किन्तु एक बात यहां विशेष ध्यान देने की है कि ये यज्ञ यूप लकड़ी के बनते थे परिणामस्वरूप आज उनकी सत्ता अवशिष्ट नहीं है।

प्रस्तर निर्मित दो विशाल स्तम्भ मथुरा में उपलब्ध हुए हैं। सम्भवतः ये दोनों ही कुषाण-काल के हैं। इनमें से एक कनिष्क के पुत्र वासिष्क का है जो कि मथुरा के निकट ईसापुर गांव में मिला है। इसका समय १०२ ई० है। इस पर संस्कृत में एक लेख उट्टंकित है। दूसरा मथुरा के सामवेदी ब्राह्मणों की कीर्ति का स्मारक है। यह भी समय की दृष्टि से ईसवी प्रथम द्वितीय शतक का ही है। 'ये दोनों ही विशाल यूप प्रतिमा हैं। इनका मस्तक अश्व के मस्तक की भांति ग्रीवा से शालीन झुका है। ये चौपहल हैं और इन पर पशु-पाश की प्रतीक अगला बनी हुई है। इनके अतिरिक्त लकड़ी के भी कुछ यूप सुरक्षित हैं जिससे पता लगता है कि अधिकतर लकड़ी के ही यूप बनते थे जो कालान्तर में नष्ट हो गये। गुप्तकाल के भी कुछ यूप मिले हैं जिनमें ३७१ ई० का एक विष्णुवर्धन का विजयगढ़ में है।"[3]

इन यूपों से भिन्न धर्मस्तम्भ अथवा राजनीतिक स्तम्भ भी यहाँ अनेक स्थापित किए गए हैं। अनेक स्थानों पर अशोक ने अनेक स्तम्भों को स्थापित किया है। जितने भी स्तम्भ भारत में पत्थर या लकड़ी के स्थापित किए गये हैं उनमें सबसे प्राचीन अशोक के स्तम्भ ही हैं। 'उनका सौन्दर्य शिल्प की परिधि पार कर विशुद्ध ललित-कला की शालीनता प्राप्त कर चुका है। उन पर अपने अभिलेख लिखाकर उस महान्

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ४०

[2] रघुवंश १/४४ ग्रामेस्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम
अमोघा: प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिष: ।

[3] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ४२

चिंतक और क्रांतिकारी युद्ध विरोधी शान्तिपूजक सम्राट ने राजनीति की परम्परा ही बदल दी। अनन्तकाल पूर्व सहिष्णुता का अद्भुत परिचय अशोक ने दिया। अपने साम्राज्य की सीमाओं पर, घनी बस्तियों में उसने स्तम्भ खड़े किये और उनके साधन से अपने प्रेम और सौहार्द्र के सन्देश घोषित किये।'[1]

अशोक ने इस प्रकार के अनेक स्तम्भ स्थापित किये थे जिनमें से अधिकांश समाप्त हो चुके हैं। लेकिन जो भी प्राप्त हुए हैं वे बहुत अच्छी स्थिति में हैं। इन स्तम्भों पर अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। ये स्तम्भ चुनार के प्रस्तर से निर्मित हैं, कहीं भी जोड़ नहीं है। सम्पूर्ण स्तम्भ एक ही पत्थर से बना हुआ है। चम्पारन (बिहार) जिले के लौरिया नन्दनगढ़ का स्तम्भ अनुपम है। यह स्तम्भ ३२ फुट ९½ इंच ऊँचा है। आकार मोमबत्ती की भांति नीचे मोटा ऊपर पतला होता चला गया है। आधार पर उसका व्यास ३५½ इंच है और ऊपर का व्यास २२½ इंच है। इसी प्रकार मुजफ्फरपुर (बिहार) के बखोरा नामक स्थान का स्तम्भ सुरक्षित मिला है। यह स्तम्भ सबसे भारी है। किन्तु इस पर कोई लेख उत्कीर्ण नहीं है। इस प्रकार के अनेक स्तम्भ दक्षिण में हैदराबाद मैसूर तक मिले हैं। '५० ५० टन तक की तौल वाले इन स्तम्भों को हजार हजार मील दूर जंगल पहाड़ और नदियाँ पार कर कैसे ले गये होंगे यह विस्मयकारक है। निश्चय ही अशोक को असाधारण बुद्धि के इंजीनियरों का साहाय्य प्राप्त रहा होगा।'

इन स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण हैं जो तक्षक की कला प्रतिभा के परिचायक हैं। सबसे सुन्दर लेख बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी में स्थापित स्तम्भ पर है जो कि ऐसा लगता है कि आज ही उत्कीर्ण किया गया है।

इन स्तम्भों के शीर्ष प्रायः पशुओं की आकृति में मंडित हैं। ये आकृतियाँ सजीव हैं। ये शीर्ष भी एक ही पत्थर के निर्मित हैं। सबसे ऊपर पूर्णाकृति का पशु बना हुआ है। उसके नीचे पट्टी है। पट्टिका की गोलाकार बाढ़ पर चारों ओर चित्र अङ्कित हैं। शीर्षस्थ पशु गज अश्व वृषभ सिंह में से कोई एक होता है।

लुम्बिनी के स्तम्भ पर अश्व का, संकिसा के स्तम्भ पर गज, रामपुरवा के दो स्तम्भों में एक पर वृषभ है दूसरे पर सिंह। सारनाथ के स्तम्भ पर चार सिंह पीठ से पीठ मिलाये बैठे हैं।[2] सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष जो २४२ और ३२२ ई० पू० के बीच कभी प्रस्तुत हुआ परिष्कार सौन्दर्य और शिल्प चातुरी में संसार की कृतियों में अनुपम है। उसके पशुओं की सजीवता उनका विन्यास और क्रिया सभी दर्शक को चकित कर देते हैं। अशोक के स्तम्भों अथवा उसके समूचे वास्तु का इतना सुन्दर काम कैसे बना यह [illegible] के लिए एक समस्या उपस्थित कर देता है। सुरुचि और परिष्कार का काम तो अलग उनकी टेकनीक विशेषकर उनके कांचवत् चमकदार

[1] भारत की कला और संस्कृति की भूमिका पृ०,४३
[2] [illegible]

पालिश की, वह समस्या और उलझा देती है। इस प्रकार का निखार, परिष्कार और सर्वांग सुन्दरता जादू से एक दिन में अथवा एक शासन काल में नहीं प्रस्तुत की जा सकती, वह सदियों की निष्ठा, प्रयोग और अभ्यास की परिणति होती है। आश्चर्य है कि न केवल वह पालिश अशोक के वास्तवादर्शो पर ही आरम्भ होकर उनके साथ ही समाप्त हो जाती है।"[1]

अशोक के स्तम्भों के अतिरिक्त केवल एक बेसनगर वाले स्तम्भ का ही धार्मिक क्षेत्र में उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस स्तम्भ का निर्माता भी विदेशी ही है। यह स्तम्भ ग्रीक राजा अतलिखित (आन्त आल्किदस) के ग्रीक राजदूत होलियोडोटस द्वारा स्थापित किया गया था। वह वैष्णव था, उसने अपने को 'भागवत' कहा है। यह स्तम्भ ई० पू० द्वितीय शतक में 'वसुदेव' के नाम पर गरुड स्तम्भ' के रूप में खड़ा किया गया था। उस पर अशोक कालीन मौर्य काल जैसा परिष्कार और चमक नहीं है तथापि आकृया वह मौर्य-पारसीक स्तम्भ ही है। 'नीचे यष्टि दण्ड है उसके बीच में फुल्लों का एक घेरा है, ऊपर शीर्ष के तीन भाग हैं। घण्टीनुमा अभिप्राय चौकी और पशु के स्थान पर समूचे ताड़ पत्रों का शिल्पगत रूप।'[2]

इनके अतिरिक्त धार्मिक वास्तु स्तम्भ नहीं मिलते हैं। इसके पश्चात् धार्मिक वास्तु स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा ही समाप्त हो जाती है।

राजनीतिक क्षेत्र में अनेक स्तम्भ स्थापित किए गये। कालिदास के अनुसार रघु ने दिग्विजय स्तम्भ स्थापित किया था[3] समुद्रगुप्त ने अशोक के प्रयाग स्थित स्तम्भ पर अपनी प्रशस्ति अंकित कराई है। गुप्त सम्राटों ने अनेक विजय स्तम्भों की स्थापना कराई है। इनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय 'महरौली' गाँव में कुतुब मीनार के निकट है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। यह लौह स्तम्भ गरुडध्वज कहलाता है। इस पर यह भी लिखा है कि किस प्रकार चन्द्र ने अपने शत्रुसंघ को बंगाल में नष्ट कर सिंधु तट के सातों मुखों को (पंजाब की सात नदियाँ) पारकर वाल्हीकों को पराजित किया—"तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका'। भारत में यह एकमात्र लौह स्तम्भ है। किन्तु इसकी धातु इतनी अच्छी है कि लगभग डेढ़ हजार वर्ष आंधी पानी में अटल खड़े रहने पर भी यह जरा भी खराब नहीं हुआ है। इसमें जंग भी नहीं लगी है।[4]

स्कन्दगुप्त के दो स्तम्भों में से एक उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के काहौंव गाव में तथा दूसरा गाजीपुर जिले के सदपुर भीतरीगाव में मिला है। सदपुर स्तम्भ

---

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ४४-४५

[2] स्मिथ हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट, पृ० ६८

[3] रघुवंश ४/३६ वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः।

[4] चित्रफलक संख्या ८

में मुललित मरली में स्कन्द की पुष्यमित्रों पर विजय का उल्लेख है— पुष्यमित्रांश जित्वा'। इसके अतिरिक्त स्कन्द की युद्धयात्रा का भी मर्मस्पर्शी उल्लेख है। युद्धकाल में सामान्य सैनिक के रूप में अनेक रात्रियाँ भूमि पर सोकर व्यतीत कीं— क्षितितल नयनीय येन नीता त्रियामा'।

४८४ ८५ ई० का एक अन्य ४३ फुट ऊँचा विष्णु ध्वज स्तम्भ मध्य प्रदेश के सागर मण्डल के अन्तर्गत एरण में प्राप्त हुआ है। इसी से १३ मील दक्षिण-पश्चिम में पथरी गाँव में ४७ फुट ऊँचा एक अन्य स्तम्भ भी मिला है। इन पर अस्पष्ट रूप में कोई लेख अंकित है।

मालवराज यशोधर्मन का स्तम्भ मन्दसोर में प्राप्त हुआ है। उस स्तम्भ पर उनकी हूण विजय तथा अनेक राष्ट्रों की विजय गाथा उत्कीर्ण है।[1] पन्द्रहवीं शताब्दी में राणा कुम्भा ने अपनी गुजरात मालवा की विजय-स्मृति में एक नौमंजिला 'कीर्ति स्तम्भ' भी बनवाया था। "साधारणत चित्तौर वाला विशाल स्तम्भ कीर्ति स्तम्भ भी कहलाता है पर सम्भवत वह कुम्भ स्वामी वैष्णव मन्दिर के साथ साथ उसके स्मारक स्वरूप १४४० ई० में आठ वर्षों में बनकर तैयार हुआ था।"[2]

वास्तुकला से सम्बद्ध सभी प्रकार के स्तम्भों की ओर यदि ध्यान दिया जाए तो वे अनन्त हैं। प्राचीन काल में मन्दिर उद्यान आदि के निकट दीप स्तम्भ निर्माण की एक प्राचीन परम्परा थी। इस प्रकार के अनेक स्तम्भ यत्र तत्र प्राप्त हैं। एलोरा के कैलाश मन्दिर के सामने स्थित दीप स्तम्भ अनुपम है। काठियावाड, गुजरात आदि में पिछले काल में बने चालुक्य वेसर शैली के मन्दिरों के साथ कीर्ति स्तम्भों का निर्माण मन्दिरों के वास्तु का, परन्तु उससे असम्बद्ध विशेष अंग बन गया था। दक्षिण के विशाल मन्दिरों का एक विशेष अंग स्तम्भों की परम्परा है। वस्तुत यह परम्परा दरी मन्दिरों से आरम्भ हुई थी। अजन्ता एलोरा एलिफेंटा कार्लि, कन्हेरी आदि दरी मन्दिरों में मन्दिर या उसके बरामदों में स्तम्भों की समृद्ध परम्परा खडी है। अजन्ता और एलोरा के कुछ वास्तु स्तम्भ तो गजब के सुन्दर हैं। उनके ऊपर बने अलंकरण भी अतीव सुन्दर हैं। दक्कन के वेसर मन्दिर साधारणत सहस्र स्तम्भों के मन्दिर कहलाते हैं क्योंकि उनके शरीर में सच्चे झूठे सैकडों पतले स्तम्भ बने रहते हैं। इसी प्रकार के स्तम्भों वाला एक मन्दिर हैदराबाद राज्य में वारंगल का है। इन स्तम्भों के ऊपर विविध प्रकार के पत्थर में कटे हार तो वस्तुत शिल्प में सुई कारी का महत्त्व प्रस्तुत करते हैं। भवनों के स्तम्भों की भाँति दोरिक शैली में बने हैं। इस प्रकार अशोक के ईरानी सौ दय वाले स्तम्भों की ही भाँति कश्मीर के इन मन्दिरों की ग्रीक शैली का स्तम्भ योग मिला। स्तम्भों की यह परम्परा दुर्गों और राजप्रासादों

---

[1] स्मिथ हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट, पृ० १७५
[2] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ४९

की भी शक्ति बढ़ाती रही। उनके कटाव का काम साधारण भवनों के सौन्दर्य का भी वर्द्धक हुआ।"[1]

स्तूप

भगवान बुद्ध निर्वाण के अनन्तर भस्मीभूत अवशिष्ट अस्थियों को तात्कालिक भारत के शासकों ने आठ भागों में विभक्त किया और अपने अपने अंश पर भगवान बुद्ध की स्मृति में समाधि का निर्माण कराया। इन्हीं स्मारक समाधियों को बौद्ध ग्रन्थों में "चैत्य"[2] (चिता भूमि पर निर्मित) कहते हैं। इन्हीं चैत्यों का वास्तुकला की दृष्टि से 'स्तूप' नाम है। प्रसिद्ध यह है कि अशोक (२७३-२३२ ई० पू०) ने इन स्तूपों में सुरक्षित बुद्ध की अस्थि आदि पदार्थों को लेकर ८४००० स्तूपों में रखवाया था। इन स्तूपों का पूर्व रूप 'लयण' भी हो सकता है।[3]

स्तूप एक (गुम्बद) अथवा उल्टे कटोरे के समान अर्द्ध गोलाकार होता है। उसके आधार के चारों ओर घेरा वेदिका (रेलिंग) होती है। वैदिक कर्मकाण्ड में वेदिका यज्ञभूमि का नाम है। वेदिका के ऊपर सूचिका (कुण्डपट्ठल) होते हैं। स्तूप के आधार पर एक ऊँचा कोठा होता है। इसे यात्रियों के परिक्रमा मार्ग के रूप में काम में लाया जाता है। यदि हम स्तूप का पूर्वरूप देखना चाहें तो हम वह वैदिक यज्ञ की वेदिका भूमि में प्राप्त होता है। जिस प्रकार यज्ञभूमि के चारों ओर बाड़ होती थी उसी का प्रतिरूप सूचिका है। यात्री का परिक्रमा मार्ग स्तूप में भी है और वेदिका में भी था, जिसे 'मधि' कहते थे। जिस प्रकार आर्य वेदिका की प्रदक्षिणा करते समय दक्षिण कर वेदिका की ओर रखते थे उसी प्रकार बौद्ध यात्री भी विधान चक्र की परिक्रमा करते हैं। स्तूप के ऊपर शिखर पर अस्थिपात्र रखने का स्थान होता है। उसके ऊपर एक राजछत्र भी स्थापित रहता है जो कि आध्यात्मिक गुरुओं के सम्मान में राजा लगवाते थे।

स्तूप में रक्षित अस्थि रक्षा के लिए कभी कभी अधिक गहरे स्थान पर उन्हें प्रतिष्ठित किया जाता था। उस समय उस वेदिका के ऊपर समान आकार की एक अन्य

---

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका पृ० ५०-५१

[2] चैत्य शब्द के अनेक अर्थ हैं—(१) चिताभूमि पर निर्मित वास्तु चैत्य है। (२) चैत्य उत्तम प्रासाद का भी नाम है जो कि चुन चुन कर बनाया गया हो। (३) बौद्ध साहित्य में स्तूप के लिए रूढ़ है। इसे पूजा स्थल भी कहा जा सकता है।

[3] वैदिक ग्रन्थों से विदित होता है कि आर्य भी अपने पूर्वजों के भस्म एवं अस्थियों को संग्रह कर भूमि में गाड़ देते थे। इसका एक परिवर्तित प्रस्तर रूप 'लयण' है। 'लयण' अर्द्ध गोलाकार खोखला स्तूप होता है। उसके मध्य में एक पत्थर का पतला सा डण्डा या खम्भा भी होता है। यह 'लयण' पर्वत के भीतर काटकर बनाई हुई गुफा अथवा स्तूप ही है। एक लयण महाबलिपुरम (करल) में प्राप्त हुआ है।

वेदिका भी बनवाई जाती थी। यही नहीं, समाधिस्थ व्यक्ति की स्तुति में अनेक बातें स्तूप के बाह्य भाग के पलस्तर पर अंकित रहती थी। इन स्तूपों का निर्माण ईंटों अथवा पत्थरों के ठोस ढाँचे से होता था।

अशोक के स्तूप

कहा जाता है कि अशोक ने ८४००० स्तूपों का निर्माण करवाया था किन्तु आज अशोक कालीन अधिकांश स्तूप ध्वस्त हो चुके हैं। ध्वस्त स्तूपों में से कपिश स्थित स्तूप के षष्ठ शतक तक खड़े रहने के उल्लेख यत्र-तत्र मिल जाते हैं। कहते हैं इसकी ऊँचाई सौ फुट थी। इसी प्रकार का एक तीन सौ फुट ऊँचा स्तूप काबुल पेशावर के मध्य निग्रहार (नगरहार) में भी था।

अशोक कालीन अवशिष्ट स्तूपों में साँची का स्तूप मुख्य है। भारत के गौरव-गान के लिए यह स्तूप महत्वपूर्ण है। साँची में दो छोटे तथा एक बड़ा स्तूप है। बड़ा स्तूप अशोक अथवा उसके किसी प्रतिनिधि ने तृतीय शतक ई० पू० में ईंटों से बनवाया था। इसके तल का व्यास १२० फुट तथा ऊँचाई ५४ फुट है। शिखर पर एक छोटी सी हर्मिका है। उस हर्मिका के ऊपर छत्रदण्ड भी है जो कि अशोक प्रचारित धर्म का प्रतीक है। स्तूप के चारों ओर दो प्रदक्षिणा मार्ग हैं। एक ऊँचाई पर है जिस पर जाने के लिए दक्षिण की ओर दो सीढ़ियाँ हैं। दूसरा भूमि की सतह के बराबर है। दोनों ही प्रदक्षिणा मार्ग वेदिका रेलिंग से युक्त हैं। इस स्तूप के निर्मित हो जाने के पश्चात् लोगों ने उसकी सुरक्षा तथा यश लाभ के लिए उसे पत्थर से मढ़ दिया है और वेदिका आदि भी पत्थर की ही बना दी गई हैं। वेदिका के स्तम्भ पर निर्माणकर्त्ताओं के नाम अंकित हैं। इन पत्थरों को देखकर लोगों ने अनुमान किया है कि यह स्तूप तथा वेदिका पहले पत्थर के रहे होंगे। इस अनुमान में पत्थरों की खुदाई में काष्ठ का प्रतिअंकन सहायता देता है।

दोनों प्रदक्षिणाओं की वेदिकाएँ चारों ओर से खुली हैं तथा उसके प्रवेश द्वार पर विशाल तोरण हैं। अनुमान किया जाता है कि ये तोरण भी पहले काष्ठ के थे, किन्तु बाद में ई० पू० पहली शती में इन्हें भी पत्थर का कर दिया गया। दक्षिण के तोरण का एक भाग आंध्र वंशी राजा शातकर्णी ने तथा दूसरा विदिशा के हस्ति दन्त कारों ने बनवाया था। इस तोरण में १४ १४ फुट ऊँचे चतुष्कोण खम्भे हैं उन पर तिहरी कमानीदार बड़ेरियाँ हैं। उन बड़ेरियों के ऊपर सिंह, गज, धर्मचक्र, यक्ष, त्रिरत्न आदि अंकित हैं। तोरण पर चारों ओर बुद्ध का जीवन तथा उनके पूर्ववर्ती जीवनों की कहानी भी अंकित हैं। बड़ेरियों के दोनों ओर हाथी, मोर, सिंह, बैल, ऊँट, हिरण आदि भी अंकित हैं। स्तम्भ के निचले भाग में द्वारपाल यक्ष भी बने हुए हैं। स्तम्भ की समाप्ति पर ऊपर की बड़ेरियों के आधार रूप में हाथी बौने आदि बने हुए हैं तथा बाहर की ओर आधार रूप में यक्षिणियाँ बनी हुई हैं। यह तोरण ३४

फुट ऊँचा है। तात्कालिक भारत की सस्कृति एव सभ्यता की कथा को बहुत ही सजीव रूप म व्यक्त करता है।[1]

छोटे स्तूपो म से एक बडे स्तूप के निकट ही उत्तर पूव की ओर स्थित है। उसम एक म तोरण युक्त द्वार है जो कि बडे तोरणो के समान है अलकृत एव सजीव है। दूसरा भी इ ही के समान है कि तु वह तोरण विहीन है तथा नीचे के भाग म मूर्तिया निर्मित हैं। यह एक पहाडी के निम्न भाग म है।

भरहुत स्तूप

कलकत्ता के भारतीय सग्रहालय म भरहुत के टूटे हुए स्तूप के द्वार और खम्भे जिन पर मूर्तिया अकित ह, सुसज्जित रूप म रखे हुए ह। भरहुत सतना के निकट मध्यप्रदेश म है। यह इलाहाबाद से लगभग २० मील पर स्थित है। इस स्तूप का १८७३ के लगभग जनरल कनिघम महोदय ने पता लगाया और वेदिका के खम्भे और तोरण के खण्ड एकत्रित किये। वे पत्थर जिन पर अनुपम कलाकृतिया आकी गई है, धोबिया के घाटा पर कपडे धोने के काम म आ रहे थे। उन सभी को एकत्र कर कलकत्ता सग्रहालय म रखा गया है।

इस स्तूप[2] के तले का व्यास ६८ फुट था, इसके चतुर्दिक पत्थरा की एक विराट बाड थी जो अद्भुत मूर्ति शिल्प से अलकृत थी। इस बाड की ऊँचाई सात फुट एक इच है और तकिया के दाब (उत्कोष) के प्रत्येक पत्थर की लम्बाई भी इतनी ही है। भरहुत म कुबेर यक्षो की अनेक मूर्तियाँ भी मिली है। भरहुत के शिल्प को मूर्ति कहने की अपेक्षा अद्ध चित्र कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योकि यह पत्थर पर उभार देकर बनाई गई आकृतियाँ है।

भरहुत म मनुष्या जैसे रूपवान नाग भी अकित हैं। इनम पुरुष के सिर के ऊपर पाँच फन और स्त्री के ऊपर एक सप फन तना रहता है। भरहुत म नागो के राजा चक्रवाको भी खडे हैं। इस चित्र को देखकर लगता है कि कोई देवता है जो पृथ्वी पर उतर आया है। इन नाग देवता के मुख पर शाति एव भव्यता विद्यमान है। वे ककण, भुजब द, हार और कुण्डल आदि आभूषण धारण किये हुए है। घुटनो को छूती हुई धोती पर पटका बँधा हुआ है और क धे पर दुपट्टा, जो कि क धे के दोनो ओर लटक रहा है। सिर पर पगडी है। भरहुत शिल्प को देखकर शु गकाल की स्त्री पुरुष की वशभूषा का आभास मिल जाता है।

भरहुत स्तूप म बुद्ध पूजा के भी दृश्य है। बुद्ध जातक कथाये भी अकित है। राजा प्रसेनजित के भी चित्र है। इस भरहुत मे बुद्ध की पूजा प्रतीक रूप म (स्तूप बोधि वृक्ष आदि की) की गई है। मनुष्य और पशु सभी त मयता से बुद्ध की पूजा

---

[1] चित्र फलक सख्या १

[2] चित्र फलक सख्या २

करते हुए चित्रित किये गये हैं। हाथियों द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा का एक अनुपम चित्र अंकित है।

एक चित्र बुद्धमाता मायादेवी का है। रात्रि में वे राजमहल में लेटी हुई हैं दीपक जल रहा है दासियाँ पलंग के पास ऊंघ रही हैं। सिर की ओर कोई देवता हाथ जोड़े खड़ा है एक हाथी दौड़ता हुआ मायादेवी की ओर आता है, भगवान् बोधिसत्व श्वेत वर्ण के सुन्दर हाथी के रूप में जो कि सूंड में सफेद कमल लिए हुए था, मायादेवी के कुक्षि में प्रवेश करता है। यह वह चित्र है जो कि मायादेवी ने स्वप्न के रूप में बुद्ध के जन्म से पूर्व देखा था।

अनाथपिंडक की दान कथा भी बहुत ही सुन्दरता से अंकित है। कहीं बन्दर हाथी पर बैठे हुए ढोल बजाते दृष्टिगत होते हैं कहीं राक्षस का दाँत उखाड़ते हुए दृष्टिगत होते हैं। हाथी एवं हिरणों के अनेक चित्र हैं। लगभग यहाँ पर तीस जातकों की कथायें अंकित हैं। आशय यह है कि यह भरहुत का स्तूप शुंगकाल की कला की अनुपम देन है। इसके प्रत्येक अंग पर बौद्ध जातक अलंकरण फुल्ले यक्षिणी तथा देव योनि आदि के चित्र बने हुए हैं। इसके पूर्वी तोरण से विदित होता है कि इसकी रचना (१८८ ई० पू०—३० ई० पू०) में हुई थी।

कनिष्क कालीन स्तूप

अशोक के समान ही बौद्ध धर्म का अनुयायी कनिष्क भी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति है। इसने भी अनेक स्तूपों की रचना कराई है। जलालाबाद (नगरहार) अफगानिस्तान का सोरता स्तूप ई० पू० ५० के लगभग का है। इस स्तूप का आधार विशाल है, तथा गुम्बद का निचला भाग मूर्तियों से अलंकृत है। इनके अतिरिक्त भी कनिष्ककालीन अन्य अनेक स्तूपों की तक्षशिला से जानकारी होती है।

चीनी यात्रियों के वृत्तांत से ज्ञात होता है कि कनिष्क के काल में एक प्रसिद्ध एवं विशाल स्तूप पेशावर में भी था जिसका आधार सीढ़ियों पर बना था और १५० फुट था। यह स्तूप कहते हैं कि तेरह मंजिल और ४०० फुट ऊँचा था। इस स्तूप के ऊपर एक दण्ड था जिसमें ताम्र के छत्र लगे थे। इस दण्ड की ऊंचाई ८८ फुट थी। इस प्रकार स्तूप एवं दण्ड सहित इसकी ऊंचाई ६२८ फुट थी। शाहजी की ढेरी नामक स्थान की खुदाई से इस स्तूप के होने की प्रामाणिकता ज्ञात हुई है। यह भारत भर का एक महान स्मारक था। इसके समकालीन मणिक्याला स्तूप का व्यास १६० फुट से कम है। इस कनिष्क काल के स्तूप के गर्भगृह में कनिष्क का प्रसिद्ध रजत मंजूषा भी प्राप्त हुआ है।

अमरावती स्तूप

दक्षिण में अमरावती नामक स्थान में भी एक स्तूप के अवशेष मिले हैं। इस स्तूप का निर्माण ई० पू० द्वितीय शताब्दी में हुआ था। इस स्तूप के चारों ओर दस्तकारों ने बाड़ बनाई थी और इसी में निर्मित स्तूप के अधोभाग की शिला

फलकों की दोहरी पंक्ति से आच्छादित कराया था। इसका व्यास १८० फुट था। इस स्तूप के निर्माण में संगमरमर का कार्य किया गया है। इसके अतिरिक्त असंख्य अनुपम सजीव मूर्तियां अलङ्कृत कराई गई हैं। कुछ शिला फलकों पर स्तूप का ही अलङ्कृत दृश्य चित्रित है। कुछ पर बुद्ध का जीवन तथा पूजा से सम्बद्ध चित्र भी है। इस स्तूप की बाढ़ इकहरी है, जिसकी ऊंचाई १३ १४ फुट के लगभग रही होगी, और इसका व्यास लगभग ६०० फुट रहा होगा। सांची और भरहुत की बाड़ की भांति काष्ठ की वेदिका की प्रतिकृति है। इसमें विभिन्न प्रकार के कमल और अलङ्करण हैं। बीच बीच में उभारदार पच्चीकारी है। इस पर भरहुत तथा सांची की भांति बन्दर, कुबड़े, बाने, पशु पुरुष भी चित्रित हैं।[1] सौन्दर्य एवं भव्यता की दृष्टि से यह अपने समय में एक अनुपम भारतीय मूर्ति शिल्प का गौरवपूर्ण स्तूप रहा होगा।

गुप्तकालीन स्तूप

गुप्तकाल के चतुर्थ शतक में भी अनेक स्तूपों की रचना हुई है। चौकोर आधार पर स्थित ऊँचे तूदे वाला तक्षशिला का भल्लड़ स्तूप उन्हीं में से एक है। इसमें सीढ़ियों की पंक्ति एक ही है। यह एक साधारण स्तर का स्तूप है।

गुप्तकालीन मीरपुर (सिन्ध) का स्तूप एक महत्त्वपूर्ण स्तूप है। यह भी चौकोर आधार पर स्थित है। इसमें एक विशेष बात यह है कि इसमें पश्चिम की ओर चौकोर आधार पर तीन छोटे-छोटे उपासना गृह के समान कमरे हैं। यह स्तूप इस प्रकार के प्रकोष्ठों से युक्त अपने ढंग का भारतवर्ष में एक ही है। इस स्तूप का अलङ्करण पच्चीकारी से युक्त ईंटों से हुआ है।

गुप्तकालीन षष्ठ शतक का सारनाथ का धमेख स्तूप प्रस्तर का स्तूप भवनों के समान गोलाकार मण्डल की तरह है। इसकी रूपाकृति नलाकार पत्थर के ढाल के समान है। यह आधार रहित भूमि पर स्थित है। ईंटों से निर्मित यह १२८ फुट ऊँचा स्तूप है। इसमें बीच बीच में ताख हैं जो कि सम्भवतः बुद्ध मूर्तियों को रखने के लिए हैं। उसके नीचे ज्यामिताकार पुष्पांकित एक चौड़ी पट्टी है जो कि अजन्ता की चित्रित छतों के अनुकरण पर है। "उपयुक्त अनुपात तथा सुन्दर पुष्पादि से अलङ्कृत शिल्पकारी इसकी प्रमुख विशेषता है।"

एक स्तूप जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध राजगृह का गुप्तकालीन स्तूप है। यह पंचम शतक का मीनार की तरह काफी ऊँचे आधार पर स्थित है।

गुप्तकाल के अनन्तर स्तूपों के निर्माण की प्रथा समाप्त हो जाती है और परवर्ती काल में इस प्रकार के स्तूपों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

मन्दिर

भारतवर्ष में कला का इतिहास १५०० वर्षों का इतिहास है, इस मध्य में भारतीय कला के अश्वत्थ से अनेक शाखायें प्रस्फुटित हुई हैं। देश और काल,

---

[1] चित्र संख्या ३

सम्प्रदाय और मत तथा विशिष्ट रुचि के कारण इस कला में अनेकरूपकता भी आई है।

स्थापत्य (वास्तु) कला को दो विशिष्ट भागों में बाँटकर उसका अध्ययन करना अधिक सहज प्रतीत होता है—१ शैलियाँ
२ प्रकार।

वास्तुकला के प्रकार दो हो सकते हैं—१ धार्मिक, और
२ लौकिक।

धार्मिक वास्तु के अन्तर्गत मन्दिर स्तूप आदि का समावेश होता है। लौकिक वास्तु के अन्तर्गत प्रासाद, सेतु आदि परिगणित किये जाते हैं।

धार्मिक वास्तु के अन्तर्गत मन्दिर निर्माण एक महत्त्वपूर्ण कला का अंग है। मन्दिरों के निर्माण में अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग होता है। शैलियाँ प्रधानतः तीन हैं—

१ नागर,
२ वेसर और
३ द्राविड।

इन शैलियों के अतिरिक्त प्राचीन स्थापत्य ग्रन्थों में अन्य अनेक शैलियों—लतिन, साधार भूमिज नागर-पुष्पक विमान[1] आदि के भी नाम प्राप्त होते हैं किन्तु ये नाम प्रायः उपर्युक्त तीन शैलियों के अन्तर्भूत ही हैं। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'इन तीन प्रधान शैलियों के प्रभेद हैं या निर्माण की दृष्टि से गौण हैं। इनमें नागर और द्राविड नाम तो यथावत् व्यवहृत हुए हैं पर वेसर के मिश्र मिश्रक वाराट आदि पर्याय भी शास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं। वे उस शैली के स्वभाव और रूप का संकेत करते हैं।'[2]

नागर शैली के मन्दिर

चतुष्कोण गर्भगृह के ऊपर झुकी हुई रेखाओं से संयुक्त छत्ते की भाँति विमान शिखर वाले नागर मन्दिर नर्मदा के दक्षिण में तो स्वल्प ही हैं किन्तु हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य में इनका अधिक प्रचार व प्रसार है। पंजाब हिमालय कश्मीर राजस्थान पश्चिमी भारत गंगा की घाटी, मध्य प्रदेश उड़ीसा, बंगाल आदि विविध प्रदेशों में अपनी अपनी शैली के प्रायः ९०० और १३०० विक्रमी के बीच हजारों मन्दिर बने।

मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ में भारत में कब और कहाँ हुआ इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। आज तक के प्राप्त मन्दिरों में प्राचीनतम मन्दिर साँची का ४० संख्यक मन्दिर है। सर्वप्रथम यह मौर्यकाल या शुंगकाल में

---

[1] बृहच्छिल्प शास्त्र ३/८, ७२
[2] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० २६५

निर्मित हुआ था। इस मंदिर की प्रस्तर की आधार भूमि के पूर्व और पश्चिम की ओर सोपान हैं। मंदिर का ऊपरी भाग सम्भवत लकडी का बना हुआ था जो कि बाद म पुर्ननिर्माण के समय ढक दिया गया है।

साची के इस मंदिर का समकालीन मंदिर नगरी (चित्तौड के पास) म निर्मित मन्दिर है। इस मंदिर म सकर्षण (बलराम) और वासुदेव कृष्ण की प्रतिमाएँ थी। यह मन्दिर भी सम्भवत पहले लकडी का रहा होगा। इस मंदिर म सातवा शताब्दी तक असदिग्ध रूप से पूजा आदि होती रही थी। इसी काल म सरगुजा रियासत मे एक 'लयण मंदिर' का भी पता चलता है जो कि जोगीमारा के नाम से प्रसिद्ध वहण मंदिर था। मध्य प्रदेश म विदिशा के समीप बेसनगर म भी भगवान विष्णु के गुगकालीन एक मंदिर का उल्लेख मिलता है।

यह मंदिर शीर्षहीन गरुडध्वजाकित है जिसे अन्तियालाकिद नामक यवन शासक के राजदूत हेलियोडोर ने वासुदेव के सम्मान मे १४० ई० पू० म स्थापित किया था। अब लोग उसे खामबाग कहकर पुकारते हैं। इसी स्थान पर दो ताडपत्र-शीर्ष और एक मकरध्वज मिला है जो इस बात का स्पष्ट सकेत करत हैं कि वहा दूसरी शताब्दी ई० पू० म कम से कम एक वष्णव मंदिर अवश्य रहा होगा।"[1]

विशिष्ट उल्लेखो के होते हुए भी गुप्त साम्राज्य स पूववर्ती कोइ भी मन्दिर वास्तु प्राप्त नही हुआ है जिसक कारण उसकी रूपरेखा, शली और विकास क्रम का ज्ञान हो सके।

गुप्त युग से पूव के मंदिरो की रूपरेखा का अनुमान, भरहुत, अमरावती, साची, गया तथा मथुरा के प्रस्तरा पर अकित चित्रो स किया जा सकता है। "तत्का लीन मंदिरा का निर्माण चौकोर नीव क ऊपर होता था, जिसके ऊपर बारह स्थूणो का मण्डप होता था उनके ऊपर स्तूपिका और स्तूपिका के ऊपर शिखरनुमा कलश होता था। प्राय सभी दवताओ के मंदिरो की योजना यही होती थी और देवता की पहचान क लिए बाहर प्रहरण ध्वज अथवा कोई अय चिह्न होता था। इन मुद्राओ पर मन्दिर के सामने त्रिशूल और परशु है जो मन्दिर के शव होने का द्योतक है।' इस प्रकार ई० पू० द्वितीय शताब्दी की व्यास नदी की घाटी मे रहने वाली औदुम्बर जाति की इन विभिन्न मुद्राओ से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक मंदिर स्तूप युक्त होते थे।

भारतीय मंदिरा के नव विकास का प्रारम्भ साची क गुप्तकालीन मंदिर से होता है। गुप्तकाल के मंदिर एक विशेष ढग क होते थे। इनम एक चौकोर गभगृह होता था, जिस गभगृह म मुख्य प्रतिमा स्थापित की जाती थी। सामने स्तम्भो पर आधारित एक मण्डप होता था। कभी-कभी गभगृह क चारा ओर आच्छन्न प्रदक्षिणा के चारो ओर किसी बडे कमरे का ध्वसावशेष पडा है जो छत युक्त प्रदक्षिण-पथ

[1] भारतीय वास्तुकला, पृ० ८२

मार्ग भी बनाया जाता था। गुप्तकाल के प्रारम्भिक मन्दिरों की छत सामान्यतः सादा होती थी किन्तु जैसे-जैसे मन्दिरों में इंट का प्रयोग बढ़ता गया, छत की आकृति शिखराकार होती गई। इस प्रकार के मन्दिर तिगावा, एरण, नचना और उदयगिरि में हैं। ये मन्दिर आरम्भिक श्रेणी के माने जाते हैं। भारतीय मन्दिर वास्तु का यह रूप उन प्रागैतिहासिक वास्तुओं का अनुकरण कहा जा सकता है जिनमें चारों ओर चार शिला फलकों की दीवार और ऊपर शिला फलक की ही छत हुआ करती थी।

इन मन्दिरों के सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जाता है कि ये पूर्वकालिक बौद्ध-लयणों के अनुकरण हैं। जो भी हो, इन मन्दिरों में फलक योजना (स्लैब-कास्ट्रक्शन) का बहुत ही आदिम रूप देखने को मिलता है। गुप्तकाल में इन मन्दिरों का बाहुल्य देखकर अनुमान किया जाता है कि उस काल में इनका विशेष प्रचार रहा होगा।[1]

गुप्तकालीन मन्दिरों के द्वार प्रायः अलंकृत मिलते हैं। द्वार स्तम्भों पर एक ओर मकरारूढ़ा गंगा का और दूसरी ओर कच्छप पर खड़ी हुई यमुना का चित्रण एक परम्परा सी हो गई है। इन स्तम्भों पर मंगल घट आदि का अलंकरण भी मिलता है। द्वार के सिरदल पर बीच में प्रायः मन्दिर के मुख्य देव की प्रतिमा तथा इधर-उधर अन्य देव प्रतिमाएँ स्थापित मिलती हैं। ये गुप्तकालीन विकसित प्राच्य मन्दिर-वास्तु के सूचक मन्दिर हैं। किन्तु प्रारम्भिक मन्दिर प्रायः सादे मिलते हैं। इन सादे मन्दिरों में सांची का मन्दिर, तिगवा (जबलपुर) का विष्णु मन्दिर तथा एरण (सागर) के विष्णु तथा वराह मन्दिर उल्लेखनीय हैं। "इनमें से प्रायः चार खम्भों पर आधारित सादा वर्गाकार या आयताकार गर्भगृह मिलता है। सामने छोटा बरामदा है जो मण्डप का पूर्वरूप कहा जा सकता है। इस पर पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी हैं। इन मन्दिरों की छत सपाट है और दीवारें भी सादी हैं। सांची के समीप उदयगिरि की गुप्तकालीन गुफाओं से सम्भवतः इन सादे मन्दिरों के निर्माण की प्रेरणा मिली होगी।"[2]

परवर्ती गुप्तकालीन मन्दिरों में अलंकरण की प्रवृत्ति का विकास होता है। गर्भगृह के चारों ओर ढका हुआ प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाने लगा है। मध्य प्रदेश के नचना तथा भूमरा के शिव मन्दिर ऐसे ही हैं। नचना वाले मन्दिर के गर्भगृह के ऊपर एक दूसरी मंजिल का भी निर्माण किया गया है।

नागौद राज्य के भूमरा और बुन्देलखण्ड के अजयगढ़ के मन्दिर भी इसी कोटि में आते हैं और ये महत्त्वपूर्ण मन्दिर हैं। भूमरा के शिव मन्दिर में सपाट छतों का गर्भगृह और अलंकृत द्वार है जिनके पाखों (बाजुओं) पर गंगा यमुना के चित्र हैं और चौखट के ऊपर पंचमुखी महादेव और अप्सरा के चित्र अङ्कित हैं। गर्भगृह

---

[1] भारतीय वास्तुकला पृ० ८६

[2] हिन्दी साहित्य, पृ० १०६ ११०

ौर उससे लगा मण्डप रहा होगा। इन मन्दिरो की एक अन्य विशेषता गर्भगृह के
ार का अलकरण है। इसमे से कुछ उत्कीर्ण चित्रो की शाखा मे अन्तरूढ़ है जिनका
विशेष साधन मिथुन मूर्तियो की पक्तिया हैं। इनका शिल्प शास्त्र के अनुसार द्वार
गलकरण की अन्तिम शाखा मे होना आवश्यक है।"[1]

दक्षिण के सपाट छत वाले मन्दिरो मे ऐहोल का लाडखाँ का मन्दिर एक
महत्त्वपूर्ण चतुर्थ शती का मन्दिर है। यह बहुत ही नीचा तथा सपाट है। दीवारें
इसकी पत्थर की हैं। मध्य मे इसके चतुष्कोण स्तम्भ है। मण्डप के स्तम्भो पर गगा
यमुना की मूर्तियाँ अकित हैं। छत के ऊपर शिला फलको से निर्मित एक छोटा सा
वर्गाकार कमरा है। सामने के मण्डप मे सूर्य की मूर्ति है। दीवारो मे अकित ताखो
मे मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। एहोल के तीन मन्दिर ऐसे हैं जिनमे या तो शिखर है ही
नही या बाद मे जोडे गये हैं।

देवगढ, भीतरगाव के मन्दिर एक अन्य वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इनमे
चतुष्कोण गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है। उपर्युक्त दोनो मन्दिरो का
रचना काल षष्ठ शतक है। 'देवगढ में दशावतार का पाषाण मन्दिर (दशावतार)
एक चौडी कुर्सी पर बना है जिस पर पहुचने के लिए चारो ओर सीढियाँ बनी हैं।
इस कुर्सी की दीवारो पर उत्कीर्ण शिलापट्ट लगे हैं जिनमे से कुछ रामायण सम्बन्धी
तथा कुछ कृष्ण-लीला सम्बन्धी भी हैं। गर्भगृह की तीनो सादी दीवारो पर अत्यन्त
कलापूर्ण शिलापट्ट जडे है। इनमे नर नारायण तथा गज उद्धार के दृश्य विशेष
प्रभावोत्पादक हैं। भीतरगाँव का मन्दिर इट का बना है। यह एक ऊँची चौकी पर
खडा है। मन्दिर की कुल ऊचाई ७० फुट है। इसका गर्भगृह तथा मण्डप वर्गाकार
है। दोनो की बाहरी दीवारो के आलो पर मिट्टी का कलात्मक मूर्तियाँ लगी हैं।
इनमे विविध देवी देवताओ तथा पशु पक्षियो की मूर्तियाँ अधिक हैं। मन्दिर की
कामदार इटो मे विविध अलकारो का प्रयोग सुरुचिपूर्ण है। यह मन्दिर उत्तर भारत
मे गुप्तकालीन स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है।"[2]

बौद्ध गया का महाबोध मन्दिर उत्तर गुप्तकाल मे निर्मित एक प्रसिद्ध मन्दिर
है। यह शिखर शली का अन्यतम उदाहरण है। किन्तु इस मन्दिर मे बीच बीच मे
परिवर्तन व परिवर्धन होते रहे हैं। इसका प्रारम्भिक रूप भीतरगाव के मन्दिर के
समान था। इस मन्दिर का वतमान रूप सन् १८८० ८१ का जीर्णोद्धारित रूप है।
इससे पूर्व सन् ११०५ और १२९८ मे बर्मा निवासियो ने इसकी रक्षा का प्रयत्न
किया था। इस मन्दिर का प्राचीन नाम वज्रासन गन्ध-कुटी प्रासाद है। यह नौ
खण्डो का मीनार सरीखा है। हर खण्ड मे आमलक के कोने बने हुए हैं। इसके

[1] भारतीय वास्तुकला, पृ० ८७
[2] श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, हिन्दी साहित्य, पृ० २१०

शिखर के निम्न भाग में प्रवेश द्वार के ऊपर एक लम्बी पतली खिड़की है ताकि भीतर रोशनी जा सके। पूर्व की ओर एक मण्डप है जो मुख्य मंदिर के बाद का बना है और सारा मन्दिर प्रदक्षिणा के चबूतरे पर स्थित है। इसके पश्चिमी सिरे पर सन् १८७६ तक बोधिवृक्ष खड़ा था। ह्वेनसांग के सातवीं शताब्दी में बुद्ध गया आने के समय यह मंदिर निश्चित रूपेण अपने मूल रूप में था। उसने उसका बहुत ही विशद वर्णन किया है और उसने जो ऊँचाई बताई है बिल्कुल उतना ही ऊँचा वह आज भी है और उसकी चौड़ाई भी करीब उतनी ही है। फाह्यान का कथन है कि बुद्ध के जीवन में जिन चार स्थानों पर महान् घटनायें अंकित हुई वहाँ पर एक एक मन्दिर बना हुआ है। इस कथन के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि यह दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच बना होगा। अनुमान किया जाता है कि वहाँ पहले एक बोधि द्रुम मन्दिर था। उसके स्थान पर इस मंदिर को बुद्ध की मूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए उस समय बनाया गया जब लोगों में मूर्ति पूजा के भाव जाग्रत हो रहे थे। कनिंगहम की खुदाई से भी यह बात ज्ञात हुई। मध्यकालीन पत्थर के वज्रासन के पीछे एक दूसरा ओपचार सिंहासन मिला है और उसके पीछे पालिशदार चार स्तम्भों सहित पत्थर के फलक मिले हैं।"[1]

पूर्व मध्यकाल में मध्यप्रदेश के राजपुर, दमोह, जबलपुर आदि स्थानों पर अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ था। इसकी निर्माण शैली भीतरगाँव वाले मन्दिर के ढंग की है किन्तु अलङ्करण की मात्रा वहाँ अधिक है।

गुप्तकाल के अनन्तर हिन्दू और जैन मंदिरों का निर्माण पर्याप्त रूप में हुआ। इन मंदिरों में शिखराकृति मिलती है। शिखर का अधिकतम भाग इस काल में अनवरत किया जाने लगा था। सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक जिन मंदिरों का उत्तर भारत में निर्माण हुआ उनमें अहिच्छत्रा, नालन्दा तथा उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के तेंदुली और बहुवा के मंदिर महत्त्वपूर्ण हैं। ये बहुत अधिक ऊँचे स्थान पर बने हैं। इन तक पहुँचने के लिए सोपान की आवश्यकता होती है। जिला फतेहपुर सूर्य और विष्णु के अनेक लघु मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है।

उड़ीसा के मंदिर

उड़ीसा के मंदिर आकार और प्रकार में अपनी अभिनव सम्पदा लिये आज भी भक्त-जनों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं तथा वास्तुकला के अनुपम रूप को व्यक्त कर रहे हैं। उड़ीसा स्थित समस्त मंदिर अष्टम से लेकर द्वादश शताब्दी के निर्मित हैं। यह मंदिर-समूह दुर्गम पर्वत समूहों के कारण आज सुरक्षित है। इस मंदिर समूह में भुवनेश्वर स्थित परशुरामेश्वर (७५० ई०) मुक्तेश्वर (६५० ई०) लिंगराज (१००० ई०), मेघेश्वर (१२०० ई०) पुरी स्थित राजरानी और जगन्नाथ (११५० ई०) तथा कोणार्क स्थित सूर्य देवल (१३०० ई०) नामक मंदिर मुख्य हैं।

---

१ भारतीय वास्तुकला पृ० १०६ ११०

इन मंदिरों में से कुछ में जगमोहन (मण्डप) के अतिरिक्त नृत्य मण्डप, नाट्य मण्डप सभा मण्डप और भोगमण्डप नामक अलग मण्डप भी हैं। लिंगराज के मंदिर में तो ये सभी मण्डप हैं जो विभिन्न समयों के बने हैं। उसका नाट्य-मण्डप सबसे पीछे १३०० ई० में बना था। इस कारण यह मंदिर भारतवर्ष के वर्तमान मंदिरों में सबसे भव्य और विशाल समझा जाता है। इसके जगमोहन के ऊपर बनी हुई कारनीसें दो खण्डों में विभक्त हैं। विमान पर विशाल आमलक और उसके ऊपर कलश। उसके शिखर की समान्तर रेखायें उसकी निजी विशेषतायें हैं।"[1]

उड़ीसा के प्राचीनतम मन्दिरों के शिखर छोटे तथा प्रायः सपाट हैं, उनके मण्डप ठोस नीची छत वाले कमरे मात्र हैं। तथापि क्षितिजाकार और ऊर्ध्वाकार रेखाओं के संयोग से उनमें शालीनता और भव्यता का समावेश हो गया है। इस प्रकार के मन्दिरों में मुक्तेश्वर का मन्दिर विशिष्ट है। इसका जगमोहन उड़ीसा के मंदिरों का आदर्श है। इस प्रकार के मंदिरों में प्राचीनतम परशुरामेश्वर का मन्दिर है। विमान (शिखर) कुछ नाटा तथा गुम्बदाकार है। जगमोहन दो मंजिला है। ठोस छत के बीच में रोशनदान हैं। भुवनेश्वर के मंदिरों में सर्वाधिक उन्नत और शालीन लिङ्गराज का मंदिर है। उसके वर्गाकार मण्डप की छत काफी ऊँची है और गर्भगृह के विमान का शिखर सीधा ऊपर उठा हुआ है। इसकी रेखायें चोटी पर जाकर ही कुछ मुड़ी हुई हैं। इसके आधार तथा अन्य स्थानों पर आश्चर्यजनक सुन्दर आकृतियाँ अंकित हैं जो मन्दिर के अलंकरण का कार्य करती हैं।[2] इसी अलंकृत शैली का राज रानी का मंदिर है। इस मंदिर के स्तम्भ विशालता लिये हुए हैं जो कि अन्य मंदिरों से भिन्न है। पुरी स्थित मंदिर यद्यपि वास्तुकला की दृष्टि से निम्न कोटि का है किन्तु प्रसिद्धि उसकी सर्वाधिक है, आज भारत के समृद्धतम मन्दिरों में अनन्य है। इसी प्रकार का प्रसिद्ध मंदिर कोणार्क का सूर्य मन्दिर है जो कि जीर्ण शीर्ण है। इस मन्दिर की निर्माण योजना अन्य मंदिरों से भिन्न है। इसके जगमोहन का रूप लिंग राज के मंदिर की भाँति दो भागों में विभक्त न होकर तीन भागों में विभक्त है। ऊपर के भाग में कारनीसों की संख्या कम है। इसका आधार अलंकृत है।[3] डा० भगवतशरण उपाध्याय ने इस मंदिर के सम्बन्ध में लिखा है कि "भारत के सुन्दरतम मंदिरों में उसकी गणना है। बड़े यशस्वी शिल्पियों ने उसकी मूर्तियों की काया कोरी होगी और उसके शालीन कलेवर को खड़ा किया होगा। मन्दिर का निर्माण असमाप्त ही छोड़ दिया गया है। उसका शिखर अब भी अपूर्ण है और अब तो समुद्र के लवणाक्त वायु ने उसके कलेवर को भी ढीला कर दिया है। अबुलफजल ने इस मन्दिर की भूरि भूरि प्रशंसा की है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसका निर्माण-

---

[1] भारतीय वास्तुकला पृ० १०१

[2] चित्रफलक संख्या ४

[3] चित्रफलक संख्या ५

काल कला की दृष्टि से प्राय निम्न था। केसरी कुल के राजा नरसिंह (१२६७ १३२७) ने इसका निर्माण कराया था। कोणार्क के मन्दिर की कल्पना में भाव यह है कि सूर्य का रथ ही मन्दिर के रूप में मानों पृथ्वी पर उतर आया हो। इसके अलंकरण की अभिरामता ग्रहों की भांति रथचक्रों का छन्दस, अश्वों की शक्ति, वास्तु की मर्यादा को सीमायें खींच देते हैं।[1]

उड़ीसा के मन्दिर अलंकरण की दृष्टि से विशिष्ट मन्दिर हैं। सर्वाधिक सुन्दर मुक्तेश्वर का मन्दिर है। इस मन्दिर पर यत्र तत्र नाग नागिनियों की मोहक मूर्तियाँ अंकित हैं। इसी प्रकार राजरानी के मन्दिर के स्तम्भ पर नागिनियों की मूर्तियाँ और भी अधिक भव्य व आकर्षक हैं। कोणार्क मन्दिर में जगमोहन पर मानव आकृतियाँ खड़ी की गई हैं। यही नहीं, शिखर भाग पर कामशास्त्र के द्वन्द अंकित हैं जो कि मूर्तिकला की दृष्टि से सुन्दरतम हैं।

बुन्देलखण्ड में चन्देलों की राजधानी खजुराहो के मन्दिर समूह विशेष प्रसिद्ध हैं। खजुराहो के मन्दिरों का निर्माण-काल १० वीं ११ वीं शती है। इन मन्दिरों में लगभग ३० जैन मन्दिर तथा अनेक हिन्दुओं के मन्दिर है। इन मन्दिरों में कंधरिया नाथ महादेव का मन्दिर विशेष सुन्दर है। यह मन्दिर आकृति की दृष्टि से १०६ फुट लम्बा ६० फुट चौड़ा और ११६ फुट ऊंचा है। इस मन्दिर की ऊंचाई की भव्यता, आधार और विमान (शिखर) के लम्बे रूप की रेखाओं के द्विगुणित होने के कारण और भी अधिक हो गई है। प्रदक्षिणा पथ में सुन्दर स्तम्भों की योजना है। चारों ओर भव्य झरोखे हैं। मन्दिर का कण कण मूर्तिकला में अलंकृत है।[1] कहीं-कहीं अश्लील मिथुन भी हैं। इस स्थान के प्राय सभी मंदिरों की रूपरेखा समान है। वैष्णव चतुर्भुज आदिनाथ आदि के मन्दिरों का अन्तर केवल प्रतिष्ठित प्रतिमा के आधार पर ही ज्ञात होता है। यह सम्पूर्ण मन्दिर भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका भव्य उच्च शिखर पार्श्व के कंगूरे छज्जों से युक्त प्रदक्षिणा पथ—सभी दर्शनीय है। मुख्य शिखर को छोड़कर सम्पूर्ण मन्दिर का बाहरी भीतरी भाग विविध कलात्मक मूर्तियों तथा अलंकरणों से सुसज्जित है। कुछ वृत्तियाँ काम शास्त्र सम्बन्धी हैं। खजुराहो के अन्य वैष्णव एवं शैव मन्दिरों की तथा जैन मन्दिर आदिनाथ की निर्माण शैली कलात्मक है।[2]

मध्यकाल आठवीं से बारहवीं शती में राजस्थान में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों में अधिकांश वैष्णव मन्दिर हैं। ओसिया जोधपुर के हरिहर के दो देवालय तथा सूर्य मन्दिर अपने अतिशय अलंकरण के लिए प्रसिद्धि प्राप्त हैं। सूर्य का मन्दिर पंचायतन ढंग का है। इसमें मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त उसी के अनुरूप चारों कोनों पर चार लघु मन्दिर भी हैं। प्रवेश द्वार बहुत आकर्षक है। ओसिया भगवान

---

[1] चित्रफलक संख्या ६
[2] कृष्णदत्त वाजपेयी, हिन्दी साहित्य, पृ० २११

महावीर का जैन मन्दिर भी अनुकरण के लिए प्रसिद्ध है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त राजस्थान में इस काल के मन्दिरों में खेड़े, किराडू तथा सादड़ी (जोधपुर) के वैष्णव मन्दिर, बाड़ोली (उदयपुर) का शेषशायी नारायण का मन्दिर, तथा भाल पाटन का कालिका मन्दिर भी महत्त्वपूर्ण मन्दिर हैं। मध्यप्रदेश में ग्वालियर किले में स्थित सास बहू तथा तेली का वैष्णव मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। ग्वालियर का उदयास्त परमार का नीलकण्ठ मन्दिर अथवा उदयेश्वर का मन्दिर भी प्रसिद्ध है। इस मन्दिर की विशेषता यह है कि "आधार से शीर्ष तक चार सपाट सकरी पट्टियों से अलंकृत है। बीच के अंश में प्रधान शिखर की छोटे रूपों में आवृत्ति हुई है। सारे मन्दिर में बहुत महीन काम किया गया है और मण्डप और शिखर दोनों सुरक्षित हैं।"

रीवाँ राज्य में चन्देली में गोल शिखर युक्त मन्दिर भी दर्शनीय है। नरसिंहपुर रियासत के सोहागपुर का मन्दिर खजुराहो के मन्दिरों के अनुकरण पर है। इसी प्रकार इन्दौर का सिद्धनाथ का मन्दिर एक प्रसिद्ध नागर शैली का मन्दिर है।

आठवीं और बारहवीं शताब्दी में पंजाब तथा गंगा के कोठे में नागर शैली में अनेक मन्दिरों की रचना हुई है जो कि प्रारम्भिक गुप्तकाल तथा भीतरगांव, सिंहपुर आदि मध्यवर्ती मन्दिरों की परम्परा के सूचक हैं।

सोलहवीं शती में मथुरा वृन्दावन वैष्णव धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। यहाँ पर अकबर तथा जहाँगीर के काल में अनेक मन्दिरों का निर्माण किया गया। मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्मस्थान पर ओरछा नरेश वीरसिंह देव ने तैंतीस लाख रुपये व्यय करके केशवराय (श्रीकृष्ण) मन्दिर का निर्माण किया था। इनके अतिरिक्त वृन्दावन तो मन्दिरों का घर है। वहाँ गोविन्ददेव, गोपीनाथ मदनमोहन, राधावल्लभ तथा जुगल-किशोर के अनेक बड़े बड़े मन्दिर बने हुए हैं जो कि लाल पत्थर से निर्मित हैं। इन मन्दिरों में "गोविन्ददेव का मन्दिर सबसे बड़ा है। यह २० फुट ऊँची कुर्सी पर स्थित है। इसकी वर्तमान लम्बाई २०० फुट और चौड़ाई १२० फुट है, बाहरी जगमोहन ४० फुट लम्बा और २० फुट चौड़ा है। जगमोहन के बाद रंग मण्डप है। इस मन्दिर की महराबों का कटाव कमानीदार पत्थरों से बनाया गया है तथा उसका गोल और सुघर गुम्बद दर्शनीय है। इन मन्दिरों पर तत्कालीन मुस्लिम वास्तुकला का प्रभाव स्पष्ट है।'

इन मन्दिरों के अनन्तर भारतवर्ष के विभिन्न कोणों पर अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ है। इन मन्दिरों में जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं। जैन मन्दिरों की प्रथम विशेषता—इनके आँगन के चारों ओर स्तम्भ युक्त छोटे छोटे मन्दिरों का समूह होना है और इस मन्दिर समूह के मध्य में मुख्य मन्दिर का निर्माण किया जाता है। द्वितीय विशेषता चौमुख का विकास है। इन मन्दिरों का मुख चारों ओर होता है और मन्दिर भी चतुर्मुख होता है जो कि चारों दिशाओं से देखा जा सकता है। जैन मन्दिर प्रायः तीर्थों तक ही सीमित हैं। अजमेर, दिल्ली, धार, अहमदाबाद आदि

स्थानो पर निर्मित जन अन्य-मन्दिरा को मुसलमाना ने ध्वस्त कर मस्जिद के रूप म परिवर्तित कर लिया है। जनो के मंदिर जहाँ भी होत हैं वहाँ समूह रूप म मिलते है, जहाँ विभिन्न तीर्थकरा को मूर्तियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। एक बात और भी है कि जन नवीन मन्दिरो के निर्माण की अपक्षा प्राचीन मन्दिरा का ही जीर्णोद्धार करते हैं। जना का सर्वाधिक प्रसिद्ध मन्दिर आबू पवत पर स्थित देलवाडा मंदिर समूह है।[1] इस समूह म चार मंदिर हैं जिनम विमलशाह और पालव धु के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। य दोना ही आशिपरान्त सगमरमर पत्थर से निर्मित हैं तथा इनका रचनाकाल क्रमश १०३३ और १२३२ है।" इन दोनो मंदिरो का चप्पा चप्पा अलकृत है। उनके सारे अलकरण और मूर्तियाँ एकसी है। जनो के तरग (सिद्धपुर), गिरनार (काठियावाड), शत्रुजेय और पालीटाणा (गुजरात) आदि प्रसिद्ध तीर्थस्थान हैं। यहाँ भी जनो के प्रसिद्ध एव महत्त्वपूर्ण मंदिर हैं। आधुनिक काल का निर्मित अहमदाबाद का धमनाथ का मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से दशनीय है।

योगिनियो के मन्दिर

भारत म कुछ ऐस भी मंदिर हैं जिनका रूप गोलाकार एव स्तम्भयुक्त है। य मंदिर चौंसठ योगिनियो के कहे जात हैं। इन मन्दिरो म प्राचीनतम मंदिर भेडा घाट जबलपुर का है जो कि सभवत दवी ६वीं शताब्दी का है। इसका भीतरी व्यास ११६ फुट है और उसक चारो ओर के वतु लाकार गभगृह ८१ है। इसम उमा महेश्वर के आसन होने की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार का एक दूसरा मन्दिर पाटौधी के निकट मितौली म है जिसका व्यास १२० फुट और गभगृहो की सख्या ६५ है। इनक अतिरिक्त भी अन्य अनेक स्थाना—कोयम्बटूर रानीपुर, झरिया (सम्भलपुर), दुधही (जबलपुर) म भी हैं। खजुराहो म भी एक योगिनियो का मन्दिर है, कि तु वह गोलाकार होने का अपक्षा आयताकार है और उसका क्षेत्रफल १०२'×५९'६" है। इसम ६४ छोट तथा एक बडा गभगृह है।

गुजरात के मन्दिर

गुजरात म भी सालङ्की राजाओ ने अनेक ब्राह्मण एव जन मंदिरो का निर्माण कराया था किन्तु यवनो की धर्मान्धता के शिकार होकर सभी मंदिर काल-कवलित हो गए अथवा मस्जिद के रूप म रूपान्तरित कर दिए गए। इन मन्दिरो म अणहिलवाडा, सोमनाथपट्टन आदि थे। इनम प्राचीनतम १०९३—११४३ का सिद्धपुर का रुद्रमाला मंदिर था।

बगाल के मन्दिर

बगाल के मन्दिरा की रचना शली अन्य प्रान्ता की वास्तुकला से सवथा भिन्न एव नवीन है। वे वास्तुकला म काष्ठ और बास के उपयोग की प्राचीन परम्परा के

[1] चित्रफलक सख्या ७

अनुकरण पर बने हैं। शिवालयो का जो रूप बगाल म देखने को मिलता है वह वहाँ के पत्तो के बने साधारण झोपडो का स्पष्ट अनुकरण जान पडता है। उनका शीष गभगृह के ऊपर से वतु लाकार जाकर कुछ सपाट सा हो जाता है, फिर ऊपर दूसरी कि तु छोटी वत्तु लाकार छत की पुनरावृत्ति होती है।"[1]

इस शैली के मन्दिरो म १६७५ म निमित रानी भवानी का मदिर कात-नगर (दीनाजपुर के निकट), दक्षिणेश्वर (कलकत्ता) के निकट बन श्री राम कृष्ण के मन्दिर विशेप प्रसिद्ध हैं।

नैपाल के मन्दिर

हिमालय की तराइ म कुछ ऐसे मदिरो का निर्माण हुआ है जो अपनी वास्तुकला मे सबसे भिन्न है। य मन्दिर प्रस्तर के न होकर काष्ठ से निमित हैं। नैपाल म इस प्रकार के मदिर का रूप और भी अनोखा हाता है। उनमे स्थानीय रूपो के साथ साथ नागर और बगला शली का विचित्र सम्मिश्रण हुआ है। वहाँ के मदिरो का विकसित रूप चीनी 'पगोडा से मिलता जुलता ढालू छता वाला बहुमजिला होता है। प्रत्यक मजिल म ढालू छतो का आधार और नक्काशीदार टोड होत हैं जिनके चारो कोने ऊपर को नासिका सरीखे उठे होते हैं। नपाली मदिरो से साम्य रखने वाले कुछ मदिर कोचीन त्रिवाकुर तथा बाली मे भी पाये जाते ह।'[2]

इस नैपाली शली के मदिरो म उदाहरण स्वरूप मदिर भाटगाव (नपाल) का भवानी मदिर है जो कि १७०३ का निमित है। काठमाण्डू का प्रसिद्ध पशुपति नाथ का शिव मदिर भी इसी शली का मन्दिर है।

कश्मीर के मन्दिर

आठवी स तेरहवी शताब्दी के मध्य निर्मित कश्मीरी मदिरो की वास्तु शली अपना महत्त्व रखती है। इन मदिरो की वास्तुकला म 'उनकी छते दोहरी कोणा-कार, और एक क ऊपर एक आपस म काटती हुई वर्गों की बनी होती ह। उनका सामने का तोरण त्रिकोणाकार होता है जिसम बीच म एक ताखा रहता है। उसके स्तम्भ ऊचे उठे होते ह, जिसम लकडी अथवा पत्थर का दीप होता है। मुख्य मदिर के चारा ओर स्तम्भ युत मण्डप अथवा प्रदक्षिणा पथ रहता है।'[3]

इस शली क निमित बानू पत्थर के मदिर लदुव, मार्तण्ड, पठन पायर, पाण्डरथान और पजताण (जम्मू) म ह तथा कडे तेलिया पत्थर के वागथ और बुनियार म हैं। इन सभी मदिरों म शीलादित्य निर्मित मार्तण्ड मदिर अपन आकार एव स्थान के कारण विशेप महत्त्वपूण है। इस शली का एक एक मदिर काठियावाड तथा पजाब म भी मिला है।

---

[1] भारतीय वास्तुकला, पृ० ११२
[2] वही, पृ० ११३
[3] वही, पृ० ११४

दक्षिणापथ के मन्दिर

विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में वास्तुकला की एक भिन्न शैली का आविर्भाव हुआ है। इसका सम्बन्ध द्रविड़ जाति और उनकी संस्कृति से माना जाता है। इस शैली के मंदिरों का प्रारम्भिक रचनाकाल छठी शताब्दी है। दक्षिण वास्तु का आरम्भ तेरके उत्तरेश्वर और कालेश्वर के ईंटों के बने मंदिरों तथा एहोल, पट्टदकल, बादामी के अनेक मंदिरों के निर्माण से होता है।

दक्षिण में मंदिर वास्तु का प्रसार चैत्य मन्दिरों की अपेक्षा प्रस्तर बिद्ध लयण मंदिरों से हुआ है। १२०० लयण वास्तुओं में से ९०० बौद्ध २०० जैन तथा १०० ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित हैं। ये सभी मंदिर की अपेक्षा चैत्य भवनों के अनुकरण पर हैं किन्तु छठी शताब्दी के पूर्ण विकसित लयण मन्दिरों के रूप हैं।

दक्षिण वास्तु शैली का निर्माण तथा विकास तद्देशीय शासकों की छत्र छाया में विशेष रूप से हुआ है। परिणामस्वरूप उनके नामकरण भी वहाँ के शासकों के नाम पर ही हुए हैं। उदाहरण के लिए पल्लव शैली चोल शैली, पाण्ड्य शैली, चालुक्य शैली विजयनगर शैली मदुरा शैली आदि।

पल्लव शैली

पल्लव शैली के प्रारम्भिक मंदिर अपने विभिन्न विकसित रूपों में उत्तरी आर्काट तथा त्रिचनापल्ली के जिलों में पल्लवरम दलवानुर क्लिम विलगई महेन्द्रवाडी मंगलराजपुरम् भैरवकोण, स्यामलम् त्रिचनापल्ली, महाबल्लीपुरम् में विशेषतः प्राप्त होते हैं। इन मंदिरों में से अधिकांश के निर्माता महेन्द्रवर्मन प्रथम (६०० ६२५ ई०) हैं। इन मन्दिरों की शैली को उनके निर्माता के नाम पर महेन्द्र शैली भी कहा जाता है। इस शैली में वर्गाकार गर्भगृह में लिंग स्थापित किया जाता है जिसके सामने एक बरामदा या बरसाती होती है जिसमें स्थूल वर्गाकार स्तम्भ होते हैं। उसके मध्य का स्तम्भ अठपहला होता है। टोडे सामान्य तथा यदाकदा पहलदार भी होते हैं। गर्भगृह के सम्मुख गदाधारी द्वारपालों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। इस शैली के मंदिरों में गोल आच्छन्न कारनीस सादी दीवाल बीच बीच में नरमुण्डयुक्त तोरण (कुडु) होते हैं। कभी कभी बौद्ध शैली की बाड़ (रेलिंग) भी प्राप्त होती है।

चोल शैली

पल्लव साम्राज्य के पतन के साथ ही चोल साम्राज्य का उदय हुआ। इस साम्राज्य की छत्रछाया में द्रविड़ शैली का प्रचुर प्रचार हुआ। इस पल्लव राज्य में न केवल विमान ही गगनचुम्बी वरन् मकर तोरण में भी परिवर्तन हुआ तथा स्तम्भ अधिक पतले और सुडौल बने। देव प्रकोष्ठों के तोरण इस शैली की विशिष्ट देन है। चोल शैली के मंदिरों में राजा राजदेव चोल निर्मित वृहदीश्वर के मंदिर (१००० ई० के लगभग) राजेन्द्र चोल द्वारा निर्मित गंगइकोंडा चोलपुरम् के मंदिर (१०२५ ई०) विशिष्ट हैं। चोल निर्माताओं के काल में गोपुर का निर्माण हुआ

ार नमश उसने वृहद आकार धारण कर लिया। अंतत उसने मुख्य मंदिर के
ाखर को भी ढक लिया। परवर्ती द्रविड शली की यह एक विशिष्ट विशेषता है।

ाण्ड्य शलो

पाण्डय शली क मंदिर (गोपुर) श्रीरगम चिदम्बरम्, कुम्भकोणम् और तिरुवल-
ल्लइ म अधिक प्राप्त होते हैं। इन मंदिरो क गोपुर उतने ही ऊचे हैं जितन कि चोल
विमान। चोल तया पाण्ड्य शैला के मिश्रण स जिस द्रविड शैली का उदय हुआ—
उसकी एक विशेषता उसका विशाल मण्डप है। इन मण्डपा के स्तम्भ अलकृत हैं।
कभी-कभी इन मण्डपो का निर्माण रथ के रूप मे हुआ है। १३वी शताब्दी मे निर्मित
चिदम्बरम् के मन्दिर द्रविड शलो क अनुपम तथा पूण विकसित शली के उदाहरण
है। पाण्डय काल और उसके पश्चात् की वास्तुकला म विशालता द्वारा प्रभावाभिव्यक्ति
की ओर विशेष ध्यान दिया गया। परिणामत इस काल की कला म विशाल प्रस्तर
स्तम्भ मिलते हैं जो कि अलकृत भी हैं।

चालुक्य शैली

दशम से द्वादश शताब्दी के मध्य चोल और पाण्ड्य शली के साथ-साथ एक
अन्य शली का विकास हुआ जो चालुक्य शली के नाम से प्रसिद्ध हुई। कुछ शिल्पकार
इस शैली को 'बेसर' भी कहते हैं। हम इस शली को उत्तर दक्षिण शली का समन्वित
रूप या मिश्रित रूप कह तो अधिक अच्छा होगा। इस शली की अपनी कुछ विशेषताएँ
है—अपेक्षाकृत कम ऊचाई किन्तु अधिक विस्तार तारा रहस्य रूपक, मुख्य मण्डप की
तीन दिशाओ म गर्भगृह तथा स्तम्भ का मौलिक स्वरूप। इस शली का शिखर गोल
है किन्तु ऊपर की ओर वह क्रमश पतला होता गया है और उसम दक्षिण मन्दिरो
के शिखरो के समान मजिला का स्पष्ट रूप नही है। परिणामस्वरूप उसकी रूपरेखा
गुण्डाकार हो गई है। इस चालुक्य शली के मन्दिर धारवाड, मसूर और दक्षिण के
पठार मे अनेक हैं।

परवर्ती काल म इस शली म विशेष विकास नही होता है अपितु यह शली
विस्तृत एव महीन अलकरण तक ही सीमित रह जाती है। "उसका उत्कर्ष उपपीठ
के बहु अलकरण तोरणो पर मकरतोरणक उभार चित्रण तथा ज्यामिताकार रूप म
पर्दों के चित्रण म देखने म आता है। इनके प्रभावा को रूपरेखा की पूणता की अपेक्षा
विस्तार म ही अधिक व्यक्त किया गया है।"

उत्तरकालीन चालुक्य शली का नामकरण मसूर क शासक हयशाल वल्लाल
वश (१००० १३०० ई०) के नाम पर हयशाल शली' रख दिया गया था। उसका
उत्कृष्ट निदर्शन नसिंह तृतीय (१२५४ १ ९१ ई०) क प्रधानमन्त्री द्वारा बनवाया
गया सोमनाथपुर का केशव मंदिर है।

विजयनगर शैली

विजयनगर के शासकों (१३५० १४६० ई०) के द्वारा आर्य सभ्यता का सूर्य पुनः भारत वसुंधरा पर देदीप्यमान हो उठा, परिणामस्वरूप द्राविड वास्तु कला में भी परिवर्तन हुआ। इस काल में नवीन मंदिरों के निर्माण की अपेक्षा जीर्णोद्धार और उनके अधिक अलंकरण की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। आज दक्षिण के मन्दिरों में जितने भी गोपुर उपलब्ध हैं वे सभी इसी काल के हैं। इस काल की एक अपनी विशेषता—मण्डपों के ऊपर स्तूपिकाओं का निर्माण है जिसके कारण मंदिर के सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

इस काल में उल्लेखनीय विशाल स्तम्भयुक्त मण्डपों में कांचीपुरम् (एकाम्रनाथ), विजयनगर (विट्ठल स्वामी) ओवादियर कोविल और वेलूर (कल्याण मण्डप) दर्शनीय हैं। विजयनगर के सर्वोत्कृष्ट मंदिरों में कृष्णदेवराय (१५१३) का विट्ठलस्वामी मन्दिर है। दक्षिण के अन्य मंदिरों में कडलाइकरसका का गणेश मंदिर भी महत्त्वपूर्ण है। इस मन्दिर के गर्भगृह की दीवारों और सपाट छत तथा मण्डप के असाधारण ऊँचे स्तम्भ प्रभावपूर्ण है। हजार राम का मंदिर भी विट्ठलस्वामी के मंदिर का समकालीन, समान तथा एक आदर्श मन्दिर है। इस मंदिर की दीवारों पर रामायण के अनेक दृश्य हैं।

इस काल की वास्तु शाला की विशेषता की दृष्टि से स्तम्भों का मूर्तिरूप में निर्माण तथा पीछे देखते हुए सिंहों अथवा यालिया (गजसिंहों) का रूपांकन है।

मधुरा शैली

विजयनगर के पतन के अनन्तर विजयनगर के नायक—सामन्तों ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की तथा इन नायक लोगों ने अपने पूर्ववर्ती वास्तुकला के आदर्श को भी सुरक्षित रखा। इस काल तथा शैली के मंदिर पूर्णतः द्रविड आदर्श के मंदिर हैं।

मधुरा के प्रसिद्धि प्राप्त मीनाक्षी मन्दिर का निर्माण विश्वनाथ नायक (१५५६ ई०) ने किया था। सम्भावना यह भी है कि विश्वनाथ नायक ने पुराने मंदिर का ही जीर्णोद्धार कराया है। फिर भी इस मंदिर का सहस्र स्तम्भ मण्डप नायक वास्तु की अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त मंदिर के सम्मुख तिरुमलल नायक (१६२२ ५६ ई०) द्वारा निर्मित पादु मण्डप या वसन्त—सपाट छत वाला तीन भागों में विभक्त बरामदा अपने काल की वास्तु का प्रतिनिधित्व करता है। दक्षिण भारत की वास्तुकला की महत्त्वपूर्ण विशेषता मूर्ति रूपों के रूपायन की है। पुराणों की कथाएँ देवी देवताओं के चित्र भी स्तम्भों पर सूक्ष्म रूप में अङ्कित हैं। इस दक्षिण शैली में बीसवीं शताब्दी तक अनेक अनुपम मंदिरों का निर्माण होता रहा है। विस्तार भय से उनका यहाँ उल्लेख संभव नहीं है।

'चैत्य' शब्द की निष्पत्ति 'ची' धातु से हुई है जिसका अर्थ है चयन करना, के ऊपर आरोपित करना। 'ची' धातु से ही 'चित्य' बना है जिसका अर्थ है वदी। समय के अनन्तर इनका सम्बन्ध महान् व्यक्तियों के स्मारकों के साथ हो गया स्तूप वर्णन प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि चैत्यों का स्तूपों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेकशः चैत्य शब्द का प्रयोग स्तूपों के लिए भी हुआ है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि चैत्य तथा स्तूप दोनों ही शब्दों का प्रयोग पवित्र स्थलों के अर्थ होता है। "इसी अर्थ में अनाथपिण्डक ने सारिपुत्र की अस्थिपेटिका रखने के लिए मंजिला चैत्य बनाया। उसके शिखर पर छत्र बना था। स्पष्टतः यह स्तूप का रूप। बुल्वा भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करता है। उनके अनुसार भिक्षु के व को घास और पत्तियों से ढककर उस पर 'चैत्य' का निर्माण होना चाहिए। जन्ता, एलोरा और अन्यत्र भी गुम्बजनुमा कमरे में बने स्तूप के साथ समूचे वास्तु नाम चैत्य है, देवालय के अर्थ में। इसी अर्थ में देवायतन, देवगृह देवालय के अर्थ रामायण महाभारत आदि में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ में चैत्य का सम्बन्ध शव समाधि से रहा। कुमारस्वामी ने अपने इतिहास में कुछ उदाहरण भी दिये हैं जो कि चैत्य का शव समाधि से सम्बन्ध बताते हैं। जुयोबुयुइल द्वारा संकेतित मालाबार की चट्टान में खुदी मृतक समाधि भी इसी प्रकार का एक चैत्य स्तूप है। एशिया माइनर के दक्षिणी तट पर लीडिया के पिनारा और न थस में जो प्रस्तर शव समाधियाँ बनी हुई हैं वे भारतीय चैत्यों के समान ही हैं।[2]

यद्यपि प्रारम्भ में चैत्य शब्द शव समाधियों का सूचक भी रहा है किन्तु बाद में इस शब्द से संघ के पूजागृहों का संकेत मिलने लगता है—वे पूजागृह जहाँ महायानी बौद्धों के प्रतीक बुद्ध की प्रतिमा आदि सुरक्षित रहते थे। इसके लिए एक विशिष्ट वास्तुकला का उदय हुआ जिसके आधार पर गर्भगृह, उसके वाम दक्षिण भाग में स्तम्भ, उसके मध्य में एक ठोस स्तूप होता था। यह सम्पूर्ण चैत्य प्रासाद पर्वत की चट्टानों लकड़ी या ईंटों से बनाया जाता था। पार्वत्य प्रदेश में निर्मित चैत्य गोल लम्बी सुरंग के समान होते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा भूमि अवश्य होती थी।

कभी कभी संघ की प्रार्थनाओं के लिए भी चैत्यों की आवश्यकता होती थी जहाँ बैठकर आचार्य उपदेश दिया करते थे। ऐसे स्थलों पर निर्मित भवन प्रार्थनागृह भी चैत्य कहलाते थे। इस कार्य के लिए निर्मित एक चैत्य गृह हैदराबाद के नालदुर्ग जिले में तेर नामक स्थान में है। यह भारत का एक प्राचीनतम चैत्य है। यह ईंट

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ३२
[2] कुमार स्वामी, हिस्ट्री, पृ० १२

और पलस्तर से निर्मित है। गाँव की झोपडी जैसा द्वार पूर्व की ओर है, उसके ऊपर एक खिडकी है जिसका निर्माण इसलिए हुआ था कि सूर्य का प्रकाश वह भीतर तक फेंक दे। हाल मण्डपनुमा या बैलगाडी की छाजन सा।

ई० पू० तृतीय चतुर्थ सदी में ही चैत्यों का निर्माण होता रहा है। अशोक कालीन चैत्य गृह छोटे और सादे होते थे। अजन्ता का ही नयानी चैत्य गृह इसी काल का है। इसकी रचना पहाड को काट कर हुई है इसकी छत आठ पहल स्तम्भों पर आधारित है। ये गुफायें अजन्ता की प्राचीनतम गुफाओं में से हैं। अशोक निर्मित पर्वत गुफाओं में लोमश ऋषि, सुदामा आदि के नामों से प्रसिद्ध हैं। इनकी दीवारों पर मौर्य पालिश भी चढ़ाई गई है।

बम्बई और पूना के बीच पश्चिमी घाट की पहाडियों में कार्ले का सुन्दरतम चैत्य गृह है। यह ई० पूर्व प्रथम सदी का हीनयानी आदर्श वास्तु का निदर्शन है। इस गुफा के द्वार के उभयत एक एक स्तम्भ थे। किन्तु अब उनमें से केवल एक ही सोलह पहला स्तम्भ अवशिष्ट है। यह स्तम्भ आकृति में अशोक के ईरानी कला से प्रभावित स्तम्भों से मिलता है। सामने पहले मण्डप युक्त तीन द्वारों थी। हाल में खुलने वाला मध्य द्वार संघ के सदस्यों के लिए था और शेष दोनों गृहस्थ उपासकों के लिए थे जिससे वे बायें द्वार से प्रवेश कर बगैर संघ के कार्य में विघ्न डाले चैत्य, स्तूप या प्रतीक की प्रदक्षिणा कर दाहिने द्वार से बाहर निकल जायें। इस प्रकार के तीन द्वार प्राय सभी चैत्य गृहों में होते थे।[1] मुख्य द्वार के ऊपर एक खिडकी पीपल की पत्ती की आकृति की है जिसम से प्रकाश छन छन कर पूजास्थली को प्रकाशित करता रहता है। चैत्य गृह की लम्बाई चौडाई १२४ ४३½ फुट है। प्रदक्षिणा भूमि को स्तूप और भवन को १५ १५ स्तम्भों की दो पंक्तियाँ अलग करती हैं। बाहर के समान ही स्तम्भ पारसीक हैं। अन्तर केवल इतना है कि वे आठ पहले हैं और ऊपर सिंह के स्थान पर गजारूढ देवमिथुन हैं। चैत्य के पीछे सात स्तम्भ बिना शीर्ष या मूर्ति के हैं। छत गुम्बज के आकार की है।

पश्चिमी भारत में कार्ले के चैत्य गृह के समान ही अनेक चैत्यगृह विभिन्न स्थानों में थे उनमें से भाजा कोंदाने, पीतलखोरा बेडसा, नासिक, कन्हेरी की गुफाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। इन सभी गुफाओं की वास्तुकला एक सी है। इन सभी चैत्य गुफाओं का निर्माण साँची के स्तूप के बाद हुआ है। अजन्ता की गुफाओं में ४, ९, १०, १९ तथा २६ चैत्य ही हैं, शेष भिक्षुओं के निवास के लिए विहार हैं।

विहार

बौद्ध जीवन के लिए विहार एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। स्तूप, चैत्य-गृह एवं विहार तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। विहार वह स्थल था जहाँ बौद्ध संघ निवास करता था। यह एक प्रकार का मठ था। यहाँ पर रहकर स्थविर आचार्य आदि के संरक्षण

---

1 भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ३८

म सघ के भिगु एव भिक्षुणिया धम की साधना करत थे। जिस प्रकार गुरुकुला मे आचाय एव ब्रह्मचारी का निवास, आवास भोजनाच्छादन साथ साथ होता था, वसे ही इन विहारा मे भिक्षु एव स्थविर आचाय साथ साथ जीवन व्यतीत करते थे। अशोक के काल मे अनेक बौद्ध विहार थे, उनके अपने भवन थे, बौद्ध चैत्यो के साथ सदा ही एक विहार सम्बद्ध रहता था। इसी से नासिक, अजन्ता, बेडसा आदि मे सवत्र विहार बने हुए थे। विहार भी एक विशेष प्रकार के आवास थे जो अय साव-जनिक गृहस्थ आवासो से भिन्न थे।"

ईसा पूव प्रथम तथा द्वितीय सदी के भरहुत के एक चित्र म श्रावस्ती के जेत-वन विहार का उसके भिक्षुओ का चित्र अकित है। इसी जेतवन विहार को फाह्यान ने आठ सौ वष बा८ म देखा था। फाह्यान के काल म विहारा ने भ-य भवनो का रूप ले लिया था। इसके भवन सात आठ मजिल वाले थे। भरहुत वाले उत्कीण चित्र आश्रम का रूप हैं, वहाँ एक भिक्षु चत्य वृ त का सिचन कर रहा है। दूसरी ओर उपासक प्रणाम मुद्रा म खडे हैं। मूतिगत विहार दो मजिल का है। इसी प्रकार के विहार आज भी सिक्किम म उपल०ध होत है।

प्राचीन काल का विहार चत्यगृह के चारा ओर बने हुए छोटे कमरा का घर था। इन छोटे कमरा को कुटी भी कहते थे। सारनाथ के विहार म हम देखते ह कि बुद्ध की कुटी का नाम मूलग ध रुटी और विहार का नाम मूलग ध-कुटी विहार रख दिया गया है। इन कटियो के बीच म सम्प्रदाय विशेष की पूजा मूर्ति की स्थापना की जाती थी। हीनयान विहार के चैत्या के सम्मुख दीवार पर उनका साम्प्रदायिक प्रतीक अकित रहता था।

आज ईट पत्थर के बने विहार नही मिलते ह अपितु पवता को काटकर बनाये गय प्राचीनतर विहार आज भी यत्र तत्र खडे हुए ह। गोदावरी तट पर नासिक का गौमतीपुत्र विहार हीनयान सम्प्रदाय का विहार था। यह कार्लि के चैत्य गृह का समकालीन विहार था। नासिक के इस विहार म भिक्षुओ क आवास के लिए स्वल्प काय अनेक कमरे बने हुए हैं। विहार (४६×४१) के भीतर दीवारो के सहारे पत्थर की बेंचें लगी हुई ह। सम्भवत इन पर आसीन होकर भिक्षु आचार्योपदेश का श्रवण करत थ। हाल का द्वार बरामदे म स था। बरामदे के समक्ष छ स्तम्भ ह। ये स्तम्भ यद्यपि कार्ले के स्तम्भो के समान ह कि तु इनके ऊपर आसीन देवमिथुन गजासीन होने की अपेक्षा वृषभ और सिहा पर आसीन हैं। सिह के अतिरिक्त शाक्यसिंह बुद्ध का भी स्मारक था।

समीपस्थ नहपान विहार लण न० ८ प्रथम शतक ई० पू० का है। इसके स्तम्भ निकोण ह और घट पर स्थित है। शीप घण्टे की आकृति से सुसज्जित है। उसक ऊपर पिरामिड ह, जिस पर कार्ले के स्तम्भो की भाँति वृषभ अकित ह।

वेडसा का विहार भी लगभग द्वितीय शतक ई० पू० का है। इसकी छत

गुम्बजदार है। त्य के चारों ओर प्रदक्षिणा भूमि भी है। कुटियों के द्वार चत्यगृह म थे। यह एक प्राचीन तथा प्रमुख विहार था।

इन विहारा म सर्वाधिक प्रधान तथा प्रसिद्ध विहार भाजा विहार था। यह विहार पूना के निकट पहाडियो पर है। इसकी मूर्ति अनुपम है। इस विहार के बाहर एक बरामदा है, इसके पीछे दो द्वारा जी एक दीवार, उसके ऊपर चत्य-वातायन। भीतर एक विशाल भवन जिसम दो तरफ भिक्षुओ के लिए कटियाँ बनी हुई है। पहाड काटकर छत की पीपे की आवृत्ति की है। उसकी दीवारें स्तम्भ आदि कटाव की मूर्तियो से भरे ह और मूर्तियाँ अनुपम गति तथा सजीवता लिय हुए ह। इ' सूय आदि के उभरे अवन विशेष आरपक ह।''[1]

समग्र भारतवष म असख्य विहार थे चीनी यात्रिया ने इट पत्थर से बने विहारो के सम्ब ध म लिखा है कि विहार छ छ आठ आठ अट्टा तक बनते चले गये थे। विहार मठ के रूप मे भिक्षुआ के आवास तो थे ही साथ ही उनके लिए विद्यालय का काय भी करते थे। ह्वेनसाग ने अपने समय के बौद्ध विश्वविद्यालय नाल दा के विहार का वणन करते हुए लिखा है कि भिक्षुओं का प्रत्येक आवास (विहार) चार मजिला था। सब के हात स्तम्भो पर देव मूर्तियाँ बनी थी और उसकी छत्रिया म इन्द्रधनुष के सातो रग विद्यमान थे। सवत्र अद्ध चित्र उत्कीण थे और चौखटो का सौ दय अकथनीय था। भीतर के रग परस्पर मिलकर अनेक अ य रग उत्पन्न करते जिससे विहार का सौ दय सहस्र गुना बढ जाता था।[2]

मामल्लपुर का चतुमजिल विहार चट्टान काटकर बनाया गया है। वह आज भी खडा हुआ अपनी अनुपम पिरामिड की आकृति से दशको को आश्चयचकित कर रहा है। यह विहार सप्तम शतक ई० का है।

वास्तुकला के अ तगत दुग राजप्रासाद नगर पुर आदि का भी वणन किया जा सकता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक एक से एक सु दर नगरा का निर्माण, उनकी रक्षाथ दुर्गो का निर्माण और राजाओ क निवास क लिए राजप्रासादा का निर्माण होता रहा है जिनम कलाकार अपनी कुशलता का परिचय दते रहे। नगरो मे मोहनजोदडो हडप्पा पाटलीपुत्र महत्त्वपूण हैं। दुर्गों की दृष्टि से प्राचीन दुग आज उपल ध नही हैं। कुछ दुर्गों के अवशेष मात्र प्राप्त हैं। दिल्ली का पुराना किला, आगरे का किला देवगिरि का यादवो का दुग ग्वालियर का कछवाहो का दुग च देला का कालिंजर और गहिलोतो का चित्तौर दुग बिहार म रोहतासगढ का किला काशी के पास चुनार का किला द क्षिण की रियासतों—बीजापुर अहमदाबा गोलकुण्डा आदि के दुग इतिहास प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार अनेक सावजनिक आवास, वापी तडाग,

---

[1] भारतीय कला और सस्कृति की भूमिका पृ० ३८

[2] वही पृ० ३९

रूप यत्र-तत्र मिल जाते हैं और भारत के अतीत काल की वास्तुकला का परिचय देते हैं।

मुस्लिम वास्तु

भारतवर्ष में मुसलमानों के आगमन से एक नवीन युग का समारम्भ होता है। कई सौ वर्षों तक मुसलमान आक्रमणकारी के रूप में यहाँ की सभ्यता और संस्कृति के विनाशक रहे और मन्दिरों के विध्वंसकर्त्ता भी। हजारों मन्दिर ध्वस्त कर दिये जाने पर भारत में मन्दिरों का बनना ही समाप्त हो गया। किन्तु मुसलमान स्वयं स्थापत्यवास्तु के शत्रु न थे। अतः भारतवर्ष में उन्होंने एक से एक सुन्दर इमारतों की रचना की। ये इमारतें विश्व के मुस्लिम राज्यों के लिए ईर्ष्या का विषय बनी हुई हैं। हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति के मिलन के कारण वास्तुकला पर भी उसका प्रभाव पड़ा और उसने एक नवीन रूप धारण किया। यहीं से वास्तुकला के इतिहास में एक नवीन युग का समारम्भ होता है। यह युग भारतीय वास्तुकला के मुस्लिम आवरण में रूपान्तर का युग था। निष्कर्ष रूप में हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि मुस्लिम वास्तु भारतीय वास्तु का एक रूप है। हिन्दुओं के ही विविध भवनस्थल रूपान्तर से मुस्लिम वास्तु के परिचायक बन गये हैं। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है— उनकी वास्तुकला भारत की पुरातन कला का एकमात्र रूपान्तर है। हिन्दू घरों और मन्दिरों तथा बौद्ध विहारों के चौक और दालान मस्जिदों के नमाजगाह बन गये। देवालय (ताख) मेहराब के रूप में मस्जिदों में मक्का की तरफ बनाये जाने लगे। भारतीय जय स्तम्भों को देखकर महमूद गजनवी ने भारतीय शिल्पियों से गजनी में जो मीनार बनवाये उन्हीं के अनुकरण पर भारत की मस्जिदों के मीनार बने। वेदिका, छज्जे, टोडे, अलिन्द, कारनीस, तोरण, सजावट आदि अनेक अंग मुस्लिम वास्तु में एकदम भारतीय रूप में ही पाये जाते हैं और नक्काशी में भी अधिकांश भारतीय आदर्श चित्रों का ही प्रयोग हुआ है। गुम्बज और अर्धस्तूपी डाट, जो मुस्लिम कला की प्रमुख विशेषता समझी जाती है, वह भारत के लिये नवीन नहीं थी। बौद्ध कालीन स्तूप और मन्दिरों के स्तूपिकाकार शिखर इसके उदाहरण हैं और इसके निर्माण से भारतीय बहुत पहले परिचित थे।[1] किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि "जहाँ भारतीय मुस्लिम वास्तु की विशेषताओं का उद्गम भारतीय है वहीं उनकी सादगी में इस्लामी भावना पूर्णरूप से व्याप्त है।"[1]

भारत में यत्र तत्र विकीर्ण मुस्लिम वास्तु प्रायः चार रूपों में है—मीनार, मस्जिद, मकबरा और राजप्रासाद। इन मुस्लिम वास्तु की चीजों में मीनार का विशिष्ट स्थान है। मीनारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध दिल्ली की कुतुबमीनार है। किन्तु इसके सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह पूर्णतः मुस्लिम वास्तु ही है क्योंकि

---

[1] भारतीय वास्तुकला, पृ० १३५

अनेक विद्वानों का सन्देह रहा है कि यह कोई हिन्दू जयस्तम्भ था जिसे किसी मुसलमान शासक ने अपना विजय स्मारक बना लिया है। जान मार्शल का अनुमान है कि वह निकटवर्ती कुतुबी मस्जिद का मुअज्जिना (अजान देने का स्थान) है। यह भी अनुमान किया जाता है कि उसे किसी विजय के स्मारक स्वरूप बीसलदेव ने बनवाना आरम्भ किया था। आन्तरिक प्रमाणों से ऐसा जान पड़ता है कि कुतुबुद्दीन ऐबक के समय इसकी एक मंजिल थी, शेष को अल्तमिश ने निर्मित कराया। इसके पश्चात् फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने उसकी मरम्मत कराई।[1]

कुतुबमीनार २८० फुट ऊँचा और पाँच मंजिल है। सबसे नीचे बाहरी भाग में २४ पहल हैं जो क्रमशः कोणाकार और अर्धगोलाकार हैं। दूसरी मंजिल के पहल गोलाकार हैं और तीसरी में कोणाकार। बाहरी भाग पर ऊपर फारसी और अरबी में कुरान की आयतें लिखी हुई हैं। मीनार की नीचे की तीन मंजिलें भीतर से हरे चट्टानी पत्थर की तथा बाहर से लाल पत्थर के आवरण वाला है। ऊपर दो मंजिलों का भीतरी भाग लाल पत्थर तथा बाह्य भाग सफेद पत्थर से निर्मित है। यह मीनार संसार में एक अद्भुत मीनार है। वस्तुतः यह मीनार मुस्लिम वास्तु की अनुपम देन है किन्तु इस देन में हिन्दू स्थपतियों का भी महान् योग है।

मसजिद

भारत की प्राचीनतम (सन् ११९६) मसजिद कुव्वतुल इस्लाम मसजिद है। यह कुतुबुद्दीन ऐबक ने पृथ्वीराज को पराजित कर विजय के उपलक्ष्य में बनायी थी। इसकी लम्बाई १३८ फुट और चौड़ाई ३२ फुट है। दूसरी प्राचीन मसजिद अजमेर के तारागढ़ पर्वत की तलहटी में है। यह आज 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम से प्रसिद्ध है। यह किसी संस्कृत पाठशाला को तोड़कर बनाई गई है। इसकी छतें विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। इस मसजिद का आकार प्रकार दिल्ली वाली मसजिद से दूना और शानदार है।

जौनपुर की जामा मसजिद पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य काल की है। यह भूमि से २० फुट ऊँचे वर्गाकार चौतरे पर बनी है। पश्चिम की ओर जाय-नमाज है। मुख्य प्रवेश द्वार ८६ फुट ऊँचा मीनार की भाँति कोणाकार है। अहमदाबाद का जामा मस्जिद का आंगन सहित आयतन ३८२ × २५८ फुट है। किन्तु मुख्य भाग केवल २१० × ९५ फुट है। भीतर २६० स्तम्भों की पंक्तियाँ खड़ी हैं। कुल मिलाकर यह एक भव्य मस्जिद है।

आगरा की मोती मस्जिद भारतीय मुस्लिम वास्तु की अन्तिम किन्तु सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसका निर्माता वास्तु प्रेमी सम्राट शाहजहाँ था। यद्यपि दिल्ली की मस्जिद अपनी महीन काम वाली मीनारों के कारण अधिक मोहक और विशाल लगती है किन्तु कला की दृष्टि से आगरा की यह लघुकाय मस्जिद उससे कहीं बढ़कर है।

---

[1] भारतीय वास्तुकला, पृ० १३६

इसका निर्माण १६४८ और १६५३ ई० के बीच म हुआ है। इसका आयतन २८३ × १८७ फुट है। पूर्वी द्वार से प्रवेश करते ही आंखो म चकाचौंध उत्पन्न करन वाले सगमरमर के पत्थरो के बीच काले पत्थर स विजडित अभिलेख पक्तियाँ हैं। आगन की ओर सौंदयपूण सात तोरण हैं और ताज शली को ऊपर स्तूपिकाएँ हैं जिनसे इस मस्जिद का सौंदय द्विगुणित हो उठता है।

मकबरा

मकबरा स्मति स्मारक है। इनकी शली मस्जिदो की भाति ही है। मकबरा का वास्तु राजप्रासादो और मस्जिदा की अपेक्षा अधिक सादा, पवित्र और गम्भीर है। मकबरो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध मकबरा मुहम्मदशाह का है। यह अपनी अनेक विशेपताओ के कारण विश्व की वास्तुकला मे अनुपम चिन्ह है। इस मकवरे का वास्तु शिल्प अप्रतिम है। बीजापुर के मुहम्मदशाह के मकवरे के भवन का भीतरी भाग प्रत्येक ओर से वर्गाकार १३५ फुट ७ इच है। फश से ८७ फुट की ऊँचाई पर भवन का भीतरी भाग आलम्बन के सहारे गोल बनाया गया है। इसका व्यास ९७ फुट है। इन सुन्दर आलम्बनो के आधार पर १०९ फुट की ऊँचाई पर १२४ फुट ५ इच व्यास की स्तूपिका है। इस मक्बरे के भीतर की ओर १२ फुट की एक गलरी चारो ओर है। भीतर से गुम्बद की ऊँचाई १७८ फुट है। उसकी मोटाइ तल म १० फुट और ऊपर शीप पर ९ फुट है। इस स्तूपिका क निर्माण म कलाकारो ने अद्वितीय मौलिक्ता से काय किया है और भार को स तुलित रखा है। इस मक्बरे का भीतरी भाग अनुपम कलापूण है। जिस प्रकार का भीतरी भाग है उसी प्रकार वाहर का भाग भी सुन्दर है। प्रत्येक कोण पर अठपहल मीनार हैं, जो आठ मजिल की हैं। इन मीनारो के ऊपर भव्य स्तूपिकाएँ हैं। वस य मीनारें सादी ही हैं। इन मीनारो के भीतर प्रकाश एव वायु जाने के लिए झरोखे भी बने हैं। ८३ फुट की ऊँचाई पर १२ फुट चौडी कारनीस है और उसके ऊपर एक खुली हुई गलरी है और उसके चारा ओर दो-दो मीनार हैं।

सहसराम स्थित शेरशाह का मकबरा ३०० फुट वर्गाकार, ३० फुट ऊचे चबूतरे पर तालाव के बीच म स्थित है। इस मकवरे का मुख्य भाग अष्टकोणात्मक है और प्रत्येक भुजा ३६ फुट लम्बी है। प्रत्यक ओर १० फुट २ इच का बरामदा है तथा ऊपर एक विशाल अर्धाकृति स्तूपिका है जिसका व्यास [illegible]१ फुट है। मध्य भवन के चारो कोणो पर अठपहल छतरियाँ हैं। मुख्य भवन की स्तूपिका के चारो ओर छोटी छोटी स्तूपिकाएँ हैं। हावल के कथनानुसार इस समाधि की अपनी विशेपता यह है कि 'वह अपने अन्तर म सोय हुए व्यक्ति का चरित्र व्यक्त करती है और उसके चरित्र की विशेपता है दृढ, निमल और गम्भीर।"

इस काल तक मकबरे की वास्तुकला अपने चरमोत्कप पर पहुच जाती है।

पत्थर, लाल, हीरे आदि विजडित हैं। श्वेत सगमरमर के मध्य जडाऊ ये मणि माणिक्य पत्थर आदि नेत्रो के सम्मुख चाकचक्य पैदा करते हैं। पाश्चात्य कला समीक्षको की दृष्टि म वास्तुकला का यह एक अनुपम, अद्वितीय उदाहरण है।

राजप्रासाद

बीजापुर राजप्रासादो का नगर है। १५६१ ई० म निर्मित दीवाने-आम और उसके विशाल तोरण, आसार महल आदि कला की दृष्टि से अनुपम हैं। दिल्ली का लाल किला विशाल दुर्ग के भीतर १६००×३२०० फुट भूमि मे स्थित है। यह विशालाकृति भवन भी मुस्लिम राजाओ की वास्तुप्रियता एव वैभव का सूचक है। दिल्ली के समान ही लाल पत्थर का आगरे म भी राजप्रासाद है। आगरा स्थित लाल किले को अनेक आक्रमणकारियो ने लूटा है फिर भी उसका वैभव एव भव्यता दर्शनीय है। फतेहपुर सीकरी का महल खास के मध्य अलकृत एक स्तम्भ पर स्थित पुष्पाकार सिंहासन युत दीवाने आम, बुलन्द दरवाजा तथा मस्जिद है, यह मस्जिद विश्व की मस्जिदो मे प्रसिद्ध है।

१८वी तथा १९वी शताब्दी म लखनऊ के नवाबो ने अनेक राजप्रासादो तथा भवनो का निर्माण कराया है। इनम आसफुद्दौला (१७७५ ९५) का बडा इमाम बाडा तथा रूमी दरवाजा गाजिउद्दीन (१८१४ २७) की शाहनजफ, मोतीमहल आदि भवन तथा नासिरुद्दीन हैदर (१८२७ ३७) की छतरमजिल तथा वाजिदअली शाह (१८४७ ५९) का कसरबाग प्रमुख हैं।

यह भारतीय वास्तुकला का एक सक्षिप्त परिचय है। न जाने कितने भवन, मन्दिर काल के कराल गाल म कवलित हो गये होगे, फिर भी जो कुछ है वह गौरव-पूर्ण है। भारतीय वास्तुकला के उत्कर्ष का परिचायक है।

४
मूर्तिकला

- मूर्तिकला
- प्राङ मौर्य
- मौर्य युग
- शुङ्ग युग
- शक कुषाण युग
- गुप्त युग
- पूर्व मध्य युग
- प्रागाधुनिक युग
- वर्तमान काल

मूर्तिकला

कला के इतिहास म मूर्तिकला का इतिहास पुरातन है। भारत के इतिहास मे मूर्तिकला का इतिहास इतिहास के समान ही प्राचीन है। हमारी सभ्यता के अवशेष सिधु घाटी मे मिले हैं। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि सिधु घाटी की सभ्यता हमारी शशवकालीन सभ्यता की सूचक होने की अपेक्षा चरमोत्कर्ष की परिचायक है। कला की दृष्टि से यह काल उत्कर्ष का काल था, प्रत्येक कलाकृति म जीवन की सजीवता प्रतिबिम्बित है।

(इस सभ्यता के १५०० वर्ष के पश्चात् मौर्य युग के आगमन पर पुन कला अपने यौवन की लालिमा लिये आविर्भूत होती है। इस काल मे लौरिया नन्दनगढ की एक मृतक समाधि म नग्न-नारी की स्वर्ण प्रतिमा मिली है, वह कला के विकास की कहानी को ही व्यक्त करती है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रस्तर मूर्तियाँ भी इस काल

मे मिली हैं। परखम तथा बेसनगर की यक्ष यक्षिणियो की मूर्तियां भी उत्कृष्ट कला की परिचायक हैं। निष्कर्ष रूप म हम कह सकते है कि भारत म मूर्ति विज्ञान एक प्राचीन विज्ञान है। भारत ने ही मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है—'जो भी हो भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौदय, समाधि, कल्पना और भाव बोधकता म उसका किसी अय देश की कला समता कर सकती है, यह कहना आसान नही है।'[1]

भारतीय मूर्तिकला निरतर विकसनशील रही है। अत युग परिवतन के साथ कला शली म भी परिवतन व परिवधन होते रहे ह। इन परिवतनशील लक्षणो के आधार पर हम कला विशेष की शैली का नामकरण तथा उस युग की कला की विशेषताओ को अलग अलग रूप म भी देख सकते ह। मूर्तिकला की दृष्टि स भारतीय कला के इतिहास को निम्न युगो अथवा शलियो के रूप म देख सकते ह—प्राड् मौय, मौर्य, श ग, शक कुषाण, गुप्त पूव मध्य उत्तर मध्य, प्रागाधुनिक एव वतमान।

प्राड मौय (ईसा पूव चतुथ शतक तक)

प्राड् मौय युग की कला की सामग्री को हम तीन भागो म बाटकर उसका अध्ययन कर सकते ह—

१ सिधु सभ्यता की सामग्री—यह ई० पू० २००० वष की है। इस युग की कला भी अनुपम है। यद्यपि हम यहां उसका विस्तार से विवेचन नही कर रहे ह तथापि समष्टिगत प्रभाव की दृष्टि से इस युग की कला— कासे की नतकी, पत्थर के नतक, साचो की उभरी मुहरो के पशुओं की आकृतियां अपने दमखम और शक्ति मे आज की ताजगी लिये हुए ह। उनकी गतिमानता कला के जिज्ञासुओ को चकित कर देती है। उनका छन्द अद्भुत आकषक है। उनका व्यक्तित्व स्मति पर बरबस उठ आता है। मनुष्य और पशु पशु और औषधि जसे एक ही काया म सिरजे गए हैं। अनेक बार तो उन्ह एक मे ही सब, एक मे स एक निकले आते देखकर लगता है जसे उन्ह आज के किसी सरियलिस्ट (अतियथाथवादी) न सिरजा है।'[2]

द्वितीय युग इस बात का सूचक है कि सिधु घाटी की सभ्यता के समाप्त हो जाने पर भी कला जीवन श्वासें ले रही थी। लोरिया नन्दनगढ की स्वण प्रतिमा इसी काल की है।

ततीय युग मौय युग से ठीक पूव ई० पू० पाचवी शताब्दी का है। इस काल मे मिट्टी और प्रस्तर की मूर्तियो का निर्माण होता था। किन्तु इस काल की कलाकृति म सि धु सभ्यता की सूक्ष्मता की अपेक्षा स्थूलता और भाडापन विशेष ह। परखम आदि की यक्ष मूर्तियां इसी प्रकार की हैं। इस यक्ष मूर्ति में वास्तविकता है, भावुकता

---

[1] भारतीय कला और सस्कृति की भूमिका, पृ० ७८
[2] वही, पृ० ८०

नहीं। इस युग की अन्य मूर्तियों में एक स्त्री मूर्ति, जो कि मथुरा में मनसादेवी के नाम से पूजी जाती है। द्वितीय स्त्री मूर्ति ग्वालियर (बेसनगर) से प्राप्त है। यह मूर्ति ६ फुट ७ इंच ऊँची है। कलकत्ता संग्रहालय में यह सुरक्षित है। तृतीय पुरुष मूर्ति है जो मथुरा के बरोदा ग्राम से प्राप्त हुई है। ये सभी मूर्तियाँ प्राक् मौर्य कालीन हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इन्हें मौर्य या शुंगकाल का सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु यह असंगत है, क्योंकि इन मूर्तियों में मौर्य युगीन ओप, आकार तथा शैली के दर्शन नहीं होते हैं।

मौर्य-युग

मौर्य युग की कला की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त कला के विकास का संक्षिप्त इतिहास है। किन्तु हम देखते हैं कि जहाँ मौर्य युग से पूर्व की कला में स्थूलता है, वहाँ मौर्य युग की कला सूक्ष्मता को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि मौर्य कलाकार इतन सूक्ष्म मूर्ति चित्रण को कहाँ से ले आये। "उसका स्वाभाविक आवयवीय यथार्थता, आकर्षण-सौन्दर्य सभी अभूतपूर्व है। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष पशु-मण्डित है। सिंह, गज, वृषभ, अश्व आदि उन पर बने हैं। पत्थर घर्षण और लेप को दर्पणवत् चिकना कर दिया गया है। पशुओं के अंगांग पत्थर के होकर भी जैसे साँचे से ढलकर निकले लगते हैं।"[1]

अशोक काल की मूर्तियाँ संसार में श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त कर सकने में समर्थ हैं। सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष के सिंह इस देश की मूर्तिकला में अनुपम एवं अद्वितीय हैं।[2] इनके सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है— 'न भूतो न भावी।' उनकी यथार्थता, शालीनता, शान्त मुद्रा अशोक की राजनीति के अनुरूप हैं। अशोक काल की कला की सर्वश्रेष्ठ विशेषता पालिश की है। वह पालिश जो अशोक कालीन कला की जान है वह परवर्ती मूर्तिकला से सर्वदा के लिए लुप्त हो गयी है।

मौर्यकालीन मूर्तिकला में मृण्मय मूर्तियाँ भी अनेकश: बनी हैं। ये मूर्तियाँ अनन्त हैं सुसज्जित हैं भारतीय वेश भूषा के आदर्श से पूर्ण हैं। इस काल में अधिकतर नारी की सुसज्जित, उभारपूर्ण मूर्तियाँ ही अधिक बनी हैं जो कि अनेक पुरटों वाला घाघरा धारण किये हुए हैं। इस काल में हाथ की अपेक्षा साँचे का भी प्रयोग होने लगा था।

शुंग-युग

शुंग युग की कला सिंधु सभ्यता के बाद वास्तव में प्रथम राष्ट्रीय कला है। इस काल की कला में प्रतीकों की प्रधानता है। प्रत्येक तत्त्व के प्रतीक इस काल में निर्मित कर दिये गये थे। इस काल की कला में सौन्दर्य अवयव का नहीं रहा भाव

---

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ८१
[2] चित्रफलक संख्या ६

हो गया, अशोक कालीन कला की प्राकृतिक विशेषता का परित्याग कर दिया गया। यथार्थ के टंकन से कलाकार ने मुक्ति ली। अब इस काल की मूर्तियाँ आकार में ठिगनी तथा सामने से चिपटी बनने लगी। सर्वतोभद्र मूर्तियों की अपेक्षा मूर्तियाँ उभार कर छद्म परम्परा में कथा प्रसंग में अर्ध चित्र शैली में रूपायित होने लगी। वैयक्तिकता सामाजिकता में रूपान्तरित हो गई। जातक आदि की कथाएँ पत्थरों पर अंकित की गई, व्यक्ति कथाओं के अंग बन गये।

मूर्तिकला के क्षेत्र में शुंगकाल में प्रतीकों की वृद्धि हुई भरहुत और साँची के स्तूपों की वेष्टनी (रेलिंग) शुंग काल (१५० ई० पू० से ७३ ई० पू०) में ही बनी है। 'अपनी नई रुचिरता, नई गतिमानता, नई आकृति वृद्धि के साथ जो सम्पदा अशोक के बाद मूर्ति क्षेत्र में शुंग-काल में रूपायित हुई वह सदियों अप्रतिम रही। शुंगराज के कलावन्तों ने अशोक के भरहुत और साँची के स्तूपों के चतुर्दिक वेष्टनी दौड़ाई और तोरण द्वार खड़े किये। इस वेष्टनी और तोरण पर जो मानव भाव सत्ता का स्रोत फूट पड़ा है वह सर्वथा अलौकिक है। उसकी आकृतियाँ सजीव हो उठी हैं, गज अश्व कपि मृग जैसे मानव की भाषा बोलते हैं उसके भाव सागर में डूबते उतराते हैं। फुल्ल के भीतर प्रफुल्ल मानव मस्तक प्रसन्न अंकित है। साँची के तोरण पर उसके द्वार-स्तम्भों पर भी जीवन लहरा उठा है। स्तूप की सचेत गतिमान गजों द्वारा मानवीय पूजा, उनकी आकृति आकुल परिवार अशोक के जलूस की जन संकुलता और अनेक अन्य दृश्य अपने वेग और अंकन की मानुष तीव्रता से दर्शक को जड़ बना देते हैं।[1]

इस काल तक बौद्धों में हीनयान की महत्ता थी, परिणामतः बुद्ध की मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। तथागत की प्रतीति प्रतीकों द्वारा की जाती थी और उनके बोधक प्रतीक थे—बोधिवृक्ष, बुद्ध की पादुका, छत्र स्तूप आदि। भरहुत की वेष्टनी पर अनाथ पिण्डक की जेतवन खरीदने की सम्पूर्ण कथा अंकित है।

शुंगकला के प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती, भीटा, कौशाम्बी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, भरहुत साँची आदि थे। इन सभी स्थानों पर तत्कालीन अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। अनेक जातक-कथाएँ यत्र-तत्र स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिली हैं। मथुरा के एक स्तम्भ पर अंकित यक्षी चित्र अनुपम है। इसी प्रकार बलराम की प्रथम हल मूसल धारी मूर्ति भी उपलब्ध हुई है जो आज लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

शुंगकाल की मृण्मयी मूर्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। इस कला के लिए शुंगकाल अपूर्व है। कौशाम्बी में तो उस काल की असंख्य मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं। खड़ी नारी मूर्ति के अनन्त ठीकरे मिले हैं। अनेक ऐतिहासिक कथाओं के चित्र भी इन मृण्मयी मूर्तियों पर मिले हैं। उदयन का वासवदत्ता अपहरण चित्र भी मिला है।

---

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ८३ ८४

गुप्तकाल के मृण्मय चित्रों में फूलों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। नारी मूर्तियाँ भी हैं जो हाथ में कमलदण्ड धारण किए हुए हैं। ये मिट्टी के ठीकरे पीछे से सपाट होते हैं। इनके सिरे में एक छेद होता है जिससे ऐसा लगता है कि दीवारों पर टाँगने के लिए भी इनका उपयोग किया जाता था। मौर्यकाल की चवरधारिणी मूर्ति इतिहास प्रसिद्ध है। 'पत्थर की सर्वांगसुन्दर नारी मूर्ति चवर धारण किए प्रकृत ऊँचाई में त्रिभंगिम मुद्रा में खड़ी है। उसे दीदारगंज की 'चवरधारिणी' कहते हैं और वह पटना के संग्रहालय में सुरक्षित है। उसकी पालिश देखकर लगता है कि मौर्ययुगीन पालिश गुप्तकाल में भी छिटकी फुटकी चली, पर साधारणतः उस काल के प्राय प्रारम्भ में ही वह लुप्त हो गई।'[१]

शक कुषाण युग

शक कुषाण काल ई० पू० प्रथम शती से आरम्भ होकर तृतीय शती तक है। शुंगों के पश्चात् कुषाणों के युग में कला की अपार सम्पत्ति का निर्माण हुआ। इस काल में कला के केन्द्र मथुरा, सारनाथ और अमरावती थे। इनमें प्रधान केन्द्र मथुरा ही था। इस काल में पत्थर काटने की कला का अत्यधिक विकास हो चुका था। इस काल में आकृतियाँ अपना चिपटापन छोड़कर गोलाकार हो गई थीं।[२]

मथुरा के अनेक टीलों से उस काल की कला के अनेक उपकरण चिह्न मिले हैं। जैन बौद्ध स्तूपों की वेष्टनियों के ऊपर अनेक उभरे हुए चित्र मिले हैं। इस काल में वेष्टनियों पर सबसे अधिक चित्र शालभंजिकाओं अथवा यक्षिणियों के हैं। इस काल की ये यक्षिणी भरहुत की उत्तराधिकारिणी हैं किन्तु उनमें सजीवता है, उभार है। उस काल के समाज का सम्पूर्ण विलास इनमें छलका पड़ता है। साधारणतः ये नंगी हैं, वृक्ष के नीचे खड़ी वाम के वाहन शुक को कंधे पर बिठाकर दाना चुगाती उसकी चोंच की चोट से शिथिल नीवीबंध को सहलाती शुक सारिका का पिंजर लिये कंदुक उछालती, वीणा बजाती, स्नान करतीं, पुष्प चयन करती, ईरानी ढाली के वस्त्र पहने दीप-वहन करती दोहद सम्पन्न करती, उनकी इतनी भावभंगिमा है कि गिनाई नहीं जा सकती।[३]

इस काल की कला में द्वार स्तम्भों आदि पर सर्वत्र प्रसाधनों की अधिकता है। जल प्रवाह करने वाले पनालों को चित्रित किया है उनके आकार मकरमुख आदि के रूप में निर्मित किये हैं। उनके बहिरंगों को अनेक आकृतियों से सुशोभित किया है। मकर तोरणों का अंकन हुआ है। नाग नागी मूर्तियाँ भी यक्ष-यक्षी मूर्तियों की भाँति सहस्रों की संख्या में मथुरा में निर्मित हुई हैं।[४]

---

१ चित्रफलक संख्या १०
२ भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ८७
३ चित्रफलक संख्या १६
४ भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ८८

इसी काल म महायान सम्प्रदाय के महत्त्वपूण होते होते बुद्ध एव बोधिसत्वो की मूर्ति का निर्माण हुआ। बुद्ध एव बोधिसत्वो की मूर्तियो से भारत वसुधरा का आंगन भर उठा। इन मूर्तियों म समाधिस्थ बुद्ध की मूर्तियां पद्मासन म हैं, छत्र के नीचे प्रभामण्डल के आधार से सजी बुद्ध की मूर्ति भी इस काल मे पूजा के लिए बनने लगी। मथुरा के निकट देवकुल ग्राम म कुषाण राजाओ की सिंहासनास्थ अनेक मूर्तियां मिली हैं। स्वय कनिष्क की मस्तकहीन पूर्णाकार एक प्रतिमा मिली है जो ईरानी शक कुषाण वेषभूषा से युक्त लम्बा कुर्ता कसीदा कढ़ा लम्बा चोगा, सलवार और घुटना तक ऊचे मध्य एशियाई बूट जूते पहने हुए है। भारतीय प्रथम सूय की मूर्ति भी इसी वेषभूषा मे है, किन्तु उसके सिर पर पगडी, एक हाथ म कटार और दूसरे म कमल का फूल है। भारतीय सूय की प्रतिमा बहुत पीछे बनी है जो खडी, धोती, उत्तरीय और किरीट मुकुट पहने हैं। कनिष्क बौद्ध था किन्तु वह सभी धर्मों का आदर करता था। उसके सिक्का पर समस्त धर्मों के देवताओ की—बुद्ध तथा शिव तक की आकृतिया अकित ह।

गाधार प्रदेश म ग्रीक कलाकारो ने अपनी शली से जिन भारतीय विषयो और प्रतीको का कलात्मक रूपाकन किया है उसे गाधार शली कहते है। इस कला म ग्रीक कलाकारो का सहयोग होने के कारण इस अनेक अभिधान प्राप्त हुए—ग्रीक बौद्ध, ग्रीक रोमी। किन्तु भौगोलिक आधार पर इस शली का नाम गाधार शली रखा गया और यह विशेष रूप से प्रचलित भी हुआ। इस गाधार शली का उदय काल ई० पू० द्वितीय शतक है किन्तु इसकी चरम परिणति का काल कनिष्क का समय है।

इस शली की समस्त मूर्तियां बौद्ध केन्द्रों से उपलब्ध हुई ह। इनमे प्राप्त समस्त मूर्तियां बौद्ध प्रतीको के साथ भारतीय हैं। बुद्ध मूर्तिया का इनमे प्राधान्य है। शाक्यमुनि गौतम, प्रव्रजित बुद्ध आदि के चित्र इसम बने ह। यह शली भरहुत, साञ्ची, बोधगया की शला से सवथा भिन्न समकालीन मथुरा तथा अमरावती शैली के समान है। गाधार शली का प्रमुख विषय बुद्ध का जीवन तथा उपकरणों में पत्थर का पल स्तर, चूना तथा मिट्टी हैं। इस शली म बुद्ध की अनक मूर्तियां बनी ह।

लाहौर सग्रहालय की खडी बोधिसत्व मूर्ति अद्भुत सुन्दर है। शहर बहलाल म मिली कुबेर और हारीति की सयुक्त मूर्ति भी दशनीय है। सिक्री की खडी हारीति दोनो कधा पर एक एक बालक धारण किए मातगौरव की असाधारण प्रतिमा है। इन्द्रशल गुहा म समाधिस्थ बुद्ध शान्ति की प्रतिमा है और प्रसिद्ध तपस्वी गौतम की कायिक कृशता तप के फल को मूत्त करती है। बर्लिन सग्रहालय की ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शान्त मुद्रा के लिए विशेष ख्यातिलब्ध हुई। लाहौर सग्रहालय की सिंहासनस्थ खडगधारी कुबेर की ऊँची मूर्ति भी इस यवन भारतीय कला की अभिराम सधि प्रस्तुत करती है। इनके अर्द्धचित्रो (रिलीफ) के उभार और प्रगति

मे भी असाधारण बल है। एक पट्टिका पर चार कतारो मे राक्षसो और साधारण मानव सैनिको की सेना का मार्च दिखाया गया है जो अत्यन्त प्रकृत लगता है।"[1]

इस प्रकार की असख्य मूर्तियाँ बनी है जो भगवान बुद्ध की जीवनगाथा का सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करती है। यह कला यहाँ के जीवन मे इतनी लोकप्रिय हुई कि मथुरा की विशुद्ध भारतीय शैली भी इससे प्रभावित हो उठी और सिलेनस आसवक-पायी कुबेर आदि की अनेक मूर्तियाँ इस शैली म अथवा प्रभाव ग्रहण कर बनी। इस शैली मे चतुर्थ, पचम शताब्दी तक मूर्तियाँ बनती रही। इस शैली की विशेषता है 'यूरोपीय आकृति कुषाण काल की चिपटी गोली शैलीगत (स्टाइलाइज्ड) तनिक कृत्रिम आकृति से भिन्न स्वाभाविक रूप काया। वेष साधारणत ग्रीक यवन परिधान के वस्त्र चुन्नटदार।[2]

गुप्तकालीन कलावन्तो ने गाधार शैली का भारतीयकरण किया और अनेक कला-कृतियो का सृजन किया।

कुषाण काल म अमरावती आन्ध्र सातवाहन राजाओ के अधिकार मे थी। अमरावती की कला मे आभूषणो की न्यूनता, सुरुचि की व्यापकता है, आभूषणो से कान्ति और भी बढ गई है। इस अमरावती की कला की आकृतियो म बकिम भगिमा है, शरीर-यष्टि दुबली-पतली सिरीष वक्ष सी है और नारी की काम्य काया उससे सलग्न लता के समान है। शरीर पर लम्बी धोती उत्तरीय और पगडी शोभायमान होती है। अमरावती का स्तूप ईसा पूर्व द्वितीय शतक का है। उसकी वेदिका भी द्वितीय शतक की है। स्तूप सर्वांग स सगमरमर की चित्र खचित पट्टियो से आच्छादित है। स्तूप की वेदिका भी सगमरमर की ही है। अमरावती की कला म पशुओ और पुष्पो का अपूर्व चयन किया गया है। अमरावती म विकसित होने के कारण इस शैली को अमरावती शैली के नाम से अभिहित किया जाता है।

गुप्त-युग

गुप्त युग (२७५ ई०—५०० ई०) भारतीय साहित्य, कला तथा इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। इसका यह नाम पूर्णत सार्थक है। इस काल म कला तथा साहित्य अपने चरम वैभव को प्राप्त था। गुप्त युग भारतीय यशस्वी राजाओ का युग था देश सभी क्षेत्रो म उन्नतिशील था। इस काल म पुराणो के देवताओ को भारतीय कलाकारो ने अकन किया है। शिव और पार्वती शेषशायी विष्णु और लक्ष्मी, मकरारूढ गगा और कच्छपारूढ यमुना आदि सपरिवार मूर्तियाँ म अकित हैं। इस काल म बुद्ध तथा उनका परिवार भी कला का प्रमुख आलम्बन बन गया था।

गुप्त काल की कला का प्रमुख केन्द्र सारनाथ था। इस काल की कला म

[1] भारतीय कला और सस्कृति की भूमिका, पृ० ६३

[2] वही, पृ० ६४

एक नवीनता है, स्वाभाविकता है, उसमें न तो गुप्तकाल के समान चपटापन है और न कुषाण काल की गोलाकारिता, अपितु यह कला गान्धार शैली के समान अण्डाकार है। इस काल की कला का उपजीव्य कल्पना की अपेक्षा समाज का जीवन था। बुद्ध का शरीर भी मांसल हो गया, पुरुष तथा नारी ने केश कलाप धारण कर लिया, आभूषण अल्प तथा सुरुचिपूर्ण हो गये। आशय यह है कि इस काल की कला में नवीनता तथा स्वाभाविकता का समावेश हुआ।

गुप्तकाल (पंचम शती) की एक प्रस्तर खण्ड पर खड़ी शिव पार्वती की असाधारण मूर्ति कौशाम्बी में मिली है। ललितपुर (झाँसी) में देवगढ़ का गुप्तकालीन मन्दिर कला का जीता जागता आदर्श है। यत्र तत्र जड़ित मूर्तियाँ शोभा सम्पन्न हैं। योग मुद्रा में अंकित शिव की प्रतिमा दर्शकों को आश्चर्यान्वित करती है। खोह की शिवमूर्ति भी इसी काल की है। देवगढ़ स्थित शेषशायी विष्णु की मूर्ति शान्त पौरुष सम्पन्न है। हाथ पर टिका हुआ सिर मनमोहक है। नीचे परिचारक देवमण्डल है। इनके मस्तक कुन्तलों से सुशोभित हैं।[1] उदयगिरि गुफा की वराहमूर्ति पृथ्वी को धारण किये हुए मार्मिक है। इस काल की भगवान बुद्ध की मूर्तियों में सारनाथ की आसीन तथा मथुरा की खड़ी मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। सारनाथ वाली मूर्ति धर्म-चक्र-प्रवर्तन की मुद्रा में है। मथुरा[2] की बुद्ध मूर्ति ७½ फुट ऊँची अभय मुद्रा में है। यद्यपि हाथ खण्डित है किन्तु दक्षिण हस्त अभयदान मुद्रा में दृष्टिगत होता है। मूर्ति पर सौम्य भाव प्रतिबिम्बित हो रहा है। 'मथुरा की यह खड़ी बुद्ध मूर्ति सुरुचि, परिष्कार, आवयवीय अनुपात, व्यंजना और सहानुभूति में अप्रतिम है, संसार के बुद्धों में बेजोड़ है।'[3]

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ (Terra Cottas) भी प्रस्तर की कला की भाँति सुन्दर हैं। राजघाट, गढ़वा, मथुरा आदि स्थानों पर मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों के सिरों पर घुँघराले केशों का परिधान है, लटें स्कन्ध तक लटकी हुई हैं। भीतरगाँव से प्राप्त ठीकरों पर रामायण महाभारत की कथाएँ अङ्कित हैं। इनमें जीवन ही मूर्तिमान हो उठा है। ये मूर्तियाँ सपाट टाँगने लायक होती थीं और रसिक नागरिक इन्हें भवन की दीवारों पर टाँगते भी थे।

प्रस्तर तथा मिट्टी की कला के अतिरिक्त गुप्तकाल में धातु का प्रयोग भी होता था। अनेक बुद्ध मूर्तियाँ ताम्बे तथा पीतल की भी बनती थीं। भगवान बुद्ध की एक साढ़े सात हाथ ऊँची अभय मुद्रा में खड़ी मूर्ति भागलपुर (बिहार) में मिली थी। इसी प्रकार गया जिले के कुर्किहार गाँव में भी बुद्ध की मूर्तियाँ मिली हैं।

---

[1] चित्र फलक संख्या ११

[2] चित्र फलक संख्या १२

[3] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ९८।

गुप्तकाल की कला सर्वांगपूर्ण है। इसमें विविधता, स्वाभाविकता, सजीवता और निष्ठा है तथा यह कला भारतीय सृजन की पराकाष्ठा है।

पूर्व मध्य युग

भारतीय कला के इतिहास में ६०० ई० से ९०० ई० तक का समय पूर्व मध्य युग तथा ९०० ई० से १२०० ई० तक का काल उत्तर मध्य-युग कहा जाता है। इस काल में अनेक प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ, किन्तु प्राधान्येन यह युग मन्दिर मूर्तियों के निर्माण का युग है। इस युग में मानव एवं प्रकृति का साहचर्य नहीं रहा अपितु इस युग में ब्राह्मण धर्म के प्रभाववश अनन्त देवी देवताओं की मूर्तियाँ आभूषणों से सुसज्जित कर प्रतिष्ठित की गई। इस युग में प्रस्तर पर उभरे चित्र तथा भगवान बुद्ध सर्वथा लुप्त हो गए और उनके स्थान पर तान्त्रिक वज्रयानी सिद्धों का आगमन हुआ।

इस युग की कला का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें एलोरा की गुफाओं में देखने को मिलता है। एलोरा में अमित संख्या में मूर्तियों का अंकन हुआ और ये मूर्तियाँ प्रभावशाली भी हैं। दशावतार गुफा के भैरव और काली के परिवार अपनी शक्ति मत्ता एवं भयंकरता से कल्पना को चकित कर देते हैं। इसी प्रकार कैलाश गुफा का रावण परिवार भी सशक्त रूप में अंकित है। रावण के कैलाश को उठाने की कथा अंकित है, जहाँ रावण के कैलाशोद्धरण से पर्वत हिल उठा है और उस पर स्थित शिव के अतिरिक्त सभी प्राणी भयभीत हो उठे हैं। ये समस्त मूर्तियाँ लगभग ७०० ई० की हैं।

इसी पूर्व-मध्ययुग के अष्टम शतक में बम्बई के निकट एलिफेंटा की गुफाओं में शिव पार्वती परिणय अंकित किया गया है। शिव की ध्यानमग्न मुद्रा बुद्ध की सुन्दर तम मूर्तियों से प्रतिस्पर्धा करती है। त्रिमूर्ति की कल्पना के साथ उसकी शालीनता भी अद्भुत है। इस काल में एक बात विशेष हुई, वह यह कि पौराणिक मूर्तियों की अपेक्षा काले पत्थर के द्वारा शिव, विष्णु ब्रह्मा आदि के परिवारों का अंकन किया जाने लगा। अवयवों के तीखेपन के होने पर भी मूर्तियाँ सर्वथा मूक हो गई। पाल वंश के उदय होने पर अनेक धातु की महायानी मूर्तियाँ बनाई गई। इन धातु की मूर्तियों का तीखापन इस काल में निर्मित प्रस्तर मूर्तियों में भी प्राप्त है।

उत्तर मध्य-युग

इस काल में मूर्तियों का निर्माण हुआ किन्तु उन्हीं का जो मन्दिरों में स्थापित की गई अथवा वे मूर्तियाँ बनीं जो मन्दिरों के लिए बाह्यावरण का कार्य करती थीं। पाल युग की श्रेष्ठतम मूर्तियाँ उत्तर मध्ययुग (९०० ई०—१२०० ई०) में बनीं। बौद्ध देवी तारा तथा हिन्दू देवी लक्ष्मी की मूर्तियाँ इस काल में बनीं। इन दोनों ही मूर्तियों में पर्याप्त साम्य है।

गया कुर्किहार में निर्मित तांत्रिक परम्परा की मरीचिदेवी की मूर्ति तीन मस्तक और छः भुजा वाली है। देवी सप्त सूकरों वाले रथ पर आलीढ मुद्रा में अङ्कित है। इस काल में सूर्य की खड़ी मुद्रा में भी मूर्तियाँ बनने लगी थीं। इस प्रकार की एक खड़ी सूर्य मूर्ति साढ़े पाँच फुट की विक्टोरिया और अल्बर्ट अजायबघर में रखी हुई है। सूर्य के पद्मरथ में सात घोड़े जुते हुए खींच रहे हैं। कलाकार ने सूर्य में रथ और घोड़ों की अपेक्षा अधिक शक्ति भरने का प्रयास किया है। यह मूर्ति राजमहल की पहाड़ियों से प्राप्त हुई है। यह काले स्लेटी पत्थर की बनी हुई है। इसमें यथार्थता का गम्भीर आभास मिलता है। एकादश द्वादश शतक में महोबा में निर्मित दो बोधिसत्वों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अपूर्व हैं। "इनमें से एक सिंहनाद अवलोकितेश्वर तो असाधारण एवं दिव्य है। मूर्ति के पार्श्व में ऊपर त्रिशूल और सर्प के लाञ्छन भी हैं, जिनसे प्रकट है कि किस प्रकार बौद्ध महायान (वज्रयान) और शैव (शक्ति) प्रतीक परस्पर निकट आते जा रहे थे। अवलोकितेश्वर सिंह के आसन पर बैठे हैं। शरीर शान्त और पतला है, पर उसकी शक्ति का भार इतना है कि सिंह जैसे उठ नहीं पाता, और से जिव्हा निकाले नाद कर रहा है। शरीर के अंगांग अतीव सुन्दर हैं। उस काल में उस दिशा में इतनी सुन्दर मूर्तियाँ कम बनी हैं।"[1]

उड़ीसा के मन्दिरों का एक अपना ही महत्त्व है। भुवनेश्वर और कर्नाटक में एक से एक सुन्दर मन्दिरों का निर्माण हुआ है जिनके बाह्यावरण को अलंकृत करने के लिए अभिराम मूर्तियों का उस पर टंकन हुआ है। इन मन्दिरों में पुरी के मन्दिर की कला हेय कोटि की है। किन्तु कर्नाटक की मूर्तियों में लावण्यवी आकर्षण है और सूर्य मन्दिर की मूर्तियाँ अद्वितीय हैं।

उड़ीसा की ही भाँति खजुराहो मन्दिरों का समुदाय है। इन खजुराहो के मन्दिरों पर मूर्तिकला की विभूतियाँ विकीर्ण हैं। 'इनकी अनेक भाव भंगियाँ, नग्न मुद्राओं में कोरी लचीली शरीर यष्टियाँ असाधारण अभिराम हैं। हैं तो वे अलंकरण मात्र पर उनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र देवमूर्ति होने की क्षमता रखती है। इन मूर्तियों के दमखम, उनका नग्न विलास सम्पूर्ण आत्मसमर्पण उनकी काया को अप्रतिम शक्ति और लावण्य प्रदान करते हैं। कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो और एलोरा आदि दक्षिण के भी अनेक मन्दिरों पर अलंकरण के रूप में भोगासन उभरे हुए चित्रित हैं। कोणार्क, भुवनेश्वर और खजुराहो के यौन अंकन तो कला की दृष्टि से भी पर्याप्त सफल हैं।[2]

प्रागाधुनिक युग

उत्तर भारत में मूर्तियों के निर्माण का यवन आक्रमणकारियों के द्वारा आघात

---

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० १००
[2] वही, पृ० १०२

लगा था परिणामत मूर्ति एव मंदिरो का निर्माण ही यहाँ रुक गया। किन्तु दक्षिण म यह कार्य विशेष निष्ठा से अविराम रूप म चलता रहा क्योंकि वह यवन आक्रमणकारियों के विध्वंसक प्रहारो की परिधि से परे था।

इन दक्षिण की मूर्तियो म भी इस काल म स्वतन्त्र मूर्तियो का प्राय अभाव था, केवल अलकरण के हेतु यत्र तत्र मूर्तियो का निर्माण किया जाता था। दक्षिण के अनेक राजकुल मूर्तिकला के विकास के लिए प्रयत्नशील थे किन्तु एकादश शतक म चोल राजकुल द्वारा सरक्षित एव बनवाई गई मूर्तियाँ ही कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं, अन्यथा सभी साधारण कोटि की हैं। पुराणों एव तन्त्रो के प्रभाव से निर्मित ये मूर्तियाँ अनन्त हैं।

शुद्ध अलकरण की दृष्टि से द्वादश शतक की चालुक्य और होयसल मंदिरो की मूर्तियाँ सुन्दर ह। ये मूर्तिया गर्भगृह की प्रधान मूर्तियो की अपेक्षा भी कहीं अधिक सुन्दर ह। सातवीं सदी म पल्लवो ने पहाड़ो को कटवाकर रथ-मन्दिरो का निर्माण कराया था, इनके प्रधान मंदिर मामल्लपुरम् मे ह। इन मन्दिरो का सम्पूर्ण शरीर मूर्तियो से सुसज्जित है। शार्दूल सिंह गज, अश्व, नर नारी सभी पंक्तिबद्ध अंकित ह। विशालाकृति के सिंह खड़ी भूमि पर चित्रित ह। महिषासुर मर्दिनी दुर्गा का चित्र भी उनकी शक्ति का परिचायक है। 'मामल्लपुरम् के पर्वत मन्दिर की एक ८६ फुट लम्बी और ४३ फुट चौड़ी समूची दीवार उत्कीर्ण मूर्त मूर्तियो से भर दी गई है।"

मसूर के मंदिरो की अनेक मूर्तियाँ बगलौर के सग्रहालय म देखी जा सकती हैं। त्रिचनापल्ली म गगकोड चोलपुरम् के शिव मंदिर का लिंगम् तीस फुट ऊचा है। होयसल राजाओं द्वारा बनवाई गई बारहवी शताब्दी की मसूर मंदिर की मूर्तियाँ सुन्दर हैं। इसी काल की बेलारी जिले के चालुक्य मन्दिर की मूर्तियाँ भी अमित ह।

चौदहवी से सोलहवी शताब्दी तक विजयनगर के हिन्दू राजाओ ने भी अनन्त मूर्तियो के निर्माण म योग दिया है किन्तु ये मूर्तियाँ सौन्दर्य म न्यून ह। २२ फुट ऊँची नरसिंह मूर्ति और हनुमान का प्रतिमा असाधारण रूप स महान ह, किन्तु कला की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं। हजारा रामस्वामी वाले प्रासाद मन्दिर म आगन की दीवारें रामायण के दृश्यो से सम्भृत ह। किन्तु कला की दृष्टि के उत्कृष्ट तथा शक्तिमान नहीं ह। इनसे कहीं अधिक प्रभावात्मक अनन्तपुर तरपात्री की मूर्तियाँ ह।

सप्तदश शतक मे द्राविड परम्परा के मंदिरो म लम्बे लम्बे बरामदो का निर्माण हुआ और उनकी भित्तियाँ मूर्तिया स आच्छादित ह।

मसूर म बारहवा तथा अठारहवी शताब्दी म अनेक धातु मूर्तियाँ निर्मित हुइ। तिरुमलय मंदिर म कृष्णराय (विजयनगर का राजा) और उसकी दो रानियों की पीतल की मूर्तियाँ सुन्दर बन पड़ी ह। किन्तु धातु मूर्तियाँ म नटराज की मूर्ति अपूर्व है। भारतीय मूर्तिकला म नटराज की कल्पना महत्त्वपूर्ण है।

वर्त्तमान काल

यवन आक्रमणकारियो के कारण द्वादश शतक म मूर्तिकला को गम्भीर आघात लगा था, यद्यपि निर्माण-काय समाप्त तो नही हुआ, किन्तु कलात्मकता सामान्यत समाप्त ही हो गई थी। आज भी जयपुर आदि स्थानो पर मंदिरो के लिए मूर्तियो का निर्माण हो रहा है, किन्तु वे प्रतीक एव रसास्वाद की दृष्टि स सवथा हीनकोटि की हैं। सुरुचि स तो उनका दूर का भी सम्बन्ध नही है।

आज यत्र-तत्र सजावट की मूर्तिया का निमाण हो रहा है। इस दिशा में यूरोपीय कलाकारो की परम्परा ने भारतीय कला को प्रभावित किया है। इस क्षेत्र में प्रयोग हो रह ह और भविष्य के लिए सुन्दर आशा है।

५

चित्रकला

- चित्रकला का उद्भव एवं विकास
- भारतीय चित्रकला की भावभूमि
- चित्रभेद
- अजन्ता शैली
    - १ गुजराती शैली
    - २ मुगल शैली
    - ३ राजपूत शैली
    - ४ जम्मू शैली
    - ५ काँगड़ा शैली
    - ६ गढ़वाली शैली
    - ७ दक्खनी शैली
    - ८ वर्तमान शैली

भारतीय चित्रकला का इतिहास भी अन्यान्य कलाओं की भाँति प्राचीनतम है। प्राचीनता की दृष्टि से मिर्जापुर और मध्य प्रदेश के रेखाचित्र प्रस्तरयुगीन हैं। किन्तु शास्त्रीय चित्रकला की दृष्टि से ई० पूर्व तीसरी सदी से भारतीय चित्रकला का इतिहास पूर्णत उपलब्ध होता है।

भारतीय चित्रकला की भावभूमि

भारतीय चित्रकला के इतिहास का सिंहावलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि यद्यपि भारतीय चित्रकला मांसल भौतिक तथा यौन-सम्बन्धी चित्रों की भी अवतारणा करती है किन्तु मूलत उसकी भावभूमि आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रही है। यही कारण है कि भारतीय चित्रकला

कला के आदर्श का पालन न कर, सदा ही सोद्देश्य रही है। इसीलिए चित्रकला मे ध्यानयोग का महत्त्व स्वीकार किया गया है। ध्यानयोग से रहित चित्रकार को शिथिल समाधि की संज्ञा यहा के साहित्य मे मिलती थी।[1] शुक्रनीति ने भी शिथिल समाधि का निरूपण किया है।[2] शुक्रनीति के अनुसार कलाकार आलेख्य को लिखने से पूर्व समाधिस्थ होना चाहिए। जब वह कलाकार समाधि म आलेख्य का सर्वांगपूर्ण ध्यान कर लेगा, जब आलेख्य प्रत्यक्ष मूर्त हो उसकी समाधि मे अकित हो जायेगा, उसी समय वह अपने विषय के अकन मे सफल होगा, अन्यथा शिथिल समाधि म वह कलाकार अपने उद्देश्य मे असफल रहेगा।

भारतीय चित्रकला की दूसरी विशेषता गार्हस्थ्य प्रणय की है। यही भारतीय संस्कृति का परम पुनीत आदर्श है। शकुन्तला के विरह से पीडित दुष्यन्त विरहापनोदन के लिए एक चित्र की रचना करना चाहता है। वह कहता है, 'अभी हस मिथुन लाछित सिकता तट लिखना है, मालिनी की धारा लिखनी है, धारा हिमालय की उन श्रेणियो के बीच बहती जिन पर मृग बठे हो और शाखाओ से वल्कल लटकाये ऐसा वृक्ष अकित करना है जिसके नीचे बैठी मृगी अपने मृग के सीग से अपना वाम नयन खुजा रही हो।'[3]

यह है भारतीय सस्कृति के अनुरूप अपूर्व भाव योजना। गृहस्थ धर्म और प्रेम का इससे सुन्दर क्या चित्रण हो सकता है। मृग का सीग उसका कठोरतम, भयावह रक्षा-आक्रमण का साधन है। दूसरी ओर मृगी का नयन उसका कोमलतम शरीर का अग है। 'पर उसे वह मृग के सीग की नोक पर मात्र रखती ही नही, उससे वह उसे खुजाती है, घर्षित करती है। परस्पर विश्वास की, प्रणय जनित आस्था की, यह अभिराम चरम परिणति है।'

यही है भारतीय कला का आदर्श—भाव प्रधान, कोमल तथा सत्य, शिव, सुन्दरम् की भावना से अभिभूत।

---

[1] कालिदास मालविकाग्निमित्रम—२/२
चित्रगतामस्या कार्ति विसवादशकि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता॥

[2] ४४।१४७ ५०

[3] शाकुन्तलम् ६।१७
कार्या सकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमानां मृगीम्॥

भारतीय चित्रकला की सम्पदा अपूर्व है, उसमें विविधता है, प्राचीनता है अत विस्तृत भारत भूखण्ड की इस कला की अनेक शैलियाँ स्थानीय और प्रान्तीय विशेषताओं के आधार पर बनी। आज उपलब्ध विभिन्न प्रधान शैलियाँ निम्न हैं—

१ अजन्ता शैली
२ गुजरात शैली
३ मुगल शैली
४ राजपूत शैली
५ दक्नी शैली
६ वर्तमान शैली

इन शैलियों में सर्वप्रधान प्रभावशाली एवं व्यापक शैली अजन्ता चित्र शैली है। इस शैली का उदय हैदराबाद की सह्याद्रि गुफाओं में हुआ था। गुजरात शैली अपने नाम के अनुसार पश्चिम भारत के गुजरात प्रदेश की शैली का नाम है। उसे जन शैली भी कहते हैं। मुगल शैली भी अपने युग में देशव्यापिनी थी, प्रधानत दिल्ली आगरा के मुगल सम्राटों से संरक्षित थी। राजपूत शैली राजस्थान, बुंदेल खण्ड, पंजाब, हिमालय से उत्पन्न होकर सम्पूर्ण भारत में विकीर्ण हुई। स्थानीय विशेषताओं के आधार पर इसकी अनेक उपशाखाएँ (कलम) भी बनी, जैसे—१ पहाड़ी कलम २ जम्मू कांगड़ा आदि। मुगल एवं राजस्थानी शैलियों के समन्वय से दक्न शैली का उदय हुआ। वर्तमान शैली यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न है।

चित्रभेद

सामान्यत चित्र दो प्रकार के होते हैं—१ भित्ति चित्र और २ प्रतिकृति चित्र।

भवनों की दीवालों गुफाओं आदि पर जो चित्र निर्मित होते हैं उन्हें भित्ति चित्र कहा जाता है। ये चित्र दीवार पर चूने आदि का लेप लगाकर बनाये जाते हैं। इस प्रकार के भित्तिचित्रों में जोगीमारा अजन्ता बाघ आदि के प्रसिद्ध भित्तिचित्र हैं। यूरोपीय भाषा में इन चित्रों को 'फ्रेस्को चित्रण' कहा जाता है।

प्रतिकृति चित्र वे होते हैं जिसमें एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों की प्रतिकृति उतारी जाती है। इन प्रतिकृति चित्रों के लिए व्यक्ति विशेष को माडल के रूप में बैठाकर चित्रित किया जाता है। अंग्रेजी में इन चित्रों को 'पट्रेट पेंटिंग' कहते हैं। मुगल शैली के चित्र इसी प्रकार के हैं। इन दोनों ही प्रकार के चित्रों में सर्वाधिक एक नई शैली भी है जिसे गुजराती अथवा ग्रन्थ चित्रण कहा जाता है। इस शैली में भित्तियों पर आकृतियों का अंकन किया जाता है। मुगल कलम से प्रभावित परन्तु टकनीक में अजन्ता की भूमि प्रस्तुत करने वाली राजस्थानी पहाड़ी शैली इस प्रकार की है।

इन दोनों ही प्रकार के चित्रों का भारत में निर्माण होता रहा है और उनके उल्लेख यहाँ के साहित्य में मिलते रहे हैं। कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति आदि कवियों नाटककारों ने अनेकशः इन चित्रों का उल्लेख अपने अपने साहित्य में किया है।

अजन्ता-शैली

प्रस्तर युगीन मिर्जापुर आदि के चित्रों के अतिरिक्त प्राचीनतम चित्रों में जोगीमारा गुफा के चित्र भी हैं। यह जोगीमारा गुफा मिर्जापुर के पास रामगिरि की पहाड़ियों में है। जोगीमारा गुफा के चित्र भित्तिचित्र हैं। ये वृत्ताकार बने हैं जो कि एक दूसरे को लाल-पीली वृत्ताकार रेखाओं से बाँटते हैं। मध्य में एक वृक्ष के सहारे एक व्यक्ति बैठा है। उसकी वाम दिशा में नर्तकियाँ और गाने बजाने वाले हैं तथा दक्षिण की ओर गज के साथ एक जलूस का चित्र है। द्वितीय चित्र में अनेक पुरुष एक चक्र और अनेक ज्यामितिक रेखाएँ बनी हैं। तृतीय चित्र में पुष्प, अश्व और मानवाकृतियों के आभास मात्र अवशिष्ट हैं। इसी चित्र के अर्द्ध भाग में एक वृक्ष चित्रित है जिस पर एक पक्षी तथा शाखाओं में एक नग्न बच्चा बैठा हुआ है। चतुर्थ चित्र में एक ओर तीन वस्त्रों से विभूषित परिचारकों के मध्य में नग्न पुरुष खड़ा है, दूसरी ओर तीन परिचारकों से समावृत्त दो नग्न व्यक्ति बैठे हैं। नीचे की ओर इसी चित्र में एक चत्यगृह है। उस घर के सामने एक गज और वस्त्रों से विभूषित तीन व्यक्ति खड़े हैं। समीप ही छत्र से मंडित तीन घोड़ों का रथ गज तथा परिचारक हैं। ये चित्र सम्भवतः शुंगकाल के हैं। अजन्ता के अज्ञात कला शिल्पियों ने साधना की तल्लीनता में उन शाश्वत सार्वभौम सत्यों को आत्मसात् कर उन अमिट रेखाओं में व्यक्त किया जो किसी भी काल में मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकते।

अजन्ता में २९ गुफाएँ हैं। ये अर्धचन्द्राकार हैं। उनके नीचे एक क्षीणकाया नदी बहती है। इन गुफाओं में से ९, १०,१९ और २६ नम्बर की गुफाएँ चत्यगृह हैं। शेष भिक्षुओं के रहने के लिए विहार हैं। इन गुफाओं में ८ और १२ नम्बर की गुफाएँ प्राचीन हैं और १३ नम्बर की गुफा प्राचीनतम। नम्बर १३ गुफा की दीवारों पर पालिश है, सम्भवतः वह ई० पू० २०० की है। इन तीनों ही गुफाओं में चित्र नहीं हैं। ६, ७, नम्बर की गुफाएँ सम्भवतः ४५० ई० और ५५० ई० के मध्य की हैं। शेष परवर्ती काल की गुफाएँ हैं। सम्भवतः सबसे अर्वाचीन गुफा नम्बर एक है। इन गुफाओं के चित्र विभिन्न काल के हैं जो कि सम्भवतः ई० पू० प्रथम शतक से लेकर सप्तम शतक के भी हो सकते हैं। इन गुफाओं के अधिकांश चित्र धूमिल हैं, अथवा मिट गये हैं। किन्तु जो भी अवशिष्ट हैं वे चित्रकला की अनुपम सम्पत्ति हैं।

चित्रों के विषय प्राधान्येन बौद्ध धर्म सम्बन्धी हैं। बुद्ध के जीवन की अनेक जातक कथाओं के चित्र यहाँ बने हुए हैं। अजन्ता के यह चित्र अलंकरण की दृष्टि से अनुपम हैं। फूल, पक्षी, पशु, गंधर्व, विद्याधर सभी यहाँ सजीव रूप में दृष्टिगोचर

होते है। इन कलाकारों की कल्पना भी मार्मिक है। इन विशेषताओं को देखने के लिए हम गुफा नम्बर एक और दो की छत विशेष रूप से देखनी होगी। गुफा नम्बर एक की छत पर अंकित साँडों की लड़ाई का दृश्य मार्मिक है असाधारण है। 'अजंता के चित्रों मे सौंदर्य इतनी मात्रा में प्रवाहित है कि उसे थोड़े मे व्यक्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः प्रत्येक चित्र व्यक्तित्व रखता है और अनुपेक्षणीय है। फिर भी पद्मपाणि बोधिसत्व, माता और राहुल, छद्दंत जातक, क्रूर ब्राह्मण की कथा, शिवि जातक, गजराज की जलक्रीडा, कपियों का उल्लास, नंद का पलायन आदि अनेकानेक चित्र संसार के सुंदरतम चित्रों में स्थान रखते हैं। अजंता की अपनी शैली है, संसार की शैलियों से सर्वथा भिन्न। उंगलियाँ कमल की पंखुड़ियों सी नमित होती हैं। नेत्र आकर्षण खिंचे अर्ध निमीलित हैं। दोनों अद्भुत छंदयुक्त हैं। निःसंदेह शैली की परम्परा सौंदर्य के मान बाँध देती है परंतु आकृतियों की विविधता, उनका जीवन से अविच्छिन्न सम्बंध, अविरल बहते जीवन में उनका सर्वथा अकृत्रिम सहज स्वाभाविक अंकन आलोडित संसार ला उपस्थित करते हैं। आकृतियाँ पहचानी सी लगती हैं। नगरों, महलों, साधारण घरों, वनों के दृश्य जीवन को उसके सभी रूपों में प्रकट करते हैं। दृश्यों के एकाकी और सामूहिक अंकन में एकप्राणता है। अजंता के चित्रकार कितने कुशल, कितने मानवीय, जीवन के प्रति कितने उदार, कितने हमदर्द थे, ये चित्र भली भाँति व्यक्त करते हैं। विराग और त्याग के इन मंदिरों में स्वस्थ जीवन का कोई अंग अछूता न रहा, राजावर्गों का कोई कम्पन न रहा जो तूलिका और वर्ण के स्पर्श से चमक न उठा हो। कुछ आश्चर्य नहीं कि चीनी तुनहुआंग की सकड़ों गुहाएं अजंता की चित्रानुकृतियों से भर गई हैं।'[1]

बाघ की गुफाएं भी चित्रकला के लिए कला साहित्य में प्रसिद्ध हैं। मध्यप्रदेश में ग्वालियर की इन गुफाओं के चित्र भी अजन्ता शैली में ही हैं। इन गुफाओं की छतें, दीवारें और स्तम्भों की भूमि अनेक चित्रों से भरी हुई है। इन चित्रों में जीवन की भावना, उल्लास सभी कुछ है। इन चित्रों में मानव व पशु दोनों ही अंकित हैं। अश्वों व मस्तकों का चित्रण भी सुंदर है। बाघ के चित्रों में यत्र-तत्र नृत्य, वाद्य, गायन तथा अभिनय के भी चित्र हैं। इन चित्रों में सभी नारियाँ हैं, केवल एक पुरुष का चित्र है। निर्विवाद रूप से संसार के सुंदरतम कलाकृतियों में बाघ के चित्रों की भी गणना की जा सकती है। यद्यपि इन चित्रों के समय, चित्रकार आदि का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि विद्वान् इनको अजंता शैली तथा गुप्तकाल के चित्र मानते हैं और निर्माण-काल की अंतिम सीमा षष्ठ-सप्तम शतक तक ले जाते हैं। ध्यान गुफाओं के निश्चित दर्शक रचना शिल्प, रंगों, विन्यास और भाव व्यंजना में अजंता से टक्कर लेते हैं तथापि उतना स्थायित्व लिए हुए नहीं हैं। पर एलोरा की गुफाएं तो ब्राह्मणों द्वारा मानो अजन्ता का उत्तर देने के लिए बनाई गई हैं।

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ११६

गुजराती-शली

एक विशिष्ट प्रकार के चित्र गुजरात मे बनते थे। गुजरात में मिलने वाले इन चित्रा की शैली को गुजराती शली कहते ह। इस शैली का दूसरा नाम जन शली भी है, क्योकि इस शली मे जन कल्पसूत्रो का ही ग्र थ चित्रण है। गुजराती शली में प्राप्त चित्रा का समय प द्रहवी सदी है। यहा एक प्रश्न स्वाभाविक है कि अज ता एव गुजराती शली के मध्य जो सात आठ सो वष का अ तराल है, क्या वह चित्रविहीन रहा होगा। सम्भवत नही। क्योकि 'पाटल सग्रह के सचित्र कल्पसूत्र पर १२३७ ई० की तिथि दी हुई है। इस प्रकार के दो कल्पसूत्र ल दन के इण्डिया आफिस और ब्रिटिश म्यूजियम मे सुरक्षित हैं। इनमे पहला १४२७ ई० का है, दूसरा १४६४ ई० का।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यह अ तर और भी कम रह गया है। हो सकता है कि अधिक अनुसधान करने पर कुछ और भी इस बीच के चित्र प्राप्त हो सकें।

गुजराती शली प्राधा यन ग्र थ चित्रण परक है। गुजराती के अहमदशाह कुतुबुद्दीन के राज्यकाल का वस त विलास (१४५१ ई०) सवथा भौतिक भावो से सभृत है। उसम धार्मिक, आध्यात्मिक भावो के लिए कोई स्थान नही है। यह बस त विलास साढे पतीस फुट लम्बे और नौ इ च चौडे सूती वस्त्र पर चित्रित है। पीली भूमि पर लाल और पीले वण का प्रयोग किया गया है। आकार अज ता की रूढिबद्ध शली से दूर है। चेहरे आधे अथवा केवल पृष्ठभूमि म देखे जा सकते हैं। सौ दय की दृष्टि से देखन पर बादाम के बराबर डेढ या एक आख ही चित्रित है। इसीलिए इस शली के समीक्षको ने 'डेढ चश्मी या एक चश्मी शबीह' कहा है। गुजराती शली के वृक्ष का अकन रूढिग्रस्त है। आकृति की रेखाएँ भी क्षीण है। वषभूषा के उडते हुए उत्तरीय और धोती का विशेष रूप से अकन हुआ है। गुजराती शली मे चित्रो का अकन, शली की दृष्टि से अजन्ता तथा मुगल दोनो ही शलियो से भिन्न है। इस प्रकार गुजराती शली क चित्र विषय और शली की दृष्टि से सवथा भारतीय हैं। इस शली क चित्र—उनके लेख्य विषय हृदय पर गम्भीर प्रभाव डालते हैं किन्तु प्राधा येन इस शली का सम्ब ध अजन्ता की भाँति कथा वार्ता से है। परिणामस्वरूप वह ग्रथ चित्रण म विशेष रूप से प्रयुक्त होती है।

मुगल शली

मुगल शैली वह शैली विशिष्ट है जिसमें इरानी कलम भारतीय वातावरण में विकसित हुई। यद्यपि ईरानी शली का प्रारम्भ भारत म इरानी कलाकारो ने किया तथापि भारतीय कलाकारो ने अपनी निष्ठा और लगन स स्थानीय प्ररणा और विषयों क माध्यम से इसे एक नवीन प्रभावात्मक रूप प्रदान किया है। इस समन्वित शैली को मुगल कलम या शली कहा गया है। अपनी पूण विकसित अवस्था म यह शैली सवथा भारतीय है। यह शली भारतीय चित्रकला के इतिहास म विशिष्ट स्थान

रखती है। अपनी मुद्राओं और परिष्कारता तथा सूक्ष्म रंगों की तीक्ष्णता और हाशिये की नक्काशी के लिए यह शैली प्रख्यात हो गई है।

मुगल शैली का इतिहास हुमायूं (१५५५ ई०) के पुनरागमन से प्रारम्भ होता है। हुमायूं ईरानी दरबार से जब भारत आया तो वह अपने साथ मीर सैयद अली और अब्दुस्समद नामक दो प्रसिद्ध चित्रकारों को लाया था। ये दोनों ही पश्चिम चित्रकला में पारंगत थे और इन्होंने भारत में आकर चित्रकारों से महत्वपूर्ण काम लिए। मीर सैयद अली ने 'दास्तान अमीर हम्ज़ा' का चित्रण किया। इन दोनों ही चित्रकारों ने अपने निरीक्षण में अकबर के आदेश पर फतहपुरसीकरी के कमरों में भित्तिचित्रों का निर्माण कराया। उसके दरबार हॉल और आगारों की दीवारें अनेक चित्रों से आच्छादित हैं। इन चित्रों का स्वरूप भित्तिचित्रों का था तथा शेष लघु चित्रों की थी।

मुगल शैली की चित्रकला में हिन्दू चित्रकारों का अपना महत्वपूर्ण योगदान है। इस काल में अनेक हिन्दू चित्रकार भारतीय चित्रकला को अपने भव्य चित्रों से गौरव गरिमा प्रदान कर रहे थे। अकबर के दो हिन्दू दरबारी चित्रकार बसावन और दसवन्त मूर्धन्य कलाकार थे। अबुल फज़ल ने दसवन्त के सम्बन्ध में लिखा है कि वह अपने युग का प्रधान आचार्य बन गया था। अबुलफज़ल ने बसावन की भी पर्याप्त प्रशंसा की है। वाकियाते बाबरी में बाइस चित्रकारों के नामों का उल्लेख है, किन्तु इन चित्रकारों में हिन्दू चित्रकार ही अधिक हैं। अबुलफज़ल द्वारा निर्दिष्ट १७ कलाकारों में केवल चार ही मुसलमान हैं शेष तेरह हिन्दू। आशय यही है कि मुगल शैली का विकास अकबर की उदार तथा सहिष्णु नीति के कारण हुआ है और उसके प्रधान कारण हिन्दू चित्रकार थे।

मुगल शैली के अधिकांश चित्रों का निर्माण कागज पर हुआ है। इस शैली के कलाकार पहले खाका खींचकर अपने आलेख्य को रेखांकित करने के बाद चित्र निर्माण करते थे। मुगल शैली के सम्बन्ध में उपाध्यायजी ने स्मिथ के आधार पर लिखा है —

ईरानी चित्रों में तो पहले खाका लाल या काली चाक से खींचकर उसमें तत्काल रंग भर लिया जाता था। बहुमूल्य ग्रन्थों के लिए बड़ा उलझा हुआ तरीका काम में लाया जाता था। ग्रन्थ में पृष्ठ खाली छोड़कर चित्र अलग तैयार करके उसमें बाद में चिपका देते थे। पन्ने पर पहले बारीक लेप कर लिया जाता था जो अरबी गोंद के पानी में घुला होता था। तब उसकी चिकनी जमीन पर खाका खींचा जाता था फिर तैल चित्रण की भाँति एक पर एक रंगों की परतें डाली जाती थीं। जब तब आभूषणों में हीरा मोती और स्वर्ण का आभास करने के लिए उनके कणों का उपयोग होता था।[1] यह सारा क्रिया भारतीय चित्रकार गिलहरी के बालों के ब्रश से

---

१ स्मिथ : हिस्ट्री, पृ० ४६०

सम्पन्न करते थे। अनेक बार तो बारीकी केवल एक बाल के ब्रुश से सम्पन्न की जाती थी।[1] उसमें असाधारण नेत्र शक्ति और कर स्थिरता की आवश्यकता होती थी। लन्दन में रखे हुए असमाप्त चित्रों से[2] शैली की रेखा शक्ति का पता चलता है। अनेक बार एक ही चित्र को अनेक कलाकार पूरा करते थे। एक खाका खींचता था दूसरा उसमें रंग भरता था। उदाहरणतः साउथ केंसिंग्टन म्यूजियम के अकबरनामा में आदमखाँ के प्राणदण्ड वाले चित्र का खाका मिस्की ने तैयार किया था, पर उसमें रंग शंकर ने भरे थे।[3] अकबरनामा के रंग बड़े चटक हैं, विशेषतः लाल, पीले और नीले। उसके चित्र इस प्रकार ईरानी वर्ण परम्परा के ही विकास हैं। भारतीय चित्रकार रंगों की महारत और कोमल वर्णकारिता में अपने ईरानी उस्तादों से कहीं बढ़ गये थे और प्रकृति के वैयक्तिक चित्रण में तो उन्होंने इतनी महारत हासिल कर ली जितनी उनके ईरानी उस्ताद कभी न कर सके थे। इस प्रकार के भारतीयों के बनाये सुन्दरतम चित्र १७वीं सदी के पूर्वार्द्ध के हैं, वैसे अच्छे चित्र १९वीं सदी के आरम्भ तक बनते गये थे।'[4]

आरम्भिक मुगल शैली के चित्रों में ग्रन्थ चित्रण का प्राधान्य है। महाभारत का 'रज्मनामा', रामायण का अनुवाद, अकबरनामा, दास्ताने हम्जा, रसिक प्रिया आदि ग्रन्थों के चित्रण हुए हैं। इस प्रकार यह युग साहित्य और चित्रकला को निकट लाने में सफल हुआ।

मुगल शैली व्यक्तिवादी है। उसमें व्यक्ति चित्रण—प्राकृतिक चित्रण का प्राधान्य है। अकबर एवं जहाँगीर के काल (१५५६ से १६०५, १६०५ से १६२७) में खड़े व्यक्ति का पार्श्व चित्रण ही अधिक हुआ। क्रमशः नर-नारी के स्वाभाविक चित्रण की ओर गति हुई। मुगल राजाओं के अनेक यथार्थ और अवयवानवत चित्रों की रचना इस काल में हुई। उन चित्रों को आज भी हम उसी रूप में देख सकते हैं। सुरक्षित दारा शिकोह के अल्बम में इस प्रकार के चित्र आज भी देखे जा सकते हैं। अकबर और उसके मित्रों के चित्र, अकबर और उसके निकट बैठे हुए सलीम का चित्र, नारी की फरियाद सुनते हुए अकबर का चित्र, इसी प्रतिकृति चित्रण के चित्र हैं।

मुगल शैली के चित्रकारों ने पशु और पक्षियों के चित्रांकन में अपनी अनुपम कला का प्रदर्शन किया है। जहाँगीर द्वारा बनवाया गया मुर्गे का चित्र भी सुन्दर है। आज यह कलकत्ते की आर्ट गैलरी की शोभा बढ़ा रहा है। इस क्षेत्र में मंसूर नामक चित्रकार सर्वश्रेष्ठ था।

---

1. वही, पृ० ४६२
2. वही, पृ० ४६२
3. वही पृ० ४६२
4. भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० १२२ १२३

शाहजहाँ के काल में चित्रकला अपने श्रेष्ठ दिनों में थी। ताज के निर्माण के साथ ही सर्वश्रेष्ठ चित्रों का सृजन भी इसी काल में हुआ। इस काल की चित्रकला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं—प्राचीन रक्तरंजित चित्रों की अपेक्षा संयत, शान्त दरबार-परक चित्रों का सृजन इस काल में हुआ, सुरुचि का संस्कार भी हुआ, साथ ही चटक रंगों का स्थान कोमल रंगों ने ले लिया। इस काल के चित्रकारों के लिए प्रिय विषय—लैला मजनूँ, शीरीं-खुसरू, कामता कामरूप और रूपमती-बाजबहादुर थे। इस काल के प्रमुख कलाकारों में चतरमन (कल्याणदास), अनूपछतर (राय अनूप) मनोहर, मुहम्मद नादिर, समरकन्दी, मीरहाशिम और मुहम्मद फकीरुल्ला खाँ हैं।

ईरानी मॉडल से निर्मित चित्रों में प्रायः बिम्बत्व और अंगपीवरता का अभाव, स्पेस की गहराई का अभाव तथा उभार की कमी के कारण एक प्रभावात्मक सौंदर्य का अभाव था, चित्र में चपटापन था। इसके विपरीत मुगल शैली में भारतीय हिन्दू चित्रकारों के प्रभाव के साथ इन अभावों का निराकरण तो किया ही गया और चित्र को गोलाई का प्रभाव भी दी गई। किन्तु इसी काल में पाश्चात्य प्रभाववश रेखा और रंग की दृष्टि से चित्रकला में शिथिलता भी आई। १८वीं शताब्दी के परवर्ती चित्रों में यह पाश्चात्य प्रभाव तथा शिथिलता सहजलक्ष्य है।

मुगल शैली के ह्रास का जहाँ तक प्रश्न है उसके सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि औरंगजेब को कला से प्रेम न था किन्तु उसके काल तक कला का ह्रास नहीं हुआ था क्योंकि उस काल के हिन्दू राजा वास्तविक कला के संरक्षक थे जिनके अपने अपने चित्रकार थे। किन्तु केन्द्रीय राजधानी के छिन्न भिन्न हो जाने के कारण अनेक चित्रकार इधर उधर विकीर्ण हो गये। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय विशेषताओं से युक्त मुगल शैली का उदय हुआ।

विशेष प्रभाव पड़ा है। राजस्थानी शैली में रंगों के प्रयोग, भूमि निर्माण और विषय वस्तु के चयन में भारतीय दर्शन परम्परा का प्रभाव विशेष है।

राजस्थानी और मुगल शैली का परस्पर निकट सम्बन्ध है। मुगल शैली का प्रभाव भी राजस्थानी शैली पर स्पष्ट है। राजस्थानी अवान्तर शैलियों पर भी मुगल शैली की प्रतिकृतिकारिता का प्रभाव परिलक्षित होता है। फिर भी इन दोनों शैलियों में पर्याप्त अन्तर है। डा० उपाध्याय ने इस अन्तर का निर्देश इस प्रकार किया है—

मुगल शैली प्रतिकृतिपरक और व्यक्ति-प्रधान है, राजपूत शैली मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति को चित्रित करती है। उसके चित्र बिना भारतीय महाकाव्यों, पुराणों, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, संगीत शास्त्र, कामसूत्र, और रीतिकाव्य जाने भली प्रकार नहीं समझे जा सकते। उनमें कला और साहित्य बोध का अद्भुत संयोग प्रस्तुत है। रागिनी चित्रण तो कला और साहित्य की गंगा यमुना में सरस्वती का संगम कर त्रिवेणी का संयोग उपस्थित कर देता है। मुगल चित्रण लघु चित्रण है, राजपूत शैली भित्ति चित्रण की परम्परा में है—भित्तिचित्रण का लघुतम रूप। मुगल चित्रों की काया बंधी हुई है। पहाड़ी चित्रों का प्रवहमान, छन्दयुक्त। मुगल चित्रों का छायातप राजपूत शैली के चित्रों में नहीं मिलता। रात दिन के प्रकाश को रंगों के उतार चढ़ाव से उनमें नहीं व्यक्त किया जाता, मशाल, दीपक आदि से उसका बोध कर दिया जाता है। उस शैली के चित्र प्रधानतः मुगल चित्रों के पीछे के होते हुए भी मध्यकालीन आभास उत्पन्न करते हैं, मुगल चित्र सार्वकालिक।"[1]

राजस्थानी चित्रशैली ने साहित्य संगीत को चित्रात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। रागमाला चित्रों में सम्पूर्ण संगीत—छः राग और तीस रागिनियाँ ग्रन्थ चित्रण के रूप में प्रस्तुत हैं। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों की कविता भी चित्रित है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संसार के इतिहास में किसी भी देश की कला में साहित्य संगीत और चित्रण का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है।

जम्मू शैली के चित्रों में रामलीला, रासलीला और रागमालाएँ चित्रित की गई हैं। अलंकार तथा शास्त्रीय नायक नायिका भेद भी चित्रित है। इस शैली के चित्र प्रतिकृति परक हैं तथा सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी के हैं।

कांगड़ा और उसकी गढ़वाली कलमें १८वीं सदी के अन्तिम चरण और १९वीं सदी के प्रारम्भिक चरण की हैं। इस शैली के विषय हैं—कृष्णलीला, नायक-नायिका भेद, शाक्त रूपायन, रामायण महाभारत की कथाएँ नल-दमयन्ती की कथा, प्रासाद और उद्यानों का चित्रण यत्र तत्र हिमालय के उत्तुंग शिखर और देवदार वृक्षों का अंकन भी हुआ। ग्रन्थ चित्रण के चित्रों के साथ नागरी लिपि में प्रसिद्ध हिन्दी रीतिकालीन (विशेषतः केशवदास) कवियों के लेख भी होते हैं।' इन चित्रों के रंग शान्त और शीतलता का आभास उत्पन्न करते हैं। इनकी रेखाओं में बड़ी तरलता है

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० १२६

विशेषकर परिधानों की रेखाओं में। राजस्थानी रागमालाओं की नायिका व पुरुष की नहीं नारीत्व की धनी हैं। ये भाव प्रधान हैं, आवेग प्रधान नहीं।"[1]

१६वीं शताब्दी के अंतिम चरण में गढ़वाली कलम का उदय होता है। इस शैली का ख्यातिलब्ध चित्रकार मोलाराम (१७६० १८३३) है। यह शैली कांगड़ा कलम के निकट है। पंजाब की सिख कलम (१७७८ १८५०) भी कांगड़ा शैली की ही एक शाखा है। यह शैली पौराणिक विषय तथा मूर्तियों के अभाव में प्रतिकृति प्रधान है। इसमें गुरुओं का व्यक्तिपरक चित्रण हुआ है।

दकनी-शैली

दकनी शैली भी मुगल शैली से प्रभावित एक स्थानीय शैली है। यह भी प्रधानतः प्रतिकृति प्रधान है। इस शैली के दो प्रसिद्ध केन्द्र बीजापुर और हैदराबाद (दक्न) थे। इनके राजाओं की देख रेख में यह शैली पल्लवित हुई। इस शैली के अनेक चित्र आज भी उपलब्ध हैं जो कि वहाँ के नवाबों और अमीरों के हैं।

वर्तमान शैली

वर्तमान-काल में चित्रकला में यूरोपीय प्रभाव से तीन शैलियों का विकास हुआ है—

१ यूरोपीय कला से प्रभावित,
२ पुनर्जागतिक और
३ प्रगतिशील।

यूरोपीय कला का प्रभाव भारतीय चित्रकला पर मुगल काल में ही परिलक्षित होने लगा था। किन्तु इसका विशिष्ट प्रभाव त्रावणकोर के राजा रविवर्मा के माध्यम से हुआ। इस यूरोपीय कला के प्रभाववश हिन्दू देवी-देवताओं के चित्रण भावहीन तथा नीरस होने लगे। इस शैली के चित्र यत्र तत्र सर्वत्र दृष्टिगत होने लगे और कला सम्बन्धी सुरुचि का सर्वथा अभाव हो गया। मदुरा के रामस्वामी नायडू के चित्र इसी शैली के हैं।

२०वीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में पुनर्जागरण का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप प्राचीन कला शैली को स्वदेशी प्रतीकों द्वारा पुनः अपनाया गया। ठाकुर के अनेक शिष्यों ने अजन्ता की गुफाओं के चित्रों की नकल की और उनका यत्र-तत्र प्रचार किया। स्वयं अवनीन्द्रनाथ ने अजन्ता तथा मुगल शैली में अनेक चित्रों का निर्माण किया। अवनीन्द्र के कारण सम्पूर्ण बंगाल में अजन्ता शैली का प्रचार हुआ और बंगाल की कलम ही अजन्तानुवर्तिनी हो गई। ठाकुर के अनेक शिष्यों में नन्दलाल बोस एक उत्कृष्ट चित्रकार हैं। इन्हीं दिनों बम्बई के चित्रकारों पर यूरोपीय कला का हेय प्रभाव और भी

१ वही पृ० १२६

गम्भीर रूप में पड़ा। इनके चित्रों में न कोई आदर्श था, न कोई सिद्धान्त और न ही यूरोपीय उत्कृष्ट शैली के चित्र ही। अपितु ये चित्रकार यूरोपीय शैली के हेय कोटि के चित्रों के निर्माण में ही अपना समय नष्ट करते रहे।

इसी काल में बंगाल में एक नवीन शैली का उदय हुआ—ग्रामपरक चित्र शैली। इस शैली के चित्रों में लोक जीवन की अवतारणा हुई, जीवन की हरीतिमा का संचार हुआ, यथार्थ जीवन की ओर चित्रकारों के ध्यान का आकर्षण भी हुआ। फलतः अनेक संवेदनापूर्ण चित्रों का निर्माण हुआ। इस शैली के प्रसिद्ध चित्रकार जामिनीराय हैं और उन्हीं ने इस शैली का बंगाल में प्रवर्त्तन किया था।

अति आधुनिक प्रभाववादी यूरोपीय शैली में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के भाई गगनेन्द्रनाथ ने अनेक चित्रों का निर्माण किया, किन्तु गगनेन्द्रनाथ ने जिस शैली में, जिस काल में अपने चित्रों का निर्माण किया था, उस समय उनके चित्र अजन्ता की आदर्शवादी शैली के समक्ष टिक न सके। किन्तु इधर यूरोप से सीधा और निकट सम्बन्ध हो जाने के कारण तथा अनेक कलाकारों द्वारा पेरिस में कला का अभ्यास करने के कारण तद्देशीय प्रवृत्तियों से पूर्णतः परिचय हो जाने पर एक नई दिशा में इस शैली का उदय हुआ। इसलिए इस शैली में "गावों के चित्र नई टेकनीक के नई आस्था और संवेदना से बनने लगे। सामाजिक यथार्थवाद का एक नया जनपरक प्रगतिशील संसार भारतीय चित्रभूमि पर उतर चला। इस शैली के चित्रकारों में स्वर्गीय अमृत शेरगिल का नाम महत्त्वपूर्ण है। यह है भारतीय चित्रकला के इतिहास का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन।

६
मौर्य-युग

- मौय युग पूव की कला
- मौय कालीन कला
- मूर्तिकला
- स्थापत्य कला
- स्तूप
    - १ साची
    - २ भरहुत
    - ३ सारनाथ को पाषाण वेष्टनी
    - ४ स्तम्भ-सारनाथ
- गुफाएँ
- मौय कालीन मृण्मूर्तियाँ
- मौय कला पर विदेशी प्रभाव

मौय-युग-पूर्व की कला

भारतीय कला का इतिहास सिन्धु घाटी की सम्यता से प्रारम्भ होता है। सिन्धु घाटी की सम्यता पूण विकसित सम्यता थी इस सम्यता म वास्तुकला के अतिरिक्त अन्य कलाओ का भी विकास हो चुका था। किन्तु इस सम्यता की कला धम प्राण कला थी। मिट्टी की मुहरो पर अङ्कित पशु चित्र भी अपना धार्मिक महत्त्व रखते हैं। इन पशुओ मे एक से एक भव्य गौरवपूण एव स्वाभाविक चित्र हैं। इस सस्कृति एव सम्यता के अनेक तत्त्व भारतीय सम्यता एव सस्कृति के अङ्ग बन गए हैं।

"सि धु घाटी मे प्राप्त मुहरो पर अङ्कित स्वाभाविक और प्रतापी साड की आकृति मौयकालीन रमपुरवा के सांड का आदश है। योगासन पर बठे और अधखुली आंखो को नासिका की ओर स्थिर किये, तीन सिर वाले पुरुष देव भारतीय योगी मूर्तियों के पूवज हो सकते हैं। योगमुद्रा भारतीय सस्कृति की अपनी विशेषता है।"

इसके अतिरिक्त सिन्धु घाटी ने बलुए प्रस्तर की निर्मित अन्य अनेक मूर्तियों के धड भी मिले हैं, जिनमे एक नतक का धड भी है। इस प्राचीनतम युग की कला-मूर्तियो म हम स्वाभाविकता के अतिरिक्त कोमलता नवीनता और गतिशीलता भी दृष्टिगत होती है।

भारतीय कला के इतिहास मे सि धु घाटी की सभ्यता के अनन्तर कलात्मक कृतियां हमे मौयकाल म ही उपलब्ध होती हैं। यही पर एक प्रश्न बहुत ही स्वाभाविक है कि सि धु घाटी की सभ्यता तथा मौय युग के मध्य का यह दो हजार वर्षों का भारतीय शिल्पकला का इतिहास क्या है? यह अ धकार युग कहलाता है। इस अ धकार युग के अन तर हमे जिस कला क दशन होते हैं, वह पूण विकसित कला है। अ धकार युग के अनन्तर प्राप्त इस मौय युग की कला का अनेक विद्वान इसी कारण विदेशी प्रभाव से प्रभावित प्रमाणित करते हैं। वे विद्वान् मौयकला को ईरानी अथवा यूनानी कला की देन कहते हैं। किन्तु मेरा अपना विचार यह है कि जब हम अपने धार्मिक विश्वासो परम्पराओ एव सस्कृति के मूल तत्त्वो की खोज सिन्धु घाटी की सभ्यता मे करते है, अपनी मा यताओ को उनसे प्रभावित देखते हैं, फिर क्यो न अपनी इस कला का स्रोत उसी सि धु घाटी की सभ्यता एव उसकी पूण विकसित कला म देखें।

भारतीय कला एव साहित्य का अ धकार युग अभी खोज की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार अभी चालीस वष के अ दर ही सि धु घाटी की सभ्यता की हमे जानकारी मिली है, उसी प्रकार हो सकता है कि निकट भविष्य मे इस दो हजार वर्षीय अ धकार युग की कहानी भी स्पष्ट हो सके। इसके साथ ही वैदिक आर्यों की सस्कृति एव परम्परायें महान थी। उनका साहित्य अनुपम था। वे अध्यात्मवाद, औषधि विज्ञान, भूगोल, खगोल आदि मे पूण पारङ्गत थे। इस दिशा मे वे उन्नति के शिखर पर आरूढ थे। उनका जीवन सुव्यवस्थित था। उन्होने अपने निवास के लिए सुन्दर भवनो का निर्माण किया था। आय सस्कृति निश्चय ही उस काल मे फल फूल रही थी। वदिक साहित्य मे भी आय अनाय भावना के दशन हो जाते हैं। बौद्धो की कतिपय मा यताएँ अनायजुष्ट हैं। फिर भी यहाँ की सस्कृति का अपना लम्बा इतिहास है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के उद्घाटन से पूव ही स्वर्गीय डा० पार्जिटर' महोदय ने लिखा है कि आर्यों ने भारत आगमन पर एक ऐसी सभ्यता देखी थी, जो उनकी सभ्यता के समकक्ष ही थी—विशेषत अवध एव बिहार मे।[1] डा० सरकार

[1] सम आस्पक्ट्स आफ दि ऐंशिएण्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—फारवड।

मूर्ति भी मिली है। वैदिक काल में यज्ञवेदियों का निर्माण होता था। इन्हीं यज्ञवेदियों की रचना के मूल में हैवेल साहब ने मन्दिरों के गर्भगृह और शिखरों के बीज देखे हैं। यज्ञवेदियों में अनेक दिनों तक यज्ञ हुआ करते थे, अग्नि निरन्तर प्रज्वलित रहती थी। धूप, पानी, वायु आदि से सुरक्षित रखने के लिए, दर्शकों को धुएँ आदि से रक्षा के लिए धुएँ को सहज ही बाहर निकालने के लिए, यह यज्ञभूमि विभिन्न रूपों से सुसज्जित की जाती थी, चिमनीनुमा छतों का निर्माण होता था, यज्ञवेदी वर्गाकार होती थी। इस प्रकार यज्ञवेदी यज्ञभूमि निश्चित ही आधुनिक हिन्दू मन्दिरों के शिखर और गर्भगृहों के मूल में स्वीकार की जा सकती है।

वैदिक-साहित्य में इन धार्मिक वस्तुओं के अतिरिक्त भी साधारण गृह, राजमहल और नगरों के उल्लेख मिलते हैं। 'हर्म्य' शब्द महल का द्योतक है, स्तम्भों के लिए स्थूण, स्कम्भ विष्कम्भ और स्तम्भ शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। वरुण के सहस्र स्तम्भ वाले भवन का उल्लेख भी प्राप्त है।

वैदिक काल में पाषाणों का प्रयोग होता था या नहीं यह एक विवाद का विषय है। किन्तु यह तो सुनिश्चित है कि इस काल में लकड़ी, बांस, मिट्टी, कच्ची ईंट, तृण आदि का प्रचुर प्रयोग होता था। किन्तु ऋग्वेद में दृढ़ भवनों, दुर्गों, आयस अश्ममय आदि शब्दों से प्रस्तर के प्रयोग की झाँकी मिल जाती है। ऋग्वेद (४।३०।२०) में प्रस्तर निर्मित सौ नगरों का उल्लेख है। इसी प्रकार ऋग्वेद (१।१३६।८, ७।१५।१४) में 'शतभुजी' शब्द सैकड़ों परकोटे वाले नगर का सूचक है। प्राचीन उपलब्ध राजगृह के भवन भी प्रस्तर निर्मित थे ऐसा चित्रों के देखने से आभास मिलता है।

'राजगृह के प्राचीन नगर की किलेबन्दी चारों ओर पाषाण की बड़ी बड़ी चट्टानों को एक पर एक रख कर की गई थी। पत्थरों के जोड़ने में किसी तरह का मसाला नहीं लगाया गया था। यह रक्षा-पंक्ति अभी भी दस फीट ऊँची और सोलह फीट चौड़ी है। राजगृह के पाँचों पहाड़ों को घेरती हुई यह दीवार मीलों लम्बी थी। दीवार के ऊपर छोटे छोटे पत्थरों और ईंटों की एक इमारत ही खड़ी कर दी गई थी। दीवारको औरभी सुदृढ़ और सुरक्षित रखने के लिए निश्चित दूरी परबड़े बड़े बुर्ज (bastions) बने थे। ये बुर्ज चतुर्भुजाकार थे। इनके ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। रक्षा-पंक्ति की रखवाली के लिए ऊँची मीनारें बनाई गई थीं। बनगंगा नदी के समीप के पहाड़ों पर एक ऐसी मीनार का भग्नावशेष उपलब्ध है।

राजगृह की यह पाषाण किलाबन्दी वैदिक-युग की तो नहीं है, भारत के प्राचीनतम अवशेषों में सिंधु घाटी की सभ्यता के बाद की अवश्य है। इसका समय ८००-६०० ई० पू० माना जा सकता है। यदि यह अनुमान सत्य है, तो वैदिक और ब्राह्मण युग में भी पाषाणों का सीमित प्रयोग निश्चित रूप से होता होगा।'[1]

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ४०-४१

वैदिक भारत में स्थापत्य कला का विकास हो चुका था, किंतु मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था, क्योंकि वैदिक आर्य मूर्तिपूजक नहीं थे तथापि इन्द्र की सुवर्ण मूर्ति का उल्लेख अवश्य हुआ। वैदिक आर्यों की संस्कृति समन्वयवादी है हो सकता है कि आर्येतर जातियों में मूर्तिपूजा देवी, माया व देवी के माध्यम से होती हो तथा इनकी मूर्तियों का भी निर्माण होता हो, किंतु ये लकड़ी आदि शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली चीजों से बनती हों। हैवेल साहब ने लिखा है कि वैदिक आर्य यज्ञ वेदियाँ, यूप और श्मशान शीघ्र ही नष्ट होने वाले पदार्थों से बनाया करते थे क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनकी ये पवित्र और धार्मिक चीजें किसी अनधिकारी व्यक्ति के द्वारा दूषित की जायें।

वैदिक काल की कला की इस पृष्ठभूमि में बौद्ध कला का अध्ययन भी अपेक्षित है। बौद्ध युग के उदय काल में लिच्छवी मगध और अंग शक्तिशाली राज्य थे। बौद्ध साहित्य में मगध राज्य का वैभवपूर्ण वर्णन मिलता है। वैभवपूर्ण दृढ़ साम्राज्य मगध के विकास के साथ ही उसकी संस्कृति के विभिन्न रूपों का विकास भी परम आवश्यक है। मगध के राजा बिम्बिसार की राजधानी कुशाग्रपुर (राजगृह) के भव्य भवनों, उसकी परिखा आदि का वर्णन यत्र तत्र साहित्य में मिल जाता है। साँची की वेदिका पर अजातशत्रु का बुद्ध से मिलने जाने का दृश्य अंकित है। चित्र में भव्य अट्टालिकाएँ भी दृष्टिगत होती हैं जिनके गवाक्षों से स्त्री-पुरुष शोभा यात्रा को देख रहे हैं। भवन के स्तम्भ अठपहल हैं और उन पर पशुओं के सिर हैं। इस चित्र को देखकर मगध राज्य का वास्तुकला का परिचय मिल जाता है। जातकों में प्रासाद, विमान, अलंकृत भवन पुर दुर्ग प्राकार परिखा नगर आदि के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं। जातक संख्या ५४६ में भूमिगत सुरंग, उसमें स्थित भवन तथा १८ हाथ ऊँचे सुरंग मार्ग का उल्लेख मिलता है। इस सुरंग की दीवारें ईंटों की उनमें आलाव, आलावों में चूने और मिट्टी की मूर्तियाँ स्थापित थीं। इस सुरंग में ८० बड़े तथा ६ छोटे द्वार थे। दोनों ओर एक सौ एक सैनिकों के लिए एक सौ एक कमरे थे। आशय यह है कि इस काल में भवन निर्माण कला उन्नति पर थी। लेकिन इस काल तक वास्तुकला में लकड़ी मिट्टी और ईंट का ही व्यवहार होता था। दीवारों स्तम्भों, द्वार की चौखटों पर सोने चाँदी और ताँबे के पत्र का भी प्रयोग किया जाता था। यद्यपि प्रासाद एवं शिलामया' उल्लेख भी मिलता है। 'शिलास्तम्भत' शब्द का भी प्रयोग मिलता है जिससे उस काल में प्रस्तर प्रयोग के संकेत मिल जाते हैं। लेकिन राजगीर की पहाड़ियों पर प्रस्तर की रक्षा पंक्तियों का प्रयोग किया गया है जिससे आभास मिलता है कि उस काल में वास्तुकला में प्रस्तर का प्रयोग अल्पमात्रा में ही होता था।

भारत में यक्ष पूजा का प्रचार प्राचीन है। इसके संकेत भारतीय साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध हैं। चैत्यों की पूजा का जो उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार इन चैत्य गृहों में यक्ष-यक्षिणियों के माध्यम से वृक्ष पूजा ही होती थी। प्राचीन चम्पा (भागलपुर के समीप) नगर के बाहर 'पुण्यभद्र' नामक एक देवगृह का उल्लेख

प्राचीन जनागम ग्रन्थ 'औपपातिक सूत्र' म किया गया है। डाक्टर वार्नेट ने 'अत कृत-दशाङ्ग' मे उसका अनुवाद किया है। इस धमस्थान म कई छत्र, झण्ड और घट लगे थे। यहाँ मच बना था जिसे गोबर मे अच्छी तरह लीप दिया गया था। इस पर चदन की पाचा अँगुलियाँ छाप दी गई थी जो विभिन्न प्रकार की थी। यहाँ पूजा म काम आने वाले घडा का अम्बार लगा था। इसके दरवाजे पर भी कलश रखे गये थे और दरवाजा मेहराबदार था। मच पर और उसके नीच मालाओ का ढेर लगा था। पूनभद्र चत्यवन के मध्य मे था, और वहाँ एक अशोक वृक्ष था। उसकी जड के निकट मिट्टी का एक बडा मच बना था जो अठपहल था। वह दपण की तरह चिकना और स्वच्छ था। इस पर विभिन्न पशुओ और पक्षियो—साड, मृग, सप, अश्व वल, हाथी आदि के चित्र बने थे। वन्य लताओ और कमल नाल के भी चित्र बन थे। पूजा की वस्तु कोई मूर्ति नही थी वरन् अशोक वृक्ष की पूजा होती थी और उसके निकट का मच मानव मूर्तिया स अलकृत नही था। इस विवरण से भरहुत और साँची की रेलिंग पर खुदे चित्रो की तुलना का जा सकती है।"[1]

वशाली म अनेक चत्य थे। इन चत्या का बौद्ध धम मे बहुत अधिक आदर व सम्मान है। उस काल के अनक चत्या का यत्र तत्र उल्लख मिलता है। इस काल के प्राचीन चत्या का, सघारामा का चीनी यात्रिया न विस्तार स उल्लेख किया है। फाहियान के अनुसार वशाली नगर क उत्तर म एक महावन था, जिसम दो मजिला सघाराम था। भगवान् बुद्ध ने इस विहार म एक बार विश्राम किया था। आनन्द के पवित्र अवशेषा पर यहा एक उन्नत स्तूप बना हुआ था। आम्रवन म आम्रपाली द्वारा निर्मित अनक ऊचे स्तूपा को फाहियान न देखा था। वशाली के चत्या एव स्तूपो के अतिरिक्त 'वहाँ की ऊँची अट्टालिकाआ ऊँचे प्रासादो और नगर की सुदृढ चहार-दीवारी क अवशेषा को भी चीनी यात्री ह्वेनसाग न दखा था। प्राचीन बौद्ध तिब्बती 'विनयग्रन्थ म वशाली के एक मुहल्ले मे सात सात हजार मत मजिले मकानो का वणन है। उन मकाना म गुम्बज सोने के मढे थे। दूसरे मुहल्ले मे चौदह हजार मकान थे जिनक गुम्बज चाँदी से मढे थ और तीसर मुहल्ल म इक्कीस हजार मकान थ, जिनके गुम्बज ताँब स मढे थे। इस प्रकार वशाली क समाज के वर्गीकरण के साथ ही तत्कालीन एश्वय और स्थापत्य कला का भी अनुमान हो जाता है।[2]

मौयकाल स पूव गया और राजगृह के अनक चत्यो और स्तूपो के उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध साहित्य की अनेक जातक कथाए बोद्ध गया की वदिकाओ पर अङ्कित हैं। 'सूत्र निपात' क अनुसार प्रस्तर निर्मित एक चत्य मन्दिर 'पाषाणक चत्य' गया और राजगृह क मध्य म स्थित था। सभवत यह चत्य गोआठोल या बराबर'

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन पृ० ४३

[2] वही, पृ० ४४

पहाड पर स्थित हो।[1] वभारगिरि पर 'सप्तपर्णी' गुफा थी, जिसके समक्ष सहस्रो फीट लम्बा पाषाण निर्मित बरामदा था। सम्भवत इस बरामदे के ऊपरी भाग म छत थी और छत इन पाषाण-स्तम्भो पर आधत थी। आज भी इस गुफा और चबूतरे के भग्नावशेष सुरक्षित है।

चत्य और स्तूपो की पूजा की प्रथा बौद्ध धम म प्रारम्भ से ही प्रचलित थी। चत्य और स्तूपा का वेदिका (रेलिङ्ग) से घेरना भी मौयकाल स पूववर्ती है। किन्तु इस काल तक लकडी का प्रयोग ही अधिक होता था। लकडी के काय मे उस काल की कला अद्वितीय थी कि तु जस ही बौद्ध धम को धनिकों ने अपनाया, उसे राजाश्रय मिला, वसे ही स्तूपो और रेलिङ्ग की स्थापत्य कला का पूण अभ्युदय हुआ। आशय यही है कि मौय पूव युग की स्थापत्य कला धम प्रधान थी, उसम लकडी और मिट्टी का प्रचुर प्रयोग होता था फलत वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते थे। लेकिन जसे ही प्रस्तर कला का उदय हुआ है लकडी के काय म प्राप्त सम्पूण कौशल प्रस्तर पर अङ्कित किया जाने लगा।

मौय पूव युग की मूर्तिकला मे यक्ष यक्षिणी, मातृदेवी वृक्ष, सप चत्य की पूजा होती थी। पाणिनि क सूत्र मे मूर्ति निर्माण का सकेत है। पतजलि के भाष्य म मौर्यों द्वारा मूर्ति विक्रय द्वारा धन उपाजन का उल्लेख है। किन्तु महाभाष्यकार ने पूज्य मूर्तिया का भी उल्लेख किया है जो बेची नही जाती थी। बक्सर से प्राप्त स्त्री मूर्ति से उस काल की वेशभूषा का आभास मिलता है। इस काल म मूर्ति पूजा केवल अशिक्षित वग म ही प्रचलित थी इसलिए मूर्तिकला का विकास मौय पूव-युग मे नही हुआ था।[2]

मौयकालीन कला

भारतीय कला के इतिहास मे मौय-युग स्वणयुग के उदय के रूप म आता है। इस काल की कला का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। मौयवंश म दो प्रतापी राजा, चन्द्रगुप्त एव अशोक हुए। इन दोनो के प्रयासो के परिणामस्वरूप सम्पूण भारत राजनीतिक एकता के सूत्र म आबद्ध हो गया था। पाटलीपुत्र उसकी राजधानी थी। पाटलीपुत्र से ही धम राजनीति शासन प्रबन्ध, आर्थिक विकास आदि के लिए सम्पूण नीतियो का नियमन होता था। मौय राजाओं ने कला क क्षेत्र म अभूतपूव योगदान दिया था अपने सरक्षण म कला को प्रश्रय दिया था। मौयकाल का वभव, आत्म विश्वास और शक्तिमान राजसत्ता की प्रतिच्छाया मौय काल म देदीप्यमान हो उठी है। अनेक विद्वानों का मत है कि भारतीय कला का इतिहास मौयकाल से ही प्रारम्भ होता है। श्री नूनिया न अपन इतिहास म बहुत ही स्पष्ट शब्दो म लिखा है कि—मौय काल भारतीय कला क इतिहास म युग प्रवत्तक है। हमारे पास एस कोई

[1] गया एण्ड बोध गया १ पृ० ६० ११७

[2] मिरेक्टि रस्पेक्ट्स इन ईस्टन इण्डिया—आर० पी० चांदा ज० एल० डी० ३, पृ० ११७

प्राचीन अवशिष्ट स्मारक नहीं, जिनका सम्बन्ध मौर्यों से पूर्व की भारतीय रचना से हो मौर्य सम्राट असाधारण निर्माता थे।"[1] इसी प्रकार का मत श्री नाहर का है— भारतीय कला का इतिहास वास्तविक रूप में इसी युग से प्रारम्भ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्ववर्ती युगों में कला थी अवश्य क्योंकि साहित्यिक कृतियों में कला की विभिन्न शाखाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं किन्तु केवल सिन्धु घाटी की कला कृतियों को छोड़कर हमें किसी प्राङ् मौर्य-कालीन भारतीय कला के नमूने नहीं प्राप्त होते। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यकाल के पहले कला कृतियों के निर्माण में ईंट और काठ का प्रयोग किया जाता है। इसी समय से ईंट और काठ के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग किया जाने लगा।[2] इसी प्रकार श्री बी० जी० गोखले का भी मत है। वे भी मौर्यकाल से ही भारतीय कला के इतिहास को स्वीकार करते हुए, मौर्य काल की सर्वश्रेष्ठ विशेषता की ओर भी संकेत करते हैं। मौर्यकाल के स्मारकों का एक गुण यह है कि मौर्यकालीन पाषाण-स्मारकों पर जो पालिश की गई है वह न भूतो न भावी है। यह चमक शीशे की भाँति है। चाहे स्तम्भ हो या मूर्ति, पहाड़ में खुदी गुफा हो या दीवाल, आज भी चमकीली आभा पालिश विद्यमान है और पुकार पुकार कर स्वयं को मौर्यकालीन कलाकृति घोषित करती है। 'प्राचीन भारत की कला का इतिहास हम वास्तव में अशोक के समय से आरम्भ कर सकते हैं। अशोक ही ने सबसे पहले भवन निर्माण में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग आरम्भ कराया उससे पहले मकान बनवाने के लिए सामान्य लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था। मौर्यकालीन कला तो, ऐसा प्रतीत होता है सहसा प्रबल आवेग से इतिहास के रंगमंच पर छा गयी, यह बात उस कला की प्रविधि तथा उसमें प्रयुक्त सामग्री दोनों ही में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस कला में मूल सामग्री के रूप में बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया और बड़ी दक्षता से उसकी विशालकाय शिलाओं को काट कर विभिन्न रूपों में ढाला गया और उन्हें चिकना करके मानो मौर्य दरबार के वैभव को प्रतिबिम्बित करने के लिए उनमें चमक पैदा की गई।'[3]

---

[1] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० १७२

[2] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २६४ २६५

[3] एन्शिएण्ट इण्डिया—बी० जी० गोखले, पृ० १८३

'It is only with Ashoka that we can properly begin the history of the art of Ancient India He It was who substituted stone for wood the common material for building purposes before his time The Maurya art burst, as it were on the scene with a tremendous force shown through both its technique and material used This material is sandstone, dexterously worked into huge monoliths highly polished as if to reflect the elegance of the Maurya Court"

मौर्यकाल की समग्र कलाकृतियों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है—

अ स्थापत्य कला

 १ स्तम्भ
 २ गुफाएं
 ३ पाटलीपुत्र नगर तथा राजप्रासाद
 ४ स्तूप
  (१) साँची
  (२) भरहुत
 ५ सारनाथ की पाषाण वेष्टनी

ब मूर्तिकला

स्तम्भ

मौर्यकालीन कला में—कला के उत्कृष्ट आदर्श के रूप में अशोक के शिला स्तम्भ उसके शिरोभाग और पाषाण मूर्तियां विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्तम्भों की विशेषता के रूप में ये गोलाकार बीस फीट से भी अधिक लम्बे एक ही स्तर से निर्मित हैं। ये स्तम्भ नीचे से मोटे तथा शीर्ष की ओर क्रमशः पतले होते गये हैं। इनके शीर्ष भाग पर सुन्दर कोई आकृति मण्डित है। प्रत्येक स्तम्भ का भार ५० टन है तथा अधिकतम लम्बाई ५० फीट तक है।[1] संख्या की दृष्टि से ये पाषाण स्तम्भ तीस से चालीस तक होंगे। ये भारत के विभिन्न प्रान्तों नगरों—साँची देहली, कौशाम्बी लुम्बनी, लौरिया नन्दनगढ़ वैशाली आदि में मिल जाते हैं।

इन स्तम्भों की समन्वित विशेषता की ओर संकेत करते हुए डा० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह लिखते हैं कि स्तम्भ के शिरोभाग में उल्टे कमल के फूल का चित्र और उसके ऊपर रस्सीनुमा सज्जा के साथ दोनों ही मालायें बनी हैं। उसके ऊपर वर्गाकार या चतुर्भुजाकार चबूतरा है जिसके नीचे का कोर भिन्न भिन्न रूप से अलंकृत है। इस चबूतरे पर पशु की मूर्ति तृतीय आयाम में खड़ी या बैठी है। उल्टे कमल के चित्र से लेकर पशु की मूर्ति तक सभी एकही पत्थर के बने हैं। यह विशाल पशु संयुक्त

[1] दि कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ६१९

[1] The pillars or lats as they are commonly called, are of singularly massive proportion consisting of a round and slightly tap ring monolithic shaft with bell shaped capital surmounted by an abacus and crowing sculpture in the round, the whole rising to an average height from base to summit of between 40 and 50 feet ²

शिर, स्तम्भ की चोटी पर ताँबे की सिकरी से जोडा गया है। शिरोयुक्त ये स्तम्भ ऊपर से नीचे तक, मौर्यकालीन पालिश से दीप्तिमान हैं। इतने विशाल और वजनदार स्तम्भों और शिराओं को एक ही पत्थर से बनाना प्रस्तर कला कुशलता की अत्यधिक निपुणता का प्रमाण है। तृतीय आयाम वाली मूर्ति के उदाहरणों में अशोक के समय की स्तम्भ की शिरोभाग वाली पशु मूर्तियों का स्थान सर्वप्रथम है। इन मूर्तियों को चारों ओर से काटकर चौकोर बनाया गया है। इस मूर्तिकला को परिपूर्ण मूर्तिकला (Sculpture in the round) कहा जाता है क्योंकि ये मूर्तियाँ सभी दिशाओं से दर्शनीय हैं—चारों ओर से गढ़ी गई हैं।[1] इन भारी भरकम स्तम्भों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाना तथा इनकी कलाकृति आदि को देखकर वी० ए० स्मिथ ने लिखा है—"निर्माण, स्थानान्तर तथा स्थापना मौर्यकालीन शिल्पाचार्यों एवं शिलारक्षकों की बुद्धि और कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं, स्तम्भों की सुन्दरता से भी अधिक विलक्षण वस्तु उनका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना था।"[2]

अशोक कालीन इन स्तम्भों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

१ भूमिगत भाग

२ स्तम्भ के मध्य का भाग या तना (Trunk)

३ स्तम्भ का सबसे ऊपरी भाग—शीर्ष

स्तम्भ का भूमिगत भाग मयूर की आकृतियों से युक्त है। इतिहासकारों का कहना है कि मौर्य वंशज मोर पालते थे, अतः उन्होंने स्तम्भों पर मयूर आकृतियों को उत्कीर्ण कराया है। एक बात विशेष यह है कि मौर्यकालीन चमकदार पालिश इन भूमिगत स्तम्भों के उस भाग पर भी है जो कि भूमि में गड़े हुए हैं।

स्तम्भ का मध्य भाग चुनार के लाल पत्थर द्वारा निर्मित किया जाता था। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि स्तम्भों की मोटाई क्रमशः कम होती जाती है। स्तम्भों के मध्य भाग पर भी चमकदार पालिश विद्यमान है। दो हजार वर्ष व्यतीत होने पर भी इन स्तम्भों की चमक यथापूर्व ही है।

स्तम्भ का शीर्ष भाग सर्वाधिक कलापूर्ण है। दर्शक के मन को शीर्षभाग अधिक आकृष्ट करते हैं। श्री वी० जी० गोखले का कहना है[3] कि इन स्तम्भों के

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन पृ० ५७

[2] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पृ० २५८ से उद्धृत।

[3] एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १८३

If the shafts of these pillars arrest our attention, the capitals with which they are surmounted excite admiration showing as they do animals displaying a vibrant spirit possessing a majesty all their own and conveying the impression with an irresistible force that we are in the presence of a great art

दण्ड तो हमारा ध्यान आकृष्ट करते ही हैं पर इन स्तम्भों की शीर्षस्थ मूर्तियों को देखकर हम प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि इन पर स्फूर्ति की भावना को व्यक्त करने वाले जिन पशुओं की आकृतियाँ अंकित हैं उनमें एक निराली भव्यता है और वे अदम्यशक्ति से हमारे हृदय पर छाप डालते हैं कि हम किसी महान् कलाकृति के सम्मुख खड़े हैं।

मौर्यकालीन स्तम्भों में सम्भवतः प्राचीनतम वैशाली के निकट बसाढ़-बखीरा की लाट (स्तम्भ) है। यह स्तम्भ आज भी पूर्णतः खड़ा हुआ है। किन्तु इस पर कोई अभिलेख उत्कीर्ण नहीं है। यह ३६ फुट लम्बा, क्रमशः ऊपर मोटाई कम है किन्तु अपेक्षाकृत अन्य स्तम्भों के यह भद्दा है। इस स्तम्भ के नीचे का व्यास ४ फीट २ इंच है और ऊपर का व्यास ३ फीट १ इंच है। उल्टे कमल के शिरोभाग पर एक विस्तृत चबूतरा है। वह अपने बड़ेपन के कारण भद्दा भी है। इस दीर्घाकार चबूतरे पर सिंह पीछे के परों को संकुचित कर बैठा हुआ है। उसका अधोभाग कठिनाई से चबूतरे पर स्थान प्राप्त कर रहा है। दूसरी ओर उसके सामने चबूतरे का एक भाग खाली पड़ा है। सिंह के अयालों की तरंगमय पंक्तियाँ भी स्थूल हैं। सिंह के प्रभावोत्पादक शरीर का आलेखन सुन्दर होते हुए भी उसमें गतिशीलता एवं स्फूर्ति का अभाव है तथापि इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण विकसित कमल की पंखुड़ियाँ सुन्दर हैं।

लौरिया नन्दनगढ़ में आज भी पूर्ण एवं सिंह शीर्ष युक्त एक स्तम्भ खड़ा है। यह स्तम्भ में अद्यावधि प्राप्त स्तम्भों में सुन्दरतम है। इस स्तम्भ के नीचे का व्यास ३५ इंच है और ऊपर का व्यास २२ इंच। यह स्तम्भ ३२ फुट ९½ इंच है। पशु मूर्ति से युक्त शीर्ष ६'१० । मोमबत्ती की भाँति गावदुमा नीचे मोटा ऊपर पतला होता चला गया है। कमल शीर्ष और स्तम्भ के मध्य सुन्दर साज सज्जा है। कमल की पंखुड़ियाँ निश्चित नियमों के अनुसार मनमोहक रूप में उत्कीर्ण हैं। गोल चौकी पर गर्दन उठाये सिंह अगले परों पर खड़ा हुआ है। सिंह के अयाल भी अपने रूप में हैं किन्तु वास्तविक नहीं लगते हैं। शरीर का झुकाव उचित रूप में है गतिशीलता का आभास मिलता है। इतना होने पर भी समष्टि रूप में कलाकार सिंह को आसन पर पूर्णतः सफलता के साथ बैठा नहीं सका है क्योंकि विशालाकृति सिंह के लिए चौकी का आसन छोटा लगता है। आधा शरीर तथा अगले पर आसन से नीचे बाहर की ओर मालूम पड़ते हैं। आसन के चारों ओर किनारों पर हंस उत्कीर्ण हैं, ये कलात्मक हंस सजीव एवं सुन्दर है। इस पत्थर पर किया गया नक्काशी का कार्य उच्च एवं अद्वितीय है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक का कहना है कि—लौरिया नन्दनगढ़ की लाट ही एकमात्र सुरक्षित लाट है किन्तु कला की दृष्टि से वह सर्वश्रेष्ठ नहीं है। शीर्ष पर सिंह की प्रतिमा है आसन के चारों ओर हंस पंक्ति उत्कीर्ण है जो कि गुणग्राही बुद्ध के शिष्यों की सूचक है One of the best preserved, though not the best in style is that at Launya Nandangath illustrated in Pl xi 24 *The crowning figure on this pillar is a lion, and the*

relief which adorns the abacus a row of geese symbolical, perhaps of the Buddha's disciples "

लौरिया नन्दनगढ के निकट रामपुरवा (चम्पारन) म भी अशोक क शिला स्तम्भ, पशु प्रतिमा और स्तम्भ स सयुक्त शीपभाग (Capitals) उपलब्ध हुए हैं। अशोक का एक स्तम्भ भूमि म १६ फीट भीतर मिला है। यह स्तम्भ ऊपर से नीचे तक ४४' २२" लम्बा है। इस स्तम्भ के जमीन मे गाडे जाने वाले भाग पर पालिश नही की गई है। इस स्तम्भ के निचले भाग की मोटाई का व्यास चार फीट है और शीपस्थ मोटाई का व्यास तीन फीट है। इस स्तम्भ का शीप भाग कुछ दूर हट कर मिला है। इस शीप भाग पर सिंह की आकृति है जो कि रौब के साथ बठा हुआ है। सिंह के अयाल और मुख परम्परागत रूप मे हैं। इस भ य, पुष्ट सिंह प्रतिमा म हम मौयकालीन मूर्तिकला का विकास देख सकते हैं। उल्ट कमल वाले शीप पर गोलाकार सिंहासन है जिसके चारो आर हस पक्ति उत्कीण है।

इसी रामपुरवा मे एक साड का सिर भी प्राप्त हुआ है। इस प्राप्त "व"सा वशिष्ट पर कमल की लम्बी सुकोमल पखुडिया तरग के समान उत्कीण हैं। वत्ताकार आसन के चारो ओर एक विशेष प्रकार के यूनानी पौधा (Homey Suckle) और छोटे छोटे ताल वक्ष अकित हैं। आसन पर विशालकाय साड शान से स्थित है। साड का मासपशियो, ततु शिराएँ और पीठ-ककुद प्रभावोत्पादक है। अपनी स्वाभाविकता, सजीवता, सौम्य और गतिशीलता से यह आकृति भव्य है। यह साड सि धु घाटी की मुहरा पर अकित साड की याद दिलाता है। माशल के कथनानुसार यह मूर्ति ततीय आयाम वाली मूर्तिया म सबस प्राचीन है।[1] स्वर्गीय राखालदास बनर्जी क मत म सम्पूण भारत म इसके समान स्वाभाविक और ऊजस्वल साड की मूर्ति प्राप्त होना सभव नही है।[2]

आरा (शाहाबाद) के निकट मसाढ़ ग्राम म भी एक सिंह के सिर की पाषाण मूर्ति उपलब्ध हुई है। यह पटना सग्रहालय म टूटे चबूतरे पर स्थित है। इस सिंह प्रतिमा के अयाल निश्चयात्मक रूप से घु घराले लच्छे से बने है। चबूतरे के किनारे पर यूनानी पौध (Acanthus) की पक्तिया चित्रित हैं। सम्पूण मूर्ति मौयकालीन पालिश की चमक स युक्त है। इसी प्रकार पटना सग्रहालय म चार सांडा से युक्त स्तम्भ शीप का एक अश सुरक्षित है। इसम चार सांड परस्पर सट हुए विपरीत दिशाओ म मुख किये हुए बठ हैं। इस प्रतिमा पर भी मौयकालीन पालिश की चमक है। सांडो क बठन का ढग शरीर की रचना, स्वाभाविकता आदि सभी कुछ सुन्दर है। यह चित्र ओजपूण तथा भव्य है।

---

[1] दी कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ६१६

[2] जे० आर० ए० एस०, १९०८, पृ० १०८८

[3] ईस्टन स्कूल आफ इण्डियन स्कल्पचर, पृ० ७

अभी पिछली पंक्तियों में हमने अशोक निर्मित तीस चालीस स्तम्भों की ओर संकेत किया है। इन स्तम्भों में कुछ शिलालेख भी हैं। इन पर अशोक ने अपने धर्म की शिक्षाओं को उत्कीर्ण कराया है। स्तम्भों में से कुछ का अभी संकेत किया है अन्य स्तम्भों में (१) दिल्ली का टोपरा स्तम्भ (२) दिल्ली में मेरठ स्तम्भ (३) इलाहाबाद स्तम्भ (४) लौरिया अरराज स्तम्भ भी हैं। लौरिया नन्दनगढ़ रामपुरवा स्तम्भ का उल्लेख किया जा चुका है। दिल्ली का टोपरा स्तम्भ फिरोजशाह की लाट के नाम से प्रसिद्ध है पहले यह स्तम्भ दिल्ली से ९० मील दूर अम्बाला जिले में यमुना के किनारे टोपरा में था। फिरोजशाह तुगलक इसे दिल्ली ले आया था। यह अब दिल्ली दरवाजे पर 'फिरोजशाह का कोटला' के नाम से प्रसिद्ध है। दिल्ली में मेरठ स्तम्भ —इसे भी फिरोजशाह तुगलक मेरठ से उठवाकर दिल्ली लाया था। आज यह काश्मीरी दरवाजे के उत्तर पश्चिम में पहाड़ी पर स्थित है। कहते हैं कि १७१३ १७१९ में बादशाह फर्रुखसियर के बारूदखाने में आग लग जाने के कारण यह स्तम्भ गिर कर ध्वस्त हो गया था किन्तु बाद में इसी ध्वस्त स्तम्भ को पुनः प्रतिष्ठित किया गया है। इलाहाबाद स्तम्भ—यह वही प्रसिद्ध स्तम्भ है जिस पर गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण है। इस पर अशोक के भी दो लेख उत्कीर्ण हैं। लौरिया अरराज स्तम्भ—बिहार के चम्पारन जिले में राधिया ग्राम से ढाई मील पूर्व-दक्षिण में अरराज महादेव का मन्दिर है। उसी के निकट लौरिया में यह स्तम्भ खड़ा है। इस पर अशोक के लेख खुदे हुए हैं। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने अभिलेखों के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि "चम्पारन जिले की इन लाटों में से पहली दो पर सप्त स्तम्भ लेखों में से पहले छः लेख ही उत्कीर्ण हैं। रामपुरवा की लाट पर पहले चार लेख ही मिलते हैं। पूरे सातों लेख केवल दिल्ली के टोपरा स्तम्भ पर हैं। इलाहाबाद स्तम्भ पर पहले छः लेख हैं यद्यपि इनमें से केवल दो ही अविकल अवस्था में हैं। दिल्ली मेरठ स्तम्भ पर पहले पांच लेख ही मिलते हैं और वे भी भग्न दशा में हैं।[1]

उपर्युक्त सप्त स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी लघु स्तम्भ लेख मिले हैं। उनमें से सारनाथ के भग्नावशेषों में एक स्तम्भ पर अशोक का लघु लेख उत्कीर्ण है जिसमें बौद्ध संघ में फूट डालने वालों को कठोर दण्ड देने का विधान है। दूसरा सांची स्तूप के दक्षिणी द्वार पर स्थित जीर्ण शीर्ण स्तम्भ पर लेख उत्कीर्ण है। किन्तु यह लेख अपूर्ण है। इसी प्रकार इलाहाबाद स्तम्भ पर एक ओर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति अशोक के सप्त-स्तम्भ लेख उत्कीर्ण हैं उसी पर अलग से अशोक का सांची के लेख के समान ही एक लेख उत्कीर्ण है। इनके अतिरिक्त नेपाल राज्य के रुक्मिनदेई मन्दिर में अशोक का एक प्राचीन स्तम्भ मिला है जिस पर उसका लेख उत्कीर्ण है। यह लघुकाय होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। उसमें लिखा है—यहाँ भगवान

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २८

बुद्ध का जन्म हुआ था ' इस प्रकार बुद्ध के जन्म स्थान के निर्णय में यह अभिलेख महत्त्वपूर्ण है। रुम्मिनदेई स्तम्भ के उत्तर-पश्चिम में तेरह मील दूर निग्लीव भील पर स्थित निग्लीव ग्राम में एक स्तम्भ खड़ा है। इस पर उत्कीर्ण लेख में अशोक द्वारा कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत कराने का संकेत है।'

अशोक के इन स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त अनेक शिलालेख भी मिले हैं जिनमें पेशावर जिले में शाहबाजगढ़ी शिलालेख, मानसेरा शिलालेख, कालसी शिलालेख, गिरनार शिलालेख, सोपारा शिलालेख, धौला शिलालेख, जौगढ़ शिलालेख विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले में रूपनाथ, बिहार प्रदेश के शाहाबाद जिले में सहसराम, राजस्थान में बैराट, मैसूर प्रदेश के चीतलद्रुग में सिद्दपुर, जतिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, हैदराबाद के रायचूर जिले में मास्की आदि स्थानों पर भी शिलालेख मिले हैं। अशोक का भाब्रू लेख तो प्रसिद्ध ही है।

सारनाथ

मौर्यकालीन कला का सर्वोत्तम उदाहरण सारनाथ में प्राप्त चार सिंहों से युक्त स्तम्भ का शिरोभाग है। जितने भी स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, उन सबमें श्रेष्ठ यही सारनाथ का सिंह युक्त शीर्षभाग है।[1] इस शीर्ष पर चार सटे हुए सिंहों के मुख की प्रतिमा है। चारों सिंहों के मुख परस्पर विपरीत दिशा में हैं, किन्तु पीठ परस्पर इस प्रकार सटी हैं मानो एक ही है। इस शीर्ष भाग की ऊंचाई ६ फुट से अधिक है। सिंहों के बीच में एक चक्र है जो धर्म चक्र का सूचक है। इस चक्र में ३२ अरे हैं। सिंहों के नीचे छोटे छोटे चक्र हैं उनकी संख्या चौबीस चौबीस है। सिंहों के अयाल स्वाभाविक रूप में तरंगवत रेखाओं में उभरे हुए हैं। सिंहों की मूँछें नेत्र और खुले हुए मुख अप्राकृतिक और विचित्र होते हुए भी प्रभावोत्पादक हैं। सिंहों के पर, पंजे और स्नायुओं का अंकन है। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग को किसी विद्वान ने उल्टा किया कमल का फूल कहा है कुछ लेखकों ने इसे पारस का घण्टा शीर्ष माना है। किन्तु घण्टा शीर्ष मानने की अपेक्षा परम्परागत भारतीय कमल का पुष्प कहना अधिक तर्कसंगत है। हैवल महोदय इसे निम्नाभिमुख कमल कहते हैं। डा० विशेश्वरीप्रसाद सिंह का कथन है यह चार मुख वाला सिंह बड़ी सुव्यवस्था से चौकोर आसन पर खड़ा है। इस आसन के चारों ओर मध्य में चक्र है और अश्व, मृग, सांड तथा हाथी की मूर्तियां खुदी हैं। इन मूर्तियों की विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर सिंहासनारूढ़ सिंह अप्राकृतिक और रूढ़िवादी ढंग से निर्मित है वहाँ दूसरी ओर चौखटे पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ सजीव और पूर्ण स्वाभाविक हैं। अश्व की गतिशीलता, सांड का पौरुष, मृग की चंचलता और हाथी के विशाल मांसल शरीर के साथ गौरव गम्भीर आकृति के स्वाभाविक तथा ओजपूर्ण अभिव्यक्ति की जितनी

---

[1] चित्र फलक संख्या ६

प्रशसा की जाये, थोडी है । उल्टे कमल शीर्षक (Inverted lotus capital) पर बठाया हुआ आसन तो बिलकुल नपा तुला है । मौर्यकाल के शिल्पियों के सामने यह एक बडी समस्या थी कि इस नपे-तुले सिंहासन पर विशाल पशु मूर्ति को किस प्रकार अच्छी तरह प्रतिष्ठित किया जाय । सारनाथ के सिंह वाले शीर्षभाग म भारतीय कलाकार ने इस समस्या पर विजय प्राप्त कर ली है । पशु मूर्ति के अग प्रत्यग अत्य तपुष्ट हैं और समविभक्त हैं। पूरी कृति ही समविभक्तता के गुण से विभूषित है।[1]

मौर्यकालीन सारनाथ की इस सिंह प्रतिमा की अनेक विद्वानो ने प्रशसा की है । श्री रायकृष्ण दास का कहना है कि कहीं से लचरपन, बोदापन और भद्दापन नहीं है । न एक छेनी कम लगी है न एक छेनी अधिक ।[2] कमल की पखुडियो की लहरियाँ परम्परागत हैं तथापि आकषक हैं। शीर्षभाग का प्रत्येक अग शीशे की भांति चमक रहा है । स्वर्गीय स्मिथ न लिखा है— ससार के किसी देश की प्राचीन शिल्पकला म ऐसी उत्कृष्ट पशु मूर्ति का उदाहरण पाना मुश्किल है जो सारनाथ के सिंह शिर स श्रेष्ठ या इतना सुदर हो, जिस सुदर कलात्मक कृति मे आदशवादी गौरव और यथाथवादी प्रतिरूपता का सफल सामजस्य हुआ हो तथा जिस कृति के प्रत्येक अग निर्दोष गढ गये हो ।[3]

श्री सत्यकेतु विद्यालकार का मत है कि " सिंह की चार मूर्तियाँ हैं जो मूर्ति निर्माण कला की दृष्टि स अद्वितीय हैं । किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्तियाँ अन्यत्र कही भी नही बनी । मूर्तिकला की दृष्टि स इनम कोई भी न्यूनता व दोष नही है । पहले इन मूर्तियो की आँख मणियुक्त थी अब उनम मणियाँ नही हैं।

सिंह की चार मूर्तियो क नीचे चार चक्र हैं। चक्रो के बीच हाथी साँड अश्व शेर और मृग अकित हैं । इन चक्रो तथा प्राणियो को चलती हुई दशा म बनाया गया है । इनके नीचे का अश विशाल घण्ट की तरह का है ।"[4] सिंहो के अकन के सम्बध म श्री वी० जी० गोखले का कहना है कि यह सिंह वह साधारण सिंह नही है जो भयावह कानन म रहता है और सायकाल किसी पवत शिखर से शिकार की खोज मे गम्भीर गजन करता है यह सिंह प्रतिष्ठावान् व्यक्ति तथा उदात्त सकल्प का प्रतीक है ।"[5]

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन पृ० ६०
[2] भारतीय मूर्तिकला, पृ० ४२
[3] फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० ६६
[4] भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास पृ० २३४
[5] एन्शिएन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० १८०

The lion is no ordinary lion—a denizen of the frightening wild roaring of an evening across a mountain spur in search of prey—but a symbol of dignified strength and noble determination.

श्री लूनिया इस सम्बन्ध में विचार करते हुए अपने इतिहास में लिखते हैं—

"इन सिंहों की और पशुओं की आकृतियां भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण हैं, जिनमें कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। सिंहों के गठीले अङ्ग प्रत्यङ्ग समविभक्त हैं और ये कलापूर्ण चातुर्य से गढ़े हुए हैं। उनकी लहराती हुई लहरदार केश राशि का एक एक केश बड़ी सूक्ष्मता और रम्यता से प्रदर्शित किया गया है। इनमें इतनी सजीवता, नवीनता और आकर्षण है कि ये आज ही के बने प्रतीत होते हैं।"[१]

श्री भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है ' सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष जो २४२ और २३२ ई० पू० के बीच कभी प्रस्तुत हुआ, परिष्कार सौन्दर्य, और शिल्प चातुरी में संसार की कृतियों में अनुपम है। उसके पशुओं की सजीवता, उसका विन्यास और क्रिया सभी दर्शकों को चकित कर देते हैं।"[२] श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने भी इसकी प्रशंसा में लिखा है कि यह परगहा निस्सन्देह भारतीय मूर्ति-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अशोक के समय की मूर्तिकला की यह विशेषता है कि उसमें सजीवता और निखारपन मिलता है और कहीं भी भद्दी या बेडौल रचना नहीं दिखाई देती।'[३] जान मार्शल ने भी सारनाथ के इस स्तम्भ के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि यद्यपि सारनाथ की कला सर्वो-त्कृष्ट नहीं कही जा सकती फिर भी वह अत्यधिक विकसित कला का आदर्श है। यह कलाकृति ईसा से तृतीय सदी पूर्व की है, गर्जन करते हुए सिंहों की अपूर्व शक्ति, उभरी हुई धमनियां मांसल शरीर प्रदर्शन सजीवता व स्वाभाविकता में कोई कमी नहीं है। प्राकृतिकता ही इनका उद्देश्य था। घोड़े की मूर्ति में पश्चिमी प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। भित्तिचित्र सुन्दर हैं। पशुओं के चित्रों में स्वाभाविक रूप में ही उभार तथा गहराई दिखाई गई है।[४]

---

[१] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० १७५

[२] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ६४

[३] हिन्दी साहित्य, पृ० २१८।

[४] दि कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ६२०-२१

'The Sarnath capital on the other hand though by no means a masterpiece, is the product of the most developed art of which the world was cognisant in the third century B C

In the masterful strength of the crowning lions, with their swelling veins and tense muscular development and in the spirited realism of the reliefs below, there is no trace whatever of the limitations of primitive art So far as naturalism was his aim the sculpture has modelled his figures direct from

सारनाथ स्तम्भ के शीष पर स्थित सिंहो की आकृतियो के निर्माण की प्रक्रिया का यद्यपि गम्भीर ज्ञान नही है फिर भी सिंहो का एक एक अंग सिंह के वास्तविक स्वरूप के अनुसार गढा गया है वह भी बिना किसी प्लान या आदर्श के फलत वह एक गोलाकार मूर्ति के आधार पर पत्थर से थोड़ा काट छाँट कर बनाया गया है। मौयकालीन स्तम्भो का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुचते हैं कि ये उन्नत एव अलकृत स्तम्भ मौय साम्राज्य की गौरव गरिमा के प्रतीक हैं। इन स्तम्भो का कमल शिर कला की अनुपम कृति को प्रस्तुत करता है। लहराती और बल खाती ये पखुडिया दशक के मन को मोहने म समथ हैं। सबसे बडी विशेषता इन स्तम्भो की चमकदार पालिश तथा एक पत्थर का बना होना है। इसकी यह विशेषता इन्हे विश्व की कला म शीष स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। इन स्तम्भो के मध्य भाग पर किसी प्रकार की नक्काशी नही की गई है।

गुफाएँ

अशोक कालीन स्थापत्य कला की दृष्टि से पवतो को काटकर बनाई गई गुफाए भी महत्त्वपूण हैं। अशोक और उनके पौत्र दशरथ ने भिक्षुओ के रहने के लिए इन गुफाओ का निर्माण कराया था। गया जिले मे तीन नागाजुनी और चार बराबर पवतो पर पत्थरो को काटकर बनाई गई गुफाए प्रसिद्ध हैं।[1] पत्थर की चट्टानो को खोखला कर इतनी विशाल गुफा का निर्माण उनके अध्यवसाय और धय का सूचक है। यद्यपि ये गुफाए सादी हैं फिर भी उनकी चमक सराहनीय है।

---

nature and has delineated their forms with bold faithful touch but he has done more than this he has consciously and of set purpose infused a tectonic conventional spirit into the four lions so as to bring them into harmony with the architectural character of the monument and in the case of the horse on the abacus he has avaied himself of a type well known and approved in Western art In the reliefs of the Sarnath capital there is no trace whatever of this process each and every part of the animal is modelled according to its actual depth without reference to any ideal front plane with the result that it presents the appearance almost of a figure in the round which has been cut in half and then applied to the back ground of the abacus

[1] दि कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ६१९

Moreover with exception of the caves cut out of the natural gneiss rock in the Barabar hills, they are one and all of sandstone a quarry near Chunar

इन गुफाओं मे सम्राट अशोक और उनके पौत्र दशरथ के अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं। गुफाओ के भीतर मौर्यकालीन आभा—चमक विद्यमान है, जिसके कारण यह सिद्ध हो जाता है कि ये गुफाएँ मौर्यकाल की स्मारक हैं। इन गुफाओ के निर्माण मे लकडी के काय की स्पष्ट नकल दृष्टिगत होती है। "गुफाओ के द्वारो, कमरो और हालो की छतें इस प्रकार की हैं कि व फूस की झोपडी वाले और लकडी के शहतीरो पर टिके छप्परो की याद दिलाती हैं। गुफाओ के द्वार भी लकडी के बने द्वारो से लगते हैं।' इन गुफाओ में प्राचीनतम गुफा सुदामा गुफा है। इसम अशोक का अभिलेख भी है। उसके द्वारा ज्ञात होता है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बारहवें वष आजीवक भिक्षुओ को यह गुफा समर्पित कर दी थी। "सुदामा गुफा दो कमरो की है। एक बडी चतुर्भुजाकार कमरा है जिसकी छत बेलन (Barrel) के आकार की है। बाहर के कमरे के एक द्वार से अन्दर के वृत्ताकार कमरे मे जाया जा सकता है। बाहर से इस गोलाकार कमरे की छत उसी प्रकार दिखाई पडती है, जिस प्रकार फूस की झोपडी का छप्पर। इस गुफा का मुख्य द्वार लकडी के बने द्वार की तरह, दो ढलुए स्तम्भो पर टिका लगता है।"

अशोक ने अपने शासन काल के उन्नीसवें वष म एक कण चौपान' नामक गुफा का निर्माण कराया था। यह एक आयताकार कमरा है इसकी छत मेहराबदार है।

नागार्जुनी पवत पर तीन गुफाएँ हैं। इन गुफाओ मे मौय सम्राट् दशरथ के लेख उत्कीण हैं। इनम स दो तो छोटे कमरे या कोठरियाँ हैं कि तु दोनो की छतें मेहराबदार गुम्बद के आकार की हैं। तीसरी गुफा एक लम्बा हाल है जो आयताकार है। उसकी छत भी मेहराबदार है। इस गुफा का नाम 'गोपी' गुफा है।

इन गुफाओ म एक प्रसिद्ध एव श्रेष्ठतम गुफा लोमश ऋषि की गुफा है। इस गुफा मे कोई अभिलेख नही मिला है, किन्तु दीवारो की चमक मौयकालीन है। सुदामा गुफा की भांति होते हुए भी इसक अन्दर की कोठरी गोलाकार न होकर अण्डाकार है। लोमश ऋषि की गुफा का प्रवश द्वार एक लकडी के बने द्वार की सवथा प्रतिकृति है। अन्दर की ओर झुके से स्तम्भ तथा नुकीले मेहराब लकडी के द्वार क आदश है। इस गुफा के प्रवश द्वार पर हाथियो द्वारा स्तूप पूजा का दृश्य प्रशसनीय है। इस चित्र के हाथी सजीव तथा श्रद्धा भक्ति समन्वित दृष्टिगत होते हैं। मेहराब मे जालीदार काय है। लकडी के काय म कुशल कलाकारो ने अपनी कला को प्रस्तर पर उत्कीण कर भारतीय शिल्पकला क गौरव को द्विगुणित किया है। वस्तुत उस युग म पवतो को काटकर इन गुफाओं का निर्माण करना भारतीय शिल्पकला का एक आश्चयजनक काय है।

पाटलीपुत्र नगर तथा राजप्रासाद

चन्द्रगुप्त मौय मौय साम्राज्य का प्रतिष्ठाता सम्राट् था। इसके समय मे यूनानी राजा सल्युकस का राजदूत मेगास्थनीज भारत म ३०३ ई० पू० आया था।

मेगास्थनीज ने पाटलीपुत्र (Palimbothra) का अपनी रचना 'इण्डिका' में भव्य वर्णन किया है। इण्डिका में मौर्य साम्राज्य शासन प्रबन्ध विभिन्न समितियों तथा पाटलीपुत्र का वर्णन है। यद्यपि यह पुस्तक अप्राप्य है तथापि अनेक विद्वानों की रचनाओं में उसके उद्धरण उपलब्ध होते हैं। मेगास्थनीज के अतिरिक्त एरियन तथा स्ट्राबो आदि प्राचीन लेखकों के ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं। उसी के आधार पर हम पता चलता है कि पाटलीपुत्र (Palimbothra) भारत का सबसे बड़ा शहर है। यह गंगा एवं सोन नदी के तट पर अवस्थित है। यह नगर ८० स्टाडिया (नौ मील) लम्बा और १५ स्टाडिया (डेढ़ मील) चौड़ा है। आकार में यह समानान्तर चतुर्भुज की तरह है और यह चारों ओर से लकड़ी की प्राचीर से समावृत्त है। दीवारों में यत्र-तत्र छिद्र हैं जिनमें से तीर छोड़े जाते थे। प्राचीर के चारों ओर एक गहरी परिखा है, जो रक्षा के काम में आती थी और जिससे शहर की गन्दगी भी बह जाती थी।[1] एरियन के अनुसार यह परिखा ६०० फीट चौड़ी तथा ४५ फीट गहरी है। प्राचीर के ऊपर ५७० बुर्ज शोभायमान हैं जिनमें ६४ द्वार बने हैं।[2] नगर के मध्य में राजभवन स्थित था। राजभवन में अनेक विशाल सभाभवन थे जिनके स्तम्भ लकड़ी के थे और उन पर रजत एवं स्वर्ण निर्मित पक्षी, फूलों के गुच्छे और अंगूर की लताएं मण्डित थीं। चन्द्रगुप्त का राजभवन एशिया के प्रसिद्ध सूसा और एकबतना के आलीशान भवनों से कहीं अधिक समृद्ध और अलंकृत था।[3] चीनी यात्री फाहियान चतुर्थ शताब्दी में आया था वह भी पाटलीपुत्र और अशोक के राजभवनों को देखकर आश्चर्यचकित हो गया था। उसने इन भवनों की प्रशंसा में अपने निम्न उद्गार व्यक्त किये हैं— नगर की प्राचीर के भीतर अशोक का राजमहल प्रस्तर निर्मित था। वह इतना सुन्दर था कि लोग उसे अमानवीय शिल्पियों का बनाया समझते थे। राजभवन सुन्दर प्रस्तर मूर्तियों से शोभायमान था।[4]

पाटलीपुत्र नगर सुव्यवस्थित रूप में बसा हुआ था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में नगर निर्माण के सम्बन्ध में चाणक्य ने व्यापक रूप में वर्णन किया है। उस वर्णन को देखकर आभास मिलता है कि पाटलीपुत्र एक सुन्दर सुव्यवस्थित एवं भव्य नगर होगा जिसमें प्रत्येक वर्ग प्रत्येक वर्ण रहने वालों कोषागार सभी के सम्बन्ध में निर्देश उपलब्ध हैं। राजा का महल सुरक्षा आदि की दृष्टि से बनाया गया था। राजा का अन्तःपुर अनेक भवनों में सुसज्जित विशाल महल था जिसके चारों ओर परिखा थी और दृढ़ प्राकार भी था। राजा का शयनागार इस प्रकार से निर्मित

[1] दि पिलग्रिमेज आफ फाहियान (अनुवाद) पृ० २५०
[2] मक्रिण्डिल एंशियण्ट इण्डिया पृ० ६५
[3] एशियाटिक रिसर्च ५ पृ० १०
[4] पर्सी ब्राउन हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट आर्किटेक्चर पृ० ६

था कि न तो वहाँ अग्नि का कुछ भय था और न विषधर सर्पों का प्रवेश ही सभव था। दीवारो म अनेक गुप्त द्वार थे भूमिगत भवन थे सुरगें थी, देवी देवताओ की मूर्तियाँ काष्ठ निर्मित किवाडा पर चित्रित की जाती थी। सम्पूण महल इस प्रकार स निर्मित किया जाता था कि आवश्यकता होने पर महल को ध्वस्त भी किया जा सके। कौटिल्य के वणन को यदि प्रामाणिक मान लिया जाये तो निस्सन्देह मौर्ययुग की कला अपने चरमोत्कष पर थी वह अद्वितीय थी, भारतीय सास्कृतिक गौरव के अनुकूल थी। कौटिल्य ने नगर की किलेबन्दी का भी भव्य वणन किया है, जिसम वह किले के चारो ओर ६६ फीट के अन्तर से तीन जल स भरी खाइयो का निर्देश करता है। य खाइयाँ ६ फीट से ८४ फीट तक चौडी है। दुग के निकटतम की खाई २४ फीट की दूरी पर ३६ फीट ऊँची और ७२ फीट चौडी विष्कम्भक (Rampart) का घेरा ह। आशय यह है कि नगर की सुरक्षा की दृष्टि स कौटिल्य ने सुन्दर वणन किया ह। य समस्त वणन मगास्थनीज के वणन मे साम्य रखते हैं। 'खाई, प्राकार, मीनार या गुम्बज धनुर्धारियो के लिए आक्रमणकारियो पर आक्रमण करने की सुविधा आदि मेगास्थनीज और कौटिल्य दानो बताते हैं।'[१] इन वणनो मे लकडी की प्राचीर का उल्लेख किया गया ह। किन्तु इस काल से प्रस्तर का प्रयोग भी होने लगा था। फाहियान न अशोक के राजमहल को प्रस्तर निर्मित बताया ह। फाहियान ने नगर के दक्षिण मे अशोक द्वारा निर्मित एक विशाल स्तूप का भी उल्लेख किया ह। उसी के निकट ही भगवान् बुद्ध के पद चिह्न युक्त शिला पर मन्दिर भी बनवाया गया था।[२] ह्वेनसाग के समय म यह स्तूप नष्टप्राय था किन्तु ह्वेनसाग ने भी स्तूप के ऊपर का मुकुट मणि देखा था, यह प्रस्तर निर्मित नक्काशी से सुसज्जित था। उस स्तूप के चारा ओर वेदिका भी थी।[३]

वाडेल तथा स्पूनर के द्वारा पाटलीपुत्र की खुदाई होने पर प्राचीन किलेबन्दी के अवशेष उपलब्ध हुए है, जिनसे मेगास्थनीज के वणनो की प्रामाणिकता ज्ञात होती है। कुम्हरार के निकट बुल दीबाग के उत्खनन से शाल लकडी के बडे बडे स्तम्भो और चौडे तख्तो स निर्मित प्राचीर का पता चलता है। यहाँ पर शाल लकडी के दृढ स्तम्भो की दो पक्तियाँ मिली हैं। ये स्तम्भ १८ फीट लम्बे और एक फीट मोटे है। स्पूनर साहब ने भी इस किलेबन्दी के सम्बन्ध म अपने विचार व्यक्त किए है।[४] पाटलीपुत्र नगर के चारा ओर मगलस तालाब (गाधी सरोवर), महाराज खन्दा, अगम कुआ, तुलसी मडी तथा 'कुम्हरार क उत्तर पश्चिम और छोटी पहाडी

---

१ भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ४६

२ पिलग्रिमेज आफ फाहियान, पृ० २५५

३ एल० ए० वाडेल रिपोट आफ दि एक्सकेवेशन आफ पाटलीपुत्रा, पृ० ४७

४ आर्कोलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया—एनुअल रिपोट् स

से ½ मील पूर्व भी ऐसे ही मजबूत और लकडी के मोटे कुन्दे मिले हैं। अतः स्पष्ट है कि पाटलीपुत्र नगर की किलेबन्दी के अवशेष हमें जहां तहां मिले हैं। लकडी के खम्भों की इस दृढ किलेबन्दी से यह प्रमाणित हो जाता है कि लकडी पर आधारित वास्तुकला में मौर्यकाल में श्लाघनीय उन्नति हुई थी।[1]

मौर्यकाल की वास्तुकला के आदर्श कुम्हरार से प्राप्त मौर्य सभाभवन के अवशेषों में दृष्टव्य हैं। स्पूनर साहब को इस खुदाई में पाषाण स्तम्भों से निर्मित एक विशाल सभाभवन मिला है। पन्द्रह फीट के अन्तर से खड़े स्तम्भों की आठ पंक्तियां मिली हैं। प्रत्येक पंक्ति में दस स्तम्भ होते थे। इन स्तम्भों में से एक पूर्णतः सुरक्षित स्तम्भ प्राप्त हुआ है। 'एक ही पत्थर के बने इस स्तम्भ पर ऊपर से नीचे तक वही दीप्तिमान चमक है जो हम मौर्यकाल के सभी स्मारकों में पाते हैं। कुम्हरार की खुदाई से पता चलता है कि मौर्यकालीन हाल के स्तम्भ मजबूत और स्थायी आधार पर टिके थे। छह फुट गहरी नींव खोदी गई थी। यह गड्ढा छह फुट लम्बा और छह फुट चौड़ा था। इसमें छह इंच मोटी नीली मिट्टी दी गई थी जो वस्तुतः आजकल की सीमेंट का काम करती थी। इस पर शाल लकडी के कुन्दों का चौखटा बनाया गया था जिस पर विशाल स्तम्भ खड़ा किया गया था। सम्भवतः यह विशाल सभाभवन दूसरी सदी में पूर्व ही बरबाद कर दिया गया था।'[2] इस सभाभवन में प्रयुक्त स्तम्भ ४१ फीट ऊंचे हैं तथा नीचे से ऊपर तक सम्पूर्ण स्तम्भ पर चमकदार पालिश की गई थी।

सन् १९५३ ई० के उत्खनन से कुम्हरार मौर्यकालीन हाल के दक्षिण में एक आरोग्य विहार की जानकारी मिली है। डा० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह इस मौर्य सभाभवन के सम्बन्ध में लिखते हैं कि –

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में कुम्हरार का यह मौर्य सभाभवन अभूतपूर्व है। मोहनजोदड़ो में स्तम्भों पर आधारित एक बड़े हाल के अवशेष मिले हैं। ये स्तम्भ ईंटों के बने थे। वैदिक उल्लिखित स्तम्भ साधारणतः लकडी के थे। इसलिए पाषाण-स्तम्भों से सुशोभित यह मौर्यकालीन सभाभवन भारतीय पुरातत्व की दृष्टि से सबसे प्राचीन है। इसके स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर सुडौल सुस्निग्ध और गोलाकार हैं। भारतीय स्थापत्य कला मौर्यकाल में ही कितनी ऊंची थी इस सभाभवन के अवशेषों से इसका अनुमान किया जा सकता है।[3]

इन भवनों को देखकर सम्राट अशोक की सूझ तथा एकबतना के महलों की याद आ जाती है। डा० स्पूनर ने सभाभवन की तुलना दारयवहु द्वारा निर्मित पर्सीपोलिस के शतस्तम्भों हाल से तुलना की है। स्पूनर के अनुसार स्तम्भों का क्रम उनकी रचना तथा पालिश पर्सीपोलिस के शतस्तम्भी हाल के समान ही है।

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन पृ० ५१

[2] वही पृ० २२ २३

पाचवी शताब्दी मे आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने भी पाटलीपुत्र के अशोक के महल देखे थे। उन भवनो को देखकर वह आश्चय विमूढ़ हो उठा था और उसका अनुमान था कि इनका निर्माण मनुष्यो ने नही देवो ने किया होगा।

स्तूप

कलाप्रिय अशोक ने अपने काल मे अनेक स्तूपो का निर्माण करवाया था। किम्बदन्ती के अनुसार अशोक द्वारा निर्मित स्तूपो की सख्या ८४ लाख थी। किन्तु वे सभी आज काल के कराल गाल मे कवलित हो चुके हैं। सप्तम शतक मे विदेशी यात्री ह्वेनसाग न अपने यात्रा विवरण मे अशोक द्वारा निर्मित अनेक स्तूपो का उल्लेख किया है। स्तूप गोलाकार ईटो तथा प्रस्तरो से निर्मित थे। कुछ स्तूपो के चारो ओर पाषाण वेदिका (रेलिंग) का निर्माण भी किया जाता था। मार्शल के कथनानुसार मौयकालीन स्तूपो को आवत्त करने के लिए लकडी की वेदिका (रेलिंग) का निर्माण किया जाता था। यही वदिका शुङ्ग काल मे प्रस्तर से निर्मित की जाने लगी। महात्मा बुद्ध की पावन धातु (भस्म) पर तथा तत्सम्बद्ध पवित्र स्थानो की पावन स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए स्तूपो का निर्माण किया जाता था। दूसरे शब्दो मे स्तूप एक प्रकार की समाधि ही है। स्तूप उल्टे कटोरे के आकार का प्रस्तर या ईटो से निर्मित एक ठोस गुम्बद होता था। जिसमे मतक के अस्थि आदि अवशेषो को किसी बतन मे बन्द कर एक स्थान पर रख दिया है और उस पर स्मारक के रूप मे गुम्वद आदि बना दिया जाता है। वदिक काल म ही शव को जलाकर या बिना जलाये ही एक चिता बनाने की परम्परा चली आ रही थी, उसी का स्तूप एक विकास प्राप्त रूप है। प्राचीन स्तूपो की अपेक्षा मौय स्तूपो की एक विशेषता यह थी कि इनके चारो ओर चौखूटी बाड लगा दी जाती थी। आदराथ एक छत्र भी ऊपर स्थापित किया जाता था। चारो ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दे दिया जाता था। इस घेरे के चारो ओर चार तोरण या द्वार बना देते थे। आज अशोक निर्मित हजारो स्तूपो म से एक दो ध्वसावशिष्ट है, इनम से सर्वोत्तम स्मारक सांची और भरहुत के हैं। इनके समय के सम्बन्ध मे कुछ विवाद है तथापि इन स्तूपो का मूल रूप अशोककालीन है और उनका अलकरण एव परिवधन शुङ्गकालीन है। 'साची स्तूप पहले अशोक के समय म बना था। अशोक शिला-स्तम्भ भी वहाँ मिले हैं। यह तो सब मानते हैं कि भरहुत स्तूप द्वितीय सदी ई० पू० का है। भरहुत रेलिङ्ग पर वज्रासन मन्दिर का जो चित्र अकित है उसम अशोक द्वारा निर्मित हस्ति शिरयुक्त उल्टे कमल के आकार वाली शिरा से सुशोभित गोलाकार स्तम्भ भी है।"[1]

सांची

मौयकालीन स्तूपो म साची (मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल के निकट)

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ५४

का स्तूप समूह महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर तीन स्तूप हैं जिनमें से एक बड़ा[1] तथा दो छोटे स्तूप हैं। बड़े स्तूप का निर्माता अशोक है अथवा वह उससे भी पूर्ववर्ती है। विद्वानों ने इसका काल ईसा पूर्व तृतीय शतक में माना है। सर्वप्रथम यह स्तूप ईंटों के द्वारा बना था तदनन्तर प्रथम शताब्दी ई० पू० में आन्ध्रों के शासनकाल में इस स्तूप का और अधिक विस्तार एवं अलंकरण किया गया।[2] इस स्तूप के आधार तल का व्यास १२१½ फीट और इसकी ऊँचाई ७७½ फीट है। यह स्तूप लाल बलुए पत्थर से निर्मित है। स्तूप के शिखर पर एक चौकोर हर्मिका बनी हुई है जिसके ऊपर एक दण्ड में सम्बन्धित छत्र हैं। स्तूप के गुम्बद के चारों ओर दो प्रदक्षिणा मार्ग हैं। एक प्रदक्षिणा मार्ग भूमि की सतह पर दूसरा लगभग ११ फीट ऊँचा है। इस प्रदक्षिणा पथ तक पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिण की ओर दोहरी सोपान है। स्तूप का गुम्बद तथा प्रदक्षिणा मार्ग वेदिका से घिरे हुए हैं। इस वेदिका पर किसी प्रकार की पच्चीकारी नहीं है अपितु यह बहुत ही सामान्य है। इस वेदिका की चारों दिशाओं में चार सुन्दर प्रवेश द्वार हैं। इनका उपयोग वेदिका पर जाने के लिए किया जाता था। विद्वानों का विचार है कि पहले यह द्वार लकड़ी के थे पर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में पत्थर के तोरण द्वार बनाये गये। इन द्वारों के प्रत्येक स्तम्भ की ऊँचाई १४ फीट है। प्रत्येक तोरण द्वार के स्तम्भों के ऊपर तीन कमानीदार बड़ेरियाँ एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। सम्पूर्ण तोरण की ऊँचाई लगभग ३४ फीट है। स्तम्भों के ऊपर की बड़ेरियों में चारों ओर बुद्ध के जीवन-पूर्व की घटनाओं का सजीव अंकन हुआ है। बड़ेरियों पर सिंह, हाथी धर्मचक्र यक्ष त्रिरत्न आदि अंकित हैं। इन पर विपरीत दिशाओं में मुख किये हुए ऊँट, हिरण, वृषभ मयूर और हाथी आदि के जोड़ों का सुन्दर एवं यथार्थ चित्रण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा पशु जगत भगवान बुद्ध की उपासना के लिए उमड़ पड़ा है। साँची के इस स्तूप में स्तम्भों के नीचे की ओर द्वार रक्षक यक्ष खड़े हैं, चौमुख हाथी तथा बौने भी खड़े हैं। बाहर की ओर यक्षिणियाँ चित्रित हैं जिनकी भाव-भङ्गी मनोमोहक है। यद्यपि साँची की मूर्तियाँ और विषय भरहुत के समान नहीं हैं, किन्तु साँची के शिल्पकारों ने भरहुत के मूर्तिकार की अपेक्षा शिल्प तथा कलात्मक कल्पना का अधिक उत्कृष्ट परिचय दिया है। साँची उस काल के लोक जीवन तथा धार्मिक मान्यताओं का अभिराम प्रदर्शन है। साँची के तोरणों पर सात मानुषीबुद्ध बुद्ध के अवशेष के लिए युद्ध, भगवान के विभिन्न प्रदर्शन तथा षड्दन्त वेसन्तर, महाकपि आदि जातकों का चित्रण मिलता है। काश्यप का धर्म परिवर्तन व शुद्धोदन का दीक्षित होना आदि वृत्तान्तों को प्रस्तर पर खोदकर साकार बना दिया गया है।"[3] साँची में मकर पूर्णघट और

---

[1] चित्र फलक संख्या १

[2] दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, पृ० ६२

[3] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २ पृ० २५४-५५

कमल को अंकित किया गया है जो कि भारतीय दर्शन की दृष्टि से सृष्टि के सृजन और विकास का सूचक है क्योंकि भारतीय दर्शन में सृष्टि का सृजन जल से माना गया है। सांची, भरहुत आदि के अलंकरण में जीव प्रेम तथा प्रकृति प्रेम की भावनायें बड़ी ही सहृदयता और सजीवता के साथ उत्कीर्ण हैं। इस अलंकरण में पश्चिमी एशिया के कलारूपों का भी प्रयोग किया गया है। डा० नीहार रंजन ने लिखा है—"The rich world of flora and fauna finds a feeling and naturalistic expression at the hands of Sanchi artists the elephants, deer and antilopes the lotus creepers, pipal and the host of other trees and plants which lend their characteristic form and colour and charm to Indian art are portrayed for the first time here and in certain panels of the Rani Gumpta near Bhuvaneshwar" अर्थात सांची के कलाकारों द्वारा फूल-पत्ती एवं पशु समूह का जो अंकन किया गया है वह उनकी अनुभूति और स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रतीक है, हाथी हिरण कमल, लतायें, पीपल आदि अनेक वृक्ष एवं पौधे भारतीय कला के रचना वर्ण, सौंदर्य की विशेषताओं को प्रथम बार यहाँ चित्रित किया गया है और कुछ भुवनेश्वर के निकट रानी गुफा की चौखटा पर भी इसी प्रकार का अलंकरण देखने को मिलता है। यही भारतीय राष्ट्रीय कला प्रतीक है, इसका हम संकेत कर चुके हैं कि ये समस्त प्राकृतिक तत्त्व भारतीय दर्शन के प्रतीक हैं, इन्हें इसी रूप में देखना चाहिए न कि विदेशी प्रभाव के रूप में।

सांची के भग्नावशेषों में सम्राट् अशोक के काल का एक स्तम्भ प्राप्त हुआ है। यह स्तम्भ पहले ४२ फीट ऊंचा था। इस स्तम्भ के शीर्ष भाग पर सारनाथ के समान ही सिंह मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इस स्तम्भ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है।

भरहुत

मौर्ययुग भारतीय संस्कृति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। उस काल की संस्कृति, सभ्यता एवं कला अपना विशेष महत्त्व रखती है। भारतीय कला का तो वह स्वर्णिम काल ही था इस काल का भरहुत स्तूप जो आज ब्रिटिश म्यूजियम लंदन, कलकत्ता म्यूजियम, इलाहाबाद म्यूजियम तथा तुलसी स्मारक संग्रहालय रामभवन (सतना म० प्र०) की श्रीवृद्धि कर रहा है। इस स्तूप में उस काल के भारत की प्रत्यक्ष झलक मिल जाती है। यद्यपि भरहुत स्तूप का प्रारम्भिक कार्य मौर्यकालीन है, किन्तु उसकी अलंकृति, पच्चीकारी शुङ्गयुगीन है।[1]

---

[1] चित्र फलक संख्या २

हमारी संस्कृति और कला का यह अमर स्मारक समय के प्रभावतों में भूमिसात हो गया था, जिसे जनता के समक्ष लाने का श्रेय कनिंघम महोदय को है।

भरहुत मध्यप्रदेश के सतना जिले में स्थित है। सतना से भरहुत १० मील की दूरी पर स्थित है। सतना इलाहाबाद बम्बई रेलवे लाइन पर है। आज भरहुत में स्तूप का कोई चिह्न नहीं है। कनिंघम महोदय ने १८७३ में इस स्थान पर एक बौद्ध विहार के अवशेष तथा बौद्ध वेष्टिनी वेदिका के तीन स्तम्भ पाषाण के तीन डण्डों के साथ जुड़े देखे थे, जिन पर अलंकृत उष्णीष खण्ड थे और प्रवेश द्वार के स्तम्भ थे, जो कभी तोरण का आधार था स्तम्भों की ऊंचाई ९ फुट थी। अनुसंधान करने पर कनिंघम ने बताया कि यह वेष्टिनी गोलाकार रूप लिये थी, जिसकी परिधि २१२ फुट ६ इंच थी। एक गोलाकार घेरा जिसकी परिधि ८८ फुट ६ इंच के लगभग थी, उसके भीतर प्राप्त हुआ है। इसके आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि भरहुत स्तूप भी सांची के स्तूप की तरह ही है। कनिंघम महोदय के अनुसार १६७० ई० के लगभग भरहुत स्तूप अपनी जीर्ण अवस्था में अवश्य ही विद्यमान रहा होगा। भू० पू० नागौद राज्य के जागीरदारों के अनुसार भी आज से १४८ वर्ष पूर्व तक भरहुत में खण्डहर विद्यमान थे। उस समय स्तूप एक घने जङ्गल से आवृत्त था।

भरहुत स्तूप की कला की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। मौर्यकाल में भारतीय शिल्पकारों का विदेशी शिल्पकारों से परिचय हो चुका था, अतः भरहुत की कला पर विदेशी कला की हलकी सी छाया देखी जा सकती है। विशेष रूप से लकड़ी के स्थान पर प्रस्तर का प्रयोग तथा यूनानी आदर्शों ने भारतीय कला पर प्रभाव डाला है। इसके अतिरिक्त भरहुत की कला में जनमानस की सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व होता है। इस स्तूप कला ने अपने समय के जन जीवन का बहुत ही सफल चित्रण किया है। भरहुत स्तूप में आज से दो हजार वर्ष पूर्व के भारतीय जन जीवन का सजीव अङ्कन हुआ है। भरहुत की पाषाण शिलाओं में मनुष्य पशु तथा पक्षियों के सुन्दरतम चित्र उत्कीर्ण हैं। मनुष्यों के घर व्यवसाय के साधन, देवताओं, राजा की मूर्तियों आवागमन के साधन रथ गाड़ियां नौकाएं विभिन्न प्रकार की वेशभूषायें शृङ्गार के साधन, अस्त्र शस्त्र आभूषण आदि इन पाषाणों पर उत्कीर्ण हैं जो कि भारतीय जन जीवन को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हैं।

भरहुत के शिल्पकारों ने न केवल दैनंदिन जीवन का ही अङ्कन किया है, अपितु प्राकृतिक सौन्दर्य का भी सफल चित्रण किया है। लताओं, वृक्षों पुष्पों फलों के सुन्दरतम चित्र इस स्तूप के चारों ओर अङ्कित किये गये थे। भरहुत के स्तूप के काल बौद्ध धर्म के चरमोत्कर्ष का काल है अतः भरहुत में बौद्ध जातकों के अनेक चित्र अङ्कित किये गये हैं। लगभग चालीस जातकों की कथाओं के उल्लेख इस स्तूप की बाड़ पर देखे जा सकते हैं। आधा दर्जन बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन के चित्र भी इस पर उत्कीर्ण हैं। जेतवन के दान की कथा सविस्तार यहाँ देखी जा सकती है। इसके

अतिरिक्त वहाँ हिंदू देवा, देवियों, नागों, यक्षों, यक्षिणियों के भी अनेक चित्र अङ्कित हैं।[1]

ये चित्र तात्कालिक धार्मिक सहिष्णुता के परिचायक हैं। इन चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता मूर्तियों की सजीवता तथा स्वाभाविकता है। यहाँ केवल भक्ति-भाव के ही चित्र नहीं हैं अपितु हास्य रस के भी अनेक चित्र हैं। एक स्थान पर बन्दरों का एक समुदाय हाथी को गाजे-बाजे के साथ ले जा रहा है। एक दूसरे दृश्य में एक मनुष्य का दाँत हाथी द्वारा खींचे जाने वाले सड़ासे से उखाड़ा जा रहा है।

भरहुत का यह ईंटों से निर्मित स्तूप ६८ फीट के व्यास वाला बुलबुलाकार स्तूप था। मृत्तिका निर्मित विशालाकार ईंटें फिर मिट्टी में मिल गई हैं। विभिन्न युगों में अलंकृत इसकी वेदिका आज खण्ड खण्ड होगई है। भग्नावशेषों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि स्तूप के चारों ओर एक ऊंचा किन्तु प्रशस्त प्रदक्षिणा-पथ था। इस प्रदक्षिणा पथ पर जाने के लिए छः सोपान थे। स्तूप के शीर्ष भाग पर एक हर्मिका थी। स्तूप पर दीप रखने के लिए लगभग सवा सौ दीपाधान बने थे, जिन पर सहस्रों दीप जगमगाते रहे होंगे। स्तूप के चारों ओर ९ फीट ऊंची अलंकृत वेदिका थी। इसके चारों ओर तोरण द्वार विभिन्न कला शैलियों का प्रतिनिधित्व करते थे। वेष्टनी पर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जिनमें बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप तथा भगवान् बुद्ध के जन्म-सम्बन्धी अनेक कथानक खचित हैं। वेष्टनी के द्वार-स्तम्भों या तोरणों पर जातक कथाओं का प्रदर्शन है, इनसे अधिक सुन्दर तथा उत्कृष्ट नमूने अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। वेष्टनी के स्तम्भों पर हाथ में चंवर या कमल लिये यक्ष की मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। अधिकतर वामन मनुष्यों की पीठ पर खड़ी यक्षी परिचारिका की मूर्ति खचित मिलती है। विटशालभंजिका, उद्दालक, पुष्प भंजिका आदि जिन प्राचीन क्रीडाओं का उल्लेख मिलता है उन्हीं के सानन्द महोत्सवों की कुछ झलक भरहुत के वेदिका स्तम्भों पर पाई जाती है। नूपुर, केयूर कुण्डल, कणिका और दन्तपत्र आदि जिन अलंकार रत्नों का भारतीय काव्यों में वर्णन

---

[1] दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ६२४

Both gateway and railings are lavishly enriched with sculptured reliefs many of which illustrate incidents in the Jatakas or scenes connected with the life of the Buddha and these illustrations are made all the more valuable by the descriptive titles attached to them which leave no doubt as to their indentification Besides these and many other miscellaneous scenes there are a multitude of single images carved in high relief upon the pillars of the rail—Yakshas and Yakshis Devatas or Nagarajas'

था। अत पटना म एक तीथकर की नग्न मूर्ति मिली है जिसका हाथ नहीं है। उसके पर भी जांघ क पास स ध्वस्त हैं। मूर्ति पर मौयकालीन चमकदार ओप है। मूर्ति का चुस्त वक्षस्थल तथा क्षीण शरीर तपस्यालीन जन तीथकर का सूचक है। इनके अतिरिक्त भी अनक प्रस्तर मूर्तियाँ कुम्हरार, पटना क मुरतजोगज, तक्षशिला, भीटा और काशी मे मिली हैं। इन पर मौयकालीन विशिष्ट चमक स इनका मौर्य युगीन होना स्वयसिद्ध है।

मौयकाल म अनेक स्थानों—मथुरा अहिच्छत्रा (रामनगर बरेली) कौशाम्बी मसोन (गाजीपुर) पटना—से मिट्टी की मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनम विशेषत पटना बिहार की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। ये कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की हैं। मूर्तियों के साथ ही खिलौने विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। बुलन्दीबाग, कुम्हरार, बसाढ़ और बक्सर म ये खिलौने विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं। पटना सग्रहालय म स्थित नारीमूर्ति जो कि झालरदार घाघरा धारण किये हुए है बुलन्दीबाग की खड़ी नारीमूर्ति आकार से लम्बी गतिमान, हाथ म डमरू लहगाधारी है तथा सुन्दर है।[1] इसी प्रकार की एक अन्य स्त्री मूर्ति भी पटना सग्रहालय म रखी है, जिसके सर का विचित्र टोप, झालरदार घाघरा, क्षीण कटि—जो कि कसकर बधी हुई है, दशनीय हैं। बुलन्दीबाग म प्राप्त मिट्टी के एक हँसते हुए बालक का सर मिला है। उसकी भोली भाली हसी भी मनो मोहक है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी मौयकालीन मृण्मूर्तियों क सम्बन्ध म लिखते हैं कि 'मौयकालीन मण्मूर्तियाँ बहुत कम स्थानो से मिली हैं, तथाकथित मातृदेवी की कुछ मूर्तियो को छोडकर शेष का सम्बन्ध साधारण जन-जीवन से है। पटना स मौयकाल की कुछ बडी मूर्तियाँ मिली हैं जिनम स्त्री प्रतिमाओ की आकृति एव वेश भूषा बहुत आकषक है।

मौयकाल की कला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं—१ मौयकालीन कला भाव प्रकाशन मे सवथा समथ है। यह इस कला का सर्वोच्च गुण है। २. ठोस पाषाण स्तम्भो मे मौययुगीन सादे स्तम्भ, शीष पर कलापूर्ण पशु मूर्तियाँ, एव उलटा कमल मनमोहक है। ३ ये पाषाण स्तम्भ एक ही प्रस्तर से निर्मित हैं जो कि शिल्पियो की सूक्ष्म कला-कुशलता और उनकी यथाथता के सूचक हैं। स्तम्भो के शीर्षों मे सौन्दय, अनुपात और सूक्ष्मता का विशेष ध्यान रखा गया है। (४) इसके अतिरिक्त मौययुगीन स्मारको की पालिश जो कि आज भी वसी ही है अन्य विशेषता है। (५) चुनार के पत्थर का प्रयोग हुआ है।

भारतीय स्थापत्य कला के इतिहास मे मौययुग अद्वितीय है। मौययुगीन अनुपम स्मारक भारतीय कला की सग्रहणीय निधि हैं। परवर्ती युग म मौय कला जसी कला का उदय नही हुआ, सम्भवत इसका कारण परवर्ती काल मे मौययुग जसा कला को सरक्षण न मिलना रहा हो जो भी कारण सही किन्तु यह सत्य है कि मौय युग जसी कला का पुनरुदय नही हुआ।

[1] चित्रफलक स० १७

मौर्यकला पर विदेशी प्रभाव

भारतीय कला के इतिहास में मौर्य युग क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं विशेषताओं के साथ आविर्भूत होता है। इस युग कला की अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिनके कारण अधिकांश विद्वान भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव को स्वीकार करते हैं। पर्सी ब्राउन का कहना है कि 'अपने आरम्भिक काल में ही मौर्य राज्य अपनी पश्चिमी सीमा के बाहर अपने से अधिक विकसित एवं उन्नत सभ्यता की ओर दृष्टिपात कर रहा था और स्थापत्य के लिए प्रेरणा ग्रहण कर रहा था।"[1] डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है कि 'वास्तुकला और मूर्तिकला में अचानक प्रस्तर का प्रयोग बहुत अंशों में विदेशी, सम्भवतः पर्सिया का परिणाम है।'[2] नीहार रंजन राय के मत से—'इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि प्रेरणा विदेश (बाहर) से मिली है।"[3] बेंजामिन रोलैंड ने लिखा है कि 'मौर्य संस्कृति की भांति मौर्यकला भी अधिकांश में विदेशी है।"[4] श्री रामप्रसाद चन्दा का कहना है कि फारस के पाषाण भवनों की प्रतिकृति में ही अशोक ने वास्तुकला में प्रस्तर का प्रयोग किया और इस कार्य में उसने विदेशी कलाकारों से सहायता ली।[5] भगवतशरण उपाध्याय का कहना है कि ईरानी मिश्री संस्कृति का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर है, लेखन कला पर है किन्तु 'इससे भी अधिक महत्त्व का ईरानी प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर पड़ा।'[6]

उपर्युक्त विद्वान् लेखकों की इस मान्यता का आधार क्या है? यह विचारणीय प्रश्न है। डा० स्पूनर ने इस सम्बन्ध में कई तर्क दिए हैं। उनके तर्कों का सार यह है कि (१) मौर्य भवनों का निर्माण डेरियस के परीमहल और सूसा के महलों की नकल पर हुआ है। पर्सिया के बड़े-बड़े महलों की छत पाषाण स्तम्भों पर आधृत है। इसी भांति अशोक के भवनों की छत भी पाषाण स्तम्भों पर आधृत थी। स्तम्भों की दूरी भी पर्सिया के महलों के स्तम्भों पर आधारित है। महाभारत के 'मय' दानव को वे ईरानियों के 'अहुरमजद" मानते हैं। डा० स्मिथ भी स्पूनर के समान ही कुम्हरार के हाल को पर्सिया के हाल की नकल पर बना मानते हैं। (२) स्तम्भ का चिकना भाग पर्सियन शैली से प्रभावित है। (३) चमकदार पालिश भी फारस के कलाकारों की देन है। (४) स्तम्भ के ऊपर घण्ट की आकृति का शीर्ष भी विदेशी है। (५) अशोक के अभिलेखों की शैली सम्राट दरायुश के अभिलेखों की शैली के समान है। पहले लेख में

---

[1] इण्डियन आर्क्टेक्चर, पृ० ६
[2] फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० १६
[3] मौर्य सुग आर्ट, पृ० ३१
[4] आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, पृ० ६३
[5] मेमोरीज आफ आर्कोलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया नं० ३०, पृ० ८
[6] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० १८७

अन्य पुरुष का प्रयोग किया गया है और बाद में उत्तम पुरुष का। उपर्युक्त आधारों पर ही अशोक की कला पर विदेशी प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। डा० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह ने इस प्रभाव को इन शब्दों में स्वीकार किया है— मौर्य साम्राज्य की स्थापना के दो ढाई सौ वर्ष पहले ईरान में अखमोनियन वंश का राज्य स्थापित हो चुका था। इसके संरक्षण में कला का अत्यधिक उन्नति हुई। प्राचीन ईरानी कलाकारों ने पत्थरों के बने विशाल राजभवनों का निर्माण किया। मूसा, पार्सिपोलिस और इकबतना के सुन्दर भवनों की प्रशंसा यूनानी विजेताओं ने मुक्त कण्ठ से की तथा पुरातत्व विज्ञान ने इसकी पुष्टि की। अशोक के अभिलेखों की शैली और सम्राट दरायुश के अभिलेखों की शैली एक है—पहले अन्य पुरुष और फिर उत्तम पुरुष का व्यवहार उल्लेखनीय है। अशोक का उल्टे कमल द्वारा स्तम्भ शिरोभाग ईरान के घण्टी नुमा स्तम्भ के आधार (Base) से इतना मिलता जुलता है कि कुछ समय पहले तक मौर्यकालीन स्तम्भ शीर्ष को भी पर्सिया का घण्टीनुमा शिरोभाग ही माना जाता था। पर्सिया के राजभवनों में बड़े बड़े हाल थे जिनकी छत पाषाण-स्तम्भों पर टिकी थी। इन्हीं स्तम्भों को ध्यान में रखकर अशोक ने स्वतन्त्र खड़े स्तम्भों का निर्माण कराया होगा। कुम्हरार में जो अस्सी स्तम्भों वाले हाल के अवशेष मिले हैं वह ईरानी प्रेरणा की ही अभिव्यक्ति माने गये हैं। मौर्यकालीन पाषाण स्मारकों पर जो आइने सी चमक है वह अखमनियम भवनों पर भी मिलती है। अशोक के स्तम्भ शीर्ष पर जो पशु मूर्तियाँ बनी हैं उनके भी आदर्श ईरानी ही प्रतीत होते हैं, विशेषकर सिंह का मुख और उसके अयाल जिस निश्चयात्मक शैली के उदाहरण हैं उसका इतिहास अवश्य ही पुराना है और वे किन्हीं अभ्यस्त कलाकारों की कृतियाँ हैं। मौर्य स्तम्भशिराओं पर या आसन पर कुछ ऐसे चित्र खुदे हैं जैसे—छोटे ताड़-वृक्ष मनके (Beads) ऐंठी रस्सी यूनानी पौधे (Acanthus) और पत्तियाँ—जिससे यूनानी कला के प्रभाव का भी अनुमान किया गया है। उसने वहाँ के कुछ कलाकारों को अवश्य ही बुलाया होगा और उनके द्वारा भारतीय शिल्पकला के कलाकार प्रशिक्षित किये गये होंगे। इस प्रकार मौर्यकालीन पाषाण स्मारकों की उत्कृष्ट कला और विलक्षण चमक' को समझना आसान हो जाता है। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद इस कला का अचानक अन्त हो जाना भी युक्तिसगत है, क्योंकि यह कला भारतीय परम्परा पर नहीं, वरन् विदेशी अनुकरण पर राजकीय प्रेरणा और निर्देश पर आधारित थी।"[1]

यद्यपि जायसवाल जैसे भारतीय विद्वानों ने भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव के सिद्धान्त का खण्डन किया है किन्तु अधिकांश विद्वानों ने मौर्यकला पर विदेशी यूनानी ईरानी प्रभाव को स्वीकार किया है। नीहार रंजन राय मौर्यकला को कोमल वनस्पतियों को सुरक्षित रखने वाले शीशे के कृत्रिम भवन (Hot house plant) में उत्पन्न और पल्लवित मानते हुए—मौर्य साम्राज्य की समाप्ति के साथ कृत्रिम भवन

[1] भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ६७ ६८

की समाप्ति स्वीकार करते हैं, क्योंकि भारतीय वातावरण में वह विदेशी पौधा सूख-कर नष्ट हो गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौयकला (वास्तु मूर्ति) पर ईरानी और यूनानी प्रभाव को अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार करते हुए मौय तथा यूनानी कला का साम्य देखा है। इन कलाओं म अनेक तत्त्वों के समान होने पर भी दोनों म असमानता भी पर्याप्त है। वे इस प्रकार है—

	विदेशी कला		मौय कला
१	विदेशी कला सप्रयोजन है। ईरानी पाषाण स्तम्भ स्वतन्त्र न होकर वे भवनों का भार वहन करते हैं। इस प्रकार ईरानी स्तम्भ स्थापत्य के अग हैं।	१	मौय कला 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त की समर्थक है। अशोक के स्तम्भ स्वतन्त्र स्मारक के रूप म खडे हैं।
२	ईरानी स्तम्भ एक प्रस्तर स निर्मित न होकर तीन या अधिक जोडो से निर्मित हैं उन पर गाढा मोटा पीला रग चढ़ाया गया है।	२	मौयकालीन स्तम्भ स्वतन्त्र रूप मे प्रतिष्ठित हो अथवा भवनो के अभिन्न अङ्ग हो, किन्तु वे एक प्रस्तर से बने हुए हैं। कला की दृष्टि स कलाकार की लगन और मनोयोग के परिणाम हैं।
३	ईरानी स्तम्भ के ऊपरी भाग पर घण्टाकृति बनी रहती है।	३	मौय कला म स्तम्भ के ऊपरी भाग पर घण्टा है अथवा कमल की पखुडिया, इस पर विद्वानो मे मत भेद है। हैवेल तथा कुमार स्वामी ने मौय स्तम्भो के शिरोभाग पर घण्टे की अपेक्षा उल्टे कमल की पखुडियो के चित्र स्वीकार किए हैं। ईरानी तथा मौय घण्टा तथा कमल म प्रस्तर पर कमल बहुत स्वाभाविक तथा मनमोहक रूप म उत्कीर्ण हुए हैं।
४	सम्राट दरायुश के शत-स्तम्भ भवन के सभी स्तम्भो पर भी रेखाएँ उत्कीर्ण हैं।	४	मौय स्तम्भ बहुत अधिक सामान्य है, उन पर ओप तो है, किन्तु नक्काशी नही।

५	ईरानी स्तम्भ के शीष भाग पर दो या चार पशुओ की पीठ सटी मूर्तियाँ बठी हुई हैं। इन मूर्तियो म अश्व मूर्तियाँ हैं अथवा अभ्रानवीय पशु प्रधान मूर्तियाँ हैं। भारतीय वृषभ का अभाव है।	५	मौय कला म पशु मूर्तियाँ स्वाभाविक हैं, मूर्तियो को बठाने का ढग समान है, इसके अतिरिक्त मौय स्तम्भ शीप क सिंह के अयाल तथा उनके मुह बहुत कुछ मिलते जुलते हैं।
६	विदेशी कला केवल भौतिक सौदय को ही जानती है।	६	इसके विपरीत भारतीय कला अपनी कल्पना की उमुक्त उडान से स्वर्गीय सौदय को वसुधा पर ही उतारने म कृत सकल्प रहती है।

इस प्रकार मौय कला तथा विदेशी कला के स्मारको म यद्यपि अन्तर है फिर भी यह सत्य है कि ईरानी और यूनानी कला परम्पराओ (जसे छोटे ताड वक्ष दानों और ऐंठी रस्सी) को भी मौयकालीन कलात्मक कृतियो म देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हम यह बात भी विस्मृत नही कर देनी चाहिए कि मगध म ताड वृक्षो की बहुतायत है और नीचे स ऊपर तक गाय दुमाकार स्तम्भ ताड वक्ष के आदश पर ही बनाय गये हैं।' यह भी सम्भव है कि मौय कला के इन स्तम्भ स्मारकों की प्रेरणा व पृष्ठभूमि मे वदिक यूप हो जो कि यज्ञ के स्मारक क रूप में स्थापित किये जाते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय सस्कृति म घट से निसृत कमल का प्रतीक के रूप मे प्रयोग अति प्राचीन है। यही कमल मौय स्तम्भों मे भी अकित हैं। इन स्तम्भों मे पशुओं का बठाया जाना भी प्रागवदिक ही है। वदिक यज्ञो की पशु बलि ने भी सम्भवत यहाँ प्रेरणा का काय किया है। बौद्धो ने इन्हें यक्ष-यक्षिणी क रूप मे स्वीकार किया है। हैवेल न इनका अकन भारतीय आदश परम्परा एव भावना क अनुरूप ही स्वीकार किया है।

मौय कला के इन स्मारको क अध्ययन क अनन्तर हम इस निष्कप पर सहज ही पहुचते हैं कि मौय कला का क्रमिक किन्तु तेजो से विकास हुआ है। भखरा स्तम्भ लोरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ, सारनाथ का स्तम्भ क्रमिक विकास के सूचक हैं। यह भी सभव है कि मौय काल की अशोकीय राजकीय कलाकृतियों के निर्माण म विदेशी कलाकारों का सहयोग रहा हो किन्तु यक्ष-यक्षिणो की मूर्तियों का अकन सवथा भारतीय कलाकारों की प्रतिभा का परिणाम है। इन मूर्तियो क आधार पर हम सहज ही इस निष्कप पर पहुच सकत हैं कि मौय-काल में भारतीय सिल्पी प्रस्तर की मूर्तियों और भवनों क निर्माण में कुशल हो चुके थे। जिमर साहब ने ठीक ही लिखा है— अशोक के राज्य काल म महसा अद्भुत और तदनन्तर तोव्र गति स विकास प्राप्त कृतियो की पूणता एव अनुपम अवस्था स यह प्रत्यक्ष है कि शताब्दियों पूव

भारतीय धार्मिक-कला की वेगवती धारा तीव्रगति से प्रवाहित हो रही थी। जिन शिल्पियों ने साँची के महान् स्तूप के अत्यन्त अलंकृत तोरणों, भरहुत के ध्वस्त तथा अमरावती और बोधगया के मन्दिरों का निर्माण किया, उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक नये धर्म की विशिष्ट आवश्यकताओं और किम्वदन्तियों को प्रधानतः अपनी परम्परागत कला चेष्टाओं में आत्मसात् कर पाषाण पर उत्कीर्ण (रूपान्तरित) कर लिया है।[1]

भारतीय कला जो कि शताब्दियों से भारत में यत्र तत्र विभिन्न रूपों में जीवन श्वासें ले रही थी, दृढ़, महत्वाकांक्षी और कलाप्रेमी वैभवपूर्ण मौर्य सम्राटों के काल में अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेती है। यह भी सच है कि मौर्यकाल से पूर्व भारतीय कला में काष्ठ का प्रयोग होता था, परिणामतः शीघ्र नष्ट हो जाने वाले काष्ठ के स्मारक आज उपलब्ध नहीं हैं। एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय-संस्कृति समकालीन विश्व की संस्कृतियों से आदान प्रदान करती रही थी इसलिए एक-दूसरे देश की संस्कृति-सभ्यता-कला आदि का प्रभाव विभिन्न देशों की संस्कृति एवं कला में सहज ही खोजा जा सकता है। डा० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह ने इस तथ्य का बहुत ही प्रामाणिक विवेचन किया है। उनका कहना है कि—"बसाढ़ में पाई गई पंख युक्त स्त्री मूर्ति पर यूनानी और रोमन प्रभाव नहीं है, बल्कि सुमेरी प्रभाव मानना अधिक उपयुक्त होगा। प्राचीन सुमेरी मन्दिरों के द्वार पर द्वारपाल के रूप में काँसे या मिट्टी की बनी सिंह-मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती थी। एक चतुर्भुजाकार चौखटे (Abacus) पर बैठे हुए सिंह और उसके अयाल का चित्रण अशोक स्तम्भ के सिंह शिरोभाग से भिन्न नहीं है। प्राचीन सुमेर के 'इश्नुमा' नामक नगर राज्य के पूर्व राज्यकाल (Early dynastic period) की एक बेलन के आकार की मुहर पर हाथियों और गैंडे का चित्र उत्कीर्ण है, जो अशोक के समय की लोमश ऋषि गुहा (बराबर, गया) के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण हाथियों की याद दिलाता है। असीरिया की कला सुमेर और बेबीलोनिया की कला पर ही विकसित हुई।

---

[1] एच जिम्मर दि माइथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन

It is apparent however from the Sophistication the degree of perfection and the variety at the work that abruptly appears in the period of Ashoka and then rapidly increases that already in the earlier centuries the torrent of Indian religious art must have been flowing strong The craftsmen, who brought the elaborately decorated gates of the great Stupa of Sanchi and they now shattered Shrines of Bharhut, Bodh Gaya and Amaravati in the main translated into stone and skillfully adopted to the special requirements and special legends of the new sect the ancient motifs of their Traditional Crafts "

कला के अमर स्मारक साँची, भरहुत बुद्धगया का निर्माण हुआ है तथा शैलियों की दृष्टि से गान्धार शैली मथुरा शैली अमरावती शैली, तथा नागार्जुनी कोंडा मे अनेक शैलियो का विकास हुआ है। इन पाँचो शताब्दियो मे शुङ्ग एव सातवाहन राजा विशेष प्रसिद्ध हुए हैं। शुङ्ग काल (१८८ ई० पू०—३० ई०) मे साँची, भरहुत बुद्धगया का निर्माण एव अलकरण हुआ तथा शैलियों के विकास की दृष्टि से कुषाण सातवाहन युग (ई० से ३०० ई० तक) महत्वपूर्ण है। इन दोनो युगो की कला मे कुछ मौलिक अन्तर है उस मौलिक अन्तर का मूल्याकन हरिदत्त वेदालकार के शब्दों मे इस प्रकार द्रष्टव्य है— पहले काल मे बुद्ध की कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं बनी, उन्हे सर्वत्र चरण, छत्र पादुका धर्म चक्र आसन कमल या स्वस्तिक के सकेत से प्रकट किया गया। किन्तु दूसरे काल मे इनकी मूर्तियाँ खूब बनने लगी। दूसरी विशेषता यह है कि भरहुत साँची और बुद्ध गया के कलाकारो का विषय यद्यपि बौद्ध है और उसका उद्देश्य स्तूपो को अलकृत करना है किन्तु मूर्तियाँ धार्मिक न होकर यथार्थवादी प्राकृतिक और ऐन्द्रियिक हैं। इनमे धर्मतत्व की प्रधानता नहीं किन्तु लोक जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब है। यह कला बौद्ध धर्म से अनुप्राणित नही प्रत्युत उस समय प्रचलित लोक कला का बौद्ध धर्म की आवश्यकताओ के अनुसार बदला हुआ रूप है।[1] भरहुत के रेलिङ्ग (वेष्टनी) पर अंकित जातक कहानियाँ चित्रपट के समान हैं और सजीव कला की अनुपम अभिव्यक्ति हैं। आशय यह है कि इस युग की कला भारतीय कला के इतिहास मे महत्वपूर्ण है।

शुङ्ग काल की कला के सम्बन्ध मे विचार करते हुए उपाध्याय जी लिखते हैं कि शुङ्ग कला इस देश की सिन्धु सभ्यता के बाद पहली राष्ट्रीय कला थी। प्रतीक स्थिर हो गये रसात्मक सौन्दर्य के मान स्थिर कर लिये गए अनायास नहीं, सचेत रूप से। सौन्दर्य आवयवीय (अगागो का) न रहा। अशोक कालीन कला की प्राकृतिकता छोड दी गई। यथार्थ के अनुकरण मे कलावन्त विरत हुआ। उसकी मूर्तियाँ तनिक ठिगनी होने लगी सामने से कुछ चिपटी।[2] कोर कर मकलोभद्रिका मूर्ति बनाने की अपेक्षा अधिकतर मूर्तियाँ उभारकर छन्द परम्परा मे कथा प्रसग मे, अर्धचित्र शैली मे रूपायित होने लगी। वयक्तिकता सामाजिकता मे बदल गई। जातक आदि कथाएं पत्थरो पर उभर आईं व्यक्ति उन कथाओ के अग बन गये। यक्ष यक्षिणियो की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम लिखे होने पर भी वे अकेली न थीं, कथा परम्परा के अवयव थी। नग अपनी नई रुचिरता नई गतिमानता, नई आकृति वृद्धि के साथ जो सम्पदा अशोक के बाद मूर्ति क्षेत्र मे शुङ्ग काल मे रूपायित हुई वह सदियो अप्रतिम रही।[3]

---

[1] भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास पृ० १४७

[2] देखिये चित्रफलक संख्या १६

[3] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका पृ० ८३

मौर्योत्तर युग की इस कला म प्राधान्येन मूर्तिया का, गुहा मन्दिरो का तथा स्तूपो का निर्माण हुआ है इनके आधार पर ही इस युग की कला का मूल्याकन किया जा सकता है। भरहुत का प्रसिद्ध स्तूप जिसकी आधार शिला मौय युग म ही पड चुकी थी, जो कि मौय युग की कला का एक उत्कृष्ट नमूना माना गया है, जिसके तोरणो और झरोखो के अवशेष आज कलकत्ता म्यूजियम की शोभा वृद्धि कर रहे हैं, वह इस शु ग युग की कला का आदश है।[1] उसके एक तोरण पर यह उत्कीण है कि यह स्तूप शु गो क राज्य मे बना था। सांची के प्राचीन स्तूप के अनेक अश भी इसी काल मे बने। वहा के बडे स्तूप के दक्षिणी तोरण पर राजा सातकर्णि का नाम उत्कीण है।[2]

बोध गया के मन्दिर का अधिकाश भाग इस युग की कला का परिचायक है। बोध गया मन्दिर के एक अहिच्छत्र पर राजा इन्द्रमित्र और ब्रह्ममित्र की रानियो के नाम अंकित हैं। ये दोना ही शु गो के साम त थे। बलुआ प्रस्तर के घेरे पर अंकित इन नामो से ज्ञात होता है कि इन्होने इस मन्दिर के निर्माण म अपना योगदान किया था। इन्द्रमित्र एव ब्रह्ममित्र का समय ईसा पूव प्रथम शतक है। बोधगया मन्दिर का निर्माण कब हुआ, यह प्रश्न विवादास्पद होते हुए भी शुङ्ग काल की कृति के रूप म प्रसिद्ध है। अनेक विद्वानो न भरहुत और साची का कलाकृति के आधार पर तुलना करते हुए समय निणय का सफल प्रयास किया है। विद्वानो का निणय है कि बोधगया मन्दिर की रेलिङ्ग पर उत्कीण दृश्य भरहुत के बाद के है पर साची से पहले के हैं। इसलिए, बोधगया की रेलिङ्ग के अधिकतर भाग प्रथम सदी के पूर्वार्ध म बनाये गए होगे। रेलिंग की रचना भरहुत और सांची की रेलिंगो के समान ही थी। खडे स्तम्भो मे तीन समानान्तर शूचिया पसाइ गइ थी और इन पर पूण कमल या अध कमल के रूढात्मक चित्र उत्कीण किय गये थ। स्तम्भो के ऊपर उष्णीष थे। इन पर या स्तम्भो पर जातक दृश्य या यक्ष-यक्षिणिया की मूर्तिया उत्कीण की गई थी।"[3] कनिंघम महोदय क अनुसार वतमान बोधगया मन्दिर और उसका शिखर कुषाण कालीन है।[3] उनके इस मत का आधार—कुषाण सम्राट हुविष्क का एक सिक्का है जो कि मन्दिर के बज्रासन के समीप ही प्राप्त हुआ है। फाहियान के अनुसार भी बुद्ध के जन्मस्थान और बोधिवृक्ष म मन्दिर थे। किन्तु फाहियान के कथन से यह आशय कदापि सिद्ध नही होता कि वहाँ पर आधुनिक शिखर युक्त मन्दिर खडा था। कुम्हरार के उत्खनन स प्राप्त मिट्टी की चौखट पर बोधगया मन्दिर का चित्र देखकर स्पूनर[4] महोदय ने उसे दूसरी या तीसरी शता दी का बताया है, किन्तु

---

[1] साची एव भरहुत की कला का विस्तार से विवेचन मौय युग की कला तथा स्तूपों के प्रसग मे किया जा चुका है वहीं देखिए।

[2] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास पृ० ३०६

[3] भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ७७

[4] चित्रफलक स० २१

बरुआ महोदय इस चित्र को नकली उद्घोषित करते हैं। अनेक विद्वानों के मतों का पर्यालोचन करने के पश्चात् डा० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह ने लिखा है कि—

"कुषाण काल में ही यह शिखर युक्त मंदिर बना, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। इस समय तक बोधिवृक्ष के समीप वज्रासन पर साधारण चैत्य मंदिर ही बना था और इसकी रेलिंग ही अधिक प्रमुख थी। बोध गया मन्दिर की रेलिङ्ग के उष्णीष का बाहरी भाग कमल पुष्प से अलंकृत है। पर अन्दर से देखे जाने वाले भाग पर विचित्र प्रकार के लाक्षणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। पहले बताया जा चुका है कि सातवीं सदी में या इससे पहले ही बोध गया का शिखर युक्त मंदिर बन चुका था और पुरानी रेलिङ्ग को बढ़ाया गया था। ठोस पत्थरों (Granite Stone) का घेरा बनाया गया था जिसमें पुरानी रेलिङ्ग के बलुआ पत्थर के स्तम्भ और सूची भी मिला लिये गये थे।[1]

शुङ्ग काल की शिल्पकला की दृष्टि से बोधगया मंदिर की वेष्टन वेदिकाओं पर उत्कीर्ण चित्र द्रष्टव्य हैं। इस मंदिर पर सूर्य का चित्र धार्मिक सहिष्णुता का सूचक है। सूर्य का रथ चार घोड़ों वाला किन्तु रथ एक पहिये वाला है। रथ पर आसीन सूर्य के पीछे चक्र उत्कीर्ण है। सूर्य के दोनों ओर एक एक धनुषधारी नारी मूर्ति है सम्भवतः वे उषा और प्रत्यूषा हैं। यह चित्र सूर्य के द्वारा अन्धकार पक्षीय शक्तियों के विनाश का सूचक है।

बोधगया के मंदिर पर उत्कीर्ण अनाथपिण्डक का जेतवन खरीदने का चित्र भरहुत की अपेक्षा संक्षिप्त है जो कि इस बात का सूचक है कि बोधगया मंदिर के रेलिङ्ग रचना काल में जन-सामान्य जातक कथाओं से परिचित हो चुका था इसलिए भरहुत की भांति विस्तार की आवश्यकता नहीं थी।[2] बोधगया मन्दिर की वेष्टन वेदिका पर विभिन्न राशियों के चित्र उत्कीर्ण हैं प्रत्येक राशि अपने नामानुरूप भाव बोधक चित्रों से युक्त है। ज्योतिष प्रसिद्ध सत्ताइस नक्षत्र भी अंकित हैं।[3] प्राचीन पत्थर की वेष्टन वेदिका पर अश्व मुख तथा बौद्ध देवी श्रीमा का चित्र भी उत्कीर्ण है।[4] माँ देवी के चरण कमल परस्पर सटे हुए हैं। जानु भूमि से कुछ ऊपर है। वाम हस्त विकसित कमल कलिका को धारण किए हुए है। हाथियों से अभिषिक्त देवी मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं जो कि हिन्दू गज लक्ष्मी की प्रतिकृति हैं। बोधगया के मन्दिर की कला के दृश्य संक्षिप्त हैं, अतः नाटकीय हैं। कहानी कहने के कौशल से अधिक पात्रों की भाव भंगिमा पर और कहानी की नाटकीय भावना की अभिव्यक्ति पर ध्यान दिया गया है। कलात्मक दृष्टिकोण से यह भरहुत की कला से प्रगतिशील कदम है।[5]

---

[1] भारतीय कला को बिहार की देन पृ० ७८
[2] स्टेला क्रमरिश इण्डियन स्कल्पचर
[3] गया एण्ड बोध गया भाग २ पृ० ६३
[4] चित्रफलक सं० १८
[5] भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० ८४

बोध गया के मन्दिर के वेष्टन वेदिका स्तम्भो पर यक्षिणी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।[1] शालभंजिका, पुष्पभंजिका के चित्र भी अंकित हैं। शालभंजिका क्रीडा के चित्रों को देखकर फूगल महोदय ने लिखा है कि—

'यह एक अत्यन्त रोचक बात है कि इस तरह की क्रीडाएँ पूर्वी भारत की विशेषता रही है। इस तरह का क्रीडाएँ बौद्ध साहित्य में उल्लिखित शालभंजिका उत्सव से मिलती जुलती है। स्पष्टतया मगध और उसके पड़ोसी प्रान्त जो बौद्ध धर्म के क्रीडा स्थल रहे हैं इनका जन्मस्थान होंगे।'[2]

बोधगया के रेलिंग स्तम्भ पर आदमकद की यक्षिणी का उल्लेख किये बिना यह वर्णन अपूर्ण ही रह जायगा। यक्षिणी के दाहिने पैर के निकट बैठा हुआ यक्ष, यक्षिणी को वृक्ष के ऊपर चढ़ने के लिए सहारा दे रहा है और यक्षिणी वृक्ष की डाल को पकड़कर ऊपर चढ़ने के लिए प्रयत्नशील है।[3] बोधगया के रेलिंग पर शारीरिक सौन्दर्य के चित्रण के साथ ही शिल्पियों ने जीवन के प्रेममय मिथुनों का भी सुन्दर अंकन किया है। ये युगल परस्पर प्रेमालिंगन करते हुए अंकित हैं। बोध गया की नारी मूर्तियाँ और प्रेमालाप के दृश्य पूर्णतः प्रणय व्यापार तथा विलासिता के सूचक हैं।[4] वास्तविक जीवन का यह यथार्थ चित्रण शुंग कलाकारों की अपनी विशेषता है। शुंग कलाकारों द्वारा बोधगया की रेलिंग पर अंकित नारी और वृक्षों के चित्रों को देखकर हैवेल महोदय ने लिखा है कि यहाँ पर जैसी ताजगी, कोमलता, शिल्प चातुर्य और अलंकृत सौंदर्य की अभिव्यंजना हुई, वह पाश्चात्य कला में असंभव है।[5]

शुंगकालीन कला के अनेक ध्वंसावशेषों की प्राप्ति बिहार में हुई है। लौरिया से आधा मील दक्षिण की ओर नंदनगढ़ का भग्नावशेष है। यहाँ छोटे मोटे अनेक टीले हैं, जिनकी खुदाई से ३' ५" ऊँची ईंटों की दीवार का पता चला है। इस गोल दीवार का व्यास २०८ फीट है। इस दीवाल के निकट ही अनेक मिट्टी की बनी मूर्तियाँ तथा मनके और ताँबे के सिक्के मिले हैं, जिनमें कुषाण सम्राट हुविष्क का एक सिक्का भी मिला है। इस सिक्के के द्वारा यह प्रमाणित है कि यह स्मारक ई० पू० प्रथम द्वितीय शतक का है। टीले के निचले भाग के उत्खनन पर एक तारा के

[1] चित्रफलक सं० १९

[2] इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १८९

'It is interesting that these games are said to be peculiar to Eastern India, as this tallies with the mention of the Salabhanjka festival in Buddhism and neighbouring countries that may be taken to have been its home"

[3] चित्रफलक सं० १८

[4] चित्रफलक सं० २०

[5] ए हैण्डबुक आफ इण्डियन आर्ट, पृ० ३७

आकार का भवन भी मिला है। अनेक कोण वाले इस भवन की मुख्य चार भुजायें थी और प्रत्येक १०४ फीट लम्बी थी। न न्नमट-स्तूप के प्रांम महल चबूतरे हैं। इनमें कई पर प्रदक्षिणा पथ भी बने हैं। सबसे नीचे का चबूतरा ३२ फीट चौड़ा है और सबसे ऊपर का १४ फीट चौड़ा। यह सुण्डाकार स्तूप पूर्व एशिया का प्राचीन तम आदर्श है।

गुप्तकालीन अनेक गुहा मन्दिर उड़ीसा और महाराष्ट्र में भी मिलते हैं। उड़ीसा में इन्हें 'गुम्फा' तथा महाराष्ट्र में इन्हें लेण कहते हैं। पर्वतों को काटकर कमरे, विहार, मठ तथा चैत्य निर्माण की कला यद्यपि प्राचीन है किन्तु भारत में मौर्यकाल तथा उसके अनन्तर ही इस दिशा में विशेष प्रगति होती है। बाहर से देखने पर ये पर्वत लगते हैं, किन्तु द्वार से भीतर जाने पर विशाल भवन का आनन्द इन गुफाओं विहारों और मठों में मिलता है। उड़ीसा के ये गुहा मन्दिर जैनों के हैं। 'इनमें हाथी गुफा सबसे प्रसिद्ध है वहीं कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख पाया गया है। हाथीगुम्फा के अतिरिक्त मचापुरी गुम्फा, रानी गुम्फा गणेश गुम्फा जय विजय गुम्फा अलकापुरी गुम्फा आदि और भी कितने ही गुहा मन्दिर उड़ीसा में पाये गये हैं। मचापुरी गुम्फा में खारवेल की रानी का तथा राजा वक्रदेव का लेख पाया गया है। यह सम्भवतः खारवेल का कोई वंशज था।'[1] इन गुफाओं के सम्बन्ध में जैनियों के यहाँ लिखित वर्णन तथा मूर्तियों (स्टेच्यूज) के रूप में रिकार्डस गुफाओं में मिलते हैं। इन गुफाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। खण्डगिरि पर अनन्त गुफा उदयगिरि पर रानी गुफा, गणेश गुफा, जय विजय हाथी गुफा, मचागिरि गुफा है। हाथी गुफा तथा मचापुरी गुफा की अपनी एक विशेषता यह है कि इनका लिखित वर्णन भी इनमें मिलता है। पं० भगवान लाल इन्द्राजी के अनुसार यह लेख मौर्य युग के १६५ वें वर्ष अर्थात् १५७ ई० पू० के लगभग लिखा गया होगा। मचापुरी गुफा के प्रारम्भिक लेखकों ने इसे वकुण्ठ या पातालपुरी कहा था। इसकी दो मंजिल हैं। नीचे का मंजिल में स्तम्भ युक्त बरामदा कमरों सहित है। ऊपर की मंजिल की रूपरेखा यही है किन्तु कोई कमरा नहीं है। ऊपर की मंजिल में खारवेल की रानी के लेख अंकित हैं। नीचे की मंजिल में लघु लेख हैं जिनमें लिखा गया है कि मुख्य एवं बगल के कमरे खारवेल के परवर्ती वक्रदेव के द्वारा बनवाये गये हैं। हाथी गुफा के पश्चात् प्राचीनतम गुफा मचापुरी गुफा ही है। यहाँ की कला निम्न कोटि की है पर प्लास्टिक कला की दृष्टि से भरहुत से श्रेष्ठ है। यहाँ की कला का विकास पहले एवं स्वतंत्र रूप में हुआ था।

अनन्त गुफा एक मंजिल की है, किन्तु मचापुरी के समान ही है। द्वार मार्गों पर अलंकृत महराबें हैं। एक चित्र में लक्ष्मी कमल पर खड़ी हैं दोनों ओर हाथी हैं। दूसरे स्थान पर सूर्य देवता का चार घोड़े वाला रथ है। चन्द्र एवं तारे भी बने हैं।

---

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३०६

तीसरे म हाथी, चौथे म वृष है। अयत्र प्रार्थना की मुद्रा अंकित है। महराबो के सामने का भाग भी अलङ्कृत है इन पर पशु-पक्षी तीन सिर वाले साप तथा उडते हुए गधर्व बने ह। इस गुफा का रचना काल ई० पू० प्रथम शतक के मध्य है।

रानी गुफा उडीसा की गुफाओ म सर्वाधिक अलकृत है। यह दो मजिल की है। दोनो क साथ एक एक बरामदा है। नीचे की मजिल ४३ फीट लम्बी है। उसम तीन कमरे हैं। ऊपर की मजिल २० फीट लम्बी है, ४ कमरे ह। कमरो म जन कथाए अंकित ह। दोनो मजिलो की शली म महान् अन्तर है। आकृतियां स्वाभाविक मुद्रा म हैं, वे तेजपूर्ण एव प्रभावात्मक हैं। नीचे की मजिल की कला निम्न स्तर की है। चित्र भद्दे एव प्रारम्भिक प्रतीत होते हैं। सिर के चित्र ठीक नही हैं। इस समय प्लास्टिक कला अपने प्रारम्भिक चरण म थी, अत ये रचनायें उत्कृष्ट कोटि की नही हैं। मथापुरी की तरह यहाँ भी दोनो मजिल विभिन्न काल म बनी है। इस गुफा पर पश्चिमोत्तर भारत की कला का प्रभाव है। एक स्थान पर यवन विजेता का चित्र है। शेर का चित्र भी पश्चिमी एशिया की परम्परानुसार बना है। नीचे की मजिल म रक्षकों के चित्र भारतीय परम्परानुरूप हैं। इसकी ऊपरी मजिल का कला तथा मथुरा क जन स्मारको की कला का सादृश्य विचारणीय है जहाँ कि इस समय पश्चिमोत्तर की कला विकसित हो रही थी।

गणेश गुफा म दो कमरे हैं। इस गुफा की कला तथा अलकरण रानी गुफा की तुलना म हेय कोटि का हैं। जय विजय गुफा की कला भी साधारण ही है। इसी प्रकार अलकापुरी गुफा की कला भी श्रेष्ठ नही है। सरगुजा जिले म रामगढ की पहाड़ियो म जोगीमारा गुफा है। इस गुफा की दीवारें स्टक्चरल तथा राकबट दोनो ही प्रकार से fresco के द्वारा अलकृत है। इस गुफा म प्रयुक्त रग उड चुका है, इसम स्थान स्थान पर धब्बे पडे हुए हैं, किन्तु पक्तियां अवश्य शेष है। अकुशल कलाकारो ने इन पर दुबारा चित्रकारी करने का असफल प्रयत्न किया है। इस पर मगर राक्षस घोडे, रथ तथा अनेक प्रकार की आकृतियाँ भी अंकित हैं। डा० ब्लाख ने इस गुफा को ई० पू० तृतीय शतक की रचना माना है, किन्तु यह रचना ई० पू० प्रथम शतक की है। सत्यकेतु विद्यालकार इसे वरुण देवता का मन्दिर मानते हैं।

चैत्य

च य शब्द ची धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ चयन करना है। इसी धातु से चित्य शब्द भी बना है जिसका अर्थ है वेदी। किन्तु कुछ समय के पश्चात् इसका अर्थ महान् व्यक्तियों के स्मारक क रूप में रूपान्तरित हुआ है। चैत्य का सम्बध प्रारम्भ में शव समाधि से रहा है। एशिया माइनर के दक्षिणी समुद्रतट पर लीडिया के किनारा और न थस म जो पाषाणमय शव-समाधियाँ बनी हैं, वे भारतीय चैत्यो स बहुत मिलती ह।' किन्तु आजकल इस शब्द का अर्थ परिवर्तित हो चुका है। आज यह सघबद्ध पूजा गृह के लिए है जिसम प्रतीक स्तूप अथवा बुद्ध की प्रतिमा आदि की प्रतिष्ठा होती है। ये मध्य म स्तम्भो की दो पक्तियों स विभक्त रहते ह। इस चैत्य म

गर्भगृह, मध्य में ठोस स्तूप आदि भी रहते हैं। यह सम्पूर्ण चैत्य एक प्रासाद का रूप ले लेता है जो कि पर्वतों की चट्टानों को काटकर बनाया जाता है लकड़ी या ईंटों से भी इसका निर्माण होता है। अधिकांश पर्वतों में का भाग गोल लम्बा ऊँची गुफा के समान होते हैं। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा भूमि होती थी। प्राचीन विहार और चैत्यों में भाजा के अतिरिक्त कहीं मूर्तियाँ नहीं हैं।

पर्शिया में चैत्य निर्माण ई० पू० षष्ठ शतक में होता था। पर्शिया से ई० पू० तृतीय शतक में यह परम्परा भारत में आई। इसी के अनुरूप मौर्यकाल में बराबर पहाड़ियों (बिहार) पर चैत्य-गृहों का निर्माण हुआ है। अशोक कालीन चैत्य गृह लघु और सादे होते थे किन्तु कभी कभी बाहर की ओर कुछ अलंकृत भी कर दिया जाता था।

पश्चिमी भारत के सुन्दरतम चैत्य भाजा, कोण्डाने, पीतलखोरा, अजन्ता, बिदसा, नासिक और कार्ली में हैं। सामान्य रूप से इन सभी चैत्यों की रचना एक सी समान है। इन चैत्यों में कार्ली चैत्य सुन्दरतम तथा सर्वश्रेष्ठ है। यह कार्ली चैत्य सबसे बड़ा सर्वाधिक सुरक्षित तथा पूर्ण विकसित शैली का है। इसका हाल १२४ फीट ३ इंच लम्बा ४५ फीट ३ इंच चौड़ा है। Apce के पास चैत्य के मध्य Nave और गलरी के मध्य में एक ही शैली के ३७ स्तम्भ खड़े हैं जो कि गुम्बद Apce की गोलाई में चित्र रहित और अष्टकोणीय आकृति के हैं। शेष १५ स्तम्भ हाल या वक्ष के दोनों ओर सतह में मोटे सिर पर घण्टाकृति वाले तथा चोटी पर घुटने टेके हुए हाथी व नरों के चित्रों से सुसज्जित हैं जिन पर सवार बैठे हैं या पास में खड़े हुए हैं। इन चित्रों के ऊपर ४५ फीट ऊंचा गुम्बद है जो अधगोलाकार छत पर बनाया गया है। Soffit के नीचे नसें उभरी हुई हैं जो प्रस्तर में उत्कीर्ण न होकर लकड़ी की बनी हैं।[1]

बड़े घेरे (Apsidal) के अन्त में गुम्बज Vault समाप्त हो जाता है तथा वहाँ पर गुम्बज की अधगोलाकृति है। उसके नीचे एक स्तूप है जो कि प्रसिद्ध स्तूपों जैसी आकृति का है जिस पर एक लकड़ी की छतरी बनी है। हाल के दरवाजे पर एक एक काष्ठ का पर्दा है जो कि तीन दरवाजों के बाद है तथा एक रास्ता हॉल की ओर जाता है। शेष दो भाग गलेरी की ओर जाते हैं। यह पर्दा खम्बे (Pillars) की छत तक ऊंचा है तथा खुला हुआ भाग घोड़े के खुर जैसी आकृति का खिड़की से आवृत्त है। भगवतशरण उपाध्याय ने इस गवाक्ष को पीपलपत्र की आकृति का माना है। इस गवाक्ष के द्वारा ही हाल में प्रकाश पहुंचता है तथा स्तूप व Nave दोनों पर

---

[1] दि कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ६३५ ३६
'At the apsidal end of the hall the vault terminates in a semidome beneath which and hewn like the rest of the hall out of the solid rock is a स्तूप of familiar shape with a crowning umbrella of wood above

अच्छा प्रकाश है किन्तु गलेरी म अपेक्षाकृत अधेरा है। हाल के मुख्य द्वार के समक्ष एक बरसाती (Porch) बनी हुई है जो १५ फीट लम्बी १८ फीट ऊँची है। उसकी चौडाई भी ऊँचाई के बराबर है तथा दो पत्तियाँ (Tnrs) अष्टकोणाकृति स्तम्भो से निर्मित हैं। इसके बीच म एक प्रस्तर की शिला है जिसम लकडी की उत्कीर्ण चद्दरें हैं जो कि मुख्य द्वार के फसाद (Facade) तक लम्बी चली गई हैं।[1]

यह सु दरतम चैत्य गृह लगभग ई० पू० प्रथम शतक का है। इसका निर्माण काय शायद अशोक के काल म ही प्रारम्भ हो गया था। आज भी इस चैत्य का अष्टकोणाकृति स्तम्भ शेष है। यह स्तम्भ आकृति म अशोक के, इरानी कला स प्रभावित स्तम्भो स मिलता है। सामने पहले मण्डप युक्त तीन द्वारो थी। हाल म खुलने वाला मध्यद्वार सघ के सदस्यो के लिए था और शेष दोनो गृहस्थ उपासको के लिए थे, जिसस व बायें द्वार से प्रवेश कर बगैर सघ के काय म विघ्न डाल चैत्य, स्तूप या प्रतीक की प्रदक्षिणा कर दाहिने द्वार से बाहर निकल जाय। इस प्रकार के तीन द्वार प्राय सभी चैत्य गुहो म होते थे।"

दक्षिण के गुहा चैत्यो म भाजा का चैत्य प्राचीनतम है। यह चैत्य एक ठोस चट्टान को खोखला कर बनाया गया है। एक प्रकार का हाल है। इस हाल की दीवारो क पास अठपहलू खम्भो की पक्तिया हैं जिन पर टेढी शहतीरें सधी हुई ह। हाल क अन्तिम भाग म एक स्तूप ह वह भी चट्टान को काट छाँट कर बनाया गया है।

भाजा कोडाने के हाल ६० फीट लम्बे हैं, अजन्ता क प्रारम्भिक हाल ९६ फीट, नासिक क ४५ फीट लम्बे हैं। भाजा कोडान पीतलखोरा अजन्ता म द्वार पर पर्दा लकडी का है। अजन्ता क हाल क स्तम्भो पर कोई चित्रकारी नहीं है नीचे का आधार स्थल भी नही है पीतलखोरा की तरह यहाँ भी किनारे का आर की छत अलकृत है, ऊपर लकडी का प्रयोग नहीं है। सत्यकेतु विद्यालकार इनके सम्बन्ध म लिखते हैं कि, 'महाराष्ट्र के गुहा मन्दिरो म अजन्ता का गुफाएँ सबस प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमे भी गुहा नम्बर १० सबस पुरानी समझी जाती है। अजन्ता के य गुहामन्दिर भारतीय वास्तुकला और चित्रकला क अनुपम उदाहरण हैं। पहाडो को काटकर बनाए गए विशाल गुहा मन्दिरो की दीवारो पर इतने सुन्दर रगीन चित्र बनाए गए हैं कि हजारो साल बीत जाने पर भी वे अपने आकर्षण म जरा भी कम नही हुए। अजन्ता की इन प्रसिद्ध गुफाओ का निर्माण इसी काल म प्रारम्भ हुआ था।'[2] समय की दृष्टि से इन चैत्य गुफाओ का सर जान मार्शल ने क्रम निर्धारित किया है। उनके अनुसार सबस प्राचीन भाजा, कोडाने पीपलखोरा, अजन्ता की दसवी गुफा है। इनके बाद बेदसा का चैत्य बना। इसके बाद अजन्ता की नवम गुफा नासिक का चैत्य और

---

[1] देखिये चित्रफलक सख्या १५

[2] भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३०६

सबसे अन्त में कार्ली का चैत्य बना है। नासिक के चैत्य का समय वही है जो उसके समीपस्थ विहार का है। यह विहार आन्ध्र नरेश कृष्ण के समय द्वितीय शती ई० पू० के प्रारम्भ में बनाया गया था। यहां की चार प्राचीनतम गुफाएं तृतीय शतक ई० पू० के अन्त की हैं। बेदसा की द्वितीय शती ई० पू० की है नासिक की ई० पू० १६० तथा कार्ली की गुफा ८० ई० पू० की हैं। कार्ली के एक लेख के अनुसार इसे वजयन्ती के सेठ भूतपाल ने बनवाया था। यह क्षत्रप नहपाल के दामाद उषवदात का समकालीन था। नासिक के एक गुहा मंदिर में एक लेख के अनुसार यह सातवाहन कुल के राजा कण्ह के समय उसके महापात्र ने बनवाया था। राजा कण्ह सातवाहन वंश के प्रतिष्ठाता सिमुक का भाई था। इसका काल ई० पू० तृतीय शतक है। नासिक के चैत्य में द्वारभाग यमल की डिजायन द्वारपालों की आकृति आदि सांची के तोरण की समकालीनता को सूचित करते हैं। सम्भवतः नासिक के चैत्य भरहुत के एक शताब्दी बाद के हैं। फर्गुसन आदि ने नासिक के चैत्य का ई० पू० प्रथम शतक का माना है, जबकि सत्यकेतु विद्यालंकार इसका समय ई० पू० तृतीय शतक मानते हैं।

इसी काल का रामगढ़ में सीताबेंगा नामक स्थान पर एक गुहा मन्दिर प्राप्त हुआ है। इस गुहा मन्दिर को सत्यकेतु विद्यालंकार प्रेक्षागार मानते हैं क्योंकि उसकी दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छन्द खुदा हुआ है। इस काल में अन्य अनेक स्थानों पर गुहा मन्दिर प्राप्त हुए हैं जो कि तात्कालिक कला की विशेषता के परिचायक है।

विहार

स्तूप और चैत्य गृह की भांति विहार भी बौद्ध जीवन के प्रधान अंग थे। वास्तुकला की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी तीनों की अपनी अपनी विशेषताएं थी। विहार वह स्थान था, जहां बौद्ध संघ रहता था। दूसरे शब्दों में विहार एक मठ था, जहां एक आचार्य का अपना अनुशासन चला करता था। प्रायः बौद्ध चैत्यों और बौद्ध तीर्थों के साथ विहार अवश्य रहते थे। इसीलिए नासिक, अजन्ता और बेदसा आदि स्थानों पर विहार बने हुए थे। कुम्हरार के उत्खनन से अनेक गुप्त कालीन विहारों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ये विहार प्रारम्भिक अवस्था के सूचक हैं जबकि कुषाण कालीन विहार विकसित अवस्था के सूचक हैं। कुषाण कालीन विहारों के मध्य में एक चतुष्कोणाकार आंगन होता था और तीनों ओर कोठरियां की पंक्ति रहती थी जिसके सम्मुख एक बरामदा होता था। सामान्यतः सभी कोठरियाँ छोटी होती थी किन्तु कोने पर स्थित कोठरी का आकार कुछ बड़ा (१५'×८'६') होता था। एक अन्य विहार जो कुम्हरार की खुदाई में मिला है जिसमें १४ छोटे कमरे हैं और इनके सम्मुख चार बड़े हाल हैं जिन्हें दो छोटे छोटे कमरे अलग करते हैं। हालों के सामने एक लम्बा, किन्तु संकुचित गुप्त बरामदा है। ये गुप्त और

कुषाण कालीन भवन पक्की इटो से निर्मित हैं। इनसे सलग्न नालियाँ खडजे इटो से निर्मित हैं।

ईसा पूर्व प्रथम द्वितीय शतक के भरहुत के एक अर्धचित्र में श्रावस्ती के जेतवन के विहार में भिक्षुओं का अंकन है। फाह्यान ने इस विहार को आठ सौ वर्ष पश्चात् देखा था। फाह्यान के समय में इस विहार का परिवर्धन पर्याप्त मात्रा में हो चुका था, इसके भवन सात आठ मंजिल तक थे।

नासिक का गौतमी विहार हीनयान सम्प्रदाय का था। यह पर्वत को काटकर निर्मित है। आज भी उसी रूप में यह खडा है। यह विहार कार्ले के चैत्यगृह का समकालीन है। नासिक के विहार में भिक्षुओं के रहने के लिए छोटे छोटे कमरे बने हुए हैं। इस विहार में एक बडा कमरा ४६ फाट लम्बा और ४१ फीट चौडा है। कमरे में दीवारों से लगी हुई तीन ओर प्रस्तर की बेंचें हैं। हॉल का द्वार एक बरामदे में होकर था। बरामदे के सम्मुख ६ स्तम्भ हैं किन्तु इन पर कार्ले की भाँति देव मिथुन, गज वृषभ, सिंह आदि के चित्र नहीं है।

इसी के निकट ही नहपान विहार ईसा पूर्व प्रथम शतक का है। इस विहार के स्तम्भ त्रिकोण आधार और घट पर स्थित हैं। इनके शीर्ष घण्टाकृति के हैं। ऊपर पिरामिड है जिस पर वृषभ आरूढ है। ये वृषभ बिल्कुल कार्ले चैत्यगृह के समान हैं। बेडसा का पर्वत को काटकर बनाया गया विहार भी प्राचीन है, सम्भवत ई० पू० द्वितीय शतक का। इसकी छत गुम्बदाकार है। चैत्य के सबसे प्रदक्षिणा भूमि है, कोठरियों के द्वार चैत्यगृह में निकलते हैं।

भाजा का पर्वतीय विहार इन विहारों में श्रेष्ठ, दर्शनीय तथा प्रधान है। यह प्राचीनतम भी है। इसकी स्थिति पूना के निकट है। इसकी मूर्ति सम्पत्ति अमित है। इस विहार की रूपरेखा सामान्य है—बाहर बरामदा, उसके पीछे दो द्वार वाली एक भित्ति, ऊपर चैत्य गवाक्ष। भीतर की ओर एक बडा हाल—जिसमें भिक्षुओं के रहने के लिए दोनों ओर कोठरियाँ बनी हुई हैं। ऊपर की ओर पर्वत को काटकर छत का आकार पीपे के समान बना दिया गया है। इस विहार की दीवारों तथा स्तम्भों में अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, हॉल के अन्दर रक्षकों के चित्र तथा अन्य अनेक प्रकार के दृश्य अङ्कित हैं। इस विहार की मूर्तियाँ दृश्य आदि सभी सजीव तथा अनुपम हैं। इन्द्र, सूर्य आदि के उभार लिये हुए अङ्कन आकर्षक है।[1] नदसूर, पीतलखोरा के विहार भी इसी प्रकार के हैं उनके द्वार या स्तम्भों पर लक्ष्मी के चित्र हैं कुछ झुके हुए पशुओं के चित्र भी वहाँ देखे जा सकते हैं।

बौद्ध विहारों का वर्णन करते हुए चीनी यात्रियों ने इन्हें अनेक मंजिल का बताया है। फाह्यान तथा ह्वेनसांग दोनों ने ही लिखा है कि विहार छ छ आठ आठ

[1] कुमार स्वामी हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट

अट्टो तक बनते चले गये थे। विहार मठ के रूप में भिक्षुओं के आवास तो थे ही साथ ही उनके लिए विद्यालय का कार्य भी करते थे।[1] नालन्दा विहार का वर्णन करते हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है, "भिक्षुओं का प्रत्येक आवास (विहार) चार मंजिला था। संघ के हाल के स्तम्भों पर देव मूर्तियाँ बनी थी और उसकी छतियों में इन्द्र धनुष के सातों रंग विद्यमान थे। सर्वत्र अर्धचित्र उत्कीर्ण थे और चौखटों का सौन्दर्य अकथनीय था। भीतर के रंग परस्पर मिलकर अनेक अन्य रंग उत्पन्न करते थे जिससे विहार का सौन्दर्य सहस्रगुना बढ़ जाता था।"[2]

मूर्तियाँ एवं मिट्टी के खिलौने

गुप्त कालीन कला का परिचय मिट्टी की बनी मूर्तियों के द्वारा भी मिलता है। ये मिट्टी की मूर्तियाँ खिलौने (Terracotta) कहलाते हैं। जान मार्शल इसके सम्बन्ध में लिखते हैं कि ये मिट्टी के खिलौने मनुष्य और पशुओं की आकृतियों के हैं या तो गोलाकार हैं अथवा विभिन्न छोटी-मोटी मुद्राओं के चित्र हैं।

छोटे छोटे पशु और मानवाकृति मूर्तियों और खिलौनों के अध्ययन से भारतीय शिल्पकला का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मौर्य युग के ये खिलौने भद्दे और प्रारम्भिक अवस्था के सूचक हैं। द्वितीय एवं प्रथम शतक ई० पू० इस कला में महत्त्वपूर्ण उन्नति होती है। ईसवी सन् के प्रारम्भ से आगे टेराकोटा प्रस्तरों की अलकृति से किसी प्रकार कम नहीं है। पर इस समय मिट्टी पर मुद्रा से अंकन किया जाता था। टेराकोटा की इस परम्परा डिजायन आभूषणों में भी अपनाई गई थी। कुछ टेराकोटा भीटा स्थान से प्राप्त हुए हैं इसमें मिट्टी का गोलाकार अलंकृत तमगा (Medallion) प्राप्त हुआ है। इस पर दोनों ओर एक ही दृश्य उत्कीर्ण है। ऊपर की ओर दो मनुष्य कुछ दम रहे हैं नीचे चार घोड़ों का एक रथ सारथी और रथी के साथ चित्रित है। यह साँची के तोरण की अनुकृति या सर्वथा प्रतिकृति है।[3] कुल्लू के गुण्डला स्थान से ताँबे का लोटा प्राप्त हुआ है लोटे के चारों ओर चित्र बने हैं" Of about the same age but of much coarser execution is the copper lota form Gundla in Kulu "—बिहार में बुलन्दी

---

[1] भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका पृ० ३८

[2] वही पृ० ३९

[3] दि कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ६४३

A good illustration of the minute delicacy with which some of these dies were engraved is afforded by a terracotta medallion from Bhita (Pl XXIX 81) which might almost be a copy in miniature of the role of work on the Sanchi gateways so exactly does it resemble in style

[4] वही, पृ० ६४३

बाग से एक खड़ी नारी की मूर्ति मिली है, जिसका मुख मण्डल गोल, वामहस्त कटि पर और दक्षिण हस्त नीचे लटक रहा है। मस्तक पर फीता बंधा है आभूषणों में करधनी और बाजूबंद प्रधान है। बसाढ़ (वैशाली) में एक पत्रयुक्त खड़ी नारी प्रतिमा मिली है। हाथ में कमल तथा आकृत्या क्षीण तथा लम्बी है। पटना में एक गोलाकार मिट्टी के ठीकरे पर सूर्य मूर्ति उत्कीर्ण मिली है। यहीं पर एक फण युक्त नागदेवी का सिर भी मिला है। इसी प्रकार एक दम्पत्ति की मिथुन मूर्ति भी प्राप्त हुई है यह दम्पत्ति की मिथुन मूर्ति सुन्दरतम एवं आकर्षक है। पुरुष के वामभाग में स्त्री खड़ी है। पुरुष का एक हाथ स्त्री के आलिंगन को आतुर है, मुख स्त्री की ओर अवनत है। स्त्री के वक्षस्थल उभरे हुए, कमर क्षीण और शरीर में लचक है।

गांधार शैली

कुषाण कालीन कला के इतिहास में एक नवीन कला शैलियों का उदय हुआ। कुषाण राजा कनिष्क महायानी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। इस महायानी शाखा ने कला के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व देन दी है। कुषाण काल से पूर्व भगवान बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। इस काल तक प्रतीकों के माध्यम से बुद्ध का स्मरण किया जाता था। किन्तु कुषाण कालीन राजाओं की छत्र छाया में गांधार कला शैली का पर्याप्त विकास हुआ। गांधारप्रदेश में ग्रीक (यवन) कलाकारों ने जिस शैली को अपनाया, वही गांधार शैली है। इस शैली के शिल्पकार ग्रीक थे, किन्तु उनकी कला का आधार भारतीय विषय अभिप्राय और प्रतीक थे। इस प्रकार इस शैली का उदय समन्वय का परिणाम था। गांधार प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से ऐसा था जहाँ भारतीय चीनी, ईरानी और यूनानी तथा रोमन संस्कृतियों का संगम होता था। परिणामस्वरूप इस स्थान की कला पूर्व और पश्चिम के सम्मिश्रण के अतिरिक्त कुछ नहीं थी। डा० एन० लूनिया इस शैली के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखते हैं कि— गांधार कला निस्सन्देह यूनानी कला या निश्चयात्मक रूप से रोमन साम्राज्य और एशिया माइनर की हैलेनिस्टिक कला से प्रभावित हुई। तकनीकी दृष्टि से देखने पर गांधार कला का सम्बन्ध यूनानी कला से ही स्थापित होता है। इसलिए यह कला 'हिन्दू-यूनानी (Indo Greek) या ग्रीको रोमन कला (Greeco-Roman Art) के नाम से प्रख्यात है। गांधार देश में विकसित होने के कारण इस कला का नाम उस प्रदेश के अनुकूल 'गांधार शैली' पड़ा। कभी-कभी इसे 'ग्रीको-बुद्धिस्ट' अथवा इण्डो हैलेनिक' कला भी कहते हैं।'[1] डा० ए० स्मिथ भी इस कला को 'ग्रीको-बुद्धिस्ट' या इण्डो ग्रीक कहते हैं। इस शैली में निर्मित अनेक मूर्तियाँ गांधार प्रदेश से लेकर काबुल और खुतन तक में उपलब्ध हुई हैं। इस कला का सम्बन्ध सम्राट कनिष्क से जोड़ा जाता है। बस इस शैली में गांधार में ई० पू० द्वितीय शतक में ही मूर्तियों का निर्माण होने लगा था किन्तु ग्रीक कलाकारों द्वारा भारतीय [illegible]

---

[1] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० [illegible]

को लेकर मूर्तियों के निर्माण का काल कनिष्क का राज्य काल है। अतः हम इस शैली का प्रसार काल ईसवी सन् ५० से २०० ई० के मध्य रख सकते हैं। इस शैली में निर्मित मूर्तियों के प्रधानतः प्राप्ति स्थल युसुफजई इलाके के शहरे बहलोल जमालगढ़ी और तख्तेवाही आदि हैं।

यूनानी कलावंतों की शैली का भारतीय प्रतिभा ने भारतीय विषयों को मूर्तिमान करने में प्रयोग किया है। इस शैली का प्रयोग बौद्ध धर्म और भारतीय अभिप्रायों को मूर्त करने में किया गया है, इस शैली की महान् देन बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण है। इससे पूर्व जातक की कथाओं का अंकन होता था, यह बात सांची और भरहुत की पाषाण-वेष्टनियों पर अंकित कथा प्रसंगों से विदित होती है। इस समय भी बुद्ध के जीवन के चित्रण में प्रतीकों का ही सहारा लिया जाता था। बुद्ध जन्म के चित्रण के लिए कमल पुष्प या सद्य जात शिशु के चरण चिह्न चित्रित किए जाते थे। 'महाभिनिष्क्रमण' के चित्रण के लिए 'सवार रहित अश्व के पुनरावर्तन को प्रतीक बनाया जाता था। बोधि वृक्ष ज्ञान प्राप्ति का धर्मचक्र-प्रथम धर्मोपदेश का, निर्वाण का प्रतीक स्तूप आदि बने थे। ये समस्त प्रतीक सांची, भरहुत और अजन्ता तक में देखे जा सकते हैं। ये प्रतीक इतने लोकप्रिय थे कि 'सांची के तोरण में बोधि-वृक्ष ७६ बार और स्तूप का ३८ बार तथा धर्मचक्र का १० बार उपयोग किया गया है।" किन्तु इन प्रतीकों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध लोकप्रिय हो चुके थे, इसी लोकप्रियता ने उनकी मूर्ति के अंकन की तीव्र ललक कलाकारों में पैदा की फिर क्या था मथुरा और गांधार दोनों ही कलाओं में बुद्ध की मूर्ति का अंकन प्रारम्भ हो गया किन्तु एक बात और भी है कि गांधार में अंकित बुद्ध की मूर्ति का साम्य ग्रीक देवताओं से अधिक है भारतीय मानव से कम। सिर के झुकाव अंग विन्यास, वस्त्र विन्यास आदि सभी में यूनान की झलक अधिक है। मथुरा शैली में निर्मित बुद्ध की मूर्तियों में प्राचीनतम 'कटरा बुद्ध' की मूर्ति है। यह आज राष्ट्रीय संग्रहालय में रखी हुई है। गान्धार शैली के पूर्व युग में जातक कथाओं और बुद्ध सम्बन्धी अन्य कहानियों को पाषाण पर उत्कीर्ण तो किया जाता था परन्तु स्वयं बुद्ध की प्रतिमा का प्रादुर्भाव अभी तक न हुआ था। कला में बुद्ध की उपस्थिति पद चिह्न, बोधिवृक्ष, सिंह-आसन अथवा छत्र आदि लक्षणों से सूचित की जाती थी। परन्तु अब तथागत बुद्ध की मूर्ति शिल्पियों का प्रिय विषय बन गई थी। बुद्ध और बोधिसत्वों की सुन्दर प्रतिमाएं ध्यान-मुद्रा धर्म चक्र-मुद्रा अभय-मुद्रा वरद मुद्रा आदि में और बुद्ध की वर्तमान तथा पिछले जीवन की अनेक घटनायें एक प्रकार के काले पाषाण में अलौकिक ढंग से उत्कीर्ण की गई। बुद्ध का जीवन इस शैली को प्रेरणा देने वाला उद्गम था। यथार्थ में गांधार शैली तथागत बुद्ध के जीवन और कार्यों का सजीव व्याख्या है।'[1] इस प्रकार निर्माण शैली यूनानी अवश्य थी किन्तु आत्मा इस शैली की भारतीय ही

[1] भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास पृ० १८२

थी। इस शैली का सर्वांग प्रयोग बौद्ध विश्वासो की अभिव्यक्ति मे ही हुआ। गान्धार शैली के दो चार उदाहरणो को छोडकर कही भी यूनानी आदश, गाथा या यूनानी कला की अभिव्यक्ति नही होती है। इस प्रकार गान्धार शिल्पी के पास मूलत यूनानी हाथ होते हुए भी उसका हृदय भारतीय था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन कलाकारो ने निश्चय ही यूनानी मूर्तिकला की यथार्थता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यंजना का समन्वय करने का अद्भुत प्रयास किया है और इस काय म उन्हे पूण सफलता भी मिली है। भारत के अतिरिक्त अन्य अनेक बौद्ध देशों—चीन, जापान, कोरिया आदि म यह शैली अधिक प्रसिद्ध हुई थी।

इस शैली के उपकरणो पर विचार करते समय हम देखते हैं कि इस काल मे निर्मित समस्त मूर्तियां और दृश्य, पाषाण, महीन पीसे हुए चूने के और पकाई हुई मिट्टी से बनाये गये हैं मूर्ति या मिट्टी से निर्मित दृश्य या खिलौनो को स्वर्णिम रंग से रंगकर अधिक सुन्दर बनाया जाता था। "इस शैली के जो नमूने सुरक्षित हैं वे तो पाषाण के हैं, परन्तु तक्षशिला म उत्खनन कायकर्त्ताओ ने, पाषाण प्रतिमाओं के अतिरिक्त चून मसाले की अनेक और पकाई हुइ मिट्टी की कुछ मूर्तियां प्राप्त की है।"[१] इस शैली की अधिकाश वस्तुये तक्षशिला, पाकिस्तान के उत्तर पश्चिमी प्रदेश तथा अफगानिस्तान के अनेक प्राचीन स्थानो से उपलब्ध हुइ। इस शैली में निर्मित मूर्तियां बौद्ध स्थानों से प्राप्त हुइ। इस शैली में निर्मित अभी तक कोई ऐसी मूर्ति नही मिली है, जो ब्राह्मण अथवा जैन धम की अभिव्यक्ति हो, अपितु बौद्ध धम के अतगत भी 'शाक्यमुनि गौतम प्रव्रजित बुद्ध इस शैली और कला क्षेत्र के प्रधान नायक हैं। उन्ही का जीवन, उन्हीं की आचरित घटनायें इसमें विशेषत' और के प्रत रूपायित हुई हैं। बुद्ध की मूर्तियो की प्रधानता के अतिरिक्त इस शैली को बुद्ध की पहली मूर्ति कोरने का भी श्रेय है। इससे पहले की भारतीय परम्परा शैली में, भारतीय तक्षक द्वारा कोई बुद्ध मूर्ति उपलब्ध नही। लाहौर संग्रहालय की खडी बोधिसत्व मूर्ति अद्भुत सुन्दर है। शहरे बहलोल में मिली कुबेर और हारीति की संयुक्त मूर्ति भी दर्शनीय है। सिक्री की खडी हारीति दोनो कधों पर एक-एक बालक धारण किये मातृ गौरव की असामान्य प्रतिमा है। इन्द्रशैल गुहा मे समाधिस्थ बुद्ध शान्त की प्रतिमा है और प्रसिद्ध तपस्वी गौतम की कायिक कृशता तप के फल को मूर्त्त करती है। बर्लिन संग्रहालय की ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शान्तमुद्रा के लिए विशेष ख्यातिलब्ध हुई। लाहौर संग्रहालय को सिंहासनस्थ खड्गधारी कुबेर की ऊँची मूर्ति भी इस यवन भारतीय कला की अभिराम सन्धि प्रस्तुत करती है। इनके अर्धचित्रो (रिलीफ) के उभार और प्रगति में भी असाधारण बल है। इस प्रकार की हजारो लाखो मूर्तियां और पट्टिकाएं बुद्ध के जीवन से आलोकित प्रस्तुत हुइ।"[२]

---

१ भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, पृ० १८२

२ उपाध्याय भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ० ९३ ९४

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम गांधार शैली की विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करेंगे—

१ गान्धार शैली, शैली की दृष्टि से विदेशी होते हुए भी इसकी आत्मा भारतीय है। इस शैली का प्रमुख केन्द्र विषय भगवान् बुद्ध तथा बोधिसत्व हैं।

२ गांधार शैली की आत्मा भारतीय होते हुए भी इस पर यूनानी (Hellenistic) प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसीलिए गौतम बुद्ध की अधिकांश मूर्तियाँ यूनानी देवता अपोलो (Appolo) तथा हरक्यूलिस (Hercules) से साम्य रखती हैं। बुद्ध के वस्त्र मुख की आकृति ग्रीक या हैलिनिस्टिक हैं। यहाँ तक कि एक मूर्ति में गौतम बुद्ध को प्रसिद्ध यूनानी वृक्ष एक वृक्ष की पत्तियों के मध्य सिंहासनारूढ़ दिखाया है।

३ गांधार शैली में निर्मित मूर्तियाँ भूरे रंग के प्रस्तर से निर्मित है। कुछ मूर्तियाँ काले स्लेटी पत्थर की भी हैं।

४ गांधार शैली की एक विशेषता यह भी है कि इसमें मानव शरीर का यथार्थ अंकन है शरीर की मांस-पेशियों के उतार-चढ़ाव बिल्कुल स्पष्ट हैं शरीर के अंगों का सूक्ष्म अंकन है जबकि भारतीय शैली में शारीरिक रेखाओं का गोलाकार अंकन किया जाता है।

५ गांधार-कला की परिधान-शैली विशिष्ट है मोटे वस्त्रों पर सलवटों का सूक्ष्म अंकन है जबकि मथुरा शैली में शरीर का नग्न-प्रदर्शन है, शरीर के प्रत्येक उभार को मुक्त किया गया है।

६ गांधार शैली आभूषणों का प्रचुर प्रयोग करती है। बोधिसत्वों की मूर्तियाँ आभूषणों से इतना अधिक अलंकृत है कि एक बौद्ध भिक्षु की अपेक्षा वे यूनानी राजाओं की मूर्तियाँ बन जाती है। अनुपम नक्काशी प्रचुर अलंकरण और प्रतीकों की भी इस शैली में अधिकता है। गांधार कला में प्रभामण्डल की रचना की जाती है परवर्ती भारतीय कला में भी प्रभामण्डल का निर्माण होता रहा है। प्रभामण्डल की रचना भारतीय कला को गांधार कला की एक विशिष्ट देन है।

७ मूर्तियों में बना प्रभाचक्र (Halow), साज सज्जा, अलंकरण से रहित है जबकि मथुरा शैली में इसे अलंकृत किया गया है।

गांधार शैली कला की उत्कृष्टता की सूचक है इसकी शैली एवं सामग्री का समन्वय इसके विकास का कारण है। विदेशी विद्वान् इस शैली को भारत की श्रेष्ठतम शैली मानते हैं किंतु भारतीय कला के आलोचक इस मत को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। वे इस शैली को अनुकृति की विडम्बना मात्र अथवा एक महान पतनोन्मुख कला की लचर प्रतिनिधि घोषित करते हुए इसे मौलिकता से रहित, हेय कोटि की कला कहते हैं। डा० नीहार रंजन रे, कुमार स्वामी एवं पर्सी ब्राउन इस शैली में कला एवं सत्य का अभाव प्राप्त करते हैं। प्रोफेसर आनन्दकुमार स्वामी ने लिखा

है कि "पश्चिमी रूपों का समस्त परवर्ती भारतीय तथा चीनी बौद्ध कला पर प्रभाव सुस्पष्ट रूप से खोजा जा सकता है परन्तु गान्धार की वास्तविक कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है क्योंकि बोधिसत्वों की सन्तोषपूर्ण अभिव्यक्ति और आडम्बरपूर्ण वेश भूषा तथा बुद्ध की स्त्रैण और निर्जीव मुद्रायें बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिकता को व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ हैं।"[1]

इसी प्रकार डा० नीहार रंजन रे ने इन गान्धार मूर्तियों में वास्तविकता का अभाव अनुभव करते हुए लिखा है कि इन मूर्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि ये किसी सिद्धहस्त कलाकार की कृति न होकर मशीन से निर्मित हैं।[2]

पर्सी ब्राउन के अनुसार गान्धार शैली के मूर्तिकार सामान्य स्तर के कलाकार थे, उनमें कलात्मक रुचि का अभाव था। इसीलिए भारतीय मथुरा शैली को यह कला प्रभावित न कर सकी, परिणामतः उत्तर भारत की अपेक्षा अन्य देशों में पल्लवित तथा लोकप्रिय हुई। भारत इसका प्रधान क्षेत्र न बन सका।

मथुरा-शैली

मथुरा प्राचीन काल से ही भारत की प्रसिद्ध नगरी रही है, मथुरा महातीर्थ, व्यापारिक केन्द्र तथा कुषाणों की राजधानी होने के कारण ईसा की प्रथम शताब्दी से ही कला का एक महान् केन्द्र था। शुंगकाल में ही मथुरा में भरहुत की लोकव्यापिनी कला, साँची का विशिष्ट शैली दोनों ही साथ साथ चल रही थीं। कुषाण काल में आकर दोनों ही शैलियाँ एक हो गई और प्राचीनकाल का चपटापन दूर हो गया, किन्तु भरहुत के लेख्य विषय तथा अलंकार प्रियता यहाँ बनी रही। मथुरा से इस काल की असंख्य मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में विविधता है। ये समस्त मूर्तियाँ

---

[1] बुद्ध एण्ड दि गौस्पिल आफ बुद्धिज्म—आनन्द कुमार स्वामी, पृ० ३२६

The influence of the western forms on all later Indian and Chinese Buddhist art is clearly traceable, but the actual art of Gandhara gives the impression of profound insincerity for the complanceat expression and some what foffish costume of the Buddhsutras, and the effeminate and listless gesture of the Buddha figures, but faintl express the spiritual energy of Buddhist thought'

[2] दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ५१६

They seem to have been turn-d out in large numb-rs from work shops established for the purpose, almost in a mechanical manner as it were This explains why inspite of there depicting the entire Buddhist legendary and historical cycle in all its minutest details the reliefs appear to be mechanical and without any character bereft of any emotional sympathy or spontaneity, and locking in sincerity"

सफेद चित्ती वाले लाल रवादार पत्थर की हैं। इस काल की एक प्रतिनिधि मूर्ति का परिचय यहाँ अपेक्षित है। यह मूर्ति भारतीय कला का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यह चित्तीदार लाल प्रस्तर की एक नारी मूर्ति है। इस नारी मूर्ति के पीछे एक ३८३" ऊँचा स्तम्भ है। नारी मूर्ति का मुखमण्डल शान्त स्मित एवं गम्भीर है, प्रसन्नता फूटी पड़ रही है। नेत्र विकसित हैं। अंग प्रत्यंग स्वाभाविक एवं सुपुष्ट हैं। दक्षिण कर में शृंगार है, वाम कर में पिटारी है जिसमें से पुष्पमाला का कुछ अंश बाहर दीख रहा है। सम्भवतः यह एक प्रसाधिका की मूर्ति है। मूर्ति के पीछे के स्तम्भ पर चार सिंह नारियाँ बनी हैं। ऊपर एक कटोरा बना है। सम्भवतः यह अलंकरण मूर्ति है।

मथुरा शैली का अध्ययन पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में किया जाता है। पूर्वार्द्ध शैली की प्रतिमाएं भरहुत की भाँति अनगढ़ हैं किन्तु उत्तरार्द्ध की प्रतिमाएं पर्याप्त परिष्कृत हैं उनमें सादगी और जीवन है। इस शैली में गान्धार कला की ही भाँति भगवान बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ है। बुद्ध की इन मूर्तियों के निर्माण से भारतीय कला में युगान्तकारी परिवर्तन हुआ परिणामतः शताब्दियों तक बुद्ध एवं भगवान के अन्य अवतारों की मूर्तियाँ कोरी जाती रहीं। बुद्ध की इन मूर्तियों में विशेषकर उनके जन्म की घटना, सम्बोधि धर्मचक्र प्रवर्तन, महापरि निर्वाण की घटना का अङ्कन हुआ है।

गान्धार एवं मथुरा शैली का पारस्परिक भेद

अनेक विद्वानों ने मथुरा कला को गान्धार कला की अनुकृति सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि मथुरा और गान्धार दोनों ही शैलियों में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इन दोनों शैलियों में निर्मित प्रतिमाओं में मौलिक अन्तर है—जहाँ गान्धार शैली में अंग सौष्ठव की सूक्ष्मता और भौतिक सौन्दर्याङ्कन को महत्त्व प्रदान किया गया है वहाँ मथुरा शैली में मूर्तियों पर दीप्ति और आध्यात्मिक अभिव्यंजना का महत्त्व स्पष्ट है। इस प्रकार प्रथम शैली यथार्थवादी शैली थी और द्वितीय आदर्शवादी। प्रथम यूनानी शैली का कलागत आदर्श प्राकृतिक सजीव अनुकरण और बाह्य सौन्दर्याङ्कन का था, किन्तु भारतीय शैली का कलागत आदर्श प्रतीकवाद तथा भावनावाद था। श्री सत्यकेतु विद्यालङ्कार इन दोनों शैलियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखते हैं कि मथुरा की कला पर गान्धार शैली का प्रभाव अवश्य है पर उसे पूर्णतया गान्धार शैली की नकल नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि मथुरा के आर्य शिल्पियों ने पेशावर की रचनाओं को दृष्टि में रखकर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यन्तर दोनों दृष्टियों से शुद्ध आर्य प्रतिभा की प्रतीक थी। भारतीय कल्पना में एक परम योगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिए उसकी वृत्ति किस प्रकार

अन्तर्मुखी होनी चाहिए और उपासक के हृदय में अपने उपास्यदेव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिए—इन सबको पत्थर की मूर्ति में उतारकर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए हैं।"[1] मथुरा कला गांधार-कला से प्रभावित है इस मत का खण्डन करते हुए राबिन्सन लिखते हैं कि उसी समय समकालीन कला का एक विशुद्ध देशी सम्प्रदाय, जिसका भरहुत और साँची से उद्भव हुआ था, मथुरा, भीटा, बेसनगर तथा अन्य केन्द्रों में प्रचलित था। पहले यह प्रवृत्ति थी कि बुद्ध, महावीर और हिन्दू देवताओं की मूर्तिनिर्माण के आविष्कार को विदेशी प्रभावों के कारण बताया जाता था परन्तु अब सामान्यतया इस बात पर विद्वान सहमत हैं कि इसका उद्भव मथुरा के देशी कलाकारों के द्वारा खोजा जाना चाहिए, न कि गान्धार के।[2]

राबिन्सन के इस मत का समर्थन क्रिस्टमस हम्फ्रीस के कथन से भी होता है। वे लिखते हैं कि अर्वाचीन विचार यह है कि प्राचीनतम बुद्ध की प्रतिमा मथुरा-स्कूल की है, वह गान्धार कला से पूर्ववर्ती है परवर्ती काल में वे समानान्तर रूप से चली हैं। मथुरा कला निःसन्देह स्वतन्त्र रूप से भारतीय कला का आदर्श प्रस्तुत करती है।[3]

मथुरा एवं गान्धार शैली में निर्मित बुद्ध की मूर्तियों में पर्याप्त अन्तर है। मथुरा से प्राप्त 'कटरा बुद्ध' की मूर्ति लाल बलुए पत्थर से निर्मित है। यह मूर्ति प्राचीनतम बुद्ध मूर्ति है। गान्धार में निर्मित बुद्ध मूर्ति सुन्दर केश विन्यास से अलंकृत है जबकि मथुरा से प्राप्त मूर्ति का सिर घुटा हुआ है। गान्धार शैली से प्राप्त बुद्ध मूर्ति ग्रीक राजकुमार की प्रतीत होती है। जबकि मथुरा से प्राप्त बुद्ध मूर्ति पूर्णतया भारतीय संन्यासी की मूर्ति है। गान्धार की बुद्ध मूर्ति कुशलता से निरूपित है, सूक्ष्म परिधान से सज्जित है जबकि मथुरा की मूर्ति वस्त्र रहित है।

---

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३०८

[2] इण्डिया—ए शॉर्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ० १०१-१०२

'At the same time, a purely indigenous school of contem porary art lineally descended from that of Bharhut and Sanchi appears to have flourished at Mathura, Bhita Besangar, and other centres It was formerly the custom to attribute to foreign influence the invation of making representations of the Buddha, Mahavir and the Hindu Gods, but it is now generally agreed that this must be traced to the indigenous artists of Muthura rather than to Gandhara"

[3] बुद्धिज्म पृ० २१०

The latest opinion, indeed is that the earliest Buddha images of the Mathura Scho l were Pre Gandharan and that the latter s history runs parallel to and independent of the main current of Indian Art"

अन्य विद्वानों ने भी मथुरा कला को गांधार कला के प्रभाव से दूर बताया है। इन विद्वानों में हम्फ्रीज तथा डा० नीहार रंजन रे प्रमुख हैं। डा० श्यामसिंह भी इस मत से सहमत नहीं हैं। फोगल का कथन है कि—"मथुरा की कला में भाव की कल्पना तथा अलंकरण की रीति सर्वथा भारतीय है।" किन्तु वे गान्धार कला का कुछ प्रभाव भी स्वीकार करते हुए कहते हैं कि—"इस पर एक ओर तो भरहुत तथा सांची की प्राचीन शैली का प्रभाव है तो दूसरी ओर गान्धार कला का भी अल्प प्रभाव है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि मथुरा कला का उदय सर्वथा स्वदेशी है और विकास भी भारतीय कला के आदर्शों पर हुआ है किन्तु बाद में गान्धार कला के कुछ अंशों का इस पर प्रभाव भी पड़ा है।" जहाँ मथुरा कला गान्धार कला से पूर्ववर्ती तथा मौलिक है, वहीं उसका उदय भरहुत और सांची कला से हुआ है किन्तु भरहुत और सांची से विकसित होने पर भी शैली की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। इसके सम्बन्ध में श्री नीहार रंजन ने लिखा है—

'सांची और भरहुत की कलाकृतियों में एक प्रकार की सूक्ष्म प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता का आभास मिलता है जिसका मथुरा की कला में एकान्त अभाव है। वृक्षलतादिक गुल्मों के मध्य स्थित या खड़ी हुई नारी प्रतिमाओं में सांची और भरहुत की कला शैली में हम उन्नत उरोजों और विकसित नितम्बों को देखकर प्रकृति की उर्वरता का आभास प्राप्त होता है। इन सांची और भरहुत की यक्षिणी मूर्तियों और स्थापत्य चित्रों से हमें यह अवश्य विदित होता है कि इनका निर्माण करने वाले कलाकारों का जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं था और प्रकृति तथा मानव शरीर के प्रति उनका दृढ़ अनुराग था परन्तु इनमें इन्द्रियपरकता की बू नहीं आती। उनकी ध्वन्यात्मकता और अभिव्यक्ति मानसिक है, शारीरिक नहीं। मनुष्य के इहलोकपरक जीवन का चित्रण करते हुए भी वे दर्शकों को मानसिक और आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करते हैं। परन्तु मथुरा की कला इस बात में भरहुत और सांची से भिन्न है। इस कला शैली में हमें स्वतः स्फूर्ति (Spontaneity) के अभाव और कुछ कृत्रिमता के दर्शन होते हैं। इसमें इन्द्रियपरकता भी काफी अधिक है। मथुरा की यक्षिणियों की प्रतिमाएं हमारे चित्त पर प्रभाव कम डालती हैं हमारी इन्द्रियों को वे अवश्य आंदोलित करती हैं। मथुरा के कलाकार का उद्देश्य मालूम पड़ता है इन्द्रिय परकता और कामुकता से परिपूर्ण था।[1] मथुरा की यक्षिणी मूर्तियों के सम्बन्ध में डा० नीहार रंजन रे ने लिखा है—शुंग एवं कुषाण युग की मृण्मूर्तियों के विषय एवं उसके निर्वाह में एक निकट सम्बन्ध का बोध होता है और एक वंश परम्परानुकूल सम्बन्ध भरहुत की यक्ष एवं यक्षिणी बोधगया और सांची की कला में भी समान रूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु जो स्वतः स्फूर्ति और सहजता प्राचीन कला में थी अब उसके स्थान पर कृत्रिमता ऐन्द्रियता है और जो प्रतीकात्मकता या संकेतात्मकता

[1] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पृ० ३६६

ी उसके स्थान पर अब स्पष्ट रूप में वह कामुकता का साधन बन गई है पूर्ण गोलाकार वक्ष एवं स्थूल नितम्ब अब प्रकृति की उर्वरता का आभास नहीं देते हैं अपितु गदराये एवं मांसल, ढीले और कठोर अंग (वक्षादि) कामुकता को उत्तेजित करते हैं।[1]

किन्तु यह मत गुप्तकाल की कला के सम्बन्ध में सटीक नहीं है। क्योंकि गुप्तकालीन कला के कलाकार की सौंदर्य वृत्ति उदात्त नैतिक मान्यताओं से अनुप्राणित है उसमें ऐन्द्रियता एवं कामुकता के स्थान पर संकेतात्मकता है और वह आध्यात्मिकता का बोध भी कराती है।

मथुरा शैली में इस काल में अनेक मूर्तियाँ अनेक रूपों में बनीं। प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में 'देवकुल' स्थापना की परम्परा थी। प्रत्येक राजा अपने मृत पूर्वजों की मूर्तियाँ इस देवकुल में प्रतिष्ठित करता था। शिशुनाग-वंश के राजाओं की मूर्तियाँ देवकुल में स्थापन के लिए मथुरा में बनीं, कुषाण राजाओं की मूर्तियों का भी मथुरा में निर्माण हुआ, इन मूर्तियों में कनिष्क की मूर्ति विशेष महत्त्व की है। कनिष्क एक लम्बा कोट और पजामा धारण किये हुए है, उसके पैर में घुटनों तक लम्बे जूते भी हैं। यह मूर्ति आकृत्या विशाल है।

इस युग की एक स्त्री मूर्ति काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह स्त्री मूर्ति एक प्रसाधिका है। इस मूर्ति की प्रशंसा करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं कि 'इसका मुख गम्भीर, प्रसन्न व सुन्दर है, नेत्रों में विमल चंचलता है, सब अंग प्रत्यंग अत्यन्त सुडौल हैं और खड़े होने का ढंग बहुत सरल और अकृत्रिम है। उसके दायें हाथ में शृंगारदान है जिसमें सुगन्धित जल रखा जाता था। बायें हाथ में एक पिटारी है, जिसका ढक्कन कुछ खुला हुआ है और एक पुष्पमाला थोड़ी सी बाहर निकली हुई है। यह स्त्री शृंगार की सामग्री लेकर किसी रानी या अन्य सम्पन्न महिला का शृंगार करने के लिए प्रस्थान करने को उद्यत है।[2]

---

[1] An intimate connection with Sunga and Kushan terracottas is atonce suggested, both in theme and treatment, and a lineal relationship with the Yakshinis and Vrishtas of Bharhut, Bodhgaya and Sanchi is also equally undeniable But what had been spontaneous movement has now become conscious gestures, and what stood for symbols or emblems have now become vehicles of sensuous and erotic suggestiveness Full round breasts and full heavy hips are no longer just conveyors of the idea of fertility, but suggest warm and living flesh, relaxed or tight"

[2] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३०८

मथुरा-कला में बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली हजारों मूर्तियों का निर्माण हुआ। मथुरा शैली की अपनी मुख्य विशेषताएँ हैं जिन्हें संक्षेप में हम इस प्रकार देख सकते हैं—

(१) मथुरा शैली में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। यह पत्थर सफेद चित्ती वाला रवादार पत्थर है जो कि भरतपुर तथा सीकरी में अधिक होता है।

(२) गान्धार शैली में बुद्ध पद्मासन तथा कमलासनासीन हैं किन्तु मथुरा शैली में ये सिंहासनासीन हैं। खड़ी मूर्तियों के पैरों के नीचे सिंह की आकृति बनी रहती है।

(३) मथुरा शैली में आर्य-प्रतिमा ने मुख मण्डल पर दैवी भावना, आभा का स्पष्ट प्रदर्शन किया है। शिल्पकार आध्यात्मिक अभिव्यंजना के अंकन में भी सफल हुए हैं।

(४) मूर्ति के शरीर का अर्ध भाग नग्न है, दक्षिण कर वस्त्रहीन अभयमुद्रा में है। प्रतिमाओं के वस्त्र सलवटों (Folding) से युक्त हैं।

(५) यह शैली यथार्थ की अपेक्षा आदर्श, प्रतीक तथा भावनावादी है।

(६) मथुरा शैली की कुषाण कालीन बौद्ध मूर्तियों की घनगात्रता तथा विशालता प्रसिद्ध है।

(७) इस युग की मूर्तियों की बनावट गोल तथा पृष्ठावलम्बन रहित है। इन प्रतिमाओं का मस्तक मण्डित है गुप्तकाल की भाँति कुंचित केश नहीं हैं। मूँछों का अभाव है मस्तक पर ऊर्णा रहती है।

अमरावती शैली

द्वितीय शतक उत्तरार्द्ध में दक्षिण में कृष्णानदी के निचले भाग में गुन्टूर जिले में अमरावती से एक नवीन शैली का उदय हुआ। यह शैली गान्धार शैली के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। अमरावती में प्राप्त स्तूप प्राचीनतम है—सम्भवतः ईसा पूर्व द्वितीय शतक का। किन्तु उसकी वेदिका (Railing) ईसवी द्वितीय तृतीय शतक की है। इस स्तूप का केवल वेदिका ही संगमरमर के पत्थर की नहीं है अपितु सम्पूर्ण स्तूप संगमरमर की चित्ररचित शिलाफलकों से आच्छन्न है। सम्पूर्ण वेदिका अलंकृत है। इस स्तूप की इकहरी बाड़ ऊँचाई में तेरह चौदह फुट ऊँची रही होगी। व्यास में ६०० फीट से कहीं अधिक। इस स्तूप की कला साँची और भरहुत की कला की प्रतिकृति है। अपने जीवन काल में अमरावती का यह स्तूप अपने ढंग का अनुपम तथा भारतीय गौरव गरिमा का आधार रहा होगा।[१] इस स्तूप में ■ फुट से ऊँची खड़ी मूर्तियाँ बहुत ही गम्भीर उदासीन एवं वैराग्य भाव से पूर्ण हैं।" अमरावती की मूर्तियाँ अन्य कला केन्द्रों की मूर्तियों से भिन्न हैं। ये मूर्तियाँ विभिन्न मुद्रा विभिन्न

---

[१] चित्र फलक संख्या ३

आसनो वाली हैं। भक्तिभाव से नतमस्तक हैं, हास्य के दृश्य भी जनक हैं, अलकृत हैं। यहा पर बुद्ध मूर्तिया भी अनेक हैं। इन मूर्तियो की प्रशसा म श्री भगवतशरण उपाध्याय लिखत हैं कि—

"आकृतियो का वकिम भगिमा, उससे भी बढकर यष्टिकायिक्ता मे अमरावती की आकृतियाँ अपना जोड नही रखती। पतली दुबली लचीली शक्तिम पुरुप की काया वस्तुत अभिराम सिरीष वृक्ष-सी लगती है और नारी की काम्य काया उससे लिपटी लता सी। शरीर पर लम्बी धोती, उत्तरीय और कुपाण कालीन पगडी बहुत फबती है। कुपाण मूर्तियो मे आभूपणो की भरमार है, प्राय गुगकालीन भूपा की भाति। पर अमरावती के आभूपणो म सख्या की न्यूनता और सुरुचि की व्यापकता है। कांति आभूपणो से दबी नही उमग उठी है।"[1] अमरावती क स्तूप पर जो दृश्य उत्कीण हैं वे सविस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। अमरावती की कला म पशुओ और पुष्पो का अभूतपूव चयन हुआ है। मानव की प्रकृति के साथ सहानुभूति का यहा अकन हुआ है। अकन मे गति है। कमलो का अलकरण अनुपम है। वह असाधारण सौन्दय का वधन करता है। 'अमरावती की समग्र कला सजीव और भक्ति-भाव से ओत-प्रोत है। वुद्ध के चरण-कमलो म नत-उपासिकाओ का दृश्य अत्यन्त भव्य, मोहक एव चित्ताकपक है।" इस प्रकार अमरावती की कला शली भावाभिव्यक्ति, अलकरण, सविस्तृत विवरण, सजीव प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से महान् है। इस शली की एक अपनी विशेषता यह है कि यह शैली अपन देश की मिट्टी म उत्पन्न हुई वर्धित हुई, और कलाकारो न समाज और धम स प्रेरणा ली। शारीरिक सौ दय के अकन में उल्लास एव स्वत त्रता से काय लिया। इस प्रकार गुग-कुपाण-कालीन भारतीय कला का इतिहास महत्त्वपूण एव अनुपम है।

इसी काल के एक स्तुप के अवशेष गुण्टूर जिले के नागार्जुन कोंडा स्थान पर मिले हैं। यद्यपि इस स्थान का मूर्ति-शिल्प अमरावती के समान उत्कृष्ट कोटि का नही है फिर भी मूर्तिकला दशनीय है। इस काल म ब्राह्मण धम का उदय हो चुका था गणेश, स्कन्द, सूय, शक्ति शिव और विष्णु की पूजा का प्रचलन हो गया था। अत इन देवताओ की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं।

[1] भारतीय कला और सस्कृति की भूमिका, पृ० ६४ ६५

८
गुप्त युग

- परिचय
- वास्तुकला
  - १ स्तम्भ
  - २ स्तूप, विहार एव गुफाएं
  - ३ मन्दिर
- मूर्तिकला
  - १ मथुरा केन्द्र
  - २ सारनाथ केन्द्र
  - ३ पाटलीपुत्र केन्द्र
  - ४ बौद्ध-मूर्तियां
  - ५ प्रस्तर फलक
- पौराणिक मूर्तियां
- जन प्रतिमा
- मृण्मयी मूर्तियां
- गुप्त युग की मूर्तिकला की विशेषताएं
- चित्रकला

गुप्त कला

भारतीय सास्कृतिक इतिहास म गुप्त काल सवतोमुखी विकास का काल है। इस काल मे भारतीय जनता गुप्त सम्राटो के सरक्षण म सुख शान्ति, वभव का भोग

कर रही थी। इसी सर्वतोमुखी विकास एवं सुख के युग को इतिहासकारों ने 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा है। इस स्वर्ण-युग में भारतीय कलाओं ने भी अभूतपूर्व उन्नति की थी 'गुप्त राजाओं के समय शिल्प एवं कला चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। सौंदर्य एवं कला, जीवन में इतनी समाविष्ट हो चुकी थी कि वह अपने युग की सर्वांगपूर्ण कृतियों की तन्मयता में डूबकर साकार हुई। मौर्यकालीन रूढ़ कला परम्पराओं का अतिक्रमण कर कला चेतना सुदूर अतीत के गौरव से मंडित आभ्यंतर प्रकाश की दीप्ति से जगमगा उठी।'[1] गुप्त काल में भारतीय जनता की मनोवृत्ति मौर्य युगीन बौद्ध धर्म की विचारधारा की अपेक्षा भागवत धर्म की ओर उन्मुख हो रही थी और इस भागवत धर्म की पृष्ठभूमि में वैदिक इन्द्र विष्णु आदि देवों की भावना थी, वैदिक देवतावाद से अनुप्राणित भागवत धर्म ने हिन्दू-देवी देवताओं की असंख्य प्रतिमाओं के निर्माण का सुअवसर प्रदान किया। एक ओर हिन्दू देवी-देवों की प्रतिमाएँ बन रही थी, दूसरी ओर बौद्ध मूर्तियों का भी अभाव नहीं हुआ था, अपितु बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर आदि की अनेक प्रतिमाएं बन रही थी। इस प्रकार वैभव एवं धार्मिक सहिष्णुता के काल में भारतीय शिल्प कला का सर्वतोमुखी विकास हुआ। इस काल की कला का मूल्यांकन करते हुए बी० एन० लूनिया लिखते हैं कि—

'कलाओं के क्षेत्र में गुप्त काल अपना सर्वोत्कृष्टता की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। गुप्त-काल का गौरव और वैभव विविध दर्शनीय कलाकृतियों के द्वारा ही स्थायी और चिरस्मरणीय हो गया। इस युग में समस्त भारतवर्ष में कलाओं में अतुलनीय गति विधि रही। कला के विविध अंग जैसे तक्षण (भास्कर्य) कला, वास्तु कला, चित्र कला, और पकी हुई मिट्टी की मूर्तिकला ने वह परिपक्वता, संतुलन और अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता प्राप्त की थी जिसकी श्रेष्ठता को आज भी कोई प्राप्त नहीं कर सका है। गुप्त-काल में कला के प्राविधान निपुण कर दिये गये उसके निश्चित भेदों का विकास हुआ और सौन्दर्य के आदर्शों का निर्माण हुआ। वास्तविक सम्यक उद्देश्यों और कला के आवश्यक सिद्धान्तों का विवेकपूर्ण ज्ञान ललितकला सौन्दर्य के भाव का उच्चतम विकास और सधे हुए करों की निपुण कार्य निष्पत्ति इस काल में ही हुई थी। शिल्पियों का हाथ इतना सध गया था कि वे जिस वस्तु या विषय का लेते उसमें जान डाल देते थे। उनकी सुविकसित सौन्दर्य भावना, परिमार्जित एवं प्रौढ़ कल्पना तथा अद्भुत रचना कौशल ने ऐसी कृतियों का निर्माण किया जो भारतीय कला के क्षेत्र में 'न भूतो, न भावी' रचनाएं थी।'[2] गुप्तकाल की कला का विद्वान् लेखक ने जो विवेचन किया है वह सर्वथा उचित ही है। गुप्तकाल की किसी कला विशेष का अध्ययन किया जाय तो वह अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं से स्वयं पृथक् दृष्टिगोचर होने लगती है। गुप्तकालीन मूर्तियाँ अपनी पूर्ववर्ती मूर्तियों की अपेक्षा

---

[1] रायरानी गुर्टू, कलादर्शन, पृ० ३२६

[2] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० २०९

माधुर्य, ओज और सजीवता म वहा उत्कृष्ट हैं। सर जॉन मार्शल के मत का उल्लेख करते हुए वासुदेव उपाध्याय लिखते हैं कि 'प्राचीन भारतीय-कला म प्राकृतिक चित्रण, सादगी तथा धारा प्रवाह प्रधान मात्रा म पाया जाता था, किन्तु गुप्तों के अधिक सुसंस्कृत और उन्नतिशील युग म कला ने अधिक सुन्दर रूप प्राप्त किया तथा वह अतिगहन हो गई।'[1]

गुप्तकाल की कला का अध्ययन करते समय हम निम्न दृष्टियों से उस पर विचार करना होगा—

वास्तुकला (स्थापत्य कला)—राजप्रासाद, स्तम्भ, स्तूप विहार, गुहा, मन्दिर।

मूर्तिकला (तक्षण कला)—मथुरा केन्द्र, सारनाथ केन्द्र, पाटलीपुत्र केन्द्र हिन्दू प्रतिमा, बौद्ध प्रतिमा खड़ी/बैठी, जैन प्रतिमा, मृण्मयी मूर्तियाँ (Terracotta)।

चित्रकला—अजन्ता एवं बाघ

संगीत—अभिनय।

वास्तुकला

गुप्त-कालीन राजप्रासादों में आज एक भी सुरक्षित उपलब्ध नहीं है किन्तु तत्कालीन संस्कृत साहित्य म गुप्त राजाओं के भव्य भवनों का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिक नाटक के चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के भव्य भवनों का उल्लेख द्रष्टव्य है। वत्स भट्टि के द्वारा लिखी गई मंदसौर प्रशस्ति में दशपुर के महल का सुन्दर वर्णन है जहाँ उन महलों को कैलास शिखर के समान उन्नत कहा गया है—

कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्तिदीर्घवलभीनि सवेदिकानि ॥"

× × ×

प्रासादमालाभिरलङ्कृतानि धरांविदार्येव समुत्थितानि ॥"

कालिदास ने मेघदूत[2] मे उज्जयिनी एवं अलका के भवनों की ओर संकेत किया है। अजन्ता मे कुछ महलों के चित्र मिले हैं। इन उल्लेखों के द्वारा स्पष्ट है कि गुप्तकाल म राजकीय प्रासाद अनेक मंजिल तथा विशाल होते थे। किन्तु आज वे पुरातत्त्व वेत्ताओं द्वारा खोज की प्रतीक्षा म हैं।

स्तम्भ

गुप्तकालीन सम्राटों ने अपनी महत्त्वपूर्ण विजय स्मृतियों के रूप म अनेक

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास (२) पृ० २८६ ६०

[2] वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्सङ्ग प्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्या। १/२७
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां न त्वं दृष्ट्वा
न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्। १/६३

प्रस्तर-स्तम्भों की प्रतिष्ठा की थी जिनमे से कुछ आज भी प्राप्त होते हैं। प्रयाग स्थित अशोक के प्राचीन-स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की सुदर प्रशस्ति हरिषेण ने उत्कीण की है। हरिषेण ने लिखा है कि महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की सम्पूण पृथ्वी जीतने से उत्पन्न होने वाली तथा इन्द्रलोक तक जाने वाली—कीर्ति का वणन करने के लिए मानो भूमि को उठाये हुए यह एक हाथ ही है।[1]

गोरखपुर जिले मे कहौम नामक स्थान पर एक समुद्रगुप्त का सुदर प्रस्तर स्तम्भ है, जिस पर समुद्रगुप्त की कीर्ति उत्कीण है—'शलस्तम्भ सुचारु गिरिवर शिखराग्रोपम कीर्त्तिकर्ता।'

गुप्तकाल वष्णव भावना प्रधान युग था। इस काल म भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा मे स्तम्भो की प्रतिष्ठा होती थी। राजा मालविष्णु तथा धन्यविष्णु द्वारा बनवाया एक प्रस्तर-स्तम्भ मध्य प्रदेश के सागर जिले के अन्तगत एरण स्थान पर प्रतिष्ठित है—'भगवत पुण्यजनावनस्य—ध्वजस्तम्भोऽभ्युच्छ्रि त।" गुप्त सम्राटो ने मेहरोली मे एक विशाल लौह स्तम्भ स्थापित किया था। यह स्तम्भ २३ फीट ८ इच ऊँचा है। यह ससार के आश्चर्यो म गिना जाता है। इसके लोहे पर धूप, पानी, आंधी का कोई असर नही होता है। इसके नीचे का व्यास १६ इच तथा ऊपर का व्यास १२ इच है। यह स्तम्भ नीचे से ऊपर की ओर क्रमश पतला होता गया है।[2] यह एक ध्वज स्तम्भ है—

प्रार्गुविष्णुपदगिरौ भगवते विष्णोध्वज स्थापित।"

गुप्त सम्राट घटनाविशेष को चिरस्थायी करने के लिए भी स्तम्भो को स्थापित करते थे। गुप्त राजा प्रथम कुमारगुप्त ने स्वामी महासन के मन्दिर को स्मारक रूप म स्थापित किया था। स्कन्दगुप्त ने भितरी (गाजीपुर—उ० प्र०) म भगवान् विष्णु की प्रतिमा स्थापना के स्मृति रूप म एक स्तम्भ स्थापित किया था, जो कि आज भी वहा स्थित है।

गुप्त कालीन य स्तम्भ चार भागो मे विभक्त किय जा सकते हैं। स्तम्भ का मुख्य भाग (Shaft) जो कि अनक कोणो का अनक प्रकार का होता है। स्तम्भ के मुख्य भाग पर जो प्रस्तर होता है उस गलकुम्भ (Base of Capital) कहते हैं। स्तम्भ का तीसरा भाग फलका (Abacus) होता है। फलका स्तम्भ के शिरे का मध्य भाग होता है। यह चतुष्कोण प्रस्तर का होता है। इसी के ऊपर स्तम्भ का चतुथभाग बोधिक (Crown) होता है। इस बोधिक या शीष भाग पर कोई मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है। एरण स्तम्भ के शीष पर सिंह क आसन पर गरुण की मूर्ति है। इसमे

---

[1] महाराजाधिराज समुद्रगुप्तस्य सवपृथिवीविजय जनितोदयव्याप्तनिखिलावनितला कीर्तिमित त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रि त स्तम्भ ॥

[2] देखिए चित्र फलक सख्या ८

सिंह पीठ से पीठ लगाये स्थित हैं। मौर्य कालीन तथा गुप्त कालीन स्तम्भों की तुलना करते हुए सत्यकेतु विद्यालङ्कार लिखते हैं कि 'मौर्यकाल के स्तम्भ गोल होते थे, और उन पर चिकना चमकदार वज्रलेप होता था। पर गुप्तकाल के स्तम्भ गोल व चिकने नहीं हैं। गुप्तों के स्तम्भ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक ही स्तम्भ के विविध भागों में विविध कोण हैं। कोई स्तम्भ नीचे आधार में यदि चार कोणों का है, तो बीच में आठ कोणों का हो गया है। कई स्तम्भ ऐसे भी हैं जो नीचे चार कोणों के बीच में गोल हैं। किसी किसी स्तम्भ में ऊपर सिंह व गरुड़ की मूर्तियाँ भी हैं।'[1] इन सभी विशेषताओं के कारण गुप्त स्तम्भ अत्यधिक सुन्दर लगते हैं। इनकी समता अन्य स्तम्भ नहीं कर सकते हैं।

स्तूप विहार एवं गुफायें

स्तूप—गुप्त पूर्व युग में अनेक स्तूप, विहार एवं गुफाओं की रचना हो चुकी थी। किन्तु गुप्तकाल में भी इनके निर्माण की परम्परा बनी रही है। गुप्त राजाओं द्वारा निर्मित स्तूप एवं विहार के अनेक ध्वंसावशेष आज हमें उपलब्ध हैं। सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्त-काल का ही है। इस स्तूप का अनुसंधान करते हुए कनिंघम महोदय ने इस पर एक षष्ठ शतक का अभिलेख प्राप्त किया था जिसके अनुसार यह गुप्त युगीन स्तूप सिद्ध हो जाता है। धमेख स्तूप शिल्पकारी की दृष्टि से अत्यन्त कलापूर्ण है। यह स्तूप आभ्यन्तर अंश में कला कृतियों से भरपूर है। कला उच्च कोटि की है बाहरी भाग के प्रस्तर में अनेक चित्र तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। चित्र तथा मूर्तियों के अतिरिक्त सुन्दर लतायें भी बनी हुई हैं। रेखागणित की विभिन्न आकृतियाँ, स्वस्तिक के चिह्न उठलयुक्त कमल लहरें लेता हुआ अङ्कित है। इस प्रकार की शिल्पकारी से युक्त यहाँ जल पक्षी एवं जल-जन्तु इतने सुन्दर लगते हैं कि चित्त प्रसन्न हो जाता है। यह स्तूप प्रस्तर के टुकड़ों को जोड़कर बनाया गया है। धमेख का यह उत्कृष्ट स्तूप तथा इस पर उत्कीर्ण कला गुप्तकाल की कला का श्रेष्ठतम आदर्श है। इस प्रकार यह स्तूप अपनी कल्पना आकार और अलङ्कार में उच्चकोटि का है।

विहार—गुप्तकालीन विहारों में से सारनाथ और नालन्दा के विहारों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। सारनाथ के विहार से प्राप्त सामग्री तथा गवाक्ष से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गुप्तकालीन विहार थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्त नरेशों ने नालन्दा में अनेक विहारों की रचना कराई थी। ये विहार केवल भिक्षुओं के निवास-स्थान या मठ नहीं थे, अपितु यहाँ उच्च शिक्षा भी प्रदान की जाती थी।

गुफा—गुप्तकाल में अनेक गुफाएं पर्वत शिलाओं को काटकर निर्मित हुई थीं। उनमें से कुछ तो विश्व प्रसिद्ध गुफायें हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन काल में ग्वालियर

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३६०

राज्य के अन्तर्गत भिलसा के निकट उदयगिरि गुफा का निर्माण हुआ था। यह गुफा कला के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुफा के बाईं ओर भगवान विष्णु के अवतार वाराह की एक विशालाकार प्रतिमा खड़ी है। गुफा के द्वार-स्तम्भ तथा बाहरी दीवालों पर अनेक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें अधिकांश हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमा है। चौखट के ऊपर गंगा-यमुना की मूर्ति बनी है। बाहर की दीवाल पर विष्णु और महिष मर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा है। द्वार के दोनों ओर चार द्वारपाल प्रतिमाएँ खड़ी हैं।

गुप्तकाल की दूसरी विश्व प्रसिद्ध गुफाओं में से अजन्ता (दक्षिण हैदराबाद) की गुफा है। यहाँ की अनेक गुफाओं में से कम से कम तीन गुफाएँ तो अवश्य ही गुप्तकालीन हैं।[1] यहाँ गुफा नम्बर १६ गुप्तकालीन है। यह गुफा लम्बाई में ६५ फीट और चौड़ाई में भी लगभग इतनी ही है। इस गुफा में १६ स्तम्भ हैं तथा रहने के लिए छः कमरे बने हुए हैं। गुफा की दीवारें नयनाभिराम भित्ति चित्रों से सुसज्जित हैं।

ग्वालियर राज्य के बाघ स्थान पर भी गुफाओं का गुप्त काल में निर्माण हुआ था, इस गुफा में सुन्दरतम चित्रों को देखकर हृदय प्रसन्न हो जाता है। यह गुफा चित्र कला की दृष्टि से अनुपम है। "चित्रकला में अजन्ता तथा बाघ की गुफाओं का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। इनकी सुन्दरता और भव्यता अतुलनीय है।"[2]

मन्दिर

ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ भारतवर्ष में मन्दिर निर्माण की कला का उदय तथा तेजी से विकास भी हुआ। इस काल में ईंट तथा पत्थर दोनों ही प्रकार के अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। यद्यपि इस काल में निर्मित विभिन्न मन्दिरों में विभिन्न देवताओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई थी, किन्तु वास्तुकला की दृष्टि से सभी मन्दिरों में साम्य मिलता है। इस काल में निर्मित मन्दिरों की वास्तुकला का निर्देश करते हुए वासुदेव उपाध्याय लिखते हैं—

(१) गुप्त मन्दिरों की स्थापना एक ऊँचे चबूतरे पर होती थी। (२) उन पर चढ़ने के लिए चारों तरफ से सीढ़ियाँ बनी थीं। (३) प्रारम्भिक मन्दिरों की छत चिपटी होती थी, परन्तु पिछले मन्दिरों में शिखर दिखाई पड़ते हैं। (४) मन्दिर की बाहरी दीवालें सादी रहती थीं। (५) गर्भगृह में एक द्वार रहता था। उसी गृह में मूर्ति स्थापित की जाती थी। (६) इसके द्वार-स्तम्भ अलंकृत रहते तथा द्वारपाल के स्थान पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाई जाती थी। (७) गर्भ गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाता था जो छत से ढका रहता था। मनुष्य सीढ़ियों से होकर इसी स्थान पर पहुँचते तत्पश्चात् गर्भ-गृह में प्रवेश करते थे (८) मन्दिर के स्तम्भों पर तरह-तरह के बेलबूट खुदे मिलते हैं। उनके सिरे पर एक वर्गाकार प्रस्तर रहता था जिस पर आधे बैठे, पीठ से पीठ लगाये हुए चार सिंह की मूर्तियाँ बनाई जाती थी। इन्हीं

---

[1] देखिये चित्रफलक संख्या १३

[2] गुप्त साम्राज्य का इतिहास (२), पृ० २६५

स्तम्भो पर छतें स्थित रहती थी ।[१] गुप्तकाल के मन्दिरों की वास्तुकला के अध्ययन के लिए उस काल में निर्मित मंदिरों का अलग अलग अध्ययन कर लेना अधिक श्रेयस्कर है। इस काल में निर्मित तथा प्राप्त पौराणिक मन्दिरों में निम्न अधिक प्रसिद्ध हैं

(१) भूमरा का शिव मंदिर—भूमरा का यह शिव मंदिर नागौद राज्य में स्थित है। यह आज जीर्ण शीर्ण अवस्था में ही उपलब्ध है। राखालदास बनर्जी ने इस मन्दिर का अनुसंधान किया था। आज इस मंदिर का केवल गर्भ गृह ही सुरक्षित है। इसके चारों ओर विद्यमान चबूतरा प्रदक्षिणा पथ का कार्य देता है। गर्भगृह में शिवलिंग की मूर्ति है। यह मूर्ति बहुत सुन्दर है। मंदिर के द्वार स्तम्भ के बाम ओर मकर वाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ हैं। दोनों मूर्तियों के निकट परिचारक के रूप में एक स्त्री, एक पुरुष खड़े हैं। इस मंदिर के द्वार स्तम्भों के ऊपर की चौखट बहुत अधिक अलङ्कृत है। उस पर अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनी हुई हैं। मंदिर के अनेक प्रस्तरों पर विभिन्न प्रकार के वाद्य, कमल और कीर्तिमुख उत्कीर्ण हैं। मंदिर की वास्तु और मूर्तिकला के आधार पर वासुदेव उपाध्याय इसे पाँचवीं सदी के मध्यकाल का मानते हैं।

(२) अजयगढ़ का पार्वती मंदिर—भूमरा के निकट ही अजयगढ़ राज्य में नचना कूथर का पार्वती मंदिर है। पार्वती मंदिर की रचना भूमरा मन्दिर के समान ही है किन्तु अलंकरण में यह निम्न कोटि का है। यह मंदिर सुरक्षित है। इस स्थान पर दो मंदिर हैं। राखालदास बनर्जी के मत से पार्वती मन्दिर प्राचीन है। इस मंदिर की बनावट भूमरा मंदिर के समान है। अतः विद्वान इसे गुप्तकालीन ही मानते हैं।

(३) अयहोल का मन्दिर—बम्बई के निकट बीजापुर जिले के अन्तर्गत अयहोल में एक पुराना मंदिर है जो कि गुप्तकालीन है। इसकी रचना सर्वथा गुप्तकालीन अन्य मन्दिरों के समान है। इस पर गंगा और यमुना की मूर्ति उत्कीर्ण है। खिड़कियाँ नक्काशीदार प्रस्तर निर्मित हैं। डा० कुमार स्वामी के मत से इस मंदिर का निर्माण काल ४५० ई० के निकट है।

(४) भीतरगाँव का मन्दिर—कानपुर के निकट भीतरगाँव में एक गुप्तकालीन ईंटों से निर्मित मंदिर मिला है। इस मन्दिर के ऊपर शिखर है। मंदिर की बाहरी दीवारें पकी हुई मिट्टी के फलकों से निर्मित हैं। इन फलकों पर सुन्दर-सुन्दर चित्रकारी व मूर्तियाँ बनी हैं। वस्तुतः ये गुप्तकालीन Tarracotta हैं।

(५) तिगवा मंदिर—मध्यप्रदेश के तिगवा नामक स्थान पर एक गुप्तकालीन मन्दिर मिला है जो एक ऊँचे टीले पर स्थित है। कनिंघम के मतानुसार इस स्थान

---

[१] गुप्त साम्राज्य का इतिहास (२) पृ० २६२-६६

पर दो मन्दिर थे जिनमे से एक चिपटी छतवाला तथा दूसरा आमलक युक्त शिखर वाला था। इनम से चिपटी छत वाला अधिक प्राचीन है। इसका रचना काल पचम शतक का प्रारम्भ बताया जाता है। तिगवा का यह मन्दिर रचना तथा अलकरण के आधार पर गुप्तकालीन वास्तुकला का श्रेष्ठतम आदर्श है।

(६) **देवगढ का दशावतार मन्दिर**—झासी जिले के देवगढ स्थान पर उत्तर गुप्तकाल म श्रेष्ठतम मन्दिर बना था। यह दशावतार का मन्दिर गुप्तकाल के मन्दिरो म श्रेष्ठतम है। यह मन्दिर एक ऊचे चबूतरे के बीच म बना हुआ है। इसके गर्भ गृह पर चार द्वार हैं। द्वार के प्रस्तर-स्तम्भो पर सुन्दरतम मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इनम कमल तथा कीर्तिमुख विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। मन्दिर के ऊपर शिखर बना हुआ है। गुप्तकाल म निर्मित इस मन्दिर का शिखर भारत के शिखर वाले मन्दिरो म प्राचीनतम है। इस मन्दिर म भगवान् विष्णु की शेषशायी मूर्ति है, जो कि भारत की श्रेष्ठतम मूर्तियो म से एक है। इस मूर्ति का विस्तार से वर्णन मूर्तिकला के अन्तर्गत करेंगे।

(७) **अन्य मन्दिर**—गुप्त काल म इन मन्दिरो के अतिरिक्त अन्य अनेक मन्दिरो का भी निर्माण हुआ था। साची, एरण तथा बोधगया आदि के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आसाम मे ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर दहपरबतिया नामक स्थान पर एक भग्न मन्दिर भी मिला है, जो कि गुप्तकालीन है।

मूर्तिकला

स्थापत्य कला की भाँति ही गुप्त युगीन तक्षण-कला भी अनुपम है। इस युग की मूर्तिकला अपने गौरवपूर्ण अध्याय म पहुच चुकी थी। इस युग की कला म परम्परागत कला तथा बाह्य प्रभाव की अपेक्षा एक समन्वयवादी दृष्टिकोण मिलता है। परिणामस्वरूप इस युग की मूर्तिकला म नवीनता दृष्टिगत होती है। गुप्तकला अपनी प्रतिभा, मौलिकता, स्वाभाविकता, अग सौन्दर्य और सजीव रचना के लिए सर्वत्र प्रशसित होती है। 'विवेक और सौन्दर्य से अनुप्राणित होने के कारण ही गुप्तकालीन शिल्प-कला, भारत-कला के इतिहास म सर्वोत्कृष्ट मानी गई है।" गुप्तकालीन कला की उत्कृष्टता, उसकी नवीन शैली तथा उसके समन्वयवादी स्वरूप म निहित है। इस कला की प्रशसा करते हुए श्री आर० सी० मजूमदार लिखते हैं

'गुप्त काल के साथ हम भारतीय मूर्ति कला की प्रगाढ प्रगति के युग म प्रवेश करते हैं। शताब्दियो के प्रयत्न से कला का विशेष ज्ञान पूर्ण किया गया, निश्चित रूप विकसित हुए, और सौन्दर्य के आदर्श दुरुस्ती के साथ रखे गये। अब न तो अधकार म टटोलना था और न प्रयोग करना ही शेष था। कला के सच्चे उद्देश्यो और तात्त्विक सिद्धान्तो से पूर्ण बुद्धियुक्त ज्ञान अत्यन्त विकसित सौन्दर्य भावना तथा धीर हाथो के अद्वितीय सम्पादन न उन उल्लेखनीय मूर्तियो को तैयार किया जो बाद के युगो के भारतीय कलाकारो के लिए आशा और नैराश्य दोनो बनाने वाली थी।"

गुप्तकालीन कला प्राचीन कला की भांति धर्म प्रधान न रहा है। इसमे भौतिकता तथा आध्यात्मिकता का सुंदर समन्वय है। इस काल की मूर्तियो की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। गुप्तकाल की मूर्तियो की प्रशंसा करते हुए वासुदेव उपाध्याय लिखते हैं—

'गुप्त-काल की मूर्तियो मे गम्भीरता शांति और चमत्कार है। मूर्तियो की रचना बडी ही सुचारु और उनकी भावभंगी मनोवेधक है। जैसे इस युग की काव्य कृतियो म पद लालित्य के साथ साथ अर्थ गौरव पाया जाता है वैसे ही शिल्पकला म रचना सौंदर्य के साथ विचित्र भाव व्यंजना देखने मे आती है। इस समय की कला रूप प्रधान तथा भाव प्रधान है। शिल्पकार वस्तु के रूप को सर्वांग सुंदर बनाने मे जितने प्रवीण थे उतने ही अपने आंतरिक तथा आध्यात्मिक भावो को सुंदर कृतियो द्वारा दर्शाने म सिद्धहस्त थे। उनके हृदयगत भाव उनकी सुंदर रचनाओ म स्पष्ट झलकते हैं। ऐसे विलक्षण गुण भारत की शिल्प कला म इतने उत्तम रूप मे अन्यत्र कही भी नही मिलते।'[1]

गुप्तकाल मे शिल्पकला के तीन प्रधान केंद्र थे इन तीनो स्थानो से जैन, ब्राह्मण तथा बौद्ध मूर्तियो का निर्माण होता था। इन्ही के आधार पर गुप्तकाल की कला के अध्ययन के लिए उनके प्रधान केंद्रो पर विचार करना अपेक्षित है।

मथुरा-केंद्र

मथुरा-कला की उन्नति का सर्वोत्कृष्ट काल कुषाण काल था। उस काल म मथुरा की मूर्तियाँ भारत के प्रत्येक कोण मे पहुंच रही थीं। गुप्तो के शासन काल म भी मथुरा मे मूर्तियो का निर्माण होता रहा था। इस काल मे मथुरा-केन्द्र से निर्मित मूर्तियों म ब्राह्मण, बौद्ध जैन तीनो ही धर्मों से सम्बद्ध मूर्तियाँ थी। बौद्ध प्रतिमाएँ तो आज भी कलकत्ता सारनाथ तथा मथुरा के संग्रहालयो म सुरक्षित हैं। किन्तु इस काल की मूर्तियो म संक्रांति कालीन लक्षण स्पष्ट हैं। इन मूर्तियो म गुप्त और कुषाण कालीन मूर्तिकला के लक्षण देखे जा सकते है। मथुरा म निर्मित गुप्त युगीन मूर्तियो की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए वासुदेव उपाध्याय लिखते हैं—

(१) कुषाण-कालीन मूर्तियो का प्रभामण्डल सादा रहता था परन्तु गुप्त काल म अलंकारयुक्त प्रभामण्डल (Decorated Halo) तयार किया जाने लगा। इसमें कमल और विभिन्न आकार से प्रभामण्डल विभूषित किया जाता था। इसको देखने से ही स्पष्ट प्रकट होता है कि यह मूर्ति गुप्त-कालीन है। (२) इनकी दूसरी विशेषता बुद्ध के चिवीवर की बनावट की है जो स्वत बताता है कि यह मूर्ति मथुरा में बनी है। इसके वस्त्र में कुषाण मूर्तियो के सदृश्य व्यावर्त्तन (Folds in drapery) दिखाया गया है। उत्तरवासक (अधोवस्त्र) कमर से बँधा है तथा संघाटी (ऊर्ध्ववस्त्र) दोनो कंधों को ढकती हुई घुटन के नीचे तक पहुंची है। कुषाण कालीन मथुरा की मूर्तियो में दाहिने कंध पर संघाटी नहीं दिखाई पडता परन्तु गुप्तकाल में दोनो कंध

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास (२) पृ० २७०

ढके रहते थे। (३) इन मूर्तियो मे गुप्त-तक्षण-कला की विशेषताएँ दिखाई गई हैं, जिस गुप्त-तक्षण कहते हैं। इनमें बालो का मुडाव तथा उष्णीष स्पष्ट प्रकट होते हैं।"[1] इन विशेषताओ से युक्त मूर्तिया के अतिरिक्त भी कुछ गुप्त कालीन मूर्तिया बनी हैं, जिनमे कभी-कभी कुषाण एव गुप्त-युग की मिश्रित विशेषताएँ परिलक्षित हो जाती हैं और कभी मौलिक विशेषताएँ। गुप्त-युग के इस मथुरा केन्द्र में लगभग पाचवी शताब्दी तक मूर्तियो का निर्माण होता रहा, किन्तु सारनाथ की कला कृतियो की लोकप्रियता के सम्मुख मथुरा केन्द्र का महत्त्व घट गया।

सारनाथ केन्द्र

गुप्त युग में सर्वाधिक मूर्तिया सारनाथ केन्द्र में निर्मित हुई हैं। इस केन्द्र से सर्वाधिक बौद्ध-मूर्तियाँ, उससे कम ब्राह्मण मूर्तियाँ तथा सबसे कम जैन मूर्तिया मिली हैं। सारनाथ बौद्ध केन्द्र था इसलिए यहाँ बौद्ध मूर्तियो का अधिक मिलना स्वाभाविक है, किन्तु ब्राह्मण मूर्तिया भी यहाँ अधिक क्यो मिली हैं? इसका कारण यह है कि गुप्त नरेश परम भागवत थे, ब्राह्मण धर्म ही इस काल का राजकीय धर्म था। अत ब्राह्मण मूर्तियो का मिलना भी स्वाभाविक ही है। सारनाथ-केन्द्र से निर्मित बौद्ध-मूर्तियो की कला का प्रभाव गुप्तयुगीन तृतीय केन्द्र पाटलिपुत्र पर भी पड़ा है।

पाटलिपुत्र

गुप्त-काल में पाटलिपुत्र भी मूर्तियो के निर्माण का एक केन्द्र था। इस केन्द्र से प्रायः धातु मूर्तियो का ही निर्माण हुआ है। इनके अतिरिक्त प्रस्तर की मूर्तियाँ भी थोड़ी बहुत बनी हैं। नालन्दा के उत्खनन में प्राप्त धातु मूर्तियो से स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र एव सारनाथ की प्रतिमाएँ समान ही हैं। इन प्रतिमाओ में कुटिल केश, सीधी भौंह और उष्णीष का स्पष्ट अकन किया गया है। सुलतानगज (भागलपुर) से प्राप्त ताम्रमूर्ति की कला और सारनाथ की कला में साम्य मिलता है। यह मूर्ति अभयमुद्रा में है। इस मूर्ति के वस्त्र एव कान गुप्तकाल की विशेषताओ से युक्त हैं।

बौद्ध-मूर्तिया

(१) सारनाथ की भगवान् बुद्ध की मूर्ति—यह सारनाथ स्थित भगवान् बुद्ध की प्रतिमा पद्मासनासीन धर्मचक्र-प्रवर्तन की मुद्रा में है। सारनाथ की यह प्रतिमा अपनी कला तथा भावभगिमा के कारण अनुपम है। गुप्तकालीन मूर्तिकला का यह सर्वोत्कृष्ट तथा अतीव सुन्दर नमूना है। इस मूर्ति में रस, अगो की भावभगी, सौन्दर्य औचित्य तथा भावो की उचित योजना को देखकर हैवेल महोदय ने इसकी भूरि भूरि प्रशसा की है। उनका कथन है कि भगवान् बुद्ध के दैनिक तथा आध्यात्मिक भावो को लेकर यह प्रतिमा निर्मित की गई है, तथा यह गुप्तकालीन शिल्पकारो की कला का परमोत्कृष्ट नमूना है। यह बुद्ध प्रतिमा न केवल अपने बाह्य सौन्दर्य से हमारे

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० २७०

नेत्रों को आनन्द प्रदान करती है बल्कि वह हमारे हृदय में अपनी आन्तरिक सुन्दरता तथा कुशलता से ही हर्ष की लहरें पैदा करती है। जिन भावों को शिल्पकारों ने दिखाने का प्रयत्न किया है वे ठीक ठीक बड़ी ही सुन्दर रीति से अभिव्यक्त हुए हैं।"[1] बुद्ध की इस धर्मचक्र प्रवर्त्तन मुद्रा की प्रतिमा के दोनों स्कन्ध सुन्दर रेशमी महीन वस्त्रों से आवृत्त हैं य वस्त्र पैरों तक हैं, इस मूर्ति के गुप्तकालीन दक्षिणावर्त्त केश तथा उष्णीश, मस्तक के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल है।[2] प्रभामण्डल के दोनों ओर दो देवी मूर्तियाँ हैं जो कि पुष्पपात्र हाथ में लिये हुए थी। बुद्ध प्रतिमा के आसन (चौकी) के मध्य भाग में एक धर्मचक्र तथा उसके दोनों ओर दो मृग आकृतियाँ दृष्टिगत होती हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो व्याल (Leograph) अपने मस्तक पर एक बड़े पत्थर को धारण किये हुए हैं। इस मूर्ति के बाई ओर अन्तिम द्वार पर एक बालक तथा स्त्री की आकृति दृष्टिगत होती है। सम्भवतः वह नारी इस मूर्ति की दानकर्त्री है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यह बुद्ध की प्रतिमा पञ्चभद्रवर्गीय प्रतिमा है। बुद्ध की इस प्रतिमा को देख कर आध्यात्मिक भाव तथा लोकोत्तर भावना का प्रभाव दर्शक पर पड़ता है। इस धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मुद्रा वाली बुद्ध प्रतिमा की प्रशंसा करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं—

बुद्ध के मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, प्रभा कोमलता और गम्भीरता है। अंग प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौन्दर्य होते हुए भी इहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिये अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिए ही इहलोक व्यवहार में तत्पर हैं।"[3]

भगवान बुद्ध की इस प्रकार की अनेक प्रतिमाएँ कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित हैं। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मुद्रा में स्थित बुद्ध की अनेक प्रतिमाएं—पैरों को नीचे लटकाए आसन के नीचे पद त्राण (पायदाज) के समान कमल पर पैर रखे हुए मिली हैं। भगवान् के दक्षिण दिशा में मैत्रेय तथा वाम दिशा में अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ दिखाई गई हैं। किन्तु प्रतिमाओं में बुद्ध का दक्षिण स्कन्द नग्न प्रदर्शित किया गया है।

भूमि स्पर्श मुद्रा

भगवान् बुद्ध की सारनाथ सम्प्रदाय की अनेक प्रतिमाएँ सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस मुद्रा में भगवान् बुद्ध पृथ्वी को साक्षी मानकर पद्मासन मुद्रा में भूमि को स्पर्श कर रहे हैं। इन मूर्तियों में दक्षिण स्कन्ध खुला हुआ है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभा मण्डल तथा मस्तक के ऊपर बोधिवृक्ष बनाया गया है। मूर्ति की दक्षिण दिशा में धनुर्धारी मार (कामदेव) तथा वामभाग में अप्सराओं की आकृतियाँ

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग (२), पृ० ३६३
[2] देखिये चित्रफलक संख्या १४
[3] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (२) पृ० ३४६

निर्मित हैं। प्रभामण्डल के ऊपर दानो दिशाओ म दो दो राक्षस मूर्तिया बनी हुई हैं। मार विजयी भगवान् बुद्ध पर देवता पुष्प वर्षा करते हुए भी दृष्टिगत होते हैं। इस मूर्ति के नीचे किन्तु दक्षिण दिशा म एक नारी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। 'डा० फोगल ने इस स्त्री की समता वसु धरा (पृथ्वी) स बनाइ है जिसको बुद्ध ने सम्बोधि (ज्ञान) के साक्षी के रूप मे बुलाया था। उसी भाग म बाइ ओर एक अन्य दौडती हुई स्त्री की आकृति मिली है जो मार की पुत्री बताई जाती है। किसी किसी मूर्ति म पुत्री के साथ उसके पिता मार की भी आकृति बनाइ हुई मिलती है। कहीं कहीं आमन को धारण किय दो वामन पुरुष दिखाय गये ह।"[1]

बुद्ध की ताम्रमूर्ति

यह प्रतिमा पाटलिपुत्र के द्र की देन है, यह भागलपुर जिले के सुल्तानगज से प्राप्त हुई है।[2] आज यह इगलण्ड के बरमिंघम सग्रहालय म सुरक्षित है। यह खडी ताम्र प्रतिमा ऊँचाई म साढ़े सात फीट है। भगवान् बुद्ध का दक्षिण कर इस प्रतिमा मे अभयमुद्रा म है। वस्त्र पारदर्शक और शरीर म चिपका है अत यह वस्त्र अगो की मनोहर छवि को व्यक्त कर रहा है। कोमल कि तु सुडौल मास पेशी सहित इन अगो की कोमलता और वर्तुलाकारिता आकर्षक है। इस मूर्ति मे अगुलियो के नुकीले द्वारा को कुछ पीछे की ओर मोड कर कलाकार ने अपनी कल्पना एव भावुकता को व्यक्त किया है। इस मूर्ति की प्रशसा करते हुए सत्यकेतु विद्यालकार लिखते हैं कि 'इसम बुद्ध का स्वरूप समुद्र की तरह गम्भीर, महान्, पूर्ण और लोकोत्तर है। बुद्ध का दाहिना हाथ अभयमुद्रा म कुछ आगे बढा हुआ है। मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, करुणा और दिव्य तेज है। गुप्तकाल की मूर्तिया म ताम्र की यह प्रतिमा वस्तुत बडी अद्भुत और अनुपम है। धातु को ढालकर इतनी सुन्दर मूर्ति जो शिल्पी बना सकते थे उनकी दक्षता कला और प्रतिभा की सचमुच प्रशसा करनी पडती है।"[3] बुद्ध की यह प्रतिमा अपने म व्याप्त आध्यात्मिकता एव प्रभावोत्पादकता के कारण दर्शक को धरातल से उठाकर स्वर्गीय आनन्द म विभोर कर देती है। हैवल महोदय इस मूर्ति को अनुराधापुर (लका) की प्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमा की भाति गुप्तकला की प्रारम्भिक श्रेष्ठ रचनाओ म मानते हैं। इस प्रतिमा स धातु मूर्ति कला की उत्कृष्टता स्वय सिद्ध है।

मथुरा की खडी बुद्ध मूर्ति

बुद्ध की यह खडी प्रतिमा ७ फीट २½ इच लम्बी है। यह मूर्ति मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस मूर्ति के शीर्ष पर प्रभामण्डल है। वस्त्र अत्यन्त महीन है। परिणामस्वरूप शरीर का प्रत्येक अग दूर स ही स्पष्ट झलकता है।

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास (२), पृ० २८२
[2] चित्रफलक २२
[3] भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३५७

बुद्ध की प्रतिमा गम्भीर तथा करुणापूर्ण है। इससे आध्यात्मिकता झलकती है। इसकी प्रशंसा करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते है कि "इसके मुखमण्डल पर भी शान्त, करुण और आध्यात्मिक भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। बुद्ध निष्कम्प प्रदीप के समान खड़े हैं और उनके मुख पर एक दैवी स्मिति भी है। इस मूर्ति में बुद्ध ने जो वस्त्र पहने हैं, वे बहुत ही महीन हैं, उनमें से उनके शरीर का प्रत्येक अंग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल है।"[1] इस मूर्ति को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल की मूर्तिकला विदेशी प्रभाव से मुक्त शरीर पर आत्मा की विजय एवं आध्यात्मिकता की छाप से युक्त एक सजीव कला है।[2]

प्रस्तर फलक

गुप्तकालीन कलाकार केवल मूर्तियों का निर्माण कर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेते थे अपितु इन कलाकारों ने प्रस्तर-फलकों पर बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाओं को भी उत्कीर्ण किया है। इस प्रकार की जीवन सम्बन्धी घटनाओं से अंकित अनेक प्रस्तर सारनाथ में प्राप्त हुए हैं। सारनाथ में प्राप्त फलकों पर बुद्ध का जन्म स्थान लुम्बिनी सम्बोधि बोधगया धर्मचक्र प्रवर्तन-सारनाथ महापरिनिर्वाण कुशीनगर, त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से लौटना, नालागिरि हस्तीदमन राजगृह, वानरेन्द्र का मधुदान विश्वरूप-प्रदर्शन श्रावस्ती आदि घटनायें इन प्रस्तर फलकों पर अंकित हैं। इन घटनाओं को कलाकारों ने अनेक प्रस्तरों पर अंकित किया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक घटनायें प्रस्तर-फलकों पर देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए मायादेवी का स्वप्न और महाराज कुमार सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण इन दोनों में सविस्तृत अंकन प्रस्तर-फलकों पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल के इन कलाकारों ने केवल भगवान् की विभिन्न मूर्तियों का ही निर्माण नहीं किया अपितु उनके अलौकिक जीवन की प्रधान तथा अप्रधान सभी घटनाओं को सफल रूप में अंकित किया है। प्रस्तर खण्डों में उत्कीर्ण ये घटनायें गुप्तकालीन कलाकारों की कला की अनुपम उदाहरण हैं। ऐसा लगता है कि दक्ष कलाकारों ने अपनी सम्पूर्ण कला प्रतिभा इन प्रस्तर खण्डों में मूर्तिमान कर दी है।

पौराणिक मूर्तियाँ

गुप्त काल में ब्राह्मण-धर्म का अभ्युत्थान हुआ इन वैष्णव भक्त भागवत उपाधि-धारी सम्राटों के काल में अनेक हिन्दू पौराणिक देवी-देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस काल में निर्मित पौराणिक मूर्तियों में सजीवता और सौन्दर्य दोनों ही विद्यमान हैं। इस काल में भगवान् विष्णु के अवतारों की प्रतिमाएँ ही नहीं बनी, इनके अतिरिक्त शिव दुर्गा की प्रतिमाएँ भी बनी। गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर भी इन पौराणिक प्रतिमाओं को स्थान दिया गया।

---

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास पृ० ३२६

[2] द्रष्टव्य चित्र फलक संख्या १२

विष्णु प्रतिमा

गुप्त-काल के शिल्पकार भगवान् विष्णु की सुन्दर प्रतिमाओं का निर्माण करते थे। मध्य भारत में भिलसा के निकट उदयगिरि गुहा की दीवाल पर चतुर्भुजी विष्णु की प्रतिमा बनाई गई है। मध्य प्रदेश के सागर जिले के अन्तर्गत एरण स्थान पर भी विष्णु की एक प्रतिमा मिली है। इन दोनों ही मूर्तियों में भगवान् अधोवस्त्र तथा मुकुट धारण किये हुए हैं। गले में हार और केयूर भी सुशोभित हैं।

भिलसा के निकट उदयगिरि गुहा की दीवाल पर पृथ्वी का उद्धार करते हुए वाराहावतार की एक विशाल मूर्ति बनी हुई है। पौराणिक कथा के अनुसार प्रलय-काल में जल में मग्न होती हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए भगवान् विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था और सहज ही पृथ्वी की रक्षा की थी। इस मूर्ति का सम्पूर्ण शरीर मानवाकृति का है, किन्तु मुख केवल वराह का है। इस प्रकार की मूर्तियों को विद्वान् भू वराह और आदिवराह नामों से अभिहित करते हैं। यह मूर्ति वनमाला धारण किये हुए है। दक्षिण पद सीधा है तथा वामपद के नीचे आदि शेष की आकृति है। आदि शेष का फण विशाल है जिसमें एक पुरुष मूर्ति भी अंकित है। निकट ही एक नारी प्रतिमा भी बनी है। वाराह मूर्ति के वाम स्कंध पर भूमि-देवी आसीन है।

शेषशायी-विष्णु

अद्वितीय मूर्ति मिली है। दोनों मूर्तियां की वेशभूषा, अलंकरण तथा मुद्रा आदि को स्पष्ट रूप में दिखाया गया है। सारनाथ के संग्रहालय में काशी से प्राप्त एक गोवर्द्धनधारी कृष्ण की मूर्ति भी उपलब्ध हुई है। इसमें कृष्ण गोवर्द्धन पर्वत को गेंद की तरह उठाए हुए हैं। किन्तु श्रीवासुदेव उपाध्याय इस मूर्ति को कृष्ण की न मानकर शिव की मूर्ति मानते हैं।

कार्तिकेय

काशी के कला भवन में सुरक्षित यह कार्तिकेय की प्रतिमा मयूर पर आसीन है। कार्तिकेय के चरण युगल मयूर के गले में पड़े हुए हैं। मूर्ति के सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल गले में हार तथा अन्य अनेक आभूषण है। कार्तिकेय की यह मूर्ति सुन्दरतम है। इसमें गाम्भीर्य और पौरुष का भाव व्यक्त किया गया है कलाकार को जिसमें पूर्ण सफलता मिली है।

गुप्त काल में निर्मित अनेक मूर्तियां में भरतपुर से प्राप्त विशालकाय बलदेव की प्रतिमा महत्वपूर्ण है। यह ऊंचाई में सत्ताइस फीट से भी अधिक है। दूसरी एक मूर्ति लक्ष्मी नारायण की है। इसकी ऊँचाई नौ फीट से कुछ अधिक है।

कौशाम्बी की सूर्य मूर्ति

गुप्त काल धार्मिक सहिष्णुता का काल है, इस काल में वैष्णव अवतारों के अतिरिक्त सूर्य की प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है। यह भारत कला भवन में सुरक्षित है। इसमें सूर्यदेव हार धारण किए हुए है। उनके दोनों ओर उषा और सन्ध्या दो नारियों की मूर्तियाँ भी हैं। यह सूर्य प्रतिमा कला की दृष्टि से सुन्दर है।

दुर्गा

भगवती दुर्गा की मूर्तियाँ अधिक नहीं मिली हैं किन्तु भिलसा के निकट उदयगिरि गुफा की दीवाल पर महिषासुर मर्दिनी दुर्गा की आकृति बनी हुई है। यह मूर्ति अष्टभुजी है।

शिव मूर्तियाँ

पहले ही कहा जा चुका है कि वैष्णव सम्राट धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु थे अतः उस काल में अनेक देवी देवताओं की प्रतिमायें बनी हैं। इस काल में भगवान शिव की दो प्रकार की प्रतिमायें बनी हैं—एक तो शिवलिंग के रूप में, दूसरी एक मुख शिवलिंग के रूप में। करमदण्डा (फैजाबाद) से एक शिवलिंग की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह ऊपर से गोलाकार तथा नीचे से अष्टकोणाकृति है। नीचे की ओर एक लेख उत्कीर्ण है— भगवतो महादेवस्य पृथिवीश्वरस्य इत्येव समाख्या। दूसरी प्रतिमा नागोद राज्य में मिली है। यह मूर्ति गोलाकार मानवाकृति में है। इसके सिर पर रत्न जड़ित मुकुट है और जटाजूट के ऊपर अर्धचन्द्र है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी दृष्टिगत होता है। इस मूर्ति के आँख नाक और ओष्ठ बहुत सुन्दर बने हैं। गले में हार तथा कानों में कुण्डल भी हैं।

जैन प्रतिमा

गुप्त काल धार्मिक सहिष्णुता का काल था अत बौद्ध तथा ब्राह्मण मूर्तियो के अतिरिक्त इस काल म जन मूर्तियाँ भी मिली है। ये जन मूर्तियाँ भी कला की दृष्टि से सु दर हैं। कुमारगुप्त के काल म बनी हुई एक चौबीसव तीथकर वधमान महावीर की प्रतिमा मिली है। इसमे महावीर पद्मासन लगाये ध्यान मुद्रा मे बठे हुए हैं। आसन के नीचे एक लेख उत्कीण है, नीचे के भाग मे चक्र बना है। चक्र के दोनो ओर दो मानव आकृतियाँ निर्मित हैं। इसके अतिरिक्त स्क दगुप्त के शासन काल म कहोम म एक तीथकर की मूर्ति स्थापित की गई थी, ऐसा भी उल्लेख मिलता है।

मृण्मयी मूर्तियाँ (*Terracotta*)

गुप्तकाल स पूव भी मण्मयी मूर्तियो का निर्माण होता था, कि तु जो सौ दय गुप्तकालीन मण्मयी मूर्तियो मे मिलता है वह अ यत्र दुलभ है। इस काल की मृण्मयी मूर्तियाँ प्रस्तर की मूर्तियो के सौ दय की समकक्षता सहज ही कर सकती है। मण्मयी मूर्तियो क निर्माण के लिए पहल साचे म ढाल कर इट का निर्माण किया जाता था, उसक पश्चात् विविध उपकरणो स उन पर चित्रकारी की जाती थी। इसके अन तर उ ह सुखाकर पका लिया जाता था। गुप्तकालीन चित्रित ये इटे बहुत ही सु दर है। गुप्तकाल म उपल ध इन मूर्तियो म बौद्ध और पौराणिक दवी देवताओ की मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, राजघाट अहिच्छत्र, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानो से उपल ध हुई हैं। मूर्तियो के अतिरिक्त इन स्थानो से पकी मिट्टी के अनेक खिलौने, बल हाथी, घोडे आदि प्राणी भी बहुत बडी सख्या म मिले हैं। मत्तिका निर्मित इन मूर्तियो मे तत्कालीन जन समाज का स्पष्ट चित्रण मिलता है। वासुदव शरण अग्रवाल ने इस सम्ब ध मे लिखा है—

"लोक म कलात्मक सौ दय क प्रचार क लिए मिट्टी क खिलौनो का माध्यम अति उपयुक्त सिद्ध हुआ होगा। खिलौनो के बनान वाले उन पर सु दर चित्रकारी और लिखाइ का काम भी करते थे। अनेक प्रकार के सु दर केश वि यास स्त्री मस्तको पर पाए गए है। अलकावली बहुभार रचना, क्षौद्र पल्लाकृति और छत्राकार आदि केशवेशो का अध्ययन तत्कालीन सस्कृति की जानकारी के लिए उपयोगी है।"[1]

इन मण्मयी मूर्तियो और नारी प्रतिमाओ म स्वाभाविकता और ओज का सामजस्य है। य नारी मूर्तियाँ स्वाभाविक होत हुए सासारिक जीवन क प्रति आकृष्ट है। नाल दा के पाषाण चौखटा और मनियार मठ' की इन मूर्तियो मे गुप्तकालीन नारी सौ दय के आदश की सफल अभिव्यक्ति हुई है। इन मूर्तियो म पूण विकसित उरोज, विस्तृत नितम्ब प्रणय भावनाओ से मदमाती थकी उनादी आख और लालसा-

---

[1] कला और सस्कृति, पृ० २३७

मयी चेष्टाएँ अत्यंत आश्चर्यजनक रीति से पूर्ण सचाई और ईमानदारी के साथ, प्रदर्शित की गई है। इनमें आनन्द विह्वलता के साथ सुरोचकता और प्रमाभिव्यक्ति के साथ एक गरिमा है। संसार के उल्लास और पूर्णता का नारी एक अनिवार्य साधन है और इसलिए हम इन मूर्तियों में नारी शरीर की अपूर्व छवि देखते हैं।'

नारी सौंदर्य को अभिव्यक्त करने वाले खिलौनों में राजघाट से प्राप्त खिलौने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। राजघाट से प्राप्त खिलौनों (चतुर्थ पंचम शतक) में स्त्री मस्तक, मुहर और पशु पक्षी तथा कुछ बर्तन उपलब्ध हुए हैं। कला की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से स्त्री मस्तक अधिक महत्त्वपूर्ण है। राजघाट की खुदाई से उपलब्ध सामग्री की तुलना भीटा से प्राप्त सामग्री से की जा सकती है। दोनों स्थानों की सामग्री में आकार प्रकार का साम्य है। भीटा के स्त्री मस्तक और राजघाट के स्त्री मस्तक बहुत अधिक मात्रा में समान हैं किन्तु संख्या और कला की दृष्टि से राजघाट के स्त्री मस्तक तथा अन्य उपलब्ध सामग्री अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक कलापूर्ण है। राजघाट में इन खिलौनों की सबसे बड़ी विशेषता केश-रचना तथा रंगों की चित्रकारी में है। आज के युग में जो विविध रूप में नारियों के केशों की सज्जा होती है उन सभी को हम गुप्तकालीन इन खिलौनों में सहज देख सकते हैं।

सारनाथ संग्रहालय में बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इन मूर्तियों में भगवान बुद्ध विभिन्न मुद्राओं में दिखाये गए हैं। बुद्ध का विश्वरूप प्रदर्शन प्रसंग भी इन मृण्मयी मूर्तियों में चित्रित है। इन मृण्मयी मूर्तियों में बुद्ध का सिर भी उपलब्ध हुआ है। पार्श्व खण्डित हिन्दू देवता की एक मूर्ति गले में माला, वक्षस्थल पर धारण किए हुए मिली है। इसी प्रकार अनेक मनुष्य मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा में प्राप्त मृण्मयी मूर्तियों में वृद्ध पति स्त्री पुरुष विशेष उल्लेखनीय हैं। स्त्री पुरुष की मूर्ति में स्त्री के कान पीछे की ओर हैं। पुरुष कान में कुण्डल गले में हार तथा हाथों में कंगन धारण किए हुए है।

इन मृण्मयी मूर्तियों एवं खिलौनों के अतिरिक्त गुप्तकालीन मुहरें भी वैशाली तथा भीटा से प्राप्त हुई हैं। इन मुहरों पर अंकित लेख तत्कालीन शासन प्रणाली पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं।

गुप्तकाल में बनी ईंटें भी ऐतिहासिक साक्ष्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गुप्तकालीन ये ईंटें मौर्यकालीन ईंटों के समान ही हैं किन्तु ठोस नहीं हैं। आकार की दृष्टि से ये ईंटें १४×८×२$\frac{1}{2}$ तथा १०×८×$\frac{?}{2}$ इंच की हैं, भीटा से प्राप्त ईंटें १०$\frac{3}{4}$×७×२$\frac{1}{2}$ इंच के आकार की हैं।

गुप्तकाल में मूर्तिकला जिस प्रकार अपने गौरवपूर्ण स्थान पर थी उसी भाँति मृण्मयी मूर्तियों के निर्माण की कला भी चरम उन्नति पर थी। गुप्तकालीन कलाकारों का हाथ मृण्मयी मूर्तियों के निर्माण में कुशल था।

गुप्त युग की मूर्तिकला की विशेषतायें

(१) विदेशी प्रभाव का अभाव—गुप्त-युग की मूर्तिकला का विकास आध्यात्म

वाद और पाश्चात्य भौतिकवाद के समन्वय के पश्चात् हुआ है। इस समन्वय ने इस देश की मूर्तियो म एक अपूर्व सौन्दय का आधान किया है। डा० विन्ध्येश्वरी प्रसादसिंह ने लिखा है कि—

'गुप्त युग की मूर्तिकला विशुद्ध भारतीय है और जो कुछ भी विदेशी तत्त्व थे, उनको इस प्रकार आत्मसात् कर लिया है कि उनकी स्वतन्त्र स्थिति का पता ही नही चलता। गुप्तकालीन मूर्तियो म आध्यात्मिक कान्ति और आन्तरिक शान्ति की छटा व्याप्त है। इस दिशा म गुप्तकला मथुरा शली स बहुत आगे बढ गई है। मूर्तियो के सरस सौन्दय और कोमलता को देखकर दशक का मन प्रतिमा क साथ पसीजता सा लगता है। मूर्तियो के देखने से आखो की तृप्ति क साथ आन्तरिक सुख और सन्तोष भी प्राप्त होता है। वे हम अपने आन्तरिक सौन्दय की ओर आकर्षित करती हैं न कि केवल बाहरी सौन्दय पर हमे अटकाये रहती हैं। उन मूर्तियो म आध्यात्मिकता और बौद्धिकता क सुन्दर सामजस्य के साथ साथ आध्यात्मिक भावनाओ की सचेष्टता स्पष्ट अभिव्यक्त है। यद्यपि मानव शरीर ही कलाकार का प्रधान विषय था तथापि उसम उसने पार्थिव सौन्दय से अधिक ईश्वरीय सौन्दय प्रकट करने मे सफलता पाई है।'[1] वस्तुत गुप्तकालीन कला एक जागरण काल की कला है इस काल म भारतीय जनमानस के आदर्शों म क्रान्ति हो रही थी विदेशी और स्वदेशी, बौद्ध और ब्राह्मण विचारो म एक ओर सघष और दूसरी ओर उनका समन्वय करते हुए एक नवीन कला का उदय हुआ जो निस्स देह भारतीय थी। श्री आर० डी० बनर्जी का कथन है— गुप्तकालीन कला की आत्मा तो मूलत भारतीय परम्परा से ओतप्रोत है, इस काल को मूर्तिकला विशेष उल्लेखनीय है जो भारतीय तत्त्वो के पुनरुद्धार से अनुप्राणित है।

इस काल म भारतीय कलाकारो ने अपनी एक विशिष्ट शली का सृजन किया था, जिसम मूर्ति का कद मूर्ति के गात केशराशि, मासपेशियाँ चेहरे की बनावट, प्रभामण्डल, मुद्रा स्वाभाविकता, आदि तत्त्वो पर विचार कर मूर्ति का सृजन किया जाता था। इस प्रकार उस काल म एक विशिष्ट शली ही बन गई थी। वह भारतीय एव राष्ट्रीय शली थी। इसीलिए डा० विन्ध्येश्वरीप्रसादसिंह ने इस शली को राष्ट्रीय शली कहा है—

गुप्तकला राष्ट्रीय कला है, जिसम भारत की आत्मा और एतिहासिक परम्परा प्रतिष्ठित है। इस समय की मूर्तिया अधिकतर बडे कद की हैं जो कुषाण और मौयकाल की सीध म हैं, फिर भी इन विशाल मूर्तिया म कुषाण-उदाहरणो की अपेक्षा अगो की रचना अत्यन्त कोमल और कमनीय है। गोल चेहरा, गाल गोल बाह, गाल पर ईषत् गत और नीच का ओठ कुछ मोटा तथा लटका हुआ, गुप्त-मूर्तियो के विशिष्ट लक्षण हैं, बुद्ध की मूर्तिया म आभूषणो का अभाव है और बोधिसत्त्वो की

[1] भारतीय कला को विहार की देन, पृ० ११२ १३

मूर्तियों में भी साधारण और कम आभूषण हैं। आभूषणों के द्वारा शरीर की सुन्दरता को ढकने की कोशिश नहीं की गई है और पारदर्शक वस्त्र से नग्नता को छिपाकर शील भावना को प्रकट किया है।"[१]

(२) आध्यात्मिक भावों का प्रदर्शन— गुप्त कालीन कलाकार बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य के शिल्पी थे। इस काल के कलाकार का लक्ष्य यद्यपि मानव ही था तथापि वह मानव के हृदय का अंकन करने में अधिक सफल हुआ है। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि "वे विशुद्ध भारतीय हैं। उनकी आकृति, मुद्रा और भावभंगी पूर्णतया भारतीय होते हुए भी उनमें अनुपम सौन्दर्य है। भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा भी उनमें आन्तरिक शान्ति, ओज और आध्यात्मिक आनन्द की जो झलक है, वह वर्णनातीत है।"[२] वस्तुतः गुप्तकाल की शिल्पकला आध्यात्मिकता से पूर्ण है इस काल के आधारभूत तत्त्व धर्म की भावना से पूर्ण थे। 'इस कला का आधारभूत विषय निस्सन्देह सदा धार्मिक है किन्तु इस विषय के प्रतिपादन में आध्यात्मिक भावना और जीवन के अनुभव तथा तथ्यपूर्ण बातें सब एक सुगम समष्टि के अन्तर्गत हैं। आशय यह है कि गुप्तकला की पार्थिव सौंदर्य अंकन की अपेक्षा आध्यात्मिक सौन्दर्याभिव्यक्ति अपनी एक विशेषता है।

(३) अलंकृत प्रभामण्डल— गुप्तकालीन बुद्ध की मूर्तियों में शिर के पीछे एक प्रस्तर लगा रहता है। इस प्रभामण्डल कहते हैं। इस प्रभामण्डल का निर्माण यद्यपि गान्धार तथा मथुरा शैली में भी होता था किन्तु उनके विरल और अनलंकृत प्रभामण्डल की अपेक्षा गुप्तकाल में सुन्दर एवं भव्य मनमोहक अलंकारों से इस अलंकृत किया गया है।

(४) कुंचित केशराशि— गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों में दक्षिणावर्त कुंचित केश और उष्णीष की अपनी विशेषता है। इसके पूर्व गान्धार कला में सिर मुण्डित रूप में दिखाया जाता था।

(५) वस्त्रांकन— गुप्तकालीन प्रत्येक मूर्ति महीन वस्त्र से आच्छादित है पारदर्शक वस्त्र में शरीर के प्रत्येक अंग का उभार का स्पष्ट दिखाया गया है। अधोवस्त्र काल की मथुरा केन्द्र से निर्मित मूर्तियों में पायजामा (सलवटें) भी हैं। उत्तरीय कटि में बंधा है। सघाटी दोनों स्कन्धों को ढककर घुटनों तक लटकी हुई मिलती है।

(६) सजीव शरीरांकन— गुप्तकाल की मूर्तियों में वक्षस्थल में पूर्ण उभार दिखाया गया है। स्कन्धों की अपनी एक विशिष्ट विशेषता है जिसके कारण मूर्ति सजीव, प्राणमान तथा सुन्दर लगता है।

(७) गुप्तकाल की कला में बौद्ध मूर्तियों का अधिक निर्माण हुआ है। वे मूर्तियाँ विभिन्न भाव एव मुद्राओं में हैं। बुद्ध की प्रतिमाएं प्रायः पाँच मुद्राओं में मिलती हैं—

---

१ भारतीय कला को बिहार की देन, पृ० १३
२ भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २८८

(१) ध्यानमुद्रा, (२) भूमिस्पर्श मुद्रा (३) अभय-मुद्रा (४) वरद-मुद्रा (५) धर्म चक्र-मुद्रा।

(८) प्रस्तर—भारतीय कला में प्रस्तरों के सम्बन्ध में निरंतर नवीन प्रयोग होते रहे हैं। गान्धार शैली में प्रस्तर भूरा था मथुरा शैली में सफेद चित्तीदार लाल प्रस्तर था किन्तु गुप्तकालीन कला में चुनार (मिर्जापुर) के सफेद बालूदार प्रस्तर का प्रयोग किया गया है।

(९) अलंकरण—गुप्तकालीन कला अलंकृत कला है। गुप्त-पूर्व युग की कला में अलंकरण का अभाव था, किन्तु इस काल में भवन, गृह सुसज्जित किए जाते थे। मूर्ति को भी अलंकृत किया जाता था। गुप्तकालीन तक्षण-कला के अलंकार थे ब्याल (Leograph), कीर्ति मुख गंगा और यमुना तथा अनेक प्रकार के बेलबूटे।

(१०) आदर्श और सौन्दर्य—गुप्तकालीन कला विदेशी तत्त्वों को आत्मसात् कर एक समन्वयवादी कला है। इस काल की मूर्तियों में आदर्श और सौन्दर्य का समन्वय है। आदर्श और सौन्दर्य के समन्वय की सर्वोत्तम रचना सारनाथ की बुद्ध मूर्ति है। श्री मजूमदार ने ठीक ही लिखा है—'संक्षेप में ताल, गति और सौन्दर्य की उच्च भावना से परिपूर्ण उच्च आदर्श ही गुप्तकालीन मूर्तियों की विशेषता है। उनकी कला और निर्माण में ओज और सुरुचि टपकती है। गुप्तकालीन कला में बौद्धिकता की प्रधानता है, जिसके कारण उच्च विकसित भावना और अत्यधिक अलंकरण को नियन्त्रित रख सकने में यह समर्थ हो सका है।'[1]

(११) स्वाभाविकता—गुप्तकाल की कला स्वाभाविक है। इसी विशेषता के कारण यह विशेष प्रिय है। इस कला में अस्वाभाविकता का स्थान नहीं दिया गया है। "गुप्तकाल की तक्षण कला की विशेषता उत्कृष्ट आदर्शवाद और सौन्दर्य की पूर्ण विकसित भावना का समन्वय है एवं आध्यात्मिक अभिव्यंजना के साथ साथ सौन्दर्य वृद्धि और समानुपात का पूरा ध्यान रखा गया है तथा कलाविदों की कृतियों में सजीवता और विशुद्धता है। गुप्त युग की मूर्ति कला की प्रशंसा करते हुए श्री नूलिया लिखते हैं कि इस युग की मूर्तियों की विशेषता है कि उनके मुख और नेत्रों की मुद्रा शान्त है जो उनके ध्यानस्थ शान्त मन का आत्मिक अभिव्यक्तिकरण है।

---

[1] आर० सी० मजूमदार एंशिएण्ट इण्डिया, अध्याय २० पृ० ४६०

'In general a sublime idealism, combined with a highly developed sense of rhythm and beauty, characterises the Gupta sculptures and there are vigour and refinement in their design and execution The intellectual element dominates Gupta art and keeps under control the highly developed emotional display and the exuberance of decorative elements which characterise the art of succeeding ages'

उनके उत्फुल्ल मुख मण्डन पर अपूर्व प्रभा, कोमलता, गम्भीरता, शांति और स्वाभाविकता है।"[1] आशय यह है कि भारतीय कला के इतिहास में गुप्तकालीन मूर्तिकला का अपना महत्त्व है।

चित्रकला

गुप्तकाल में अन्य कलाओं की भांति चित्रकला का अपना स्वर्णिम महत्त्व है, गुप्तकाल की चित्रकला इस बात की प्रमाण है कि भारतीय कला केवल आध्यात्मिक अभिव्यंजना तक ही सीमित नहीं है अपितु इस काल की कला में मानव जीवन व्यापक रूप में समाविष्ट हो गया है। भारतीय चित्रकला के अनुपम प्रतीक अजन्ता एवं बाघ इसी काल की थाती है। कला के ये अमर-स्मारक भारतीय चित्रकला को विश्व की चित्रकला के समक्ष रखने में उनसे प्रतिस्पर्धा करने में सर्वथा समर्थ हैं।

आधुनिक अनुसन्धानों से पूर्व अठारहवीं शताब्दी तक भारतीय चित्रकला पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष नगण्य थी। भले ही हमारे यहाँ का इतिहास उत्कृष्ट भारतीय चित्रकला का परिचायक रहा हो वस्तुतः भारतीय चित्रकला का इतिहास पुरातन है। चित्रकला भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग थी। इसके सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में सबल उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन भारत की चित्रकला के विश्वविख्यात एवं सर्वोत्कृष्ट आदर्श बम्बई राज्य की अजन्ता गुफा में मिलते हैं। भारतीय चित्रकला के प्रतीक अजन्ता की ओर दृष्टिपात करते ही हम भारतीय चित्रकला की महत्ता, उत्कृष्टता एवं हृदय ग्राहकता का अनुभव हो जाता है।

अजन्ता के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख ह्वेनसांग के यात्रा विवरण में मिलते हैं।[2] किन्तु आश्चर्यजनक बात यह है कि ह्वेनसांग के यात्रा वर्णन के पश्चात् हम अजन्ता और उसकी कला को भूल से गये। इसका कारण दक्षिण भारत के पर्वतों की उपत्यकाएँ रही हैं जिनके कारण कला का यह अनुपम तीर्थ एक हजार वर्ष तक अप्रकाशावृत्त रहा। सन् १८१९ में सर जेम्स एलेक्जेंडर ने शिकार खेलते हुए, कला के इस महान् तीर्थ को देखा और विश्व के सम्मुख उसे लाकर खड़ा किया। इसके पश्चात् अनेक विद्वानों ने अजन्ता की चित्रकला के विषय में लिखा है। इनमें से जेम्स फरग्यूसन, रोबर्ट गिल, जेम्सग्रिफिथ, लेडी हरिंघम, मुकुल दे, पर्सी ब्राउन, डा० आनन्द कुमार स्वामी, रविशंकर रावल के प्रयत्न तथा श्री याजदानी द्वारा हैदराबाद के पुरातत्त्व विभाग में विभागाध्यक्ष अजन्ता का जो आगामी प्रकाशन आदि प्रयत्न सराहनीय हैं।

अजन्ता की गुफाएँ बम्बई राज्य में फरदापुर से चार मील दूर स्थित हैं, जो कि औरंगाबाद से ६३ मील उत्तर में और जलगाँव से ३४ मील दूरी पर हैं। अजन्ता की गुफाएँ बड़े-बड़े पहाड़ों की कन्दरा एवं भाग के अर्द्धवर्तुलाकार घेरे में मालाकृति

---

[1] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास पृ० २१०

[2] बील्स बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ दि वस्टर्न वर्ल्ड खण्ड १ पृ० २५०

एक सिरे से दूसरे सिरे तक बनी है।[1] सन् १८७९ तक विद्वानों का विचार था कि इसमें १६ गुफाएँ चित्रकारी से पूर्ण हैं, किन्तु जब अजन्ता की गुफाओं का गहन अध्ययन किया गया तब इनमें से नं० १, २, ६, १०, १६, १७ की गुफाएँ ही इस प्रकार की निकलीं जिनमें फ्रेस्को (Fresco) भित्तिचित्र अब भी विद्यमान हैं। चित्रों का निर्माण करने से पूर्व कमरों की दीवारों पर एक प्रकार का प्लास्टर लगाया जाता था फिर उस पर सफेदी कर चित्रांकित किये जाते थे। ये प्लास्टर इतने मजबूत और सुन्दर हैं कि अनेक शताब्दियों के पश्चात् भी पूर्ववत् हैं।

अजन्ता स्थित गुफाएँ दो प्रकार की हैं—एक स्तूप गुफा, दूसरी विहार गुफा। स्तूप गुफा का निर्माण प्रार्थना उपासना के लिए होता था जो कि लम्बी होती थी और उसके दूसरे छोर पर एक स्तूप होता था। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा मार्ग होता था। स्तूप से द्वार पर्यन्त दोनों ओर स्तम्भों की पंक्ति होती थी। अजन्ता की १९वीं गुफा सबसे बड़ी स्तूप गुफा है इस गुफा का द्वार भव्य एवं रमणीय है। अजन्ता की गुफाएँ वास्तुकला की भी अनुपम प्रतीक हैं किन्तु गुफा नं० १ सर्वश्रेष्ठ है। यह पर्वत के भीतर एक सौ बीस फुट काटकर बनाई गई है। इन गुफाओं में भित्ति छत तथा स्तम्भों पर सैकड़ों चित्र अंकित हैं। इन भित्तिचित्रों में अधिकतर बुद्ध के पूर्वजन्मों की घटनाओं का चित्रण है, जिनका वर्णन जातक ग्रन्थों में मिलता है। अजन्ता के भित्ति चित्रों में हमें सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय जीवन की एक झाँकी मिलती है। यहाँ हम सम्राटों, उनके महलों, अन्तःपुर की स्त्रियों, किसानों, तपस्वियों, भिखारियों आदि का चित्रण पाते हैं। जानवरों, चिड़ियों, पेड़ पौधों और फूलों के उत्कृष्ट चित्रण में भी कलाकार की सिद्धहस्तता दिखाई देती है। यहाँ हम ध्यानमग्न बुद्ध से लेकर शृंगार में रत नारियों तक सभी मानव व्यापार का अंकन पाते हैं। मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष आदि भावों की अभिव्यक्ति भी सफलतापूर्वक की गई है। अंग विन्यास और अलङ्करण का भी उत्कृष्ट चित्रण मिलता है।[2] अजन्ता के चित्रों में जितने व्यक्ति अंकित हैं चाहे वे धनपति हों या भूमिपति या निर्धन, पुरुष या स्त्री, उन सभी में जीवन के प्रति उल्लास, लालसा और आस्था स्पष्ट है। उनके हृदय में जीवन के प्रति सुखमयी लालसा बहुत ही उभरकर व्यक्त हुई है।

अजन्ता के चित्रों के लिए जितने भी विषय चयन किये गये हैं उनकी पृष्ठभूमि धर्म प्रधान होते हुए भी उनकी प्रभावाभिव्यक्ति धर्म निरपेक्ष वातावरण में हुई है। कलाकार की कल्पना ने पूरी सृष्टि के सभी रूपों और सभी स्तरों के प्राणियों को अपनी कला में समा लेने का प्रयत्न किया है। सप्राणता, शक्ति के आभास तथा प्रकृति के गहरे अवलोकन की दृष्टि से कुछ चित्र तो अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। शैली विवरणात्मक है जिसमें अंकन के माध्यम का बड़ी निपुणता से प्रयोग किया गया है। प्रभावशाली पर साथ ही सवन्नशील रेखाएँ, रंगों का संकेतात्मक प्रयोग, रूप

---

[1] देखिये चित्रफलक संख्या १३

[2] डा० लल्लन जी गोपाल एवं यादव, भारतीय संस्कृति, पृ० १५६

को परिष्कृत तथा सामंजस्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वाली चतुर चित्र रचना, अमिट छाप डालने वाली भावों की अभिव्यक्ति तथा उदात्त मुद्राएँ ये इस प्रमुख कला शैली की कुछ लाक्षणिक विशिष्टताएँ हैं।[1] अजंता के चित्रों के विषय प्रधानतः तीन हैं—(१) बुद्ध और बोधिसत्वों के चित्र (२) जातकों के वर्णनात्मक दृश्य (३) पृष्ठभूमि तथा अलङ्करण के लिए चित्रित आकृतियाँ जैसे वृक्ष, लता, पुष्प, पशु पक्षी, देवी देवता, अप्सरा, गन्धर्व, यक्ष आदि। इन चित्रों में हम सिद्धहस्त कलाकार की कोमल कल्पना, रसों का भावानुकूल कुशल प्रयोग, अभिव्यक्ति का मार्दव, लालित्य और सम्पन्नता तथा अभिप्राय की सजीवता देखने को मिलती है।

अजन्ता की चित्रकला का समय क्या है इसका ठीक ठीक निर्णय विवादास्पद है। फिर भी विद्वानों ने पर्याप्त शोध के अनन्तर कुछ निर्णय दिये हैं। पर्सी ब्राउन (Percy Brown) के अनुसार विभिन्न गुफाओं का समय इस प्रकार है—

(१) गुफा नं० ९, १० — १०० ई०
(२) गुफा नं० १० के स्तम्भ — ३५० ई०
(३) गुफा नं० १६, १७ — ५०० ई०
(४) गुफा नं० १, २ — ६२६, ६२८ ई०

ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार गुफाओं के दो वर्ग हैं। प्रथम, अधवर्ग के केन्द्र से प्राचीनतम ५ गुफाएँ काल के अनुसार नं० १३, १२, १०, ९ और ८ हैं। इनका निर्माण प्रथम शताब्दी ई० पू० आन्ध्रभृत्य या सातकर्णी राजाओं के आश्रय में हुआ था। चतुर्थ शताब्दी में पुनः गुफाओं के निर्माण का कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ जो लगभग सप्तम शताब्दी तक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। द्वितीय वर्ग में कालक्रमानुसार अजंता की चित्रकला में मानव जीवन के अतिरिक्त प्राणियों का भी अंकन हुआ है। उनके चित्रण में कलाकार ने उपेक्षा की भावना को नहीं अपनाया है। इसके विपरीत पशु-पक्षियों का यह चित्रण स्वाभाविकता से भरपूर है। भारतीय जीवन दर्शन ही इस भावना के मूल में है। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षी आदि भी ईश्वरीय सृष्टि हैं। इसीलिए क्या कलाकार, क्या दार्शनिक और क्या विद्वान् सभी ने उनके साथ सहानुभूति व्यक्त की है। दो बैलों की लड़ाई का दृश्य इतना सजीव तथा वास्तविक रूप में चित्रित किया गया है जो इस बात का सूचक है कि कलाकार ने पशु-पक्षियों की रचना में उनके भावों एवं शरीर के अंगों की स्पष्टता में उपेक्षा नहीं की है।

पशु-पक्षी संसार के अतिरिक्त अजन्ता के कलाकारों ने अलङ्करण के लिए देव गन्धर्वों के अतिरिक्त व्यापक मानव जीवन को भी स्थान दिया है। रॉथेन्स्टीन (Rothenstein) ने लिखा है कि अजंता की चित्रकारी को देखकर हमारे नेत्रों के

[1] वा० वा० शास्त्र प्राचीन भारत, पृ० १८२

समक्ष एक नाटक सा दिखाई देने लगता है जिसमे प्रत्येक दशा के राजा, भिक्षु मनुष्य तथा स्त्रियाँ नायक की भूमिका म दिखाई देते हैं। इनके साथ ही रमणीय दृश्या, सघन वनो के साथ-साथ देवदूतो, गन्धर्वों, अप्सराओ का आकाश माग म विचरण करना, मनुष्यो और स्त्रियों के शारीरिक सौन्दय, जानवरो का शारीरिक गठन और विनयशीलता पक्षियो और फूलो की स्वाभाविकता, सौन्दय और पवित्रता, मातृत्व का महत्त्व और आध्यात्मिकता—इन सब भौतिक और आत्मिक स्वरूपा का समन्वय विश्व की कला के समक्ष एक अनुपम और अनूठा उदाहरण है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि अजन्ता के भित्ति चित्र व्यापक भाव भूमि को अपने अन्तर मे समाहित किये हुए हैं। इन चित्रो द्वारा हम जीवन से प्रेम और प्रकृति का सौन्दय—मनुष्य, स्त्री और पशु पक्षियो आदि समस्त विश्व म व्याप्त दिखाई देता है। इन चित्रो से एक तरफ तो निराशावाद से आशावाद का सचार होता है तो दूसरी ओर इस क्षण भगुर ससार से अपने को बचाकर वैराग्यमयी भावना स ओत प्रोत होकर मानव-कल्याण की भावना का उदय होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म अजन्ता के ये चित्र प्रेरणा का काय करते हैं। अजन्ता की चित्रकला केवल कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूण नही है अपितु सास्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से भी अजन्ता एक अक्षय-कोष है। उस काल के रहन सहन, वेष भूषा आदि का अजन्ता की चित्रभूमि म देख सकते हैं। इसके लिए गुफा न० ११ १८ १५, १६, १८ १९, तथा २० दशनीय हैं। गुफा न० ६ तथा ७ का निर्माण गुफा न० २० के पश्चात् अथवा २० और १९ स पूव हुआ है। कुछ समय अनन्तर लगभग ५२५ व ६२५ ई० तक अवश्य ही अथवग के पूव की पाँच गुफाओ (१—५) तथा पश्चिम की सात गुफाओ (न० २१ से २७ तक) का निर्माण हो चुका होगा।[2]

श्री रायकृष्णदास ने अजन्ता के प्रमुख चित्रो-गुफाओ का काल क्रम[3] इस प्रकार स्वीकार किया है—

गुफा १,	बाइ ओर	शिविजातक	उत्तर-गुप्त काल
		विरहिणी	गुप्त-काल का अन्त
	बाइ भीत	नागराज सभा	,, ,,
		शखपाल जातक	गुप्त काल
		महाजनक जातक	गुप्त काल
		पद्मपाणि बोधिसत्व	,, ,,
		मार विजय	,, ,,
	दाहिनी ओर	पुलकेशिन सभा	उत्तर-गुप्त-काल

[1] वी० एस० अग्रवाल गुप्ता आट, पृ० २८
[2] पर्सी ब्राउन इण्डियन पटिंग पृ० ३१
[3] अजन्ता के चित्रकूट, पृ० ५

गुफा २	दाहिनी ओर	अजात सभा	गुप्त काल
		महाहंसजातक	,, ,,
	बाइं भीत	माया स्वप्न, तुषित स्वर्ग	,, ,,
		बुद्ध जन्म	,, ,,
	बाया स्तम्भ गृह	पूजार्थी स्त्रियाँ	गुप्त काल का अन्त
	बाइं भीत	विदुर पण्डित जातक	गुप्त काल
	दाहिनी भीत	पूर्णावदान	,,
	दाहिना ओर	क्षान्तिवादिन जातक	,, ,,
गुफा ६		स्फुट चित्र	,, ,,
९		स्तूप पूजा	आन्ध्र काल
		स्फुट चित्र	गुप्त काल
		श्याम जातक	आन्ध्र काल
गुफा १०	स्तम्भों पर	बुद्ध चित्र	गांधार शैली
		छद्दन्त जातक	आन्ध्र काल
गुफा १६		हस्ति जातक	गुप्त काल का अन्त
		नन्द की कथा	,, ,,
		बुद्ध का उपदेश	गुप्त काल
	दाहिनी भीत	सुजाता प्रकरण	गुप्त काल
	बाइं भीत	चार दृश्य	
		माया का स्वप्न	
		बुद्ध जन्म का दृश्य	,,
		पाठशाला के दृश्य	
गुफा १	बाहरी बरामदा	मिथुन	
		बोधिसत्व चित्रा	,,
		दो पुत्तलिकायें	
		(पुष्पधारक अप्सरायें)	
		पद्मचक्र	
	बाइं भीत	नलगिरि प्रकरण	
		चम्म नर जातक	,,
		सिंहल अवदान	
		मार धर्षण	
		दन्त जातक	
		महाकपि जातक	
		हस्ति जातक	

दाहिनी भीत	हंस जातक	गुप्त काल
	श्रावस्ती का चमत्कार	,,
पहली भीत	सिंहल ,,	,,
	श्याम जातक ,,	,,
	महिष जातक ,,	,,
	मृग जातक ,,	,,

अजन्ता के गुफा मन्दिर भारतीय वास्तुकला और चित्र-कला के अनुपम उदाहरण हैं। पर्वत शृंखला को काटकर बनाये गये इन विशाल गुफा मन्दिरों की भित्तियों स्तम्भों छतों पर निर्मित चित्र सैकड़ों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी इनका आकर्षण यथापूर्व ही है।[1] पुष्य सातवाहन युग से लेकर सप्तम शतक तक में निर्मित होने वाले इस कला मन्दिर के विकास में शासकों, शिल्पकारों तथा चित्रकारों का महान् योग रहा है। यह कला की निधि किसी एक युग, एक शासक तथा एक कलाकार की कृति न होकर अनेक की है। अजन्ता के गुफामन्दिरों में नागार्जुन (२०० ई०) के समय में अनेक नाग कलाकारों ने अपनी उत्कृष्ट कला का प्रदर्शन किया और राजा बुद्धपक्ष (५०० या ६०० ई०) के समय में बिम्बसार नामक कलाकार ने अनेक आश्चर्यजनक एवं स्वप्नतुल्य भव्य चित्रों का निर्माण किया।[2]

इतिहासकार तारानाथ ने बौद्ध चित्रकला की तीन शैलियों का उल्लेख किया है। इनमें प्रथम देव शैली षष्ठ शतक ई० पू० से तृतीय शतक ई० पू० तक प्रचलित रही है। द्वितीय यक्ष शैली तृतीय शतक ई० पू० तक विकसित व प्रचलित रही है। तृतीय, नाग शैली तीसरी शताब्दी में नाग कलाकारों द्वारा विकसित हुई। इन शैलियों के अतिरिक्त चित्रकला के तीन अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। प्रथम मध्य देशीय कला का सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय का प्रधान कलाकार बिम्बसार था। इसकी तुलना देव शैली से कर सकते हैं। द्वितीय, पश्चिम कला का सम्प्रदाय था, इसका प्रधान कलाकार श्रीरंगधर था। इसकी तुलना यक्ष शैली से कर सकते हैं। तृतीय कला का सम्प्रदाय—इसके प्रधान कलाकार धीमन तथा उसके पुत्र वितपाली थे। इसकी तुलना नाग शैली से कर सकते हैं।[3]

अजन्ता की गुफाओं में अनेक चित्र बने हुए हैं जो आज भी विश्व में उत्कृष्ट चित्रकला के आदर्श बने हुए हैं। इनकी शैली कल्पना अपनी है, भाव अपने हैं। सजीवता इनका अंकन है। इन चित्रों के सम्बन्ध में श्री० वी० जी० गाखले ने लिखा है—

---

[1] देखिये चित्रफलक संख्या १३

[2] जेम्स ग्रिफिथ दि बुद्धिस्ट केव-टेम्पिल्स आफ अजन्ता खण्ड १, पृ० ४५

[3] पर्सी ब्राउन इण्डियन पेंटिंग, पृ० ४१, वी० एस० अग्रवाल गुप्ता आर्ट, पृ० १२

इनकी शैली अत्यंत सरल तथा चित्ताकर्षक है और चित्रों की रूपरेखा भावमय तथा सप्राण है, जिन कलाकारों ने ये दृश्य अंकित किये थे उनके पीछे परिपक्व कला की एक लम्बी परम्परा थी। ये चित्र रचनाएं अत्यंत विशाल तथा इनकी कल्पना अत्यंत प्रभावशाली है। चित्रों के मुख्य पात्रों को वीरोचित अनुपात में अंकित किया गया है। चित्रों के एक एक अंग में उदात्त भावनाओं तथा भव्यता की झलक दिखाई देती है और सरल रेखाओं का प्रयोग इस ढंग से किया गया है कि उनके द्वारा विपुल उल्लास से लेकर गहरी व्यथा तक सभी भावनाएं व्यक्त होती है।'[1] आजकल के इस कला मंदिर में अंकित चित्रों में से कुछ चित्रों की झाँकी प्रस्तुत करते हुए हम कह सकते हैं कि ये मनोरम तथा रमणीय चित्र तत्कालीन चित्रकारों की कलाकुशलता और निपुणता के सूचक हैं।

गुफा नं० ६—गुफा नं० ६ और १० का निर्माण शुंग सातवाहन युग में प्रारम्भ हुआ था। यह गुफा एक चैत्यगृह है। इसके भित्तिचित्र प्राचीन भारतीय चित्रकला के अनुपम आदर्श हैं। स्तम्भों, झरोखों तथा भित्ति पर बने हुए बुद्ध चित्र ट्रू फ्रेस्को (True Fresco) के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इन चित्रों में अधिकांश ऐसे चित्र हैं। जिनमें भगवान् बुद्ध को विभिन्न मुद्राओं में चित्रित किया गया है। इन चित्रों की समष्टिगत प्रभावाभिव्यक्ति पारलौकिक और आध्यात्मिक भावों में हुई है। गुफा नं० १० प्राचीनतम है। इसका निर्माण काल द्वितीय शतक ^० पू० से लेकर प्रथम शतक के मध्य तक हुआ था। यह एक चैत्यगृह है। गुफा में एक लेख उत्कीर्ण है जिसमें वासिठी-पुत्त कटहादि (Vasitei Putta Katthadi) के द्वारा भिक्षुओं को गुफादान देने का वर्णन किया गया है।[2] इस गुफा में भी गुफा नं० ६ के समान ही बुद्ध के पूर्व जीवन पर प्रकाश डालने में कलाकारों को पूर्ण सफलता मिली है।

गुफा नं १६—गुफा नं० १६ तथा १७ गुप्तकाल की रचनाएं हैं। इस गुफा के अधिकांश चित्र नष्ट हो गये हैं। इस गुफा में भी बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अनेक चित्राङ्कित हैं। बुद्ध की अनेक मुद्राओं तथा भावों का चित्रण चित्रकला की विविधता को स्पष्ट करता है। अनेक बौद्ध जातकों के कथानकों का चित्रकार ने अपनी तूलिका से भित्तियों पर सजीव रूप में उतार दिया है।

एक मरणासन्न राजकुमारी (Dying Princess) के चित्र में राजकुमारी की करुण दशा तथा समीपस्थ व्यक्तियों की विकल वेदना को इस चित्र में सुन्दरता के साथ अङ्कित किया गया है। इस चित्र की प्रशंसा में जेम्स ग्रिफिथ ने लिखा है कि मेरे विचार से इस चित्र से बढ़कर कला के इतिहास में दूसरा चित्र नहीं है।'[3]

---

[1] प्राचीन भारत पृ० १६१

[2] देवाल मित्र अजंता पृ० ३४ (डिपार्टमेण्ट आफ आर्कियोलोजी आफ इण्डिया)

[3] वी० एस० अग्रवाल गुप्ता आर्ट पृ० २६
This picture I consider, can not be surpassed in the history of art

गुफा न १६ की एक दीवार पर बुद्ध के 'महाभिनिष्क्रमण' का चित्र अंकित है। सोये हुए पुत्र तथा पत्नी पर दृष्टि डालते हुए बुद्ध का अकन किया गया है। इसमें सिद्धार्थ की दृष्टि मे मोह-ममता का अशमात्र नही है। सबके प्रति निर्मोही बुद्ध का चित्रण उस चित्र की विशेषता है। इस भावना के चित्रण म चित्रकार को अपूर्व सफलता मिली है। यह अजता की चित्रकारी म सुदरतम चित्र है। श्री वासुदेव उपाध्याय इस चित्र के सम्बन्ध मे लिखते हैं कि इस चित्र से अहिंसा, शान्ति तथा वैराग्य की वर्षा होती है। मुखमण्डल गम्भीर है और सासारिक वस्तुओ के प्रति उदासीनता को व्यक्त करता है। इस चित्र की प्रशसा करती हुई बहिन निवेदिता लिखती हैं—'यह चित्र सम्भवत भगवान बुद्ध का सबसे बडा कल्पनात्मक प्रदर्शन है, जिसे ससार ने कभी देखा है। ऐसी अद्वितीय कल्पना कठिनता से दूसरी बार उत्पन्न हो सकती है।''[1]

इस गुफा का दूसरा सुदर, किन्तु विव्हलता एव दया स पूर्ण चित्र विरहाकुला राजकुमारी का है।

गुफा न० १७—यह गुफा भी गुप्तकालीन है। गुप्त कलाकारो ने इन भित्ति-चित्रो मे यथार्थ चित्रण मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। विविध सुदर चित्रो व प्रतिमाओ के साथ साथ प्राचीन राजप्रासादो को भी चित्रित किया है जो कला की दृष्टि से अनुपम है। श्री रायकृष्णदास के शब्दो म 'अजता की १७वी गुफा के सभी चित्र एक स एक बढकर हैं। ऐसा जान पडता है कि सबसे चतुर चितेरो ने इसी गुफा मे अपनी कला दिखाई है। इन चित्रो म बुद्ध के पूर्व जीवन को तथा विभिन्न बौद्ध-जातकों के कथानको को लेकर भित्ति चित्र बनाये गये हैं। इस गुफा म एक जलूस का चित्र है, जिसम बहुत से मनुष्य सजधज के साथ जा रहे हैं, किसी के हाथ म ऊँचा छत्र है किसी के हाथ मे बजाने की भृगी। स्त्रियो के शरीर पर आभूषण हैं और वस्त्र महीन हैं। इस गुफा म एक राजा का स्वर्णहस की वार्ता श्रवण का चित्र भी सुदर है। इस चित्र के सम्बन्ध म निवेदिता जी का कहना है कि "अजता की १७वी गुफा में अकित चित्र से बढकर जिसम एक राजा हस की बातो को सुन रहा है—ससार में दूसरा सुदर चित्र नही हो सकता है।[2]

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २ पृ०, ३०८
(फुट फाल्स आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० १३५ ३६)
"This picture is perhaps the greatest imaginative presentment of Buddha that world ever saw Such a conception could hardly occur twice"

[2] वही पृ० १३४
'No where in the world could more beautiful painting be found than in the King listening to the Golden Goose in cave seventeen"

इसी गुफा के बरामदे के बाहर बायीं ओर की दीवार पर एक लेख उत्कीर्ण है, जिस पर लिखा है कि इस गुफा का निर्माण वाकाटक राजा हरिषेण के द्वारा कराया गया है।[1] इस गुफा की छत और स्तम्भ सुन्दर सुन्दर बेलबूटो डिजाइनो से चित्रित हैं। अगर एक ओर महल के दृश्य (Palace scene) म तथा टायलेट सीन (Toilet scene) मे लौकिकता का चित्रण है, तो दूसरी ओर माता तथा पुत्र (Mother and child) के चित्र म—जो सम्भवत यशोधरा तथा राहुल का है—आध्यात्मिकता तथा पारलौकिकता के दर्शन होते हैं। इस चित्र म माता अपने पुत्र राहुल को बुद्ध को समर्पित कर रही है। इस चित्र म माता यशोधरा के मुख पर आग्रह और विवशता का भाव है वह अनुपम है। बालक के मुख पर भी आत्म-समर्पण का भाव स्पष्ट है। त्याग और वैराग्य का यह चित्र अनुपम उदाहरण है। हैवेल इस चित्र की तुलना जावा देश के बोरोबुदुर स्थान म प्राप्त सवश्रेष्ठ बौद्धकला से करते हैं और लिखते हैं कि यह चित्र अपनी सुन्दर भावना मे इटली के विख्यात चित्रकार बेलिनी के अद्भुत मेडोना से तुलना करने योग्य है।[2]

अजन्ता के इन चित्रो को देखते हुए दर्शक कभी तृप्त नही होता। ये चित्र दर्शक को एक मधुर कल्पनामय लोक म ले जाते हैं जहाँ पहुचकर मनुष्य अपने को पूर्णतया विस्मृत कर देता है। इस गुफा म छद्दन्त जातक की चित्रावली भी अकित है। अपनी भावभूमि के कारण अनुपम है। सजीवता इसकी विशेषता है। दूसरा चित्र गज जातक का है जो कि पारिवारिक प्रेम, वात्सल्य और करुणा का सागर है।

गुफा न० १—यह गुफा बहुत ही सुन्दर विहार है। इसका निर्माण षष्ठ शतक म हुआ था। इस गुफा की चप्पा चप्पा भूमि सुन्दर अ य और अलकृत चित्रो से अकित की गई है। इसमे मुख्यत कलाकारो ने बोधिसत्वो के विशाल एव महा चित्र निर्माण मे अपनी कला का परिचय दिया है। इस गुफा म विचारमग्न पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का चित्र अनुपम है। उस चित्र की प्रशसा म श्री वी० जी० गोखले लिखते है कि इस चित्र समूह म सबसे लाक्षणिक चित्र दयामूर्ति बोधिसत्व पद्मपाणि का है, मनुष्य के वास्तविक डील डोल से बडे आकार का यह चित्र पहली गुफा म है। इस चित्र म अलौकिक बुद्धि तथा दया की मूर्ति महात्मा बुद्ध अपने दाहिने हाथ मे कमल

---

१ देबाल मित्र अजन्ता पृ० ४४

२ इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग पृ० १६४ ६५

And in its exquisite sentiment comparable with the wonderful madonnas of Govanni Bellini ' दूसरे लेखक के शब्दो मे—

By its grace of pose and charm of design the painting in this cave of mother and child making an offering to Buddha suggests the purity of a medieval Italian madonna with her bambino'

[illegible]ा एक फूल लिये खडे है, उनका डील डौल आसपास की आकृतियो से बहुत बडा है और वह कुछ आगे को झुककर नीचे की ओर देख रहे हैं मानो विपदाग्रस्त मानवता पर अपनी दयादृष्टि डाल रहे हो। गहरी व्यथा और करुणा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह आकृति कला का आदर्श है इसकी जैसी दूसरी कलाकृति मिलना कठिन है।"[1] इन बोधिसत्वो के चित्रों की कला की प्रशसा म डा० आर० सी० मजूमदार लिखते हैं—इनका आकार प्रकार विशाल है, वे भार रहित नहीं हैं उनका शरीर ऐसा प्रतीत होता है कि ठोस प्लास्टिक का है फिर भी उनकी मूर्ति से करुणा की अभिव्यक्ति होती है। बाहर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे गतिशील हैं किन्तु वे शान्ति प्राप्त कर चुके हैं महान सत्य के साक्षात्कार कर लेने के कारण उनकी पलकें नमित है और अपनी गम्भीरता म स्वय को अन्तर्मुक्त कर चुके हैं।[2]

इसके अतिरिक्त दालान के बाहर की दीवार पर गौतम बुद्ध के जीवन से सबद्ध दो चित्रो का अकित किया गया है। इनम कामदेव का प्रलोभन (Temptation of Mara) अर्थात् मार विजय तथा श्रावस्ती का दृश्य (Miracle of Srawasti) है। मार विजय का यह चित्र दालान की दीवार पर बना है जो बारह फुट ऊँचा तथा आठ फुट चौडा है। कामदेव की सेना की भयकर मूर्तिया तथा कामिनियो ने बुद्ध को घेर रखा है, किन्तु बुद्ध आत्मनिरत हैं। इस गुफा का एक अन्य चित्र प्रेममग्न सुन्दरी का है। इस चित्र म सुन्दरी के प्रेमी का हाथ उसके कण्ठ म है जिसे वह बहुत स्नेह व आग्रह से पकडे हुए है। उसके नेत्रो से मदिर भाव स्पष्ट रूप म झाक रहा है।

इस गुफा के चित्रो म बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं एव बौद्ध जातको के कथानको का सुन्दर चित्रण किया गया है। एक अन्य चित्र दरबार का दृश्य (*Court scene*) है। इसके विषय म अधिकाश विद्वानो का मत है कि यह चित्र चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय (६१० ६४२ ई०) का है जो कि दरबार म परसिया के राजा खुसरो परवेज द्वितीय (५९६ ६२८ ई०) के राजदूतो द्वारा भेट स्वीकार कर रहा है। लेकिन देवाल मित्र का मत है कि यह चित्र अशोक के दरबार का है, क्योकि अजन्ता के अधिकाश चित्र बौद्ध धर्म से सम्बद्ध हैं।[3] किन्तु अन्य अधिकाश विद्वान इस चित्र को चालुक्य

---

[1] *प्राचीन भारत, पृ० १६१ ६२*

[2] आर० सी० मजूमदार दि क्लासीकल एज पृ० ५४४

Of large dimensions, they are not yet weightless, fully bodied forth in solid Rounded plasticity, they are yet melting in Karuna, and seemingly in motion in the midst of a radiantly *moving and rejoicing world* they seem to have become stilled into silence before a great realisation with eyelids lowered, they withdraw themselves into their own depths"

[3] देवालमित्र, अजन्ता, पृ० २०

राजा से सम्बद्ध मानते हैं। इस चित्र में राजकीय वेश भूषा दर्शनीय है। इसी गुफा के मध्य में बाम ओर की दीवार पर नृत्य के दृश्य (Dance scene) का चित्र अंकित है। इस चित्र से हमें विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न मुद्राओं, विभिन्न वेश भूषा, अंग प्रत्यंग तथा नृत्य एवं संगीत की लोकप्रियता और स्त्रियों के श्रृंगार की झाँकी भी मिल जाती है। इसी गुफा में एक अन्य चित्र भी महत्त्वपूर्ण है। इस चित्र में एक राजा ने एक तरुणी के वध की आज्ञा दी है। वह अबला उस निर्दयी राजा के चरणों में गिरकर दया की याचना कर रही है। इस अभागिनी के चित्र को देखकर किस निष्ठुर के हृदय में दया और करुणा की भावना उदित नहीं होगी!

गुफा नं० २—यह गुफा षष्ठ या सप्तम शतक की है। इस गुफा में बोधिसत्व के सुंदर चित्र एवं छत (Ceiling) की चित्रकारी सुंदर एवं आकर्षक है। उनमें रंगों की विविधता एवं सुंदर चित्रकारी मन को आकृष्ट करने में समर्थ है। इन डिजायनों में पशु पक्षियों फलों फूलों गन्धर्वों किन्नरों तथा ज्योमेटिक डिजायनों की विविधता है। इनसे समस्त गुफा अलंकृत की गई है।

अजंता की चित्रकारी में रंगों का प्रयोग सुंदर एवं विधिवत हुआ है। चित्रों में नीले रंग के साथ गहरे पीले रंग का मिश्रण अधिक हुआ है। त्वचा और वेषभूषा के रंग अपनी स्वाभाविकता एवं वास्तविकता के कारण सजीव दिखाई देते हैं। त्वचा का रंग भूरे और गुलाबी रंग के मिश्रण से बनाया गया है। अजंता के भित्तिचित्रों में प्रधान रंग चार है—सफेद लाल हरा और नीला। इसके अतिरिक्त गुलाबी, पीले भूरे तथा काले रंग का भी प्रयोग बहुत हुआ है। रंगों का निर्माण पीली मिट्टी, नील के पौधों नीलरत्न (राजावत लाजवर्द), काजल तथा खड़िया आदि से किया जाता था। इनमें से अधिकांश रंगों का उल्लेख कालिदास ने कुमार सम्भव में किया है। श्री बी० जी० गोखले ने अजंता की वर्ण योजना की प्रशंसा में लिखा है कि नीले, हरे बैंजनी और लाल रंग इतने सराहनीय ढंग से एक दूसरे से घुलमिल गए हैं कि उससे चित्र रचना में रस तथा भाव का अनुपम सामंजस्य उत्पन्न हो गया है जिसके कारण इस कला की उत्कृष्टता अद्वितीय हो गई है और इन्हें देखकर कोई इनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।[१]

अजंता के भित्ति चित्रों में रंगों की योजना विषय तथा भावों का अनुपम सामंजस्य हुआ है। चित्रों में भावों की अभिव्यक्ति को देखकर दर्शक आश्चर्य चकित रह जाता है। कल्पना तथा सौंदर्य का समन्वय आश्चर्यजनक है। भावों की विभिन्नता दर्शनीय है। चित्रों में विशिष्ट प्रकार की वेश भूषा तथा अलंकरण दिखाई देता है। सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के साथ विभिन्न जीवन पहलुओं का चित्रण भी अजंता की अपनी विशेषता है। वस्तुतः 'इस चित्रावली में जीवन एवं रूप में

---

[१] प्राचीन भारत, पृ० १६२

त हो उठा है जिसमे उसके सारे पार्थिव गुण ता धीरे-धीरे लुप्त हो गए है और र चीज ने एक ब्रह्माण्डीय महत्त्व धारण कर लिया है। बहुत ही थोडी रेखाओ और त्रो के विभिन्न भागो म भावो की अभिव्यक्ति के कारण चित्र रचना म अपार ाध्यात्मिक सौंदय तथा मार्मिकता का वातावरण पैदा हो गया है।'[1]

अजन्ता की कला चित्रकला के इतिहास म अपूर्व है। अजन्ता की चित्रकला के ाभाव म भारतीय चित्रकला का इतिहास अपूर्ण है। अजन्ता की चित्रकला अपने रमोत्कर्ष पर पहुची हुई है। श्रीमती ग्रेबोस्का (Grabowska) अजन्ता की चित्रकला के सम्बन्ध मे लिखती हैं—"अजन्ता की कला भारत की सर्वश्रेष्ठ कला है, चित्रो की सुन्दरता अलौकिक है तथा ये चित्र भारतीय चित्रकला के चरम उत्कर्ष हैं।[2]

अजन्ता की चित्रकला के सम्बन्ध मे एक प्रश्न बडे विवाद का है। विद्वानो का एक वर्ग अजन्ता के भित्ति चित्रो पर अश्लीलता का आरोप करता है तो दूसरा वर्ग उसम आध्यात्मिकता का अनुभव करता है। भारतीय संस्कृति एव सभ्यता के इतिहास मे गुप्तकाल एक महत्त्व का काल है। इस काल म भारतीय जन जीवन का सर्वांगीण विकास हुआ। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' मे ६४ कलाओ का विवेचन कर जीवन के विकास के लिए विभिन्न कलाओ की आवश्यकता को सिद्ध कर दिया। वात्स्यायन की इस मान्यता से कला एव कलाकार दोनो ही प्रभावित हुए, परिणामस्वरूप अजन्ता के भित्तिचित्रो म जीवन का सम्पूर्ण दर्शन—उसकी विविधता भी स्पष्ट रूप म व्यक्त की गई है। किन्तु अश्लीलता के कही भी दर्शन नहीं होते। फिर भी यदि जीवन की वास्तविकता का यथार्थ प्रदर्शन करना ही अश्लीलता है तो शृगार रस ही पूर्ण अश्लील है। यदि शृगार रस अश्लील है तो भारतीय साहित्य भी अश्लील है। कालिदास का मेघदूत, जयदेव का गीत-गोविन्द, चण्डीदास की रचनाएँ, बिहारी का नख शिख वर्णन सभी अश्लील हैं।

जहाँ तक आध्यात्मिकता का प्रश्न है, भारतीय कला धर्म तथा आध्यात्म प्रधान है। अत यदि अजन्ता के भित्ति चित्रो का निर्माण करते समय कलाकारो का उद्देश्य आध्यात्मिकता से पूर्ण रहा तो अनुचित नही है। इसके अतिरिक्त एक बात विशेष ध्यान देने की है कि अजन्ता की कला म आध्यात्मिकता के होते हुए भी वह उस कला पर हावी नही हो सका है। इसके विपरीत अजन्ता की कला म कलात्मकता भावाभिव्यक्ति एव जीवन की वास्तविकता का समावेश है—कलाकारो ने जीवन के प्रत्यक्ष पक्ष का, भाव तथा शरीर के प्रत्येक सौंदर्य का सुन्दर और यथार्थ

---

[1] प्राचीन भारत पृ० १८२

[2] एन्शिएण्ट इण्डिया एण्ड सिविलाइजेशन, तृतीय खण्ड।
'Thus the art of Ajanta is the classical art of India, the beauty of the paintings is marvellous and they are the high water mark of Indian painting"

चित्रण किया है। कला की अभिव्यक्ति के अनुकूल भावों को इस कलात्मक रूप में चित्रित किया गया है कि दर्शक एक ही दृष्टि में चित्र के भावों को हृदयंगम कर लेता है। किन्तु कला की प्रशंसा तो कला मर्मज्ञ ही कर सकता है। वस्तुतः अजन्ता की कला दर्शक की उसकी भावना के अनुरूप ही लगती है। कहा भी है कि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' अजन्ता की कला की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए श्री वासुदेव उपाध्याय लिखते हैं—

'अजन्ता की चित्रकला में स्वाभाविकता है, जीवन है, सादगी है, साम्य है, औचित्य है तथा सबसे बढ़कर उन चित्रकारों की मौलिक भावना है। अजन्ता के चित्रकारों ने कभी कुरुचिपूर्ण चित्रों की कल्पना ही नहीं की। उनकी रसभावना इतनी रुचिकर है कि वीभत्स और कुरूप चित्रों की वे कभी कल्पना ही नहीं कर सकते थे। उनके चित्र स्वाभाविकता से पूर्ण हैं। चित्रों में इतना जीवन है मानो वे अभी बोलने को तैयार बैठे हैं। इन चित्रों में यद्यपि अलंकरण विधान की ओर रुचि अवश्य दीख पड़ती है परन्तु वह कभी भद्दपन की सीमा को नहीं पहुँचती है। औचित्य का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। माता और पुत्र वाले चित्र में दीनता, व्यथा तथा दरिद्रता का जैसा सुन्दर प्रदर्शन किया गया है उसे कला मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। जन्म वाले चित्र में स्त्रियों की सुन्दरता अनुपम एवं अलौकिक है। यदि अजन्ता के चित्रों को हम तूलिका से अभिव्यंजित मनोरम कविता कहें तो कुछ अनुचित न होगा।"[1]

अजन्ता की चित्रकला विश्व की चित्रकला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है, यह चित्रशाला भारतीय चित्रकारों के लिए महान् तीर्थस्थल है, उनकी प्रेरणा भूमि है। इस चित्रशाला का महत्त्व इतना अधिक है कि इस चित्रशाला का नाम ही अजन्ता शैली के नाम से विख्यात है और विश्व के अनेक कलाकारों ने इस शैली को अपना कर अपना आदर्श मानकर प्रसिद्धि भी पाई है। 'अजन्ता के चित्र रेखा, वर्ण और भाव इन तीनों दृष्टियों से दिग्गज चित्रकारों की कृतियाँ हैं। उन्होंने समस्त एशिया महाद्वीप की कला को प्रभावित किया है। दक्षिण का सित्तनवासल (सिद्धनिवास) गुफा, सिंहल की सिंहगिरि गुफा (सिगरिया) मध्य एशिया में खोतन, मीरान, तुर्फान एवं खुनहुआन की सहस्र बुद्ध गुफाओं से मिले हुए चित्रों पर अजन्ता शैली का गहरा प्रभाव है। मीरान के भित्ति चित्रों पर वेस्सन्तर जातक का दृश्य चित्रित है। ददान ऊलिक के एक भित्ति चित्र में पद्मवन विहारिणी एक नारी की बहुत ही भावात्मक मूर्ति है। उसका जघन भाग चौड़ी मेखला से अलंकृत है। पास में एक उत्कंठित बालक उसकी जाँघ से लिपट रहा है। चित्र लगभग सातवीं शताब्दी का है और वह सब प्रकार से प्रथम श्रेणी के चित्रकार की उत्कृष्ट रचना है जिसके रेखांकन और रंगों की खुलाई में अजन्ता की छाप स्पष्ट है। इस प्रकार एक अत्यन्त

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३१०

व्यापक क्षेत्र म अजन्ता की चित्र शैली लगभग चौथी शताब्दी से आठवी शताब्दी तक भारत और वृहत्तर भारत की चित्र शैली का अनुप्राणित करती रही।[1]

अजन्ता की कला के सम्बन्ध मे विद्वानो की सम्मतिया

(१) पुरातत्ववेत्ता सर आरेल स्टाइन (Aural Stein)—'पूर्वी कला तथा बुद्ध धर्म के विद्यार्थी के लिए भविष्य म होने वाले अनुसन्धानो के द्वारा अजन्ता के चित्रो की महत्ता सम्भवत अतिक्रमण नही की जा सकती।"[2]

(२) लारेंस बिनयान (Binyan)—'अजन्ता की कला एशिया तथा एशिया की कला के लिए वही विशेष महत्ता रखती है जो कि एसिसी, सीना और फ्लारेंस की कला यूरोप तथा यूरोपीय कला के लिए बुद्ध धर्म के द्वारा निर्मित अजन्ता की चित्र कला बची हुई एक महान् विभूति है।"[3]

(३) ग्रिफिथ महोदय लिखते हैं—"जिस दिमाग न अजन्ता के चित्रो की कल्पना और रचना की, उसकी अवस्था म तथा चौदहवी शताब्दी म इटालियन चित्रो को बनाने वाले चित्रकारो के दिमाग की अवस्था म बहुत कुछ समानता है। इन चित्रो को जिस किसी ने बनाया हो व लोग सासारिक अवश्य हाग। दैनिक जीवन के जो चित्र इन दीवालो पर अंकित हैं व एसे ही पुरुषो द्वारा बनाये गये होंगे, जिनकी निरीक्षण शक्ति बडी तीव्र और स्मरणशक्ति चिरस्थायी थी।"[4]

---

[1] वासुदेवशरण अग्रवाल कला और सस्कृति पृ० २३७ ३८

[2] एनुअल रिपोर्ट आफ आर्कोलाजिकल डिपार्टमेंट आफ निजाम्स डोमिनियन, फार १०१८ १९

'It is most unlikely that their value for the student of Eastern art and of Buddhism will ever be surpassed by any descoveries still possible in the future"

[3] अजन्ता फ्रेस्कोज—लेडी हर्मिंघम

The frescoes of Ajanta have for Asia and the history of Asian art the same outstanding significance that the frescoes of Assisi Siena and Florence have for Europe and history of European art Ajanta is the one great surviving monument of the painting created by Buddhist faith and fervour"

[4] ग्रिफिथ पेंटिंग्स इन दी बुद्धिस्ट केव्स एट अजंता

'The condition of mind which originated and executed these paintings of Ajanta must have been very similar to that which produced the early Italian paintings of the 14th century as we find much that is common to both Whoever were the authors of these paintings they *must have constantly* mixed with the world The e paintings must have been done by men of keen observation and retentive memories"

(४) एक अन्य आलोचक की दृष्टि में अजन्ता की चित्रकला यूरोपीय कला से अनेक रूपों में श्रेष्ठ है—

"Ajanta is to India what Siena is to Italy for the treasures of the cave galleries might be likened to the mediaeval master pieces preserved in the Tuscan city Gabriel Faure referred to the Sienese paintings with their Golden backgrounds as 'one long poem of love and the same description applies to the Ajanta frescoes Indian and Italian artists were content to work disinter estedly They gave of their best in the cause of religion, free from ulterior motive of self Glorification The frescoes of both Ajanta and Siena teach the virtue of 'work accomplished in humility unsmirched by strivings after tempestuous novelty"

बाघ

बाघ मध्यप्रदेश के ग्वालियर राज्य में स्थित एक छोटा-सा ग्राम है। यह ग्राम करद अर्थात् बाघनदी के तट पर स्थित है इसलिए इस ग्राम का नाम बाघ है। यह गाँव काननावृत्त है। चारों ओर विन्ध्य पर्वत फैला हुआ है। इन गुफाओं की सर्वप्रथम जानकारी लेफ्टीनेन्ट डेंजरफील्ड को १८१८ ई० में हुई थी। इर्सकन ने इन गुफाओं के सौन्दर्य का वर्णन किया है। इस स्थान पर नौ गुफाएँ है, जोकि ७५० गज तक फैली हुई हैं। किन्तु ये गुफाएँ परस्पर मिलीजुली होने की अपेक्षा दूर-दूर तक फैली हुई है।

विद्वानों ने बाघ की गुफाओं का रचनाकाल पंचम षष्ठ शतक माना है। उनकी इस मान्यता का आधार एक गुफा में एक चित्र के नीचे "क' अक्षर का अङ्कित होना है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार इस 'क' अक्षर की लिखावट गुप्तकालीन लिपि के समान है। बाघ की गुफाओं की चित्रकारी भी अजन्ता की चित्रकारी के समान ही है। शैली की दृष्टि से भी साम्य है। बाघ स्थित चित्रों की शैली अजन्ता की शैली से भिन्न नहीं है यही नहीं पूर्वमध्यकालीन चित्रों की तुलना में ये उनसे कम सुन्दर भी नहीं हैं।

बाघ स्थित नौ गुफाओं में से एक गुफा का नाम गृह" है। यह जीर्ण-शीर्ण है। दूसरी गुफा का नाम 'पाण्डव की गुफा' है। यह सुरक्षित तथा विस्तृत है। किन्तु इसकी चित्रकारी नष्ट हो गई है। इस गुफा के मध्य में एक चतुष्कोण विशाल प्रकोष्ठ है तथा तीन तरफ छोटे-छोटे कमरे हैं। सम्मुख एक बरसाती है। पीछे की ओर एक स्तूप मन्दिर है। इस गुफा में प्रस्तर काटकर बुद्ध और गणेश की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इन मूर्तियों की ऊँचाई तथा लम्बाई आठ फीट है। इन मूर्तियों में दीपाधान

बने हुए हैं। इस गुफा म बुद्ध तथा बोधिसत्वा की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। ततीय गुफा का नाम हाथीखाना है। चतुथ गुफा 'रगमहल के नाम से विख्यात है। वस्तुत यह गुफा अपने नाम को पूणत साथक करती है। इस गुफा म "वह मनोरम भावप्रद सुदर तथा अलौकिक चित्रकारी मिली ह जिसके कारण बाघ जैसे जगली गाँव को इतना महत्त्व प्रदान किया गया है तथा गप्त कालीन चित्रकला इतनी उत्कृष्ट समझी जाती ह।"[1] चतुथ गुफा के तीन प्रधान तथा दो वर्गाकार गवाक्ष तथा गुफा के मध्य मे एक सुविशाल वर्गाकार प्रकाष्ठ है। जिसके चारो ओर बरामदा है। कमरे के मध्य मे चार स्तम्भ हैं जो कि पवतशृङ्खला को काटकर बनाये गये हैं। बरामदे क समस्त स्तम्भ तथा कोनो मे चित्रकारी दृष्टिगत होती है, यही नही प्रस्तर-खण्डा म पशु पक्षियो को भी उत्कीण किया गया है। इस गुफा म बुद्ध की अनेक मूर्तिया बनी हुई हैं तथा प्रस्तरा म नारियो की अनेक मूर्ति चित्र भी उत्कीर्ण हैं। बाघ स्थित चतुथ और पचम गुफाय चित्रो की दृष्टि से महत्त्वपूण है। इन गुफाओ, इनके ओसारे तथा स्तम्भो पर निर्मित चित्र ही सर्वाधिक सुरक्षित एव उत्कृष्ट है। " ४थी और ५वी गुफाओ से मिला हुआ एक २२० फीट लम्बा ओसारा है। कोई बीस भारी खम्भो पर इसकी छत आधृत थी। ये खम्भे प्राय नि शेष हो चुके है। मुख्यत इसी ओसारे म यहा के चित्र हैं। किन्तु खेद है कि उनकी ओर ध्यान आकृष्ट होने से पूव छत गिर जाने तथा अन्य प्राकृतिक और मानुष उपद्रवों के कारण उनकी काफी क्षति हो चुकी है और बहुत थोडे चित्र बच रहे हैं।"[2] इन गुफाओ म सुरक्षित प्राप्त चित्रो की सख्या छ है जो कि टेम्पेरापेंटिग क चित्र हैं। ये भित्ति चित्र चूने की गच (पलस्तर) पर निर्मित हैं। इन चित्रो का निर्माण प्रस्तर खण्ड को चिकनाकर और उस पर एक विशिष्ट पालिश लगाकर हुआ है। विद्वानो का मत है कि बाघ म जो चित्र मिलते हैं वे फ्रेस्को पेंटिग (Fresco painting) नही हैं बल्कि टम्पेरा पेंटिग (Tempera painting) हैं।[3]

चित्र विवरण

बाघ की इन गुफाओ के एक चित्र म दो नारियाँ एक शामियाने के नीचे बैठी हुई हैं। इनमे से एक मुँह ढँक कर रोती हुई नारी का चित्र है जिसे उसके समीप बैठी हुई उसकी सखी हाथ उठाये सान्त्वना द रही है, अथवा उसको करुण कहानी श्रवण कर रही है। यह चित्र बड़ा भावपूण है।

द्वितीय दृश्य म चार मनुष्य एक स्थान पर बैठे हुए हैं सम्भवत शास्त्राथ कर रहे हैं। ये सभी पद्मासन लगाये नीले और श्वेत गद्देदार आसन पर विराजमान हैं।

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २ पृ० ३१३

[2] भारत की चित्रकला, पृ० २४

[3] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३१३

(४) एक अन्य आलोचक की दृष्टि में अजन्ता की चित्रकला यूरोपीय कला से अनेक रूपों में श्रेष्ठ है—

"Ajanta is to India what Siena is to Italy for the treasures of the cave galleries might be likened to the mediaeval master pieces preserved in the Tuscan city Gabriel Faure referred to the Sienese paintings with their Golden backgrounds as 'one long poem of love and the same description applies to the Ajanta frescoes Indian and Italian artists were content to work disinter estedly They gave of their best in the cause of religion, free from ulterior motive of self Glorification The frescoes of both Ajanta and Siena teach the virtue of 'work accomplished in humility unsmirched by strivings after tempestuous novelity"

बाघ

बाघ मध्यप्रदेश के ग्वालियर राज्य में स्थित एक छोटा-सा ग्राम है। यह ग्राम करद अर्थात् बाघनदी के तट पर स्थित है इसलिए इस ग्राम का नाम बाघ है। यह गांव काननावृत्त है। चारों ओर विन्ध्य पर्वत फैला हुआ है। इन गुफाओं की सर्वप्रथम जानकारी लफ्टीनेन्ट डेन्जरफील्ड को १८१८ ई० में हुई थी। इवसन ने इन गुफाओं के सौन्दर्य का वर्णन किया है। इस स्थान पर नौ गुफाएं हैं, जोकि ७५० गज तक फैली हुई हैं। किन्तु ये गुफाएं परस्पर मिलीजुली होने की अपेक्षा दूर-दूर तक फैली हुई हैं।

विद्वानों ने बाघ की गुफाओं का रचनाकाल पंचम षष्ठ शतक माना है। उनकी इस मान्यता का आधार एक गुफा में एक चित्र के नीचे 'क' अक्षर का अङ्कित होना है। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार इस 'क' अक्षर की लिखावट गुप्तकालीन लिपि के समान है। बाघ की गुफाओं की चित्रकारी भी अजन्ता की चित्रकारी के समान ही है। शैली की दृष्टि से भी साम्य है। बाघ स्थित चित्रों की शैली अजन्ता की शैली से भिन्न नहीं है यही नहीं पूर्वमध्यकालीन चित्रों की तुलना में ये उनसे कम सुन्दर भी नहीं हैं।

बाघ स्थित नौ गुफाओं में से एक गुफा का नाम 'गृह' है। यह जीर्ण-शीर्ण है। दूसरी गुफा का नाम 'पाण्डव की गुफा' है। यह सुरक्षित तथा विस्तृत है। किन्तु इसकी चित्रकारी नष्ट हो गई है। इस गुफा के मध्य में एक चतुष्कोण विशाल प्रकोष्ठ है तथा तीन तरफ छोटे-छोटे कमरे। सम्मुख एक बरसाती है। पीछे की ओर एक स्तूप मन्दिर है। इस गुफा में प्रस्तर काटकर बुद्ध और गणेश की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इन मूर्तियों की ऊँचाई तथा लम्बाई आठ फीट है। इन मूर्तियों में दीपाधान

बने हुए हैं। इस गुफा म बुद्ध तथा बोधिसत्वो की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। ततीय गुफा का नाम हाथीखाना है। चतुथ गुफा 'रगमहल' के नाम से विख्यात है। वस्तुत यह गुफा अपने नाम को पूणत साथक करती हैं। इस गुफा म "वह मनोरम भावप्रद सुदर तथा अलौकिक चित्रकारी मिली ह जिसके कारण वाघ जैसे जगली गाँव को इतना महत्त्व प्रदान किया गया ह तथा गुप्त कालीन चित्रकला इतनी उत्कृष्ट समझी जाती है।"[1] चतुथ गुफा के तीन प्रधान तथा दो वर्गाकार गवाक्ष तथा गुफा के मध्य मे एक सुविशाल वर्गाकार प्रकोष्ठ ह। जिसके चारो ओर बरामदा ह। कमरे के मध्य मे चार स्तम्भ हैं जो कि पवतशृङ्खला को काटकर बनाये गये ह। बरामदे के समस्त स्तम्भ तथा कोनो म चित्रकारी दृष्टिगत होती हैं, यही नहीं, प्रस्तर-खण्डो म पशु-पक्षियो को भी उत्कीण किया गया है। इस गुफा म बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ बनी हुई हैं तथा प्रस्तरो म नारियो की अनेक मूर्ति चित्र भी उत्कीण हैं। बाघ स्थित चतुथ और पचम गुफायें चित्रो की दृष्टि से महत्त्वपूण हैं। इन गुफाओ, इनके ओसारे तथा स्तम्भो पर निर्मित चित्र ही सर्वाधिक सुरक्षित एव उत्कृष्ट है। " ४थी और ५वीं गुफाओ से मिला हुआ एक २२० फीट लम्बा ओसारा है। कोई बीस भारी खम्भो पर इसकी छत आधृत थी। ये खम्भे प्राय नि शेष हो चुके हैं। मुख्यत इसी ओसारे म यहा के चित्र हैं। कि तु खेद है कि उनकी ओर ध्यान आकृष्ट होने से पूव छत गिर जाने तथा अ य प्राकृतिक और मानुप उपद्रवो के कारण उनकी काफी क्षति हो चुकी है और बहुत थोडे चित्र बच रहे हैं।"[2] इन गुफाओ म सुरक्षित प्राप्त चित्रो की सख्या छ है जो कि टेम्परापेंटिंग के चित्र हैं। ये भित्ति चित्र चूने की गच (पलस्तर) पर निर्मित हैं। इन चित्रो का निर्माण प्रस्तर खण्ड को चिकनाकर और उस पर एक विशिष्ट पालिश लगाकर हुआ है। विद्वानो का मत है कि बाघ मे जो चित्र मिलते हैं व फ्रेस्को पटिंग (Fresco painting) नहीं हैं बल्कि टैम्पेरा पेंटिंग (Tempera painting) हैं।[3]

चित्र विवरण

बाघ की इन गुफाओ क एक चित्र म दो नारियाँ एक शामियाने के नीचे बैठी हुई हैं। इनम से एक मुँह ढक कर रोती हुई नारी का चित्र है जिसे उसके समीप बैठी हुई उसकी सखी हाथ उठाये सान्त्वना द रही है, अथवा उसकी करुण कहानी श्रवण कर रही है। यह चित्र बड़ा भावपूण है।

द्वितीय दृश्य म चार मनुष्य एक स्थान पर बठे हुए हैं, सम्भवत शास्त्राथ कर रहे हैं। ये सभी पद्मासन लगाये नील और श्वेत गद्देदार आसन पर विराजमान हैं।

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३१३

[2] भारत की चित्रकला, पृ० २४

[3] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २ पृ० ३१३

इनमे से एक व्यक्ति विचित्र धोती धारण किए हुए है, एक व्यक्ति गोलाकार शिरस्त्राण धारण किए हुए है जो कि सम्भवत मास्त्राव म मध्यस्थ का काय कर रहा है। यह मनुष्य मोतियो की माला कवड बडा कुण्डल धारण किये हुए है। ये य शास्त्रार्थी भी आभूषण धारण किये हुए हैं किन्तु ये व्यक्ति आकृति से काले हैं।

तृतीय दृश्य म छ व्यक्ति उडते हुए बादल से निकल रहे हैं, इनमे से प्रधान पुरुष केवल एक धोती धारण किये हुए है। इस दृश्य के द्वितीय भाग म पाँच सिर दृष्टिगत हो रहे हैं। सम्भवत ये सभी नर्तकियो के चित्र हैं।

चतुर्थ दृश्य म स्त्री गायिकाओ के दो समूह हैं। इस दृश्य म सात नर्तकियाँ एक नर्तक को घेरे हुए है तथा सभी मण्डल बाँधकर छोटे छोटे डडे परस्पर लडाकर नचा रही हैं। इस चित्र म यथेष्ट गति और रमणीयता है।'

पचम दृ य म घोडो की शोभा यात्रा का चित्र है। इस चित्र म कम से कम सत्रह घुडसवार हैं जो कि पाँच या छ पक्तियो म चल रहे हैं। छठे दृश्य म पाँचवें दृश्य के समान हाथियो की शोभा यात्रा का भव्य चित्र है।

महत्त्व

बाघ की चित्रकारी अनुपम है भारतीय चित्रकला के इतिहास म वह अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। श्री वासुदेव उपाध्याय बाघ की चित्रकारी की प्रशसा म लिखते हैं—

'बाघ की चित्रकला भारतीय इतिहास म एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि अजन्ता की चित्रकला अनुपम तथा अलौकिक है तो बाघ की चित्रकारी उससे कम नही है। बाघ के चित्र भाव प्रधान है उनम भाव-व्यजना की एक अजीब शक्ति है। चित्रकार के हृदय के स्वर्गीय आनन्द तथा भावो की लहर बाघ के चित्रो मे लहराती मिलती है। चित्रकार के हृदय म आनन्द का स्रोत उमड पडा उसको उसने इन चित्रो म अभिव्यक्त किया है। इन चित्रो मे औचित्य का बडा ही ध्यान रखा गया है। सर जान मार्शल का मत है कि बाघ की चित्रकला अजन्ता की चित्रकारी से किसी प्रकार भी कम नही है। इन चित्रो की रचना प्रकार अपना विशेष मूल्य रखता है। बाघ के चित्र जीवन की दैनिक घटनाओ से लिए गये हैं। परन्तु वे जीवन की सच्ची घटनाओ को ही केवल चित्रित नही करते बल्कि उन अव्यक्त भावो का स्पष्ट करते है जिनको प्रकट करना उच्चकला का ध्येय है।'[१]

---

१ मार्शल बाघ केव्स पृ० १७

The artists to be sure have portrayed their subjects direct from life of that there is no shadow of doubt but however fresh and vital the portrayal may be it never misses that quality of abstraction which is indispensable to mural decoration as it is indeed, to all truly great paintings '

बाघ के चित्रों की कल्पना तथा निर्माण एक ही समय में सुनिर्धारित रूप में हुआ था। ये सभी चित्र चतुर चित्रकार की अनुपम कल्पना के चित्र हैं। एक ओर अजन्ता के चित्र क्रमशः निर्मित हुए थे। उनके निर्माताओं ने इनका निर्माण कर पुण्यार्जन किया था।[1]

बाघ की चित्रकला की प्रशंसा करते हुए प्रसिद्ध कलाविद् श्री हैवेल का कहना है कि बाघ के चित्रों में औचित्य का विशेष ध्यान रखा गया है। बाघ की चित्रकला में बड़ी छोटी वस्तुओं का उचित प्रयोग व अनुपात के मिश्रण से दर्शक के नेत्रों के समक्ष एक सर्वांगपूर्ण चित्र खड़ा हो जाता है। इसी कारण बाघ के चित्र चित्रकला के अनुपम आदर्श हैं।[2]

श्री वासुदेव उपाध्याय सुप्रसिद्ध चित्रकार कजिंस के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

'सुप्रसिद्ध कवि चित्रकार कजिंस का मत है कि बाघ के चित्र उत्कृष्टता में सानी नहीं रखते हैं। आनन्दोद्रेक में भी ये चित्रकला की सीमा के अन्दर ही हैं। इन चित्रों में न तो अहंभाव का भाव है और न तुच्छता का स्थान। अजन्ता के चित्रों का विषय प्रधानतया धार्मिक है। मनुष्य-जीवन का चित्रण अप्रधान मात्र है। परन्तु बाघ के चित्र प्रधानतया मानव जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। धार्मिक मात्रा गौण रूप में है। अजन्ता के चित्रों में तपस्या का भाव अत्यधिक होने के कारण तथा बुद्ध जैसे अलौकिक व्यक्ति के चित्रण के कारण चित्रकार को स्वगत हार्दिक भावों को अभिव्यक्त करने का कम अवसर मिला है। परन्तु बाघ के चित्रों के मानव-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण चित्रकार को स्वानुभूति-स्वर्गीय आनन्द को अभिव्यक्त करने

---

[1] मार्शल बाघ केव्स, पृ० १७

'For where at Ajanta most of the paintings appear to have been done piecemeal according it may be presumed as benefactions were mad. by successive donors—at Bagh they give the impression of having been conceived and executed at one and the same time, or at any rate in conformity with a single well thought out scheme'

[2] वही, पृ० २५

"It is the skill with which the artist has preserved the due relation between the major and mino parts of his design and weld d them together into a rich and harmonious whole With no apparent effort or straining after effect, which entitle this great Bagh painting to be ranked among the highest achievements of its class"

का अधिक अवकाश प्राप्त हुआ है। ये चित्र गम्भीरता से हीन नहीं हैं। अद्भुत सौन्दर्य का वह अंश जो अजन्ता के चित्रों में निहित है—प्रायः नष्ट है, वह सौन्दर्य बाघ के चित्रों में सुन्दर रीति से निर्मित है तथा प्रस्फुरित होता है। अपांग भंगी चरण विन्यास सुन्दर हस्त निक्षेप इत्यादि सबको प्रकार की भाव-व्यंजना और अलंकरण उस चतुर चित्रकार के चित्र निर्माण में अलौकिक शक्ति के हृदय के स्वर्गीय आनन्द की दिव्य ज्योति तथा प्रचुर प्रसार का सहज रूप प्रस्फुटित करता है।[1]

आशय यह है कि बाघ की चित्रकला तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर किसी भी अन्य चित्रकला की प्रसिद्ध कलाकृति से कम नहीं। इसका चित्रकला के इतिहास में अपना महत्त्व है।

विश्व की चित्रकला के प्रसंग में जब भी चर्चा होगी बाघ स्थित चित्रों का उल्लेख हुए बिना नहीं रहेगा।

---

[1] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ३१६

But while the Ajanta Frescoes are more religious in theme depicting the incident from the lives of Buddha, the Bagh Frescoes are more human depicting the life of the time with its religious associations In the Bagh Frescoes the humanity of the theme gives free rein to the joy of the Artist though the general tone is one of gracious solemnity The aesthetical element which is latent, almost cold, in Ajanta is patent and pusating in Bagh

द्वितीय खण्ड
सस्कृति

१ सस्कृति, उसका निर्माण तथा सभ्यता
२ सिन्धु-सस्कृति
३ वैदिक सस्कृति

वदिक सस्कृति की विशेषताएँ एव महत्व, वदिक समाज की रूपरेखा, राजनीतिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, नतिक आदश, नारी का स्वरूप, वदिक सस्कृति एव शिक्षा के आदश।

४ रामायण, महाभारत तथा तत्कालीन सस्कृति
५ मौय सस्कृति
६ शुङ्ग-सातवाहन सस्कृति तथा विदेशी आक्रमण
७ गुप्त काल की सस्कृति
८ प्रकीणक

भारतीय धम, भारतीय दशन, भारतीय प्राचीन साहित्य, भारतीय शिक्षा-सस्थाएँ, षोडश-सस्कार, विवाह-पद्धति पच महायज्ञ, वण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था।

वरण संस्थाओ प्रथाओ व्यवस्थाओ, धर्म दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओ का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं।"[1]

वस्तुत संस्कृति मानव जीवन के उन समस्त तत्वो की समष्टि का नाम है जिनका धर्म और दर्शन से उदय होकर कला कौशल, समाज तथा व्यवहार म उसकी परिणति होती है। संस्कृति के स्वरूप व सम्बन्ध म अनेक विद्वानो ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। के० एम० मुंशी के अनुसार— हमारे रहन सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था जो मानसिक प्रकृति है जिसका उद्देश्य हमारे अपने जीवन को परिष्कृत शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है वही संस्कृति है। संस्कृति जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण है। डा० भगवानदास के शब्दो म —'मानसिक क्षेत्र म उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक कृति संस्कृति का अग बनती है। इसम प्रधान रूप से धर्म दर्शन सभी ज्ञान विज्ञान और कलाओ सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओ और प्रथाओ का समावेश होता है। मैथ्यू आर्नोल्ड के मत म किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति हैं जिनसे समाज राष्ट्र परिचित होता है। Culture is the acquainting by ourselves with the best that has been known and said in the world एक अन्य विद्वान् ने लिखा है—किसी समाज जाति अथवा राष्ट्र के समस्त व्यक्तियो के उदात्त संस्कारो के पुज का नाम उस समाज जाति और राष्ट्र की संस्कृति है। किसी भी राष्ट्र की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियो का विकास संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है।[2] इस उद्देश्य की पूर्ति मजा संस्कृति जितना योगदान करेगी वह संस्कृति उतनी ही उत्कृष्ट कहलायेगी। यह उत्कर्ष मनुष्य बुद्धि शिक्षा एव संस्कारो के सहयोग से प्राप्त करता है। अत संस्कृति का सम्बन्ध मानवीय बुद्धि स्वभाव और उसकी मनोवृत्तियो स होता है। इन तत्वो के सहयोग स व्यक्ति अपना विकास कर लेता है, निश्चय ही उस व्यक्ति के आत्म उसके विचार और उसका जीवन मूल्य महान् होता है। ये विशेषताये या तो स्वत महान् होती हैं अथवा महत्ता को जन्म देती है। अत हम कह सकते हैं कि संस्कृति साध्य भी है और साधन भी।

जब संस्कृति व्यक्ति तक सीमित रहती है तब वह उसके व्यक्तित्व को मूल्यवान् बनाती है और जब वह जातीय जीवन म समाविष्ट हो जाती है तो वह राष्ट्रीय चेतना को विकसित करती है। इन्ही विकसित तत्वो म साहित्य कला धर्म और दर्शन होते हैं।

---

[1] भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास पृ० ४

[2] शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय संस्कृति पृ० १७

सभ्यता एवं संस्कृति—संस्कृति का समानान्तर एक शब्द सभ्यता है। भ्रम वश अनेक व्यक्ति संस्कृति एवं सभ्यता को एक ही मान लेते हैं। किन्तु इन दोनों ही शब्दों में मौलिक अन्तर है। वस्तुतः सभ्यता मानव की भौतिक विचारधारा की सूचक है तथा संस्कृति आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास की सूचक है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि "मनुष्य के भौतिक क्षेत्र में की गई उन्नति का नाम ही सभ्यता है।' सभ्यता समाज में रहन सहन, वेश भूषा व्यवहार की पर्याय है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने सभ्यता के सम्बन्ध में लिखा है कि मनुष्य का समाज में मानवीकरण ही सभ्यता है'—'Civilization is the humanization of a man in society' इसी भाव को डा० जॉनसन ने दूसरे शब्दों में लिखा है—सभ्यता बर्बरता के विरुद्ध जीवित रहने की दशा है—Civilization is the condition of life oppose to barbarion' इन दोनों ही परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य ने प्रकृति प्रदत्त पदार्थों तत्त्वों और शक्तियों का उपयोग कर जो भौतिक क्षेत्र में प्रगति की है, वही सभ्यता है। इस प्रकार सभ्यता एवं संस्कृति को एक साथ देखने पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य के जीवन में आध्यात्मिकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके विकास के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है। मनुष्य भौतिक विकास कर अपनी शारीरिक स्थूल क्षुधा को तृप्त करता है, किन्तु उसकी आत्मा अतृप्त ही रहती है। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों एवं उनके विकास से ही सदा सन्तुष्ट नहीं रह सकता। वह केवल भोजन से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता, शरीर के साथ मन और आत्मा भी है, भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा की तृप्ति तो सम्भव है, किन्तु मन एवं आत्मा सर्वथा अतृप्त ही रहेंगे। मन और आत्मा के सन्तोष के लिए किया गया मानसिक, आत्मिक विकास ही संस्कृति है। डा० बजनाथ पुरी ने सभ्यता तथा संस्कृति के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'संस्कृति आभ्यन्तर है, सभ्यता बाह्य है, संस्कृति को अपनाने में देर लगती है पर सभ्यता का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है। संस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वास से है। सभ्यता सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से बंधी हुई है।" एक अन्य विद्वान् ने भी इन दोनों के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—सभ्यता मनुष्य के मनोविकारों की द्योतक है, संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। सभ्यता मनुष्य को प्रमविवाद की ओर ले जाने का संकेत करती है। संस्कृति उसकी आन्तरिक और मानसिक कठिनाइयों पर काबू पाने में सहायक सिद्ध होती है।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार लिख सकते हैं—किसी समाज, देश या राष्ट्र के मानवों के धर्म दर्शन ज्ञान विज्ञान से सम्बद्ध क्रिया कलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार इन सभी का जो सामंजस्य है वही

२

सिन्धु-सस्कृति

○ सिन्धु सस्कृति

सिन्धु सस्कृति

भारतीय-सस्कृति के सम्बन्ध म जब हम अध्ययन करते हैं तब हमे एक बडा आश्चय होता है कि क्या ऋग्वैदिक काल की सस्कृति ही प्राचीनतम है ? इसके सम्बन्ध मे हम कुछ निणयात्मक रूप म नही कह सकते हैं क्योकि भारतीयो ने वेदो की रचना का काल आज से लाखो वष पूव माना है किन्तु आज के इस बुद्धिवादी युग म भारतीयो के इस विश्वास का अधिक समथन नही मिला है। आज विद्वान वेदो के रचनाकाल का समय आज से चार-पांच हजार वष पूव तक ही मानते हैं और भारतीय इतिहास का अध्ययन भी इसी पृष्ठ भूमि म करते हैं।

विश्व की प्राचीनतम सस्कृति के पद पर किस सस्कृति को प्रतिष्ठित किया जाय, यह भी विवादास्पद है किन्तु यह सुनिश्चित है कि विश्व की समस्त सस्कृतिया, नदियो की घटियो की सस्कृति एव सभ्यताएँ हैं। "दजला फरात की घाटी म ही सुमेरियन बेबीलोनियन तथा असीरियन आदि सभ्यताओ का जन्म एव विकास हुआ, नील नदी की हरी भरी घाटी म ही मिस्र की प्राचीन सभ्यता उदित एव विकसित हुई। ठीक इसी प्रकार भारत म भी सिन्धु नदी की घाटी म भी एक अत्यन्त शान्तिमयी सभ्यता का जन्म हुआ जिसका नाम हम एक लम्बे समय तक नहीं रहा।"

किन्तु सौभाग्यवश आज से ४५ ५० वष पूव १९२२ म प्रो० आर० डी० बनर्जी, सर जान मार्शल, साहनी आदि के सरक्षण म भारत म उत्खनन द्वारा प्रागैतिहासिक

युग के कुछ अवशेष मिले हैं कुछ मुहरें मिली हैं नगरों के अवशेष मिले हैं। इनके द्वारा भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में कुछ नवीन सूत्र मिले हैं जोकि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पहले भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ डेढ़ हजार वर्ष ईसवी पूर्व समझा जाता था। भारत का प्राचीनतम ऐतिहासिक अवशेष ५०० ई० पू० का माना जाता था किन्तु इन खुदाइयों से आज ५००० वर्ष पुरानी अत्यन्त उन्नत, समृद्ध एवं सम्पन्न नागरिक सभ्यता का ज्ञान हुआ, जो न केवल मिस्र, और मेसोपोटामिया की विश्व में प्राचीनतम समझी जाने वाली संस्कृतियों के समकालीन थी, किन्तु नगरों की सफाई नियमित प्रणाली व्यवस्था, निश्चित योजना के अनुसार शहरों को बसाने आदि कई अंशों में अपनी समकालीन सभ्यताओं से भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। इसके अवशेष सर्वप्रथम हड़प्पा में पाये गए थे, अतः इसे हड़प्पा सभ्यता कहा जाता है। सिन्धु नदी की घाटी में फलने फूलने से इसे सिन्धु सभ्यता का भी नाम दिया गया है।[1]

मोहनजोदड़ो

मोहनजोदड़ो का शाब्दिक अर्थ 'मुर्दों का ढेर' है। यह नगर सिन्धु के लरकाना जिले में स्थित है। इस नगर के पास उत्खनन कार्य करते हुए बनर्जी महोदय को कुछ बौद्ध धर्म सम्बन्धी सामग्री प्राप्त हुई थी, बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ अन्य अवशेषों की प्राप्ति के मोह में इस स्थान की खुदाई प्रारम्भ हुई और वहाँ एक नवीन सभ्यता के अवशेष उपलब्ध हुए।

हड़प्पा नगर माण्टगोमरी जिले में है। यहाँ पर दयाराम साहनी ने १९२२ में अन्वेषण करते समय कुछ अवशेष प्राप्त किए थे। किन्तु कुछ समय पश्चात् आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के डाइरेक्टर सर जान मार्शल की देख रेख में यहाँ उत्खनन कार्य हुआ और प्राचीनतम सभ्यता के अनेक प्रामाणिक अवशेष उपलब्ध हुए और आज भी मिल रहे हैं।

सिन्धु-सभ्यता के नगर और भवन

नगरों के भग्नावशेषों के द्वारा पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता की भांति ग्राम्य सभ्यता न होकर नागरिक सभ्यता थी। उत्खनन द्वारा जो नगर का ध्वसावशेष प्राप्त हुआ है वह इस बात का प्रमाण है कि नगर निर्माण एक विशिष्ट योजना के अनुसार है। नगर की समस्त सड़कें चौड़ी हैं बिलकुल सीधी तथा इनमें से योजनानुसार छोटी छोटी गलियाँ भी निकाली गई हैं जिनके कारण चौराहे तिराहे भी बने हुए हैं। सभी सड़कें समकोण पर काटती हैं। सबसे बड़ी सड़क ३३ फीट चौड़ी है। प्रत्येक गली में एक कुआ है। सड़क के किनारे पर स्थित मकान सुन्दर एवं भव्य हैं। मकानों से गन्दा जल निकालने के लिए नाली भी बनी हैं। शहरों की रक्षा के लिए परकोटे भी बने हैं।

---

[1] भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २६

इन नगरों में स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, सड़कों के किनारे कूड़े-करकट को रखने की व्यवस्था थी। इन नगरों की स्वच्छता के सम्बन्ध में गार्डन चाइल्ड ने लिखा है—'गलियों की सुंदर पंक्तियाँ तथा प्रणालिकाओं की उत्तम व्यवस्था एवं उनकी सतत स्वच्छता से इस बात का संकेत मिलता है कि यहाँ कोई नियमित नगर शासन था जो अपना कार्य सावधानी से सम्पन्न करता था। इसका अधिकार इतना सुदृढ़ था कि बाढ़ों के कारण बार बार निर्मित भवनों की तैयारी के समय निर्माण एवं सड़कों की सुनिश्चित पंक्तियाँ को बनाये रखने के नियमों का पालन होता था।'[1] इसी प्रकार बाशम महोदय ने लिखा है कि यह अनुपम स्वच्छता की व्यवस्था सिन्धु निवासियों की नगर-पालिका जैसी किसी संस्था की सूचक है। जिस संस्था की यह श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

'The unique sewerage system of the Indus people must have been maintained by some municipal organisation and is one of their most impressive achievements."

भवन

सिन्धु सभ्यता के काल में भवन, कच्चे पक्के, छोटे बड़े सभी प्रकार के बनते थे। उत्खनन से प्राप्त भवनों से उस काल की निर्माण कला उनकी स्वच्छता एवं भव्यता के दर्शन होते है। ये भवन चौकोर होते थे बीच में एक आंगन होता था, और उसके चारों ओर छोटे बड़े कमरे होते थे। इन मकानों में दरवाजे, खिड़कियाँ, झरोखे, स्नानघर पनघर और कूड़ादान तथा घर ■ पानी निकालने के लिए अनेक नालियाँ भी होती थी। मकान की छतें लकड़ी और ईंटों से पटी होती थी, मकान का मुख्य द्वार राजपथ की अपेक्षा पीछे की ओर होता था। मोहनजोदड़ो नगर में जो भग्नावशिष्ट भवन मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि ये भवन दो कमरों से लेकर बड़े बड़े भवन थे। इनमें एक बहुत ही विशाल भवन है जिसका अगला भाग ८५ फीट गहराई ९७ फीट तथा जिसमें ३२ वर्ग फीट का आँगन है। इन भवन के विशालकाय द्वार, हाल तथा बरामदों को देखकर यहाँ के कारीगरों की निपुणता का बोध होता है। मकानों की बाहरी दीवारें भी काफी मोटी होती थी। पाँच फीट तक मोटी दीवारों वाले मकान भी बनाये जाते थे। कुछ बहुत बड़े बड़े हॉल भी हैं जो सार्वजनिक भवन पाठशाला या मंदिर हो सकते हैं। एक ९० वर्ग फीट वाला हाल भी प्राप्त हुआ है।"

इन मकानों में प्रयुक्त ईंटें भी विभिन्न आकार की थी। कुछ २०½" लम्बी १०½" चौड़ी तथा ३½" मोटी होती थी। ईंटों की सीढ़ियाँ भी बनती थी।

---

[1] रतिभानसिंह नाहर प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ४०

मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के भवन अलंकृत होने की अपेक्षा अधिक सादे हैं फिर भी वे समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं। इन भवनों में अन्नागार और स्नानागार भी हैं। एक विशालकाय स्नानघर मिला है जिसमें (१) 'चारों ओर बरामदे जिनके पीछे गलियाँ हैं तथा चारों ओर कमरे हैं, (२) एक कुण्ड जिसकी लम्बाई ३० फीट चौड़ाई ३० फीट तथा गहराई ८ फीट है और दोनों ओर जल की सतह तक को छूती हुई सीढ़ियाँ हैं। (३) कुएँ हैं जिनसे आवश्यकता पड़ने पर स्नानागार के कुण्ड को जल से भरा जाता था (४) महान स्नानागार की कुल लम्बाई १८० फीट, चौड़ाई १०८ फीट है तथा इसकी बाहरी दीवारों की मोटाई ८ फीट है। जलाशय के जल की सुरक्षा तथा उसकी नींव को सुदृढ़ रखने के अभिप्राय से यहाँ के राजगीरों ने विशेष चातुर्य से काम लिया है। जलाशय को जल से भरने या रिक्त करने के लिए जो व्यवस्था की गई है वह निश्चय ही काफी असाधारण है। एक छः फीट से भी ऊँची प्रणालिका पाई गई है जिससे पानी निकाला जाता रहा होगा।'[1] यह स्नानागार आज के निर्मित किसी भी स्नानागार के समकक्ष स्वीकार किया जा सकता है जहाँ तक मजबूती का प्रश्न है वह इसकी ५००० वर्ष की यात्रा कर भी सुरक्षित रहने से ही स्पष्ट है।

सामाजिक अवस्था

भोजन—सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रमुख व्यवसाय कृषि था, कृषि के क्षेत्र में उन्होंने पर्याप्त उन्नति की थी। सिंचाई का समुचित व्यवस्था थी गेहूँ जौ तथा बाजरा यहाँ का प्रमुख उत्पादित अन्न था। यहाँ के निवासी शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों ही थे। दूध के प्रयोग से भी परिचित थे। मछलियों का भोजन में प्रयोग किया जाता था —मुर्गी सूअर भी पाले जाते थे।

वस्त्र—उत्खनन कार्य करते समय सूत कातने के चर्खे तथा सूती वस्त्र के टुकड़े मिले हैं जिनके आधार पर निश्चयात्मक रूप में कहा जा सकता है कि वस्त्र उत्पादन भी इस काल में होता था। उत्खनन करते समय एक पुरुष मूर्ति भी मिली है जो शाल ओढ़े है। यह शाल बाम स्कन्ध के ऊपर से दक्षिण-स्कन्ध के नीचे से जाता है। दक्षिण कर पूर्णतः खुला है। स्त्रियों के वस्त्र पुरुषों से भिन्न थे। इस काल में सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र बनने लगे थे।

आभूषण

इस युग के स्त्री पुरुष आभूषण प्रिय थे। धनी व निर्धन अपने सामर्थ्यानुरूप आभूषण धारण करते थे। इस काल के आभूषणों में हार, भुजबन्द कंगन और मुद्रिका है। स्त्रियों के आभूषणों में नथुनी करधनी बाली अधिक प्रचलित थी। इस

---

[1] रतिभानसिंह नाहर' प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ३९

युग मे मनुष्य स्वण रजत ताम्र, प्रस्तर आदि से परिचित थे। अत धन-सम्पन्न व्यक्ति आभूषण सोने, चादी मणियो एव जवाहिरात के भी वनवाते थे और निधन अस्थि, ताम्र और पकी मिट्टी के आभूषण धारण करते थे। आभूषणों के अतिरिक्त नारियाँ दात की कघी, पीतल के दपण तथा मुख और ओठ रगने के लिए एक विशेष प्रकार के अङ्गराग का प्रयोग करती थी। यहाँ साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा म उपयोग करता था, उसकी तुलना समकालीन सभ्य ससार के अन्य भागो से नहीं हो सकती।"

आमोद प्रमोद की दृष्टि से खेलों को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था शतरज यहाँ के निवासियो का प्रिय खेल था। जगली पशुओं का शिकार भी मनोरजन का साधन था। पक्षियो का पालना, मुर्गे लडाना, तुरही-वीणा, सगीत, नृत्य भी मनोरजन के साधन थे, इसकी पुष्टि यहाँ प्राप्त अनेक मुहरो स होती है। तरुणो के अतिरिक्त वालको के लिए अनेक प्रकार के खिलौने मनोरजन के साधन थ। इन खिलोनो म मिट्टी की गाडियाँ, चिडिया, मूर्तियाँ गुडियाँ, झुनझुने, सीटी, लट्टू आदि थे।

सामाजिक सगठन—यहाँ के समाज का सगठन चार वर्गों म विभक्त था—(१) विद्वान, (२) योद्धा (३) व्यापारी तथा (४) श्रमजीवी। पुजारी, ज्योतिषी तथा वद्य आदि की गणना विद्वान् वग म होती थी। राष्ट्र रक्षक, सनिको की गणना योद्धा वग मे थी। औद्योगिक काय करने वाले वणिको का तीसरा वग—व्यापारी था। सामान्य-काय तथा उद्योग धधे का काय करन वाले श्रमजीवी वग म परिगणित होते थे। समाज म स्त्रियो की स्थिति उन्नत थी। सिधु निवासी स्त्रियो का सम्मान करते थे क्योकि मातृशक्ति को व दवी तथा उपास्य रूप म मानत थ। यहा के परिवार मातृ सत्तात्मक थे, जिनम स्त्रियो का स्थान तथा महत्त्व अधिक था।

आर्थिक दशा

सिन्धु निवासी कृषिकाय करते थे। गेहूँ, जौ, बाजरा, कपास तथा खजूर यहाँ की प्रमुख उपज थी। यहा वर्षा प्रचुर मात्रा मे होती थी, नदी के सामीप्य के कारण सिंचाई की व्यवस्था अच्छी थी, कृषिकाय के अतिरिक्त यहाँ पशु-पालन का कार्य भी होता था। इन पालतू पशुओ म वल, गाय, सुअर, कुत्ते और हाथी प्रमुख थे। सम्भवत परवर्ती काल म घोडे तथा ऊँट भी यहाँ पाले जाने लग थे। वसे इनके घरो म सूअर घडियाल, मछलियो तथा चिडियो की भी अस्थियाँ उपलब्ध हुई हैं, सम्भवत सिधु निवासी इन्हें मार कर खाते थे। कुछ पत्रो पर गेंडा, चीता, भालू, बन्दर तथा खरगोश के भी चित्र मिल हैं।

सिधु निवासी घरेलू उद्योग धधो से भी जीविका का निर्वाह करते थे। इन उद्योगो म स्वणकारी कुम्भकारी, बढईगीरी और लुहारी आदि है। यहाँ की स्वर्णकारी के सम्बन्ध म एक विद्वान् ने लिखा है "व बाड स्ट्रीट के किसी आधुनिक जौहरी की दूकान स आये हुए प्रतीत होते हैं, इसा स ५००० ई० पू० क प्रागैतिहासिक काल

के घर से आगे हुए नही जान पडते।' कुम्भकार चाक द्वारा सकोरे, कटोरियाँ, प्यालियाँ, घडे आदि विभिन्न बतन बनाते थे। मिट्टी के खिलौने बनाकर भी ये धनो पाजन कर लेते थे। बढई भी बलगाडी, बच्चो की गाडियाँ, मकान सम्बन्धी दरवाजे आदि बनाकार धनाजन करते थे। इस काल म धातुकार ही लुहार था, आभूषण तथा अस्त्र शस्त्रो क अतिरिक्त अन्य धातु सम्ब धी चीजे भी लुहार ही बनाते थे। इस काल म वस्त्रोद्योग भी उन्नत था। ऊनी तथा सूती दोनो प्रकार के वस्त्र बनते थे। जौहरी, हाथी दांत क काम करने वाले, रगरेज आदि भी अनेक प्रकार के उद्योग ध धो क द्वारा जीविकोपाजन करते थे। इस काल म व्यापार भी अच्छी दशा मे था। चौडी चौडी सडक बडी बडी दूकानें इस बात की साक्षी हैं। इनका व्यापार सुमेरिया तक फला हुआ था। व्यापार के विषय म गाडन चाइल्ड का कथन है सिन्धु घाटी के नगरो की निर्मित सामग्रियाँ दजला फरात के बाजारो म बिकती थी और उधर सुमेरियन कला की कुछ शलियाँ, मेसोपोटामिया की शृ गार सामग्रियो तथा एक बेलन के आकार की मुहर का अनुकरण सि धु निवासियो ने कर लिया था। व्यापार कच्चे माल तथा विलास की वस्तुओ तक ही सीमित न था। अरब सागर के तटो से लाई हुई मछलियाँ मोहन जोदडो की भोजन सामग्री मे सम्मिलित थी।" सोना ताबा आदि का आयात भी विदेशो से किया जाता था। आन्तरिक व्यापार के विषय म भी गाडन चाइल्ड का कहना है कि स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि सि धु के नगरो म शिल्पी बिक्री के लिए वस्तुएँ बनाते थे। इन सामानो के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने मुद्राओ का प्रचलन या मूल्य का माप स्वीकार किया था या नही, और यदि किया था तो क्या था—इसका ठीक पता नही है। अनेक विशाल भवनो और मकानो से लगे हुए सुरक्षित गोदामो से यह ज्ञात होता है कि इन घरो के स्वामी व्यापारी थे। इन घरो की सख्या और आकार यह बताते है कि यहाँ सुसगठित एव समद्धिशाली व्यापारियो की बस्ती थी।"[1] सि धु घाटी के निवासी व्यापार म क्रय विक्रय के लिए बाटो का भी प्रयोग करते थे। इस काल के बाट प्राय पत्थर के बने थे। तराजू का भी प्रयोग होता था।

इस प्रकार हम देखते है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग म व्यापार आन्तरिक तथा बाह्य दोनो प्रकार से होता था। आर्थिक स्थिति अच्छी थी सभी उद्योग धन्धे प्रचलित थे।

धार्मिक दशा

विश्व के समस्त प्राचीन निवासी प्रायः प्रारम्भ म बहुदेववादी प्रकृति पूजक या शक्ति क उपासक थे, एकेश्वरवाद की कल्पना समस्त धर्मों म बाद म की जाती रही है। सिन्धु घाटी के निवासियो की मान्यतायें भी एसी ही रही हैं। हम

१ रतिभानसिंह 'नाहर' प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ४४

इनके धार्मिक विश्वासो की जानकारी सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरो, तावीजो और मूर्तियो से होती है। उनके आधार पर हम कह सकते है कि सिन्धु घाटी के निवासी मातृ देवी के उपासक थे। 'मोहन जोदडो तथा हडप्पा मे असख्य देवियो की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जैसी कि बलूचिस्तान मे मिली हैं। इसी प्रकार की मूर्तियाँ पश्चिमी एशिया इजियन सागर के आस पास एलम एशिया माइनर मेसोपोटेमिया सीरिया, पैलेस्टाइन, क्रीट, साइरस बालकन, इजिप्ट आदि मे प्राप्त हुई हैं। विद्वानो का मत है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी या प्रकृति देवी की मूर्तियाँ है। मातृदेवी या प्रकृति देवी की इस उपासना को प्राचीन कालीन सिन्धु मे देखकर हम उस प्राचीन वैदिक-कालीन मातृपूजा (आद्याशक्ति या प्रकृति पृथ्वी या अदिति जिनका उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है) से लेकर आधुनिक काल के ग्राम्य देवता (जिनकी सख्या अनन्त है) तक की स्मृति आ जाती है और भारत के धार्मिक विश्वासो की इस प्राचीन शृखला का बोध करके आश्चर्य सा होने लगता है।'[1] मातृपूजा बलि के द्वारा की जाती थी जिसमे नर बलि भी दी जाती थी। इस काल के धार्मिक विश्वासों मे आदि पशुपति की उपासना भी सम्मिलित थी। एक मुहर मे तीन मुँह वाला नग्न व्यक्ति बैठा है, इसके दो सीग भी हैं। इसके दाहिनी ओर एक हाथी और एक सिंह आसीन है तथा बाई ओर बारहसिंगा तथा भैसा चित्रित है। सर पर कवच है, आसन के नीचे एक दो सीग वाला हिरन है। इस चित्र के आधार पर विद्वानो ने त्रिमुख त्रिनयन भगवान् शकर से इसका सम्बन्ध जोडा है। इस काल मे प्राप्त अनेक शकु तथा बेलन के आकार के प्रस्तर खण्डो से यह भी विदित होता है कि उस काल मे शिव की मूर्तिपूजा के अतिरिक्त लिङ्ग पूजा भी होती थी। मुहरो पर अकित विभिन्न प्रकार के पेडो और पशुओ की आकृति से यह ज्ञात होता है कि उस समय पीपल (अश्वत्थ) वृक्ष की पूजा होती थी पशुओ की आकृतियो मे भी यह अनुमान सहज ही होता है कि अनेक पशु देवताओ के वाहन के रूप मे पूजे जाते थे। सर्पपूजा वीरपूजा तथा स्वस्तिक के चिह्न भी विभिन्न स्थलो से प्राप्त हुए हैं।

उपर्युक्त आधारो पर हम कह सकते हैं कि सिन्धु घाटी के निवासियो का धर्म हिन्दू धर्म से पर्याप्त साम्य रखता है। इसी साम्य के आधार पर सर जान मार्शल महोदय ने लिखा है कि 'सिन्धु घाटी के लोगो के धर्म मे बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती जुलती बाते हम अन्य देशो मे भी मिल सकता हैं और यह बात सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मो के विषय मे ठीक है कि आधुनिक युग के प्रचलित हिन्दू धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है।' इस प्रकार सिन्धु घाटी के निवासियो की आस्थाये तथा विश्वास बहुत कुछ अर्थो मे हिन्दू धर्म के पूर्व किन्तु अपरिष्कृत रूप हैं। इन्ही से आधुनिक हिन्दू धर्म मार्ग प्रशस्त हुआ है।

---

[1] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास पृ० ४५

कला

सिन्धु घाटी की कला के विषय में यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि यहाँ के कलाकार सुशिक्षित एवं परिष्कृत रुचि के थे। कला में वे उपयोगितावाद पर अधिक विश्वास करते थे। भवन निर्माण कला का पिछले पृष्ठों में विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। अतः खण्ड 'ब' के प्रारम्भिक पृष्ठों में देखा जा सकता है। सिन्धु घाटी की मूर्ति कला के सम्बन्ध में सर जान मार्शल महोदय ने ठीक ही लिखा है, 'सिन्धु घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर अपनी एक विशिष्ट छाप है। इस काल में हम अन्य देशों में कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो कला की दृष्टि से यहाँ की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या अन्य पशुओं की मूर्तियों से साम्य रखती हो या उन उत्कीर्ण मुद्राओं से विशेषकर उन जिन पर छोटे सींगों के कूबड़वाले बैलों की नक्काशी है और जो निर्माण-कौशल तथा सुडौलपन की दृष्टि से अद्वितीय हैं, न यही सम्भव है कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी प्रतिमाओं की तुलना रचना की सुघराई की दृष्टि से किन्हीं अन्य मूर्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि जब यूनानी सभ्यता की प्रौढ़काल की मूर्तियों से।' इस काल में मुहर निर्माण-कला भी प्रौढ़ थी। यहाँ निर्मित मुहरें विभिन्न प्रकार के प्रस्तरों, हाथी के दाँत, धातुओं तथा मिट्टी से बनती थीं।

लेखन-कला भी इस काल में विकसित थी। सिन्धु घाटी के निवासी पढ़ना लिखना भी जानते थे किन्तु किसी प्रामाणिक पत्र के अभाव में मुहरों पर अंकित अक्षरों के आधार पर ही विद्वानों का यह अनुमान है कि इनकी लिपि चित्रात्मक थी किन्तु दुर्भाग्यवश यह लिपि अभी तक पढ़ने में नहीं आ सकी है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता एवं संस्कृति का काल

मोहनजोदड़ो की सभ्यता सिन्धु सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति विकास में सिन्धु नदी का विशेष स्थान है। इस सभ्यता का काल निर्णय प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से नहीं किया जा सकता किन्तु सुमेरी सभ्यता मेसोपोटामिया की सभ्यता के आधार पर तथा प्राप्त सामग्री के आधार पर विद्वानों ने इसका काल २८०० २५०० ई० पू० माना है। श्री नाहर ने इस सम्बन्ध में लिखा है 'प्राप्त भूस्तरीय भग्नावशेषों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता का काल इस प्रकार अनुमानित किया कि इन स्तरों में तीन युग पश्चात-कालीन हैं, तीन मध्यकालीन हैं तथा एक प्राचीन है और यदि प्रत्येक स्तर का समय ५०० वर्ष माना जाय तो इस हिसाब से इस सभ्यता का प्रसार काल ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी समान मुहरें सिन्धु तथा एलम और मेसोपोटामिया में प्राप्त हुई हैं जिनके आधार पर भी इस सभ्यता को २८०० ई० पू० का कह सकते हैं।' गार्डन चाइल्ड का कथन है 'ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व की अबीदास (Abydos) उर (Ur) या मोहनजोदड़ो की भौतिक संस्कृति पेरिक्लीज के काल एथेन्स अथवा किसी मध्यकालीन नगर की सभ्यता से तुलना कर सकती

है। भवन निर्माण कला, वस्तुनिर्माण कला या मुहर निर्माण-कला और मिट्टी के बर्तनों की चमक तथा सुन्दरता को देखकर हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के प्रारम्भ में सिंधु-सभ्यता बेबीलोनियन सभ्यता से काफी आगे थी। किन्तु भारतीय संस्कृति का वह पश्चातकालीन स्वरूप था। इसने इसके पूर्व और प्राचीन समय में भी पथ प्रदर्शन किया होगा। वे अनुसंधान और आविष्कार जो इसके पूर्व सुमेरीय संस्कृति को अभिहित करते हैं बेबीलोनिया की भूमि पर देशीय विकास थे परन्तु उनकी प्रेरणा भारत से प्राप्त हुई थी। मार्शल महोदय प्रशंसात्मक शब्दों में लिखते हैं— मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा दोनों स्थानों में एक बात जो स्पष्ट प्रकट होती है और जिसके सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं हो सकता, वह यह है कि इन दोनों स्थानों में जो सभ्यता हमारे सम्मुख आई है वह कोई प्रारम्भिक सभ्यता नहीं है अपितु ऐसी है जो सभी युगों की प्राचीन हो चुकी थी भारत भूमि पर सुदृढ़ हो चुकी थी और उसके पीछे मानव की शताब्दियों की कृतियाँ हैं। इस प्रकार अब से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईरान मेसोपोटामिया और मिस्र की भाँति भारतवर्ष उन सब प्रमुख देशों में से है, जहाँ सभ्यता का जन्म और विकास हुआ था।"[1]

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने सिंधु संस्कृति का भारतीय संस्कृति के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध था, इसी सिद्धान्त का खण्डन किया है। विशेष रूप से ए० बी० कीथ ने अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है कि 'इस संस्कृति से भारत के आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं था।'[2] उनके तर्क निम्न हैं —

१ इतिहास तथा संस्कृत साहित्य में कोई भी विद्वान् यह स्वीकार नहीं करता है कि ई० पू० ३००० वर्ष में आर्य भारत पहुंच गये थे। ई० पू० २००० वर्ष तक भी आर्य भारत में नहीं आये थे। अतः सिंधु और आर्य संस्कृतियों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था।

२ ऋग्वेद में नागरिक जीवन का उल्लेख नहीं है जबकि सिंधु संस्कृति में नगरों का बाहुल्य है।

३ ऋग्वेद में चांदी का उल्लेख नहीं है, जबकि सिंधु संस्कृति में सोने की अपेक्षा चाँदी का अधिक प्रयोग है।

४ ऋग्वेद कालीन आर्य मछली नहीं खाते थे, जबकि सिंधु संस्कृति के मनुष्य मछली अधिक खाते थे।

५ सिंधु संस्कृति में घोड़ा नहीं मिलता है जबकि ऋग्वेद में घोड़े का आधिक्य है।

६ ऋग्वेद में बैल की अपेक्षा गाय का अधिक महत्त्व है जबकि सिंधु संस्कृति में गाय का इतना महत्त्व नहीं है।

७ ऋग्वेद में मूर्ति पूजा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु सिंधु-

---

[1] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ५०-५१

[2] भारतीय अनुशीलन वि० १, पृ० ६६

संस्कृति में मूर्ति-पूजा धर्म का प्रधान अंग थी पशुपति एवं योगीराज के रूप में सिन्धु संस्कृति में शिव की पूजा होती थी।

८ ऋग्वेद में शिरस्त्राण और कवच का उल्लेख है किन्तु गदा का उल्लेख नहीं, जबकि सिन्धु संस्कृति में गदा तो है किन्तु कवच नहीं है।

उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा कीथ महोदय ने यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है कि सिन्धु संस्कृति से आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु ये तर्क सर्वथा निर्जीव हैं, क्योंकि अभी ऋग्वेद का काल निर्णय नहीं हुआ है। यह भी सिद्ध नहीं है कि आर्य ई० पू० ३००० में भारत में नहीं थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद इतिहास का ग्रन्थ भी नहीं है कि सभी बातों का इसमें उल्लेख हो। ऋग्वेद एक धार्मिक ग्रन्थ है, उसमें उन ऋषियों के मन्त्रों का संग्रह किया गया है जो वनों में आश्रम बनाकर रहते थे। इसलिए ऋग्वेद में बड़े बड़े भवनों और नगरों का स्पष्ट उल्लेख न मिलना ही काव्य की स्वाभाविकता है किन्तु अनेकश उसमें ऐसे उल्लेख भी हैं जो परोक्ष रूप में नगरों की सत्ता के साक्षी हैं। ऋग्वेद में राज्य का, भव्य भवनों का जो उल्लेख है वह यही अधिक नागरिक वातावरण का परिचायक है। इसके अतिरिक्त मछली, कवच, गदा आदि के द्वारा सांस्कृतिक एकता का परिचय नहीं दिया जा सकता। एक ही संस्कृति में विश्वास रखने वाले समाज में ये सब भेद एक ही समय में सम्भव हैं। जब एक ही माता पिता से उत्पन्न भाइयों में भी खान पान रहन सहन में भिन्नता मिल जाती है फिर यह तो एक विस्तृत समाज था अतः उसमें ये सब भेद पाये जा सकते हैं। सिन्धु घाटी की संस्कृति में देहाती जीवन का उल्लेख इसलिए नहीं मिला है क्योंकि उस जीवन के सूचक चिह्न हमारे पास नहीं हैं जिस नागरिक सभ्यता का उदाहरण हम दे रहे हैं, वह तो नगर के खोदने में मिली है। यदि हम संयोग से किसी ग्राम के खण्डहर को खोदें तो वहाँ हम ग्रामीण संस्कृति के ही अवशेष मिलेंगे न कि नागरिक संस्कृति के। फिर भी गेहूँ, जौ बाजरा का मिलना ग्रामों के अस्तित्व का सूचक है। इसके अतिरिक्त श्री शिवदत्त ज्ञानी सिन्धु एवं वैदिक संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध में लिखते हैं कि त्रिमूर्ति, योगीराज पशुपति शिव, पृथ्वीमाता आदि भारत के अपने देवता हैं प्राचीन बाबुल सुमेर आदि के नहीं हैं। इन देवताओं को मानने वाले अवश्य भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे होने चाहिए। सोना, चाँदी, गाय बैल, गेहूँ बाजरा आदि जो कुछ उन खण्डहरों से मिला है वह सब पूर्णतया भारतीय ही है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अभी तक इतिहासकारों ने सिन्धु संस्कृति के लिए जो कुछ मत स्थिर किए हैं उनमें अधिक खोज के परिणामस्वरूप बहुत अधिक सुधार की आवश्यकता है। फिर भी निष्पक्ष वृत्ति से इतना तो कहा जा सकता है कि सिन्धु संस्कृति को भारतीय आर्यों से पृथक करना कोई सरल काम नहीं है।[1]

---

[1] भारतीय संस्कृति, पृ० ४१ ४२

इस विवचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता एव सस्कृति अति पुरातन एव महान् थी। किन्तु इस वैभव सम्पन्न एव महान् सभ्यता का विनाश कसे हुआ, यह भी कम आश्चय नही है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो न अनुमान किया है कि सिन्धु नदी की बाढ, बबर पहाडी जातियो के आक्रमण अथवा विजयी आर्यों ने इस सभ्यता का विनाश कर दिया हो किन्तु यह सब आज भी इतिहास के गत म छिपा हुआ है।

३
वैदिक-काल

- वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ
- वैदिक समाज की रूपरेखा
- राजनीतिक स्थिति
- आर्थिक स्थिति
- धार्मिक स्थिति
- नैतिक आदर्श
- वैदिक भारत में नारी का स्थान
- वैदिक संस्कृति एवं शिक्षा के आदर्श

वैदिक संस्कृति की विशेषतायें

विश्व की संस्कृतियों में वैदिक संस्कृति का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक संस्कृति ने विश्व के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। विश्व के अन्य राष्ट्र जब अज्ञानान्धकार में निमग्न थे उस समय वैदिक आर्य सम्पूर्ण कला कौशलों में पारंगत थे। इस तथ्य को भले ही पाश्चात्य शिक्षाभिमानी दुराग्रह के कारण स्वीकार न करें किन्तु उन्हें पाश्चात्य आलोचक विण्टरनिट्ज के इन विचारों को अपनी दृष्टि से परे नहीं करना चाहिए कि यदि हम अपनी संस्कृति के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं यदि हम भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं तो हम भारत जाना चाहिए जहां भारोपीय समुदाय का प्राचीनतम साहित्य सुरक्षित है।"[१]

---

[१] If we wish to learn the beginnings of our own culture if we wish to understand the Indo European culture, we *must* go to India where the oldest literature of an *Indo European* people is preserved '

वदिक संस्कृति के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वत प्रभाव को लेकर भारतीय संस्कृति अपनी जय यात्रा कर रही है। इसके तत्त्व इतने पुष्ट हैं कि वह विशाल जीवन-यात्रा म कभी पथभ्रष्ट नही हुई है। इनकी प्राचीनता विश्व प्रसिद्ध है। 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' इसी संस्कृति के लिए कहा जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी अपने हृदयोद्गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

> प्रथम प्रभात उदय तव गगने।
> प्रथम सामरव तव तपोवने॥

प्राचीन भारतीय संस्कृति अथवा वदिक-संस्कृति प्राचीन-काल से गौरवपूर्ण तत्त्वो से अभिमण्डित है, इस सांस्कृतिक विकास की रूपरेखा को समझने के लिए प्राचीन भारत की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि भारतीय साहित्य-शास्त्र, ज्ञान विज्ञान कलाए, धम दशन आदि ऐसा कोई भी तत्त्व नही है जिसकी स्पष्ट रूपरेखा वदिक साहित्य म न मिले। इस प्रकार वदिक संस्कृति एक ओर जहाँ प्राचीनतम सिद्ध होती है वही पूर्णतम संस्कृति भी।

वदिक संस्कृति म मानव का जीवन उल्लासमय, आशामय था, निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी यत्र-तत्र सवत्र वदिक मत्रो म यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जिस प्रकार परवर्तीकाल म मानव को निराशावादी, पलायनवादी तक बनना पड़ा उसका वदिक काल म नामोनिशान न था। "वदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख का अभावरूप मुक्ति या मोक्ष जसा न होकर निश्चित रूप भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व आनन्त्य या निश्रेयस् ही कहा जा सकता है बहुत से विद्वानो को भी यह जानकर आश्चय होगा कि वदिक संहिताओं में मुक्ति मोक्ष अथवा दुःख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नही मिला। हमारी समझ में उपर्युक्त वदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि में यह एक अद्वितीय प्रमाण है। वदिक ऋषियो ने सवदा प्रकृति माता की गोद म क्रीडा करने की कामना की है, उसके लालन-पालन पोषण म अमृतत्व म आनन्द की अनुभूति की है। यही नही प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो म निहित प्रसादनी शक्ति को अपने मन में आविर्भूत होने की कामना की है। अथववेद के एक मत्र म तो बहुत ही स्पष्ट शब्दो म सौ वष से भी अधिक जीने देखने, सुनने नानाजन करने बढ़ने पुष्ट होने और आनन्दमय जीवन की कितनी कमनीय कामना की गई है।[1] "जीवन के विषय म यह सुखद स्वरूप भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति

---

[1] पश्येम शरद शतम। जीवेम शरद शतम
बुध्येम शरद शतम। रोहेम शरद शतम
पूषेम शरद शतम। भवेम शरद शतम
भूयेम शरद शतम। भूयसी शरद शतात।

की लम्बी परम्परा में यह निस्सन्देह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्तरी के जल के समान दिव्य और पवित्र है। इस सांस्कृतिक अभ्युदय काल में आर्यजाति उत्साहमय स्वस्थ वातावरण में यशस्वी जीवन की विजय यात्रा में अग्रसर हो रही थी। उनका जीवन उस काल में यज्ञमय था। कर्मकाण्ड की इस युग में प्रधानता थी। इससे आगे क्रमशः चिन्तनशील वैदिक ऋषि परमात्मा के विभूति रूप सूर्य, वायु, ऊषा आदि देवों के साथ सरल भाव से विचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी युग में जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ था। इस पृष्ठभूमि के अनन्तर हम वैदिक संस्कृति के कुछ मूलाधार तत्त्वों का विवेचन संक्षेप में करेंगे जिनसे हमें पता चलेगा कि वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण के मूल में किन किन तत्त्वों का योग है।

आध्यात्मवाद—वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋत और सत्य की भावना है, समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमानुकूल चलायमान है इन नियमों में कहीं वैषम्य नहीं है इसी विषमता के अभाव को 'ऋत' कहा जाता है। मानव जीवन के प्रत्येक नैतिक तत्त्वों का नाम सत्य है। डा० मंगलदेव ने लिखा है कि अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना यही वास्तविक धर्म है, परन्तु वैदिक आदर्श इससे भी आगे बढ़कर ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उनके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है। इसी ऋत एवं सत्य की भावना को बहुत अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप में आध्यात्म तत्त्व में आ देख सकते हैं।

यह आध्यात्मवाद हमें भोगवाद से दूर कर ईश्वर विषयक ज्ञान की ओर ले जाता है यह हमें प्रकृति से प्रेम करना भी सिखाता है। ईशोपनिषद् के आरम्भ में जगत्तत्त्व की खोज में लीन ऋषियों ने अपनी विचारधारा को क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक क्या आर्थिक तथा क्या ही शारीरिक सभी क्षेत्रों के मानवीय कर्त्तव्यों को सूत्र रूप में निबद्ध किया है।[1]

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से व्याप्त है। इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार"।

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता का स्वीकार करना ही आस्तिकता है। वह ईश्वर सर्वव्यापक है यह स्वीकार कर लेने पर अर्थात् पाँचों तत्त्वों पर एक महान् शक्ति का शासन है फिर मानव पाप कार्य के लिए जो एकान्त चाहता है उस एकान्त का तो सर्वत्र अभाव होगा क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस प्रकार आस्तिक

[1] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ यजुर्वेद ४०।१

उन्नति के लिए इस ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना ही होगा। इस सिद्धान्त को हृदयगम कर लेने से आत्मा मे शक्ति का आविर्भाव होगा, विश्व की अशान्ति का शमन होगा विश्वबन्धुत्व का प्रसार होगा। यह आस्तिकवाद का सिद्धान्त—कि ईश्वर सर्वव्यापक है आज भी विश्व के मनुष्यो को अनुप्राणित कर रहा है। कबीरदास के शब्दो मे—

'कस्तूरी कुण्डल बसे मृग ढूँढ़े बन माँहि।
एसे घट घट राम हैं दुनिया देखे नाँहि॥

इस आस्तिकवाद को अर्थात् ईश्वर की सत्ता को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। जेम्स जीन्स महोदय सृष्टि रचना मे आदि कारणभूत एक अनन्त शक्ति को स्वीकार करते हैं। शिकागो विश्वविद्यालय के प्राध्यापक क्रोस्ट महोदय भी इसी विचारधारा को स्वीकार करते है। सन् १६३७ के सितम्बर मास मे होने वाली एक सभा मे जिसका सभापतित्व स्वर्गीय आइन्स्टीन ने किया था, उसमे भी ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार किया गया था। अन्य वैज्ञानिक भी प्लेटो की विचारधारा का समर्थन इस प्रकार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—'Beyond all finite existence and secondary cause laws ideas and principle is an intelligence mind"

इस प्रकार एक महान् शक्ति की सत्ता भारतीय ही नही पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वैदिक सस्कृति का दूसरा आधार त्यागभाव है, ससार का भोग त्यागभाव से ही करना चाहिये। पदार्थो के उपभोग का इस सस्कृति मे निषेध नही है अपितु भोग मे लिप्त हो जाने का निषेध है। यह सिद्धान्त जीवन जलयान के लिए प्रकाश स्तम्भ है जिससे जीवन जलयान भोगवाद रूपी चट्टानो से चकनाचूर होने से बच जाय। फ्जी के शब्दो मे यदि मैं ममता मोह की मृग मरीचिका मे फँस जाऊ उस समय कर्त्तव्य की पुकार होने पर मैं अपनी रक्षा त्यागभाव से कर सकता हू। यदि असमजस के वात्याचक्र मे कुछ निर्णय न होता हो तथा हमारे ज्ञान चक्षु सासारिक कृत्रिम चाकचक्य से चमत्कृत हो गये हो उस समय वैदिक त्यागभाव की प्रवृत्ति ही भौतिक भावनाओ के कर्दम से मेरा उद्धार करेगी। सकीर्णता से मेरा उद्धार होगा मानवता की यही परिभाषा है सात्विकता का यही मूल मन्त्र है।' यही त्यागभाव 'मागृध कस्यस्विद्धनम्' 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' परिहिता' का उपदेश देता हुआ मानव मात्र को अशान्ति से शान्ति की ओर ले जाने का यत्न करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जब स्वर्ण देवता बन जाता है तो भयभीत मानवता चीत्कार कर उठती है। जब धन सग्रह की प्रवृत्ति बढ जाती है तो मानवता की दुहाई देता हुआ मानव पशु पीडितो के शवो को रौंदता हुआ आगे बढता है। क्या इस प्रकार का मानव समाज के लिए उपकारी हो सकता है? आज भी 'दादा बडा न भैया, सबसे बडा रुपया" जसी कहावतें सुनकर ज्ञात होता है कि विश्व का वातावरण धन के लिए क्षुब्ध है। त्यागभाव इस विचार के लिए अकुश के समान है।

भागवत पुराण की दृष्टि में 'मानवीय चित्तवृत्ति यहाँ पर अपने सर्वोच्च शिखर पर है, इसमें आज कुछ शेष नहीं है, आधिक जगत् की समस्याओं के हल का यही मूल सिद्धान्त है।'

गाइडमिचेल के शब्दों में "जहाँ कुछ स्थानों पर धन का ढेर होता है वहाँ मानवता का पतन होता है, राष्ट्र विनाश के गर्त में गिरता है।' इन उद्धरणों से वैदिक त्यागभाव की महत्ता स्वतः स्पष्ट है।

तीसरा आधार है कर्मवाद—जीवन कर्ममय है, अतः कर्म करते हुए ही जीवन व्यतीत हो यह वैदिक सिद्धान्त है।[1]

कर्मशील रहते हुए सौ वर्ष जीवन की कामना। कर्मयोग के अतिरिक्त जीवन साफल्य का अन्य कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में अर्जुन को इसी का उपदेश दिया है। निष्कर्मण्यता पाप एवं अभिशाप है। कर्म न करने से आयु क्षीण होती है। पड़े पड़े लोहे में भी जंग लग जाती है। फिर मांस, मज्जा, अस्थि इत्यादि निर्मित मानव का कहना ही क्या ? इस प्रकार यह कर्मवाद मानव को कर्मण्यता तथा आशावाद का सन्देश देता है। यह कर्म ही जीवन है।

वैदिक संस्कृति का चतुर्थ आधार आत्मविश्वास है, आत्मा का हनन करना पाप है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का यह मन्त्र भी यही कहता है।[2]

वे आत्मघाती हैं जो स्वार्थ संकुचित वृत्ति तथा भोग-परायण हैं। आत्म-हनन कर्ता अन्धकारावृत्त लोकों में जाकर नरक के भागी होते हैं। आत्मविश्वास के बिना जीवन व्यर्थ है। इस भौतिक एवं श्रम संघर्षरत युग में मानव की अशान्ति का मूल कारण आत्मविश्वास की उपेक्षा ही है।

वैदिक संस्कृति का पाँचवाँ तत्त्व पुनर्जन्मवाद है। यह पारलौकिक भावना ही मानव को पुनः आचरण करने का उपदेश देती है। इसी भावना से प्रेरित हो भारतीय वीर एवं वीरांगनायें अपने धर्म तथा देश की रक्षा के लिए हँसते हुए प्राणार्पण कर देते थे। पुनर्जन्मवादी यह सोचता है कि अगमन लोक न पर अपि' इसका परिणाम यह होता है कि मानव सदाचार आदि का पालन करता हुआ अगले जीवन को सुखद बनाने की चेष्टा करता है।

वैदिक संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की भावना परवर्ती काल में पल्लवित हुई जिसका परिणाम था राजा एवं रङ्क में स्नेह भावना का

---

[1] कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजुर्वेद ४०/२०

[2] असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ यजुर्वेद ४०/३

सचार करता है । उदाहरणस्वरूप कृष्ण सुदामा की मैत्री को हम ले सकते हैं जो कि भारतीय इतिहास म अमर है । विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की उदात्त कमनीय भावना का निदर्शन इस मन्त्र म मिलता है—मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । मैं मित्र की दृष्टि से प्राणिमात्र को देखू और मित्र की दृष्टि से देखा भी जाऊ ।

इसी प्रकार साम्यवाद की उदात्त भावना भी इस सस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है—

सगच्छध्व सवदध्व स वो मनासि जानताम ।
देवा भाग यथापूर्वे सजानानामुपासते ॥

अर्थात् हे भगवान ! हम सभी समानभाव से विश्व मे गति करें, श्रेष्ठ भाषण करें, हमारे हृदय भी कल्याणकारी विचार वाले हो । जिस प्रकार प्राचीनकाल म देव कल्याणकारी विचारो की ही उपासना करते थे ऐसे ही हम भी बने । यही नहीं विश्व म कल्याण कामना ही इस सस्कृति का मूलमन्त्र है—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभागभवेत ॥

विश्व के प्राणीमात्र सुखी हो, प्राणी मात्र नीरोग हो, सभी मगलदर्शी हो, सभी सुखी हो । इसी प्रकार "पुमान् पुमास परिपातु विश्वत ।" मानव मात्र की परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्य का कर्त्तव्य है । 'तत्कृण्मो ब्रह्मावो गहे सज्ञान पुरुषेभ्य" हम सभी मिलकर मनुष्यो म परस्पर सुमति और सद्भावना क विस्तार की उपासना करें । इस प्रकार की उदार घोषणायें वदिक सस्कृति की हैं । अन्यान्य विश्व की सस्कृतियो मे इसका अभाव ही है । उदाहरणत यूनान म सुकरात को जहर का प्याला पीना पडा, ईसा को फासी के तख्त पर बठना पडा । मय-सस्कृति का विनाश भी यूरोपियनो ने किया । अत यह मानना ही पडेगा कि वदिक-सस्कृति विश्व को सुपथ का माग अपनाने का ही आदेश देती है—

"असतो मा सद गमय,
तमसो मा ज्योतिगमय,
मत्योर्मा अमत गमयेति ।"

समन्वयवाद एव विचार सहिष्णुता भी भारतीय सस्कृति का एक आधार है जिसम आय अनाय सघष क उपरान्त अनार्यों का मिलन सहिष्णुता का परिचायक है । यही कारण है कि भारत अनेक जातियो का एक राष्ट्र है तथा अनेक धम—शैव, शाक्त, वष्णव, ईसाई जन, बौद्ध आदि धर्मों का एक धम है वह उसी प्रकार जैसे समुद्र अनेक नदियो (जल) का घर होता है—स यथा सर्वासामपा समुद्रमेकायनम ।

भारत म सभी धम एव सभी जाति समान भाव से फलती एव फूलती हैं । आज की सस्कृति का निर्माण केवल वेदो से ही नही हुआ है अपितु आगमो से भी हुआ

है। यह निगमागम सम्मत संस्कृति है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही विचार शक्ति, पूजा एवं धार्मिक विश्वास तथा पूजा विधियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है इसका स्पष्टीकरण ऋग्वेद के इस मंत्र में प्राप्त है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् *वह शक्ति एक ही है, किन्तु विद्वान उसे विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं।* गीता में भी इसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्' अर्थात् जो जिस रूप में भजन करते हैं मैं उन्हें उसी रूप में प्राप्त होता हूँ।

सर्वाङ्गीण अभ्युदय का इस संस्कृति में विशेष ध्यान रखा जाता है इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म अर्थ काम मोक्ष को समानभाव से महत्त्व प्राप्त है। धर्म इस संस्कृति का प्राणभूत सिद्धान्त है धर्म ही उन्नति का मूल है तथा जन्म-जन्मान्तर का साथी यह धारणा प्रत्येक भारतीय के हृदय में बद्धमूल है—'धर्म सखा परमहो परलोकयाने' अर्थ के बिना राज्य संचालन असम्भव है। काम ही सृष्टि निर्माण का मूल है। मोक्ष भारतीय-संस्कृति एवं शिक्षा का मूल हेतु है। इस प्रकार इस संस्कृति में ऐहिक पारलौकिक उन्नति के साथ व्यक्तिगत जीवन में शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक उन्नति को समान महत्त्व प्राप्त है। इसके विपरीत सुकरात ने आत्मा को ही महत्त्व प्रदान किया था। पश्चिम केवल भौतिकवादी विकास के लिए कटिबद्ध है। भारत ने सर्वाङ्गीण विकास के लिए ही चार वर्ण एवं चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

आशावाद—भारतीय विचारधारा में दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय के अनन्तर *संसार असार है जीवन क्षण भंगुर एवं नश्वर है* जैसी निराशावादी भावनायें पल्लवित हो चुकी थीं जिन भावनाओं ने मानवीय विकास में एक बड़ा व्याघात उपस्थित किया था, किन्तु वैदिक संस्कृति एवं साहित्य आशावादी भावनाओं से अनुप्राणित है यत्र-तत्र सर्वत्र जीवन के अभ्युदय एवं सौ वर्ष जीने की कामना वेद मन्त्रों में मिलती है। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति सदैव उत्साहपूर्ण धारणा रही है। समस्त वैदिक साहित्य अमृतमय प्राण संजीवन वचनों से सम्भृत है। यजुर्वेद के मन्त्रों में लिखा है कि आत्मतत्त्व या आत्मचेतना की विस्मृति रूप आत्महत्या (जीवन में आदर्श भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अन्धतमस प्रकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु है। (यजु० ४०/३) यही नहीं, वेद में कहा भी है 'आशा हि परम ज्योति नैराश्य परमं तमः' तथा 'चरवेति चरवेति' के रूप में चलते रहने का उपदेश भी वैदिक संस्कृति का ही है। आशय यही है कि दार्शनिक सम्प्रदायों ने निराशावादी भावना का प्रसार यद्यपि किया था किन्तु वैदिक साहित्य की आशावादी भावना के समक्ष वह पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका।

वैदिक संस्कृति में मानव मात्र के कल्याण की भावना का समावेश है स्वस्ति वाचनप्रकरण के संकलित मन्त्रों में इसी भावना का पल्लवन हुआ है। भगवान् से

सवत्र इम प्रकार की कामना की गई है कि—भगवान् जो भद्र या कल्याण है उसे हमे प्राप्त कराइये, भद्र या कल्याणमय माग पर चलते हुए हम पूण जीवन को प्राप्त करें। हे देव ! हम कानो से भद्र सुनें और भद्र ही आंखो स देख। भगवान् ! हम प्रेरणा दीजिये कि हमारा मन सवदा भद्र माग का ही अनुसरण करे तथा भगवान् हमे निरन्तर कल्याण की प्राप्ति कराइये।

वदिक सस्कृति मे मानव मात्र का लक्ष्य शिक्षा का लक्ष्य, एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति है—"ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते" तथा उस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तप उसी तप से पाप का हनन होता है—

तपसा चीयते ब्रह्म।
तपसा किल्विष हृ त॥

तप स हमारा तात्पय यम नियमादि के पालन से है। यम नियम भारतीय सस्कृति के आधारभूत तत्त्व हैं। इनक पालन किए बिना मानव जीवन मात्र पशु ही है। इन यम नियमो के पालन से मनुष्य का शारीरिक एव मानसिक विकास होता है। शरीर की शक्तियो क विकास के लिए यम नियमो का पालन यहा परम आवश्यक था, इसी कारण प्राचीन काल म भारतीय दीघजीवी होते थे। वद म सौ वष तक जीने की कामना की गई है। इन यम नियमो के पालन स केवल शरीर ही पुष्ट होता था, ऐसी बात नही थी, अपितु मानसिक विकास के य आधार थे। यम नियमो के पालन से इन्द्रिय निग्रह होता था, प्राणायाम तथा आसन चचल चित्तवृत्ति को निग्रह कर एकाग्र बनाते थे। प्राणायाम फेफडो को शक्तिशाली बनाकर हृदय को बलवान बनाता था, परिणामस्वरूप मानसिक शक्तियो का विकास होता था। विश्व का प्रत्यक राष्ट्र मानसिक शक्ति क विकास के लिए प्रयत्नशील रहता था। 'प्राचीन बाबुल, मिस्र यूनान रोम आदि म इस शक्ति के विकास का उत्तरदायित्व साधारणतया धर्माचार्यो पर ही था। यूनान राम आदि मे शासन की ओर स भी नियन्त्रण रहता था, किन्तु मानसिक विकास सर्वाङ्गीण नही हो पाता था।' क्योकि इन देशो म आवश्यकतानुरूप प्रयत्न किय जाते थे, दूसरी सस्कृतियो स उपयोगी तत्त्व आत्मसात् किय जाते थे। किन्तु भारत की प्राचीन सस्कृति म इस प्रकार की व्यवस्था थी कि प्रत्यक व्यक्ति निसग से ही अपने विकास म लग जाता था, उसे धर्माचाय अथवा शासन के द्वारा प्ररणा न मिलकर उसका हृदय उस अपने विकास क लिए प्रेरित करता था। यहाँ की आश्रम व्यवस्था इस विकास के लिए सर्वाधिक योगदान प्रदान करती थी। "प्राचीन भारत म मनुष्य के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग का अच्छा तरह स समझा गया था। साख्य, योग, आदि दर्शनो ने इस दिशा म विशेष प्रगति की थी। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर आदि के ज्ञान द्वारा भारत म मानसिक विकास की एक सुन्दर योजना बनाई गई थी जिस

आश्रम व्यवस्था की सहायता से सफल बनाया जाता था। मानसिक विकास की ऐसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है।"[1]

तीन-ऋण

वैदिक साहित्य में व्यष्टि एवं समष्टि के कल्याण के लिए तीन ऋण—पितृ ऋण तथा देव ऋण का उल्लेख मिलता है। यथार्थ में पितृ ऋण परिवार के कल्याण के लिए विहित है किन्तु समाज के कल्याण के लिए भी इसकी उपयोगिता सिद्ध है, क्योंकि यदि माता पिता के प्रति प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है तो समाज में उत्तरदायित्व का निर्वाह हो जाता है, अतः व्यष्टि से समष्टि का कल्याण होता है। समाज का वातावरण पवित्र एवं विशुद्ध बना रहता है। ऋषि ऋण का निर्वाह स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य द्वारा पूर्ण होता है। ऋषि कुलों में गुरु अपने शिष्यों को आजीवन भोग तथा तप का फल विद्या के द्वारा देते थे, वह शिष्य ब्रह्मचारी बनकर गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था और मन्त्र द्रष्टा ऋषि ब्रह्मचारी को ज्ञान देता था इस दान से ब्रह्मचारी ऋषि का ऋणी हो जाता था और भावी जीवन में वह इसी कार्य के द्वारा अपने ऋण को पूर्ण करता था। यह ऋण स्वाध्याय समाज कल्याण आदि के द्वारा चुकाया जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि समाज ज्ञान की ज्योति से प्रकाशित रहता था।

समाज के कल्याण के लिए देव ऋण का भी विधान था, इसका बदला यज्ञादि के द्वारा दिया जाता था। वेद में परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को देव कहा जाता था क्योंकि उनका प्रकाश सर्वत्र विकीर्ण रहता था। देव शब्द से आत्मिक प्रकाश का भी बोध हो सकता है। अतएव देव शब्द से उन आत्म संस्कारी महापुरुषों का भी तात्पर्य लिया जा सकता है जो समाज के कल्याण के लिए ही जीवित रहते हैं और जो अपने सेवा कार्यों से समाज को अपना ऋणी बना देते हैं। समाज का भी कर्त्तव्य है कि उनके आदर्शों व उपदेशों पर चल कर उनके ऋण से उन्मुक्त होवे।

इन ऋणों के निर्वाह से समाज का वातावरण सुसंस्कृत बनता था। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणवान होता है ऋषि ऋण देव ऋण तथा पितृ ऋण। ब्रह्मचर्य यज्ञ व प्रजा द्वारा क्रमशः ये तीनों ऋण चुकाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पर माता पिता का बड़ा भारी ऋण रहता है जो कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जा सकता है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैः ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः। प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।[2]

---

१ भारतीय संस्कृति पृ० २०

२ तैत्तिरीय उपनिषद ६/३/१०।

आत्म दर्शन

भारतीय दर्शन तथा सस्कृति म अपने को पहचानन पर विशेष आग्रह है। इस प्रकार अपनी आत्मा को पहचानकर मनुष्य पूर्णत्व की ओर सहज ही अग्रसर हो सकता है। आत्मज्ञान के अभाव मे सम्पूर्ण ज्ञान एव उपलब्धिया व्यथ ह। इसीलिए भारतीय ऋषि मुनियो ने कहा था, अपने आपको जानो—"आत्मान विजानीहि"। यूनान के दार्शनिक सुकरात की भी घोषणा थी,—Know thyself (अपने आपको जानो)। अपने को जानो भाव भारतीय सस्कृति का आवश्यक तत्त्व है। आज भी भारत का सामान्य मनुष्य 'अपने को पहचानो' के भावा से भरे गीत को गाता रहता है। आत्म दर्शन भारतीय सस्कृति का परमोत्कृष्ट तत्त्व है। "भारतीय-सस्कृति के अनुसार आत्मा को समझकर उसे जीवन मरण के बन्धन से मुक्त करना ही मानव-जीवन का एक-मात्र ध्येय है। धर्म अर्थ, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य को जीवित रहना चाहिए, न कि किसी देश विशेष या राष्ट्र विशेष की पिपासा पूर्ण महत्त्वाकाक्षाओ की तृप्ति के लिए। भारत के दर्शन, साहित्य, काव्य, कला आदि इसी वर्गचतुष्टय की प्राप्ति के लिए विकसित हुए थे।"[1]

उपरिनिर्दिष्ट तत्त्व वदिक सस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं जिनका स्थाली-पुलक-न्याय से सक्षिप्त परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया गया है। वदिक सस्कृति मानव को मानवता का सन्देश देती है। वदिक सस्कृति क य तत्त्व परमोत्कर्ष के द्योतक हैं। इसीलिए यह सस्कृति विश्व की अन्यान्य सस्कृतिया को देखते हुए आज भी जीवित है। उसी वदिक सस्कृति की उत्तराधिकारिणी सस्कृति के लिए महाकवि इक्बाल ने ठीक ही लिखा है—

यूनान मिस्र रोमा सब मिट गये जहाँ से।
अब तलक भी नामो निशा हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियो रहा है दुश्मन दौरे जमा हमारा॥

इस अविनश्वर भारतीय सस्कृति के मूल म व कौनसे तत्त्व हैं जिनके कारण वह अमर है। भारतीय सस्कृति मानव के सर्वांगीण विकास पर बल देती है, वह शारीरिक व मानसिक क्षमता के उत्कर्ष के लिए प्रेरणा देती है जबकि अन्य सस्कृतियाँ किसी एक तत्त्व क उत्कर्ष पर आग्रह करती हैं। उदाहरण के लिए स्पार्टा नगर को लिया जा सकता है। स्पार्टा म शारीरिक विकास ही सब कुछ था, "इस प्रकार स्पार्टा म केवल शारीरिक शक्ति के वीर ही पनप पाते थे। इसके परिणामस्वरूप ससार को 'लियोनीडास' व उसके वीर सिपाही अवश्य प्राप्त हुए जिन्होने अपनी वीरता से 'थर्मोपली' को अमर बना दिया, किन्तु मानसिक व आत्मिक विकास की दृष्टि से उन्होने समय पर अपनी कोई छाप न छोडी व मानव विकास म अपना हाथ नही बटाया। एथेन्स की सस्कृति म मानसिक विकास पर अधिक जोर दिया गया था।

[1] भारतीय सस्कृति, पृ० २२

रोम, मिस्र, बाबुल आदि की प्राचीन संस्कृतियों में भी यही अधूरापन दीखता है। इसीलिए वे संस्कृतियाँ काल की कसौटी पर सच्ची न उतर सकी व आज केवल स्मृति मात्र ही शेष हैं। यूरोप की आधुनिक संस्कृति भी सर्वाङ्गीण नहीं है। आत्मिक शक्ति को तो उसने पहचानना भी नहीं सीखा। स्वार्थ से प्रेरित होकर वह भौतिक चकाचौंध में अन्धी हुई जाती है, व उसने आसुरी सम्पत्ति का मायाजाल चहुँ ओर फैला दिया है।[1] इसके विपरीत यदि भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति की ओर दृष्टिपात करें तो वह मानव के सर्वाङ्गीण विकास का उपदेश देती है। शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति के साधन जुटाती है। भारत की प्राचीन संस्कृति में मनुष्य के समानुपातिक सर्वाङ्गीण विकास को महत्त्व प्रदान किया गया है।

वैदिक संस्कृति का महत्त्व

वैदिक संस्कृति मानव जीवन के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह संस्कृति प्राचीनतम होने पर भी आज के युग में भी मानव को अमर सन्देश दे सकने में समर्थ है। इस संस्कृति के तत्त्व देश काल की सीमाओं से बाधित नहीं होते। ये तत्त्व सार्वदेशिक एवं सार्वभौमिक हैं। विश्व की संस्कृतियों में इस संस्कृति के तत्त्वों की खोज की जा सकती है। प्राचीन चीन, बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम आदि की संस्कृतियों पर प्राचीन भारत के दर्शन, धर्म, साहित्य, भाषा, कला आदि का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है। यूरोप की जिस संस्कृति ने आज विश्व को प्रभावित किया है उसकी जड़ों में भी भारतीय संस्कृति की छाप दिखाई देती है। यूरोपीय संस्कृति का आज मूलमन्त्र विश्वबन्धुत्व, समता, स्वातन्त्र्य भाव हैं। ये सभी तत्त्व वैदिक संस्कृति की देन हैं। वेदों में इन पूतभावों से भरे अनेक मन्त्र हैं जिनका हम अभी उल्लेख कर चुके हैं।

आज के इस कृत्रिम विश्व में जब स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य और छलछिद्र का ताण्डव हो रहा है, हिंसा की दुन्दुभी बज रही है, सिद्धान्त और आदर्श भंग हो रहे हैं, ऐसे अवसर पर वैदिक संस्कृति का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। वैदिक संस्कृति ही ऐसे पीड़ित संसार के लिए रामबाण सिद्ध होगी। हमारी यही अमर संस्कृति चिरन्तन काल से पथ प्रदर्शन करती रही है और भविष्य में भी करेगी।

वैदिक समाज की रूपरेखा

आर्य अनार्य संघर्ष, आर्य आर्य संघर्ष के उपरान्त आर्यों के समाज की जो रूपरेखा तैयार हुई वही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। आर्यों के सामाजिक जीवन एवं संगठन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्य-अनार्य सम्पर्क का ही पड़ा है।

वर्ण व्यवस्था—वैदिक सभ्यता के नवनीत मोलन काल में मानव मात्र दो वर्गों में विभक्त था—आर्य एवं अनार्य। आर्य वर्ग इस काल में एक था। उनमें खान-पान रोटी बेटी का निकट सम्बन्ध था। उनमें पूर्ण व्यावसायिक स्वतन्त्रता थी जैसा कि एक

---

[1] भारतीय संस्कृति, पृ० १८

ऋषि का कहना है—' मेरा पिता वद्य है, मेरी माता पीसनहारी है मैं कविता करता हूँ।" तथापि कुछ ऐसे तत्त्व भी प्राप्त होते हैं जो सामाजिक विकास के सिद्धान्त म तथा सामाजिक वर्गीकरण के कारणभूत है। ऋग्वदिक काल म कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ आई जिनसे पृथक-पृथक वर्गों को ज म मिला – किन्तु वर्गों मे विभक्त होने पर भी एक आस्था एक विश्वास, एक उद्देश्य और पूणत एकात्मकता थी। Muir ने लिखा है कि ऋग्वद काल म जाति प्रथा नही थी। पुरुष सूक्त मे ब्राह्मण, राजन्य वश्य एव शूद्र चार वर्णों का उल्लेख है। पर यह सूक्त बहुत बाद का है अत ऋग्वेद के मुख्य भाग के रचना काल का चित्रण इसमे नही है। परन्तु आर्यों एव दासो मे वण (Colour) के आधार पर जाति प्रथा का उदय होता है। यह भी कहा जाता है कि जिस समय ऋग्वेद क अधिकाश म त्रो का सृजन हो रहा था उस विश्वामित्र व वसिष्ठ क समय म पुरोहित वग या राजन्य वग परम्परागत न था। विराट पुरुष द्वारा चार वर्णो की उत्पत्ति का विवरण पुरुष सूक्त म प्राप्त है। उन्ही के आधार पर इन वर्गों का गुणकर्मानुसार विभाजन परवर्ती काल म किया गया है। धार्मिक कृत्य व्यवस्था अध्ययनाध्यापन क लिए एक ब्राह्मण वग बना, होत पोत, नेष्ट्र प्रशास्त अग्वयु ब्रह्मा आदि सप्त पुरोधा इन्ही मे से होते थ। ब्राह्मण वग के पारस्परिक विवाहादि सम्ब ध उन्ही क वग म होते थ किन्तु कभी कभी दूसरे वर्गों मे भी हो जाया करते थे। द्वितीय वग राजन्य था। धार्मिक कृत्य के लिए ब्राह्मण और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इस राजन्य वग का निर्माण हुआ। वसे तो आर्यों के जीवन का समारम्भ सघष से हुआ था अत उस काल मे सभी सनिक थे किन्तु कालान्तर मे धार्मिक यज्ञो क कर्त्ता एक वग का आविर्भाव हुआ तो धार्मिक वग के यज्ञयागादि की रक्षा क लिए द्वितीय राजन्य वग का उदय हुआ। धार्मिक यज्ञो की रक्षा के लिए यह वग शस्त्र धारण करता था, अनार्यों स आर्यों की रक्षा करता था। ऋग्वेद क एक म त्र मे लिखा है कि आय सवत शत्रुओ से घिरे हुए हैं, वे मानव नही हैं। इन परिस्थितियो मे राजन्य वग को सनिक वग की आवश्यकता नितान्त अपरिहाय थी। सनिको के काय कठोर थे अत इनकी शिक्षा भी दुरूह थी। सनिक काय म कुशलता पिता से पुत्र को सहज रूप मे मिलती थी, क्योंकि पूवजो क कार्यों म कुशलता प्राप्त होना मनोवज्ञानिक सत्य है। इन परिस्थितियो मे जो समुदाय या वग बना उसका नाम क्षत्रिय वग था। इस वग क समस्त सामाजिक व्यावहारिक विवाहादि काय भी इसी वग मे होने लगे। कुछ अन्य वग भी जीवन श्वासें ले रहे थे जिनका सकेत मात्र ही हमे मिलता है। ऋग्वेद क दशम मण्डल म ब्राह्मण क्षत्रियो से अवशिष्ट आय जनता विश कही जाने लगी। प्रारम्भ मे यह श द भ्रमणशील आय जनता क लिए था, किन्तु कुछ समय बाद यह एक वग विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। इन वर्गों के लिए ऋग्वेद के दशम मण्डल म एक एक म त्र की प्राथनायें हैं। वश्यो का काय क्षेत्र विशाल था। इसी पर समाज की व्यवस्था आधारित थी, क्योंकि प्रथम दोनों वर्गों के काय भिन्न थे। ऋग्वेद के

दशम मण्डल के अनुसार शूद्र तो परो से उत्पन्न (पदभ्यामजायत) थे अत उनका काय केवल सेवा मात्र था। इसलिए समाज की जीविका आदि का निर्वाह वश्य ही करते थे। समाज का समस्त उत्पादन एव वितरण वश्य वण पर ही अवलम्बित था।

वदिक काल मे समाज का जो वर्गीकरण किया गया था, उसे वण व्यवस्था न कह कर वग व्यवस्था कहना अधिक समीचीन होगा, क्योकि वह तो मात्र एक वर्गीकरण ही था किन्तु यह सच है कि इसी वर्गीकरण मे भावी वण व्यवस्था का मूल निहित था।

परिवार—परिवार म पित प्रधान सत्ता थी। एक पत्नी प्रथा थी किन्तु बहु पत्नी प्रथा भी अज्ञात न थी, लेकिन इस बहु पत्नी प्रथा का प्रचलन राज परिवारो मे ही था। गृह कार्यों का पति ही सर्वेसर्वा था तथा पत्नी गृहस्वामिनी थी। पिता या पितामह कुटुम्ब का प्रधान होता था। वही गृहपति था, वही पालन पोषण का भार वहन करता था। गृहपति का पद वशानुगत था। वही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था। ऋग्वेद के अनुसार प्रत्येक को चल सम्पत्ति का अधिकार था। पशु अश्व, स्वण आभूषण अस्त्र दास आदि व्यक्तिगत सम्पत्ति माने जाते थे। परिवार की भूमि पर भी व्यक्तिगत अधिकार होता था। इसी अथ मे क्षेत्र' शब्द व्यवहृत हुआ है। अपाला नामक कुमारी का अपने पिता क उत्तराधिकारी के सदृश ही अपना उवर क्षत्र था। भूमि नापी जाती थी। खेतो के बीच मेडें बनाई जाती थी। भूमि वितरण की आवश्यकता नही थी क्योकि भूमि अधिक थी। सम्पत्ति का अकन जन एव पशु समुदाय की अधिकता के अनुसार होता था। पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र ही होता था पुत्री नही किन्तु पिता की एकमात्र स तान होने पर वह सम्पत्ति की अधिकारिणी होती था। दत्तक पुत्र प्रथा थी। एक बात यह विशेष थी कि सम्मिलित परिवार प्रथा थी। सामूहिक उत्तरदायित्व वहन करना पडता था जो कि पारिवारिक कलह का कारण बनता था। भ्राता (भरण करने वाला) पिता के बाद बहन का रक्षक होता था। भ्रातहीन बहनो की स्थिति अच्छी नही थी भाई बहन की शादी निषिद्ध थी, बाल विवाह अज्ञात था वर के वरण करने मे स्वत त्रता थी। एक बात और यह विशेष थी कि परिवार म पुत्र की कामना अधिक थी।

समाज—आर्यों का सामाजिक सगठन इस प्रकार का था कि नारी का उत्तम महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुमारी अवस्था तक पिता भ्राता क सरक्षण म वह रहती थी। इसके उपरान्त पति के पति के अभाव म पुत्र क। पर्दा प्रथा नही थी। स्त्रियो को शिक्षा दी जाती थी। वे विदुषी होती थी। विद्या क क्षेत्र मे वे पुरुषो स पीछे नही थी। किन्तु रणक्षेत्र म उनका प्रवेश नही होता था। वस तो ऋग्वेद म विश्पला नामक एक स्त्री युद्ध म जाती है तथा घायल होने पर अश्विनी कुमारो न उसकी चिकित्सा की थी इसका उल्लेख मिलता है। विदुषी एव वीर स्वभाव की नारियो को पूर्ण स्वत त्रता थी। स्वयवर प्रथा का तो हम उल्लेख ऊपर कर ही चुके हैं इसी क साथ नारी अपने रूप पर गव भी किया करती थी, अत नारी-सौन्दर्यानुभूति को

प्रधानता थी। आदर्श विवाह केवल एक माना जाता था विवाह पर आज के समान उत्सव मनाए जाते थे। बरात, पुरोहित अग्नि परिक्रमा आदि सभी कुछ होता था। वधुओं का अत्यधिक सम्मान था। उनकी मगलकामना सर्वत्र होती थी— हे वधू अपने सास सुसर को वशीभूत कर लो अपनी ननद तथा देवरों के मध्य रानी की भाँति सुशोभित हो।

वेष भूषा—आर्यों के वस्त्र युगानुकूल ही थ। वे तीन प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। एक तो नीवी अर्थात् धोती दूसरा वास तीसरा अधिवास। ऊनी तथा सूती दोनों ही प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। धन-सम्पन्न व्यक्ति स्वर्ण-ग्रथित वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर उज्ज्वल एव विशेष वस्त्र धारण करने की प्रथा थी। आभूषण प्रथा भी प्रचलित थी। आभूषणों म कुण्डल, हार अगद, वलय, गजरे आदि प्रमुख थे। नारियाँ साज शृङ्गार भी खूब करती थी क्योंकि तेल कघा सभी का उल्लख मिलता है। पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे। दाढ़ी रखन की प्रथा थी, कुछ व्यक्ति दाढ़ी मुडवा भी लत थे। सम्पूर्ण आय जाति स्वच्छ जीवन बिताना चाहती थी। ऋग्वेद म एक स्त्री चार वणियाँ रखती थी।

खान पान—भोजन म दूध महत्त्वपूर्ण था। दही, घृत तथा खीर का भी प्रयोग होता था। (क्षीर पक्वमौदनम्) पनार भी भक्ष्य था। रोटियाँ चावल, घी के साथ खाये जाते थे। सम्भवत बलि आदि क अवसर पर मृत पशुओं भेड, बकरी आदि का मास भक्ष्य था। गाय के लिए तो "अघ्न्या हि गो" शब्द का प्रयोग हुआ है। सुरा सु दरी का भी चमत्कार प्रचलित था, अत यदा कदा समाज म दुराचार भी सुनने को मिल जाता था। मधुर पय पदार्थ 'सोम' था जिसके गुणगान म ऋग्वद का नवम मण्डल भरा हुआ है।

मनोरजन—आमोद प्रमाद क साधनों म् रथ दौड घुड दौड, नृत्य सगीत प्रमुख थे। जुआ भी प्रचलित था। जुआरी की दुर्दशा का वणन भी प्राप्त होता है। पुरुष और स्त्रियाँ नृत्य भी किया करत थे। वाद्य यन्त्रों में दुन्दुभी, ककरी, वणु, नाडी आदि का उल्लेख मिलता है।

वदिक काल की सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि युगानुकूल आर्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी थी, नतिक स्तर उन्नत था। मनुष्य सदाचारी थे। समाज म सुख शाति थी।

राजनीतिक स्थिति

भारतीय सभ्यता के इतिहास म राजसस्था चिरकाल स चली आ रही है। वदिक काल म भी इसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। वदमन्त्रों को देखकर हमे यह भी आभास मिलता है कि उस काल म जनतन्त्र की भावना और जनता का भी अपने राज्यशासन म महत्त्वपूर्ण स्थान था। राष्ट्रीय उन्नति के लिए सर्वांगीण उन्नति की सर्वत्र कामना है। कुल मिलाकर हम यही कह सकते हैं कि वैदिक भारत की शासन

यवस्था सुसगठित थी। राजनीतिक अवस्था के अध्ययन के लिए समस्त शासन व्यवस्था पाच भागो म विभक्त कर देखगे (१) कुटुम्ब गृह या कुल, (२) ग्राम, (३) विश, (४) जन, (५) राष्ट्र। कुटुम्ब—ऋग्वदिक कालीन कौटुम्बिक जीवन अत्यधिक सुगठित था। कुटुम्ब ही राष्ट्र के शासन की इकाई थी। कुटुम्ब का वृद्ध यक्ति गृहपति था। प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधान कर्ता भी यही था। प्राचीन काल म क्रमश ग्राम के प्राय एक ही कुटुम्ब के सदस्य होते थे। ग्राम—जब कभी कई कुटुम्ब एक ही स्थान पर रहने लगते थे तब वे ग्राम' कहलाते थे। उन सभी यक्तियो की सम्मिलित यवस्था के लिए एक नय अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। उसका नाम ग्रामणी' था। ग्रामणी के निर्वाचन का आधार क्या था इसका ऋग्वेद म किसी प्रकार का सकेत नही मिलता है। किन्तु शासन व्यवस्था म ग्रामणी का अत्यधिक महत्त्वपूण स्थान था। ऋग्वेद मे व्रजपति श द का प्रयोग हुआ है सम्भवत वह ग्रामणी क लिए ही प्रयुक्त हुआ है। विश—विश के सम्बन्ध मे निश्चय पूवक कुछ नही कहा जा सकता है फिर भी एक स्थान पर यह आभास मिलता है कि विश एक वग विशेष था। विश का प्रधान 'विशपति' कहलाता था। इसी विश से वश्य जाति का उद्भव माना जाता है। कई विश मिलकर जन बनते थे। जन का प्रधान गोप' कहा जाता था। गोप का शासन यवस्था मे अत्यधिक महत्त्वपूण स्थान था। देश के लिए 'राष्ट्र शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। राष्ट्र शब्द स यह अनुमान सहज ही किया जाता है कि उस समय शासन यवस्था सुविकसित स्थिति म था। सघात्मक सरकार होने की भी सम्भावना की जा सकती है। राजा ही राष्ट्र की शासन व्यवस्था का सर्वेसर्वा तथा कणधार होता था। ऋग्वेद म राजा श द का यापक प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद मे एक उद्धरण के अनुसार राजा की स्थिति प्रजा पर निभर होती है विशिराजा प्रतिष्ठित तथा हे राजन् तुम प्रजाओ द्वारा राज्य शासन के लिए चुने जाओ' — त्वा विशो वृणुता राज्याय। अथर्ववेदीय यह उद्धरण भी इसी भाव को पुष्ट करता है कि राजा ही राष्ट्र का अधिकारी होता था, प्रजा का उसम महत्त्वपूण स्थान था। राजा श द की उत्पत्ति क सम्बन्ध म कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु ऐतरेय तथा तत्तिरीय ब्राह्मण म दो कथाये आती हैं जिनस राजा क सम्बन्ध म कुछ प्रकाश पडता है। ऐतरेय ब्राह्मण म लिखा है कि देवासुर सग्राम म असुर विजयी हुए उस समय देवो न कहा कि हमारी पराजय का मुख्य कारण राजा का न होना ही है। इसलिए हम राजा का निर्माण करना चाहिए, यह प्रस्ताव सवसम्मति स स्वीकृत हुआ। तत्तिरीय ब्राह्मण म लिखा है कि देवासुर सग्राम म देव एव असुर दोनो न ही अपन अपन सनापतियों क पुत्रो को छिपा दिया। किन्तु राजा क अभाव म युद्ध कम हो सकता था अत देवो न प्रजापति म कहा कि राजा क बिना युद्ध असम्भव है फिर स्वा ने यत किया और इन्द्र म राजा होन की प्रापना की तथा विजय प्राप्त की। न पौराणिक आख्यानो स हम इसी निष्कप पर पहुचत हैं कि प्राचीनकाल म युद्ध सचालन क लिए किसी शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की

आवश्यकता होती थी। वही सुरक्षा का भार लेकर न केवल सैनिक सगठन अपितु धन सचय शांति स्थापना सुदर शासन व्यवस्था भी करता था। ऋग्वेद म मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओ ने अपने राजत्व के सम्बध मे जो कुछ कहा है उससे ज्ञात होता है कि ये राजा वैभवशाली होते थे। इनका शासन सवत्र अप्रतिहत था। ऋग्वेद के मन्त्रो से राजा की महानता, दैवी अधिकार शक्ति, शासन आदि की पुष्टि होती है। राजा ही याय करता था, वही दण्ड देता था। गुप्तचरो का भी अपने शासन के लिए उपयोग करता था। राजा प्रजा पालक दीनबधु था उसे जनता से उपहार भी मिलता था। ऋग्वदिक काल म ब्राह्मण रक्षक थे। राजा वैभवशाली थे, सहस्र स्तम्भो से निर्मित स्वर्णिम भव्य एव सुदर महल उनके निवास स्थल थे।

ऋग्वेद के अध्ययन करने पर हम कुछ अय शब्द भी मिलते है जिनका राज्य शासन मे योगदान स्वीकार किया जा सकता है। राजय शब्द इसी प्रकार का है। इस शब्द का वेद मे अत्यधिक प्रयोग किया गया है जिसका तात्पय जमीदार या राजा होता है। राजय' निश्चित ही राजा के सहायक होते थे, स्वय भी प्रजाहित मे सलग्न रहते थे। अधिक कह तो 'राजय' ही परवर्ती काल मे क्षत्रिय कहे जाने वाले वग के पूवज थे। सम्राट' शब्द भी अनकश वेद में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवत यह किसी चक्रवर्ती राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु प्रमाणाभाव मे निश्चयात्मक रूप मे कुछ नही कहा जा सकता है। उस काल म राजाओ को सहायता या मत्रणा देने के लिए मन्त्री भी होते थे। अधिकतर मन्त्री पुरोहित वग के ही थे। राजा के इन सहायको म सवप्रधान पुरोहित होता था। वह राजा के सभी कार्यों म सहायक होता था। यज्ञकाय सहायक पुरोहित या पुरोधा' होते थे। यही पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय मित्र, पथ प्रदशक रणक्षेत्र का साथी म द्रष्टा तथा स्तुतिकर्त्ता भी होता था। जहाँ पुरोहित एक ओर धार्मिक कृत्यो म प्रधान सहायक होता था वहाँ वह युद्ध एव राज्य शासन म भी राजा का हाथ बटाया करता था। कीथ ने लिखा है—

'पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र म जाता था और अपनी प्राथनाओ व मन्त्रो द्वारा राजा की विजय का यत्न करता था। अपनी इस सेवा के लिए अनकश पुरस्कृत भी होता था।'' इसलिए यह कहा जा सकता है कि पुरोहित एव प्रतिष्ठा लब्ध सम्पन्न व्यक्ति होता था। युद्ध सचालन के लिए एक सेनानी या सेनाध्यक्ष की सत्ता का भी सकेत हमे वद मन्त्रा म मिलता है जिसकी नियुक्ति सम्भवत राजा स्वय ही करता था। ऊपर हमने 'ग्रामणी' का सकत किया है। ग्रामणी के कुछ अय सहायक या उसी वग के उपस्ति' तथा इम्य' नामक पदाधिकारी भी होते थे। राज्य शासन व्यवस्था के लिए समाचार वाहक दूत' भी होते थ जो कि वुद्धि सम्पन्न एव काय कुशल तथा राजा के प्रिय जन थ। अस्तु हम कह सकते है कि सभ्यता के उस स्वर्णिम प्रभात म आर्यों न अपनी राजनीतिक स्थिति दृढ बनाने के लिए सुशासन के लिए समुचित व्यवस्था कर रखी थी। वद के मन्त्रो म हम सभा समिति एव सभ्य तीन शब्दों का और भी उल्लेख मिलता है जोकि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली

इकाइयाँ थी। इन सभा एवं समिति के प्रधान पद का अधिकारी राजा ही होता था। सुइविग ने लिखा है कि सभा में उच्च कुल के व्यक्ति भाग लेते थे तथा समिति में जनसाधारण किन्तु तिमर की कुछ अपनी भिन्न मान्यता है। उसके अनुसार समिति में समस्त जनता भाग लेती थी किन्तु सभा केवल गाँव के लिए होती थी। इस सम्बन्ध में कीथ ने अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

समिति सम्पूर्ण जाति के कार्यों के लिए जनता की बैठक थी और सभा समिति के एकत्र होने का स्थान था जहाँ सामाजिक बैठकें होती थी।[1] इस विशाल भवन में नगर निवासी अन्य कार्यों के लिए भी एकत्र होते थे।[2] हाँ एक बात स्पष्ट है कि सभा एवं समिति के सदस्य को 'सभ्य' कहा जाता था। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राज्य संचालन के लिए सभा एवं समिति आवश्यक तत्व थे जो कि शासन व्यवस्था में अपना योगदान देती थी। निरंकुश होते हुए राजा पर कभी कभी प्रतिबंध भी लगाती थी।

वैदिककाल में राज्यशासन के संचालन के लिए न्याय व्यवस्था भी थी। हाँ एक बात उस न्याय-व्यवस्था की विशेष थी वह यह कि दण्ड कठोर था। खून का बदला खून ही था। मनुष्य की कीमत भी निश्चित थी। वैदिक न्याय व्यवस्था की कठोरता का संकेत हम मनुस्मृति में मिल जाता है। ऋग्वेद में मनुष्यों के लिए बन्दीगृह भी थे। अपराध सिद्धि के लिए जल एवं अग्नि सम्बन्धी परीक्षायें होती थी।

वैदिक काल का प्रमुख अपराध चोरी था और कभी अन्न, वस्त्र व य के चोरों का भी संकेत मिल जाता है। किन्तु इन अपराधियों का पता लगाने पर कठोर दण्ड भी दिया जाता था। न्याय व्यवस्था का यह प्रथम प्रयास था जो कि क्रमश सुधारो मुख था।

शासन व्यवस्था

भारतवर्ष में दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं—राजतन्त्र और प्रजातन्त्र। वैदिक युग में राजतन्त्र पद्धति प्रचलित थी। उस काल में राजा की उत्पत्ति का कारण सामरिक आवश्यकता थी। युद्ध में सफल नेतृत्व करने वाले व्यक्ति ही राजा के पद पर आसीन हो जाते थे। उनके पुत्र जब शासन व्यवस्था का भार वहन करने के योग्य हो जाते थे उस समय यह पद उन्हें प्रदान कर दिया जाता था। सामान्यतः कुलागत (Hereditary) रूप से राजा होने की प्रथा थी परन्तु निर्वाचित राजा का सर्वथा अभाव भी नहीं था। अथर्ववेद में जनता के निर्वाचित राजाओं के अनेक हवाले हैं। स्वयं ऋग्वेद में भी इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि राजसत्ता को स्थिर और दृढ़ करने के हेतु जनता की स्वीकृति अनिवार्य

---

[1] कम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया जि० १ पृ० ९६

[2] वही

है। यद्यपि ऋग्वेद में मौर्य या गुप्त सम्राटों के समान किसी प्रादेशिक राजा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है तथापि सार्वजनिक राजतन्त्र (विश्वस्य भुवनस्य राजा) के भाव का आभास मिलता है।"

वैदिक राज्य प्रायश: जनराज्य होते थे, इनका आधार कुल अथवा परिवार होता था। अनेक कुलों से 'विश' का निर्माण होता था और अनेक विशों से जन बनते थे। जन के साथ गणपति या ज्येष्ठ का उल्लेख मिलता है, यही ज्येष्ठ जन का प्रमुख होता था। एक जन अथवा दूसरे शब्दों में कबीले के व्यक्ति अपना मूल और प्रमुख एक ही व्यक्ति को मानते थे और उनका प्रमुख व्यक्ति ही राजा होता था। इस जन या कबीले में राजा को मुख्य एवं गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त होने के कारण वह अपना जीवन वैभव एवं सुखमय व्यतीत करता था। उसके आधिपत्य को जनता सहर्ष स्वीकार करती थी। राजा अपने राज्य में उच्चादर्शों की स्थापना करता था, स्वयं भी उनका पालन करता था। वह अपने राज्य में होने वाले समग्र पाप एवं अत्याचार का उत्तरदायी स्वयं को मानता था। राज्याभिषेक के काल में वह अनेक शपथ ग्रहण करता था। 'उसकी सम्पूर्ण प्रजा उसे अपना राजा बनाने की अभिलाषा रखे और उसके हाथ से राज्य कभी न निकले।" दूसरी उसकी शपथ थी, "यदि मैं आपके हित के विरुद्ध कार्य करूँ, तो मेरी सन्तान व जीवन का अन्त कर दिया जाय।" कभी कभी प्रतिज्ञा भंग करने वाले राजाओं को पदच्युत और निर्वासित कर दिया जाता था। राजा अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन और रक्षा करता था। समय समय पर युद्ध भूमि में जाकर सैन्य संचालन भी करता था।

राजा की सहायता के लिए ऋग्वेद में तीन अधिकारियों का उल्लेख मिलता है—सेनानी, ग्रामणी और पुरोहित। सेनानी सैन्य संचालन करता था वह सेना का सर्वेसर्वा होता था। राष्ट्र की रक्षा का प्रमुख उत्तरदायी वही होता था सेनानी की नियुक्ति राजा करता था। ग्राम का मुख्य व्यवस्थापक 'ग्रामणी' होता था। ग्राम की रक्षा एवं व्यवस्था दोनों के लिए वह उत्तरदायी होता था। तीसरा अधिकारी पुरोहित होता था, यह पुरोहित राजतन्त्र में राजा के पश्चात सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति था। यह ब्राह्मण वर्ग का व्यक्ति होता था जो राजा की मन्त्रणा का मुख्य आधार होता था, इसे 'मन्त्री' भी कहा जा सकता था। यह व्यक्ति अपनी क्षमता एवं प्रतिभा से राज्य का सर्वतोमुखी विकास करता था। यह ब्राह्मण वर्ग का व्यक्ति होने के कारण विभिन्न अवसरों पर वेद मन्त्रों के द्वारा विभिन्न अनुष्ठानों के कर्ता का पद भी ले लेता था। यह प्रायश: वंश परम्परा गत होता था। इनके अतिरिक्त धनाधिकारी कोषाध्यक्ष (संग्रहीता) अथम त्रो (भागधुक), सूत (रथसेना नायक) आदि पदाधिकारी भी वैदिक काल की शासन व्यवस्था में थे।

वैदिक काल की शासन व्यवस्था में राजा पर नियन्त्रण रखने के लिए 'समिति' और 'सभा' का उल्लेख भी मिलता है। यह 'समिति' निरंकुश राजा का

नियन्त्रण करती थी। इसकी रचना का आधार क्या था, इस पर प्रामाणिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता फिर भी यह अनुमेय है कि समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्ति इसमें सम्मिलित होते थे। इसमें शासन, धर्म, अर्थ समाज के उत्थान के लिए व्यक्तियों का निर्वाचन तथा मनोनयन किया जाता था। 'सभा' एक दूसरी संस्था थी जिसमें समान कांति (भा) वाले व्यक्तियों का आधिक्य था। वस्तुतः एक प्रकार से यह एक वृद्ध परिषद् थी जिनमें पुरोहित धनाढ्य और उच्च वर्ग के व्यक्ति होते थे और समिति में सामान्य वर्ग के व्यक्ति एकत्र होते थे। आशय यह है कि निरंकुश शासन से बचाने के लिए राज्य के समुचित विकास के लिए प्राचीन भारत में विभिन्न सभा समितियों की स्थापना की जाती थी। बी० एन० लूनिया ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—

'जनता का शासन कार्य लोकप्रिय परिषद् में जिसे समिति' कहते थे होता था। समिति में राजा एवं प्रजा समान रूप में उपस्थित हुआ करते थे। समिति समूची प्रजा की संस्था होती थी और राज्य की बागडोर उसके हाथ में रहती थी। हमको एक अन्य परिषद् का भी हवाला मिलता है। इस 'सभा' कहते थे जो आधुनिक जन सभा (Council of Elders) से मिलती जुलती है। कतिपय व्यक्तियों की धारणा है कि यह ग्राम परिषद् या जातीय परिषद् थी। ऋग्वेद के कुछ अनुच्छेद सभा को धन सम्पन्न सुन्दर व्यक्तियों से सम्बन्धित करते हैं। इससे इस मत की पुष्टि होती है कि यह सभा प्रधान रूप से सम्पूर्ण जाति की अपेक्षा विशिष्ट प्रौढ़ व्यक्तियों की जनसभा का ही कार्य करती थी। सम्भव है समिति सभा' को शासन तथा न्याय सम्बन्धी कुछ विशिष्ट अधिकार रहे हो पर यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता था। यद्यपि कुछ लोगों का अनुमान है कि इन परिषदों का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रजा का निर्वाचन करना था परन्तु इस धारणा के हेतु कोई सशक्त प्रबल प्रमाण नहीं प्राप्त होता। इन परिषदों के सदस्यों के सम्बन्ध में पूर्ण रूप निश्चित रूप से कुछ कहना भी कठिन है इसमें कुछ सन्देह नहीं कि ये प्रतिनिधि संस्थाएं थी।[१] इन प्रतिनिधि संस्थाओं से निर्मित सरकार का कार्य आन्तरिक और बाह्य उपद्रव तथा आक्रमणों से जनता की रक्षा करना था। राजा का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य प्रजा की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति करना था।

युद्ध – आर्यों को युद्ध प्रिय कहा जाता था यह उनका एक विशिष्ट गुण था। ऋग्वेद में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। युद्ध विशेषतः आत्मरक्षा विजय तथा सांस्कृतिक प्रसार के लिए किया जाता था। सेना में पदल तथा रथों का प्रमुख स्थान था। रथों में दो तीन चार तक अश्व जोते जाते थे। ऋग्वेद कालीन अस्त्रों में धनुष बाण कवच हस्तघ्न (बाहुरक्षक) तलवार भाला, बर्छी आदि थे। किन्तु इन

१ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० ४३

सामान्य अस्त्रो से भी युद्ध भयकर तथा दीघकालीन होते थे। राजा के नेतृत्व मे सेना आक्रमण करती थी, पुरोहित उत्साह वधन एव अपन पक्ष की विजय के लिए प्राथनायें करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आर्यो ने अपने सुख एव शान्ति के लिए एक सुगठित शासन व्यवस्था का निर्माण किया था।

आर्थिक स्थिति

वैदिक आर्यों के समग्र जीवन पर दृष्टि निक्षेप करने पर हम कह सकते हैं वे राजनीतिक सामाजिक, जीवन मे पर्याप्त विकास कर चुके थे। उनका जीवन सुव्यवस्थित जीवन था। इसीलिए वैदिक आर्यों को हम सुसस्कृत एव सभ्य जातिया के समान ही आर्थिक जीवन के विकास क लिए पशुपालन, कृषि, गह उद्योग धन्धे तथा व्यापार करते हुये पाते हैं।

आर्यो की आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार पशुपालन ही था, साड एव बलो से कृषि की जाती थी। ये पशु अन्न एव भोज्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का काय करते थे। अन्य पालतू पशुआ मे भेड बकरा, बकरी, गदहे तथा कुत्ते प्रमुख थे। लेकिन सर्वाधिक महत्त्व गाय को दिया गया था। ऋग्वेद म वृत्र न इन्द्र की गाया की चोरी की थी, इसका वणन मिलता है इससे यह आभास मिल जाता था कि उस समय गाय भी एक दौलत थी। ऋग्वेद म 'ऊणवती' शब्द आया है जिससे यह अनुमान लगता है कि भेडा स उन आदि निकाली जाती थी और उसका व्यवसाय किया जाता था। इन पशुओ के लिए चरागाह एव चरवाहो का भी उल्लेख ऋग्वेद म मिल जाता है। इन पशुओ के स्वामित्व के चिह्न के लिये कानो पर चिह्नाङ्कित रहता था। उस काल म प्रायश पशु हरण किया जाता था। पशु धन म गाय के बाद घोडे का भी महत्वपूण स्थान था। घोडे युद्ध के अतिरिक्त रथो के खीचने के काम आते थे।

आर्यों का जीवन कृषक जीवन था। पशुपालन के अतिरिक्त उनकी जीविका का साधन कृषि थी। कुछ ऐतिहासिको का कहना है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम व्यवसाय है जो सवथा सत्य है। हमे ऋग्वद म अनेकश 'कृषण' शब्द मिलता है। 'कृषण शब्द भारतीय इरानी आय कृषधातु स निष्पन्न मानत है। अत हम यह भी कह सकते हैं कि इन दोनो जातियो के विभाजन से पूव भी कृषि कम प्रधानता प्राप्त कर चुका था। यद्यपि आज की भाँति हा बैलो से हल जोते जाते थे किन्तु हला मे छ-आठ बारह बल तक जोड दिये जात थे। उस काल म प्रधान खेती यव' तथा 'धान्य' की होती थी। यही आर्यों के प्रिय भोजन के अग थ। सिंचाई व्यवस्था के लिए कुओ का निर्माण किया जाता था। ऋग्वद क दशम मण्डल क एक मन्त्र म लिखा है कि कूप स जल निकालकर एक बडे तालाब या नहर म सिंचाई के लिए भर दिया जाता था। कुल्य (नाली) तथा भीला स सिंचाइ का काय होता था। अच्छी फसल पैदा करने क लिए उस समय खाद का भी प्रयोग किया जाता था, खाद को

'करिष' कहते थे। आशय यह है कि अच्छी प्रकार से जुताई बुआई करके खाद द्वारा खेतों को उर्वर बनाया जाता था। सिंचाई की व्यवस्था भी थी और वैदिक आर्य अच्छी खासी फसल पैदा कर लेते थे। फसल तैयार होने पर स्त्रिनी (हंसिया) से उसे काटते थे। उसका गट्ठर या बोझ बनाते थे। अन्न को एकत्र कर रौंदकर धान्यकृत करते (ओसाते) थे और अपनी फसल तैयार कर घर ले आते थे। यत्र तत्र फसल को हानि पहुंचाने वाले कीड़े मकोड़ों का भी वेदों में उल्लेख मिल जाता है। कभी कभी अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि भी शस्य को क्षति पहुंचा देती थी।

निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने जीवन यापन के लिए आखेट भी किया करते थे जो कि उनके जीवन के मुख्य कार्यों में से एक था। शिकारी धनुष बाण एवं जाल का उपयोग करते थे। जाल से सिंह के पकड़ने का वर्णन भी मिलता है। खन्दक में हिरन को गिराकर तथा कुत्तों द्वारा सूअर का भी शिकार किया जाता था। चिड़िया जाल में फसाई जाती थी। हाथियों को वश में करने के लिए पालतू हाथियों का उपयोग किया जाता था। बाण के द्वारा भैंसे का शिकार होता था।

वैदिक काल में विभिन्न प्रकार की दस्तकारी का भी उल्लेख मिलता है। उस समाज में बढ़ई का आदरपूर्ण स्थान था, क्योंकि वह युद्ध आदि के लिए रथ बनाता था तथा कृषि आदि के लिए हल बनाता था। वह लकड़ी पर नक्काशी का कार्य भी किया करता था। धातुकार एवं लोहार को द्वितीय स्थान प्राप्त था। आग धोंकने के लिए पंखे का प्रयोग होता था। हिरण्यकार हिरण्य से आभूषण बनाता था। ऋग्वेद से यह भी पता चलता है कि सिंधु जैसी नदियों में स्वर्ण प्राप्त होता था इसीलिए सिंधु को स्वर्ण निर्झरिणी भी कहा है। कभी कभी भूमि से सोना भी निकाला जाता था। अयस क्या था यह अनिश्चित है। उस समाज का चौथा व्यक्ति चर्मकार था जिसे चमड़ा पकाने की कला का ज्ञान था जो कि चमड़े से विभिन्न चीजों का निर्माण करता था। स्त्रियाँ कपड़ा सीने, बुनने तथा चटाई बनाने का कार्य करती थी। इन सभी कार्यों को करने वालों को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था जैसा कि आज के समाज में देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र था। वेद में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि मैं कवि हूँ मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पीसनहारी है। 'दास' अपने स्वामी के कार्यों में सहायता करते थे चाहे वे कार्य कृषि के हों, औद्योगिक या पशु पालन सम्बन्धी ही क्यों न हो। मत्स्य पालन का स्पष्ट वर्णन वेद में नहीं है और न सामुद्रिक व्यापार में ही आर्य कुशल थे। किन्तु नदी पार करने के लिए नाव का प्रयोग होता था। यजुर्वेद में विभिन्न उद्योग धन्धों को करने वालों के नाम मिलते हैं (३०/६ ७ ११, १७, २०) जिनमें रथकार तक्षा कौलाल कर्मार, मणिकार इषुकार धनुष्कार रज्जसर्ज मगयु हस्तिप अश्वप गोपा सुराकर हिरण्यकार वणिज आदि।'

व्यापार के क्षेत्र में आर्यों ने उस युग में जो उन्नति की वह सीमित साधनों के देखते हुए पर्याप्त थी। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार के व्यापार उस

युग मे चलते थे। आर्यों ने सिक्कों का भी निर्माण किया था। कुछ विद्वानो ने 'निष्क' को एक सिक्का कहा है, दूसरे कुछ व्यक्ति उसे एक आभूषण कहते हैं। अधिकतर विनिमय प्रथा द्वारा ही व्यापार होता था। ऋग्वेद म इन्द्र की एक मूर्ति का मूल्य गाये लिखा है। ऋग्वेद मे 'वणिक्' शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि व्यापारी का ही परिचायक है। ऋग्वेद म एक स्थान पर सौदा तय करने म घटा बढ़ी करने का सुन्दर वणन आया है, जहा यह भी लिखा है कि तय किये हुए सौदे का निवहण (स्थानान्तरण) आवश्यक था। ऋण के लेन देन का भी वणन मिलता है। पशु भी धन था, अश्व को भी धन लिखा है। वीर को भी धन की सज्ञा दी है। योग्य पुत्र भी धन बताया गया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वदिक भारत म आर्थिक विषमता न थी। जन जीवन सुखमय था।

धार्मिक-स्थिति

वदिक काल भारतीय आर्यों का स्वर्णिम प्रभात है, उस स्वर्णिम-काल मे ही उन्होने अध्यात्म जगत मे प्रथम पदापण किया था, इस स्वर्णिम उदय-काल मे ही आर्यों ने जो उन्नति एव विकास किया था, तदनुरूप उनकी मान्यतायें, आस्थायें आज तक अविचल रूप मे प्रतिष्ठित हैं। मेरा तो अपना विश्वास है कि वैदिक काल म आध्यात्मिक क्षेत्र मे जो अभ्युत्थान हुआ उसके पीछे शताब्दियो की शिक्षा, योग्यता एव मान्यताओं का योग है जिनके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

वदिक शिक्षा का आदश महान् था, प्राप्त परम्परा, सभ्यता एव संस्कृति की रक्षा इस शिक्षा का उद्देश्य था। ब्राह्मण गुरु था, शिक्षक था, उनके घर तथा आश्रम शिक्षालय थे। श्रुति का अध्ययन श्रवण करके ही होता था। शिक्षा पद्धति म तप का महत्त्वपूण स्थान था। आत्म शिक्षण आत्मानुभूति की प्रधानता थी। इस प्रकार गुरुचरण सुश्रूषा तप एव त्याग तथा श्रवण मनन, निदिध्यासन उस शिक्षा के आदश थे। इन आदर्शों से निर्मित आर्यों का धम एव दशन अद्वितीय था। वदिक जीवन मे पुरोहितों का महत्त्वपूण स्थान था ऋग्वेद म प्रतिबिम्बित धार्मिक जीवन मे आदि वासियो का सा विश्वास नही है अपितु पुरोहितों के चिरचिन्तन की साधना की छाप है। मनुष्य प्रकृति के निकट था अत सवप्रथम प्रकृति की उपासना होती थी। ऋग्वेद मे तेंतीस देवा का उल्लेख मिलता है। परवर्ती सहिताओ म प्रजापति आदि देवो का विकास भी ध्यान देने योग्य है। मुख्यदेवता द्यौ, पृथिवी वरुण, इन्द्र की विशेषपूजा होती थी। पाच सौर देवता थे—सूय, सविता, मित्र, पूषन, विष्णु। शिव रुद्र क नाम से कथित हैं। अश्विनी, मरुत, वायु वात पजन्य उषा भी ऋग्वेद कालीन देवता थे। इन देवो म से इन्द्र अग्नि सोम को लक्ष्य कर पर्याप्त सूक्तो का सृजन हुआ है। सूय का भी अनेक नामो से याद कर उसे महत्त्व प्रदान किया गया है। कुछ भावात्मक देवता थे, जसे श्रद्धा, मनु प्रजापति, आदित्य, अदिति। परवर्ती साहित्य मे यही भावात्मक देव प्रजापति अत्यधिक महत्त्व प्राप्त करते हैं। वैदिक

Theolgy प्रकृति देवताओं की युगल या समूह रूप में रहने की रही है। जैसे युगल रूप मित्रावरुणौ, द्यावा पृथिवी, तथा समूह रूप में मरुत, आदित्य वसु विश्वेदेवा। कुछ के साथ स्त्रित्व बोधक नाम संयुक्त हैं जैसे पृथिवी उषा। अधिक सरल प्रकृति पूजा का रूप उन मन्त्रों में है जिनमें वृक्ष, पर्वत आदि वर्णित हैं। देवताओं की पशु रूप में भी सत्ता दृष्टिगोचर होती है। इन्द्र एवं द्यौ का बल के रूप में, सूर्य का अश्व के रूप में वर्णन मिलता है। वर्षा के निरोधक तत्त्व 'अहि' शब्द से कथित हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उस सभ्यता के आदि काल में बहु देवतावाद और प्रकृति की उपासना का समन्वय है। प्रकृति पूजा अपने स्थूल रूप में न होकर लाक्षणिक ही थी। देवी देवताओं की उपासना के लिए किसी असाधारण या अमानवीय दैवी शक्ति की कल्पना करना अनिवार्य है और कल्पना उसी स्थिति में सम्भव है, जब कल्पित वस्तु का कभी साक्षात्कार हो चुका हो। प्रकृति विद्युत-सागर-वात अग्नि आदि की शक्ति का साक्षात्कार मानव को सर्वप्रथम हुआ था। अतः इसी शक्ति में उन्होंने देवताओं को आरोपित किया होगा। अतः भारतीय आर्यों का धर्म प्रकृति पूजा पर आधारित बहुदेववाद था।

किन्तु ऋग्वेद काल में या ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद की ओर जो स्पष्ट संकेत प्राप्त हैं वह भी इनकी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा के द्योतक हैं[1] ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है पृथ्वी आकाश तथा यह महान् मानव जाति उसी इन्द्र के हैं। वरुण सूर्य अग्नि उसी के व्रत में रहते हैं। घोड़े, गाय आदि का वही संचालक है तथा सम्पूर्ण विश्व व प्राणियों का रक्षक है। उसी ने दस्युओं को हराया। उसे ही हम मैत्री के लिए बुलाते हैं। शूरा भागते हुए भीरुओं व विजेताओं द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है उसी इन्द्र ने इन सब भुवनों को बनाया है उसी की मैत्री हम प्राप्त करें।[2] विश्वमित्र इन्द्र से कहते हैं कि हे इन्द्र! आप महान् हैं आप समस्त विश्व के एकमात्र राजा हैं।[3] आप वरुण हैं तथा जितने देव असुर तथा मर्त्य हैं उन सब के राजा हैं।

हमारा स्पष्ट मत है कि वैदिक ऋषि एकेश्वरवाद से परिचित था, केवल परिचित ही न था उसकी उसमें दृढ़ आस्था भी थी। एक ही ईश्वर को विभिन्न नामों से जगत का स्रष्टा, रक्षक संहर्त्ता आदि माना गया है। ऋग्वेद के विश्व कर्मा सूक्त

---

[1] ऋग्वेद १/१६४/४६ इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु।

[2] वही १/१०१/३ ६

[3] वही ३/४६/२ एकोविश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान।

[4] वही २/२७/१०
▬ विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुरा ये च मर्त्या।
शतं नो शस्व शरदोविचक्षऽश्यामायू विसुधितानिपूर्वा।

म एकेश्वरवाद का प्रबल प्रतिपादन है। इस सूक्त म विश्व कर्मा को जगत का सवस्व कहा गया है। विश्वकर्मा का जगन्निय ता, सब का पिता, माता विधाता आदि कह कर सर्वोपरि जगनियामक शक्ति का प्रतिपादन किया गया है।[1] यही एकश्वरवाद का सिद्धा त है।

देवता मानव एव मानवता के रक्षक, मित्र पिता, आदि सभी रूपो म सहायक थे—अग्निदेव को रक्षक घर का स्वामी तथा निकट सम्ब धी कहा गया है। यही नही वह तो कृपालु मित्र, पिता भ्राता, पुत्र तथा सवपालक भी है। इसी प्रकार इन्द्र की पिता, रक्षक, धनदाता आदि रूप म प्रशसा की गई है। मनुष्य अपने देवो को प्रसन्न रखने के लिए प्रार्थनायें करत थे। दूध, घृत, सोम तथा अ य खाद्यान्न उनक नाम से यज्ञो म हविष्य देते थे। यज्ञो को प्रधानता प्राप्त थी। ब्राह्मण काल म तो यज्ञ ही सवस्व थे। यज्ञो म होता' नामक ऋत्विज मत्र पाठ करता था, अध्वर्यु' शारीरिक क्रियायें करता था 'उद्गाता' नामक ऋत्विज उच्चस्वर स सामगान करता था, ब्रह्मा' नामक ऋत्विज समस्त क्रियाकलाप की दखरेख करता था।

दर्शन—भारतीय दशन का उदय भी ऋग्वेद के दशम मण्डल म दृष्टिगोचर होता है। बहुदेवतावाद के विषय म प्रश्न उठाया गया है। विश्व की एकता का प्रतिपादन किया गया है। असत् स सत के उत्पन्न होन की बात कही गई है। सवप्रथम जल की उत्पत्ति हुई फिर तेज की उत्पत्ति हुई। धीरे धीरे समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विषय क अनक मत्र मिलते है जिनम सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया की ओर सकेत किया गया है। सृष्टि की रचना विश्वकर्मा या हिरण्यगभ से कही गई है। पुरुष सूक्त मे पुरुष के यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति बताई गई है। मत्यु के उपरा त शव जलाये जाते थे, अथवा गाड दिय जात थे। यदि जलाये भी जाते थे, तो उनकी भस्म गाड देते थे। सती दाह नही होता था, यद्यपि यह अज्ञात न था।

इस प्रकार निष्कप रूप म हम कह सकते हैं कि भारतीय धम एव दशन क विकास का उद्गम वेद तथा उपनिषद् साहित्य है। इस काल म धार्मिक विकास पर्याप्त हुआ था इस काल का धार्मिक जीवन उदात्त नतिक सिद्धा तो पर आधारित था। ऋग्वेद के १/२३/५ तथा १/२५/१ २ म स्पष्ट वर्णित है कि "वरुण क मत अर्थात् नतिक जीवन क्रम को अपनाने का आग्रह वेदो म विद्यमान है। यज्ञ वदिक काल के धार्मिक जीवन का एक आवश्यक अङ्ग था यज्ञ और अग्नि का अभिन्न सम्ब ध है। इस प्रकार पवित्रता के ये दोनो उपादान इस काल क धार्मिक जीवन के स्तम्भ थे। इसी काल मे जीव ब्रह्म, ससार, जीवन मरण आदि पर भी विचार किया गया था। सृष्टि क सम्ब ध मे महत्त्वपूण सिद्धान्त इम काल म निर्धारित हो चुक थे। कम का

[1] ऋग्वेद, १०/८२/३
यो न पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवाना नामधा एक एवत सम्प्रश्न भुवना यन्त्यया॥

सिद्धान्त भी इसी काल की देन है। आशय यह है कि भारतीय धर्म और दर्शन का जनक वैदिक साहित्य ही है।

नैतिक आदर्श

वैदिक साहित्य में नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महत्ता पर ही धर्म की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित थी। केवल कोरा दर्शन ही सब कुछ नहीं था, नैतिक आदर्श ही मानवता के निर्माण में सहायक होते थे। ऋग्वेद में लिखा है कि देवता मित्र वरुण अनृत को जीतकर ऋत का पालन करते हैं। वरुण अनृत से घृणा करते हैं और ऋत की वृद्धि करते हैं। देवता ऋत में पैदा होते हैं, ऋत को पालते हैं तथा अनृत से सर्वथा घृणा करते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में दूसरे के धन के लिए लालच का निषेध किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य शिष्य को जो उपदेश देता है वह नैतिकता की चरमसीमा का उपदेश है—'सत्य बोलो धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य मत करो। सत्य से विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए अर्थात् सत् एवं धर्म के पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और उपदेश सुनने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता के भक्त बनो पिता के भक्त बनो आचार्य के भक्त बनो, अतिथि के भक्त बनो। अर्थात् इनकी सदा सर्वदा सेवा करो। अन्त में आचार्य बड़े ही मार्के की बात कहता है कि हमारे जो उत्तम कर्म हैं उनका सेवन करना चाहिए, दूसरा (निन्दित) का नहीं। जो हमारे सदाचार हैं उन्हीं को तुम्हें अपनाना चाहिए, दूसरों को नहीं।"[1]

वैदिक काल में सदाचार की प्रधानता थी। एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है कि यदि उसने भाई, मित्र साथी पड़ोसी या किसी अपरिचित का कुछ अहित किया हो तो वरुण देव उसका पाप हर लें। इसी प्रकार सविता देव से भी अपने समस्त पापों को दूर करने की प्रार्थना है।

प्राचीन आर्यों में अतिथि सत्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन सभ्यता के अनुयायी भारतीय ग्रामों में आज भी अतिथि को देवता के समान पूजा जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को अतिथि कहा है। उसका आशय यही है कि जिस प्रकार अग्नि पवित्र और उपास्य है उसी प्रकार अतिथि उपास्य पूज्य एवं पवित्र है। दिवोदास

---

[1] तैत्तिरीय उप० ७/२१ सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

अतिथि सत्कार म सदव तत्पर रहता था। अत उसे अतिथिग्व' की उपाधि से विभूपित किया गया था। गृह का श्रष्ठतम प्रकोष्ठ अतिथि क लिए दिया जाता था।

कला

भारतीय विभिन्न कलाओं का उदय वदिक काल म ही हो गया था। ऋग्वेद म वास्तु कला के पुर, व्रज गृह सद्य प्रसद्य, दीघ प्रसद्य आदि का उल्लेख मिलता ह इनस स्पष्ट है कि उम काल मे छोटे-बडे अनेक प्रकार के घर बनाये जाते थे। अत यह कहा जा सकता है कि वास्तु निर्माण कला का ज्ञान वदिक काल म ही हो गया था। सगीत-कला के विकास का इतिहास भी वदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद म दु दुभि वेणु वीणा का उल्लेख है। ऋग्वेद के पुरुष-सुक्त म स्पष्ट लिखा है कि परमात्मा रूपी पुरुष स सामगीत भी उत्पन्न हुए हैं। (ऋग्वेद १०/९०/९) नृत्यकला का उल्लेख ऋग्वद म मिलता है जहाँ लिखा है कि स्त्रियाँ अपना अपनी विशिष्ट वष भूषा म सुसज्जित होकर नृत्य करती थी। (ऋग्वेद १/९२/४ ६/२९/३) पुरुष वग भी स्वर्णाभूपणो से सुसज्जित हो नृत्य का प्रदशन करता था। यजुर्वेद (३०/२१) क अनुसार वास पर नृत्य करन वाल भी थे, उन्ह वशनर्तिम' कहा गया है। आशय यह है कि इस युग म मनोरजन क साधनो का क्रमश विकास हो रहा था।

ज्ञान विज्ञान क क्षत्र म भी वदिककाल म बहुत विकास हो चुका था गणित, आयुर्वेद ज्योतिष रसायनशास्त्र शरीर विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र आदि म काफी प्रगति हो चुकी थी। यज्ञवेदी आदि के निर्माण म रेखागणित का सहयोग लिया जाता था। विभिन्न यज्ञो के लिए काल ज्ञान आवश्यक था जो इस बात का प्रमाण है कि ज्योतिष और नक्षत्र विद्या म भी इस काल के आर्यो का हस्तक्षप था।

साहित्यिक विकास के लिए वेदो को दखा जा सकता है जिसम सुन्दर गीत, अलकार गद्य नाटक सवाद सभी कुछ हैं। इन्ही वदो क ज्ञान के लिए शिक्षा व्याकरण निरुक्त छन्दशास्त्र का भी आरम्भ इस काल म हो चुका था। आशय यह ह कि ज्ञान विज्ञान क क्षत्र म आर्यो न पर्याप्त प्रगति करली थी।

इस प्रकार हम कह सकत हैं कि वदिक आर्यो की धार्मिक दाशनिक, नतिक मान्यताय उत्कृष्ट थीं। निस्स दह चिर तन काल से वद भारतीय सस्कृति क प्रकाश स्तम्भ रह ह। भारतीय समाज क सगठन और उसकी जीवन चर्या के नियमन और व्यवस्थापन क साथ साथ उनकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओ का प्ररणा म भी वद का प्रमुख स्थान रहा है।

वैदिक भारत म नारी का स्वरूप

ममता की मञ्जूषा स्नेह का सदन दया का उद्गम क्षमामय सुमरु विधाता की कल्पनापूण सृष्टि का शृगार, पृथ्वी की कविता दश के निर्माण की आधार शिला उमा—रमा सरस्वती के समान नारी तेरा इस भारत वसु धरा पर सदा सवदा स आदरणीय स्थान रहा है। नारी तुझे ही लक्ष्य कर किसी कवि न ठीक ही अपने भावोद्गार इस रूप म व्यक्त किये हैं—

मानवता है मूर्तिमती तू भाग्यभाव भूषण भण्डार।
दया क्षमा ममता की आकर विश्व प्रेम की है आधार॥

किंतु प्रकृति सत्व रज तम नाम के तीन गुणों का साम्य है। मानव मात्र में इन तीन गुणों का होना परम आवश्यक है। इसलिए कर्मानुसार कोई सात्विक कोई राजस और कोई तामस होता है। अत हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आदि से आज तक इन तीनों गुणों के आधार पर ही सृष्टि संचालित होती रही है। प्राचीन काल में सात्विक व्यक्तियों की प्रधानता थी अत समाज में शांति थी, व्यक्ति आदर्श चरित्र थे। किंतु यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि उस काल में राजस और तामस प्रकृति के व्यक्ति नहीं थे। इसलिए वैदिक काल में जहाँ मंत्रद्रष्टा ऋषिकायें थीं वहाँ क्रूर स्वभाव नारियाँ न हों यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता है। संसार में शुभ अशुभ, अच्छाई बुराई का द्वन्द्व शाश्वत है। देवासुर संग्राम इंद्र वृत्र संग्राम विश्व के प्रतिफलन का आवश्यक तत्त्व है। अत समाज में देव और दानव दोनों की सत्ता रहती है और सदा से रहती आई है।

वैदिक ऋषियों की यह सदा कामना रही है कि समाज में सद्‌प्रवृत्तियों का प्रसार हो। अत वेद के मंत्रों में सर्वत्र भ्रष्ट व्यक्तियों से बचने के लिए प्रार्थना है। यम-यमी का संवाद ऋग्वेद में नैतिकता का अमर संदेश देता है। एक ओर सृष्टि प्रवर्तन के लिए यमी अपने भाई से अनुचित सम्बंध के लिए कहती है किंतु यम अंत में मंगल कामना के साथ कहता है 'यमी तुम किसी अन्य पुरुष का भलीभाँति आलिङ्गन करो। जैसे लता वृक्ष का वेष्टन करती है वैसे ही अन्य पुरुष तुम्हें आलिङ्गित करे। उसी का मन तुम हरण करो—इसी में मंगल होगा।"

ऋग्वेद का अध्ययन करने पर विदित होता है कि कन्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री जाति का बड़ा सम्मान व सत्कार था। जो कन्या पितृकुल में जीवन भर अविवाहित रहती थी उसे पितृकुल में ही अंश मिलता था— इन्द्र, जैसे आमरण माता पिता के साथ रहने वाली पुत्री अपने पितृकुल से ही अंश के लिए प्रार्थना करती है।' (२/१७/७) वणिक आय कमनीय कन्या की प्राप्ति के लिए सदा याचना करते थे। ऋग्वेद के नवम मण्डल में पूषा देव से कमनीय स्त्री एवं कमनीय कन्या की याचना करता है। (९/६७ १०/२०) ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में यथाविधि विवाहित और सती महिला की प्रशंसा है। बलि के राज्य के समान सती का सतीत्व सुरक्षित माना गया है। इसी सूक्त में आगे शुद्ध चरित्र नारी की प्रशंसा है। वहाँ यह भी कहा है कि तपस्या और सच्चरित्रता से निकृष्ट पदार्थ भी उत्तम स्थान को प्राप्त कर सकता है (१०/१०९)।

ऋग्वेद में नारी के विवाह के सम्बंध में अनेक मंत्र हैं जहाँ लिखा हुआ है कि विवाह के समय वधू वस्त्रों से ढकी रहती है। सूर्य के विवाह का अलंकारिक वर्णन है। पति-पत्नी को मिलकर रहने की कामना है। वधू को सौभाग्यवती और सुपुत्र

वाली होने की कामना है। पति गृह में जाकर गृहिणी बनने का आशीर्वाद भी। पति गृह में सन्तान उत्पन्न करके प्रसन्न होना वहाँ सावधान होकर कार्य करना, स्वामी के साथ एक हो जाना तथा वृद्धावस्था तक अपने गृह में प्रभुता करने का संकेत मिलता है। देव ही पति को पत्नि देते हैं, वह इसीलिए कि दोनों ही गृहस्थ धर्म का पालन करें। दोनों के लिए सौ वर्ष जीवित रहने की कामना है। सूर्या विवाह सूक्त में पति पत्नी को एक माना है। एक मन्त्र में लिखा है कि "वधू अपने कर्म से तुम सास ससुर, ननद और देवरों की साम्राज्ञी (महारानी) बनो, सबके ऊपर प्रभुत्व करो।"

ऋग्वेद काल में एक पुरुष का एक विवाह आदर्श था। जिस स्त्री का सम्मान उसका पति करता था, वह उस समाज में अभिनन्दनीय नारी मानी जाती थी। ऋग्वेद के सूक्तों को पढ़ने से यह विदित होता है कि उस समय स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वेद के (१०/२७/२) मन्त्र में लिखा है कि— कितनी ऐसी स्त्रियाँ हैं जो केवल द्रव्य से प्रसन्न होकर स्त्री चाहने वाले पुरुष के ऊपर आसक्त होती हैं। जो भी भद्र व सभ्य है जिसका शरीर सुसंगठित है, वह अनेक पुरुषों में से अपने मन के अनुकूल प्रिय पात्र को पति स्वीकृत करती है। इस मंत्र में धन के लिए शादी करने वाली तथा दूसरी सत्पुरुष को चाहने वाली दोनों स्त्रियों की ओर संकेत मिलता है। इससे पता चलता है कि स्त्रियों को अपने जीवन-साथी के चुनाव के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता थी।

देव रमणियों को यज्ञ में बुलाया जाता था। इला को धर्मोपदेशिका बनाया गया था। पितृगृह में वृद्धावस्था तक रहने वाली घोषा नामक स्त्री ब्रह्मवादिनी बनी थी। घोषा आदि अनेक स्त्रियों ने अनेक सूक्तों का स्मरण किया था वे यज्ञ करने के साथ उपदेश देती थीं, वेद पढ़ती थीं। एक बात और भी स्पष्ट कर दी जाय, वह यह कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ दो प्रकार की थीं— 'एक ब्रह्मवादिनी दूसरी साधारण। जो ब्रह्मवादिनी थीं वे हवन करती थीं, घर में ही वेदाध्ययन करती थीं, भिक्षा माँग कर लाती थीं। यमस्मृति में कहा गया है— पुराने समय में कन्याओं का उपनयन होता था (गोमिल गृह्यसूत्र २ य प्रपाठक)। वे वेद पढ़ती थीं गायत्री भी पढ़ती थीं परन्तु उन्हें पिता पितृव्य या भ्राता ही पढ़ाते थे दूसरा नहीं।"

ऋग्वेद में कुछ मंत्र ऐसे भी मिलते हैं जो नारी हृदय का दूसरे रूप में चित्रण करते हैं। इन्द्र ने प्रायोगिक के सम्बन्ध में कहा था स्त्री के मन का शासन करना असम्भव है। स्त्री की बुद्धि छोटी होती है।' (८/३३/१७)।

राजा पुरुरवा से चिढ़कर एक मंत्र में उर्वशी कहती है कि स्त्रियों का प्रेम या मैत्री चिरस्थायिनी नहीं होती। स्त्रियाँ और वृकों का हृदय एक समान होता है। इसलिए हे राजन् तुम मृत्यु कामना मत करो। ऋग्वेद के एक मंत्र में विषयान्ध पुरुष को लक्ष्य कर कहा गया है कि स्त्रैण पुरुष स्त्री की प्रशंसा करता है।' सौतिया डाह का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है जिससे यह आभास मिलता है कि किसी किसी व्यक्ति के दो दो पत्नियाँ थीं, इसीलिए कहा है कि— मेरी सपत्नि नीच

से नीच हो जाय, मैं अपनी सपत्नि का नाम तक नहीं लेती। सपत्नि सब के लिए अप्रिय है। मैं उसे दूर से भी दूर भेज देती हूं (१० १४८/३ ४)। ऋग्वेद के एक मन (७/७६/३) में कुलटा का निन्दा और पतिव्रता की प्रशंसा है। विपथगामिनी पति विद्वेषिणी और दुष्टाचरणशील स्त्री नरक स्थान को उत्पन्न करती है। यही नहीं उपपत्नि (रखैल) का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है। जार और व्यभिचारिणी का भी उल्लेख मिलता है।

किन्तु एक बात विशेष रूप से यहाँ उल्लेखनीय है कि समाज में इस प्रकार के अपवाद स्वरूप स्त्री पुरुष थे जिन्हें लक्ष्य कर ऋग्वेद में यत्र तत्र बुराइयों से बचने व कल्याण की कामना है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वैदिक काल में पितृ प्रधान सत्ता थी। एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी, किन्तु सम्भवतः राज परिवारों में बहुपत्नी प्रथा अज्ञात न थी। घर का स्वामी पति एवं स्वामिनी पत्नी थी। स्त्रियों का चरित्र समष्टि रूप में बहुत ऊँचे स्तर का था। बहन भाई, पिता पुत्री का विवाह निषिद्ध था जैसा कि यम यमी सूक्त से संकेत मिलता है। स्वयंवर प्रथा थी। स्त्री अविवाहितावस्था में पिता व भाइयों के संरक्षण में रहती थी। दहेज प्रथा थी। कन्या को खरीदा जाता था। वैदिक मंत्रों में पाणिग्रहण की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। विधवा स्त्री अपने देवर के साथ सन्तानहीन होने पर विवाह कर सकती थी। दत्तक पुत्र ग्रहण करने की प्रथा उस काल में थी। स्त्रियों का सम्मान पूर्ण स्थान उस समाज में था। वैदिक काल का युग नारी समाज का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है।

वैदिक संस्कृति एवं शिक्षा के आदर्श

शिक्षा मानवता की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह वैयक्तिक सामाजिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अभ्युत्थान तथा सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन के लिए भी परम आवश्यक है। प्राचीन भारत के मनीषियों ने इस तथ्य का पूर्णतः अनुभव किया था इसीलिए अपनी संस्कृति के अनुरूप सर्वाङ्गीण विकास राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण में समर्थ एक शिक्षा पद्धति का आविर्भाव किया था।

शिक्षा के ध्येय एवं उद्देश्य पर विचार करते हुए भारतीय ऋषियों एवं मुनियों ने अन्तःशक्तियों को समुचित रूप से विकसित कर देना वैदिक शिक्षा का प्रथम एवं अंतिम ध्येय स्वीकार किया था। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर शिक्षा विषयक सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान सहज ही है। वैदिक ऋषि इसी आदर्श को हृदयंगम कर अपनी शक्तियों के विकास के लिए ईश्वर से प्रातः-सायं प्रार्थना किया करते थे—हे ईश्वर। हमारी बुद्धि को सन्मार्ग से विश्व में ले चलें ले हो नहीं चलें अपितु आप हमारे हृदय से दुर्गुण एवं पाप भावनाओं को निकाल कर

निष्पाप तथा शुद्ध पवित्र बुद्धि प्रदान करे, इसके लिए हम पुन पुन आपकी प्रार्थना करते हैं।[1]

वदिक ऋषि पवित्र भाव भूमि पर स्थित होकर पुन बुद्धि को मेधावी बनाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है।[2]

इस प्रकार बुद्धि को मेधावी बनाने के लिए ही प्रार्थनायें नही की जाती थी, अपितु उस बुद्धि को पवित्र एव कालुष्य रहित बनाने के लिए भी।[3]

इस प्रकार वदिक शिक्षा का मूल आधार मानव की बुद्धि का परिष्कार कर सुपथ दर्शन कराना था, वस्तुत यही प्राचीन शिक्षा का ध्येय था। आज की शिक्षा जहाँ मानव की बुद्धि को मानवता द्वेषी बनाती है वही वदिक शिक्षा मानवता प्रेमी। प्राचीन छात्र उच्चस्वर से आयु, प्राण, धन, तज को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हुए अपने बल का सदुपयोग करने के लिए सहनशीलता को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता था।[4]

विश्व की कल्याण कामना वदिक सस्कृति का मुख्य प्रयोजन था इस प्रयोजन की सिद्धि म आस्तिक भाव की नितान्त अपेक्षा है। अत वैदिक शिक्षा म ब्रह्म की प्राप्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय ऐहिकामुष्मिक उन्नति करते हुए ब्रह्म क स्वरूप म निमग्न हो जाता था। उस ब्रह्म की प्राप्ति तप के द्वारा होती थी— तपसाचीयते ब्रह्म' और ब्रह्म उम छात्र का एकमात्र लक्ष्य होता था— 'ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यत । इसके अतिरिक्त तप की कसौटी क रूप म यम नियमो का पालन प्रत्येक विद्यार्थी को आवश्यक था। एक विद्यार्थी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह[5] तथा मन, वचन कर्म से पवित्रता, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान[6] इन यम नियमो का पालन करता हुआ अपने चरित्र का विकास कर उसे महान् बनाता था, अपने जीवन को बाहर तथा भीतर से अनुशासित

---

[1] अग्ने नय सुपथा राये अस्मान विश्वानि देव वयुनानि विद्वान।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठा ते नम उक्ति विधेम ॥ यजु० ४०/१६

[2] या मेधा देवगणा पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविन कुरु ॥ यजु० ३२/१४

[3] पुनन्तु मा देवजना पुनन्तु मनसाधिय।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेद पुनीहि मा ॥

[4] तेजोऽसि तेजो मयि धहि
वीर्यमसि वीर्य मयि धहि।
बलमसि बल मयि धेहि
सहोऽसि सहो मयि धहि ॥ शुक्ल यजु० १६/६

[5] योगदर्शन सा०पा०सू० ३०—तत्रा हिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा।

[6] वही, सा०पा०सू० ३२—शौच सन्तोषस्तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा ॥

रखता था। परिणामस्वरूप सर्वाङ्गीण रूप से उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। ब्रह्मचर्य का पालन व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक था। ब्रह्मचर्य पालन कर भारतीय इच्छा मृत्यु भी प्राप्त करते थे।[1]

वैदिक शिक्षा में चरित्र को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार प्राचीन शिक्षा पद्धति में चरित्र का महत्त्व स्वीकार किया गया है। प्राचीन ऋषियों का कथन है कि संस्कार दोष और इन्द्रिय दोष से ही मनुष्य में अविद्या का प्रादुर्भाव होता है—'संस्कार दोषादिन्द्रियदोषाच्च अविद्या।"

वैदिक शिक्षा पद्धति के मूल में श्रद्धा की भावना का प्राधान्य है। जीवन की सफलता के लिए श्रद्धा तत्त्व की महत्ता स्वयंसिद्ध है। श्रद्धा से समस्त कार्यजात अनायास ही सम्पन्न हो जाते हैं। श्रद्धा की भावना अपने गुरुजनों को वश में करने का सर्वसुलभ साधन है।[2]

श्रद्धाभावना ऐश्वर्य और कल्याण प्रदान करती है श्रद्धा ज्ञानार्जन का मूल मन्त्र है। आज के छात्र समाज की दुर्गति का एकमात्र कारण इस श्रद्धा भावना का अभाव है। श्रद्धाभावना से आप्लावित नचिकेता ने यम के मुख में जाकर ज्ञान प्राप्त किया था। जिस श्रद्धा ने नचिकेता को ज्ञानार्जन करने में समर्थ बनाया था, क्या वही श्रद्धा आज की शिक्षा में जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं करा सकती? संसार में श्रद्धाहीन मानव सदा से पददलित होते आये हैं उनका सदा विनाश होता रहा है आज विनाश से बचने के लिए छात्र समाज को श्रद्धालु बनाने के उपाय शिक्षाविदों को करने चाहिए। आज का छात्र माता पिता एवं गुरुजनों के प्रति पूर्णतः अवज्ञा की भावना को लिए सदैव तिरस्कृत करता रहता है। यही कारण है कि उन्हीं गुरुजनों से प्रदत्त शिक्षा छात्रों के लिए अभिशाप बनकर दुःखदायी सिद्ध हो रही है। वैदिक ऋषि मुनि इस तथ्य से सर्वथा परिचित थे इसलिए उन्होंने व्रतानुष्ठान का आचरण कर श्रद्धा एवं सत्य को प्राप्त करने का निर्देश किया था।[1] व्रत के पालन से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

व्रत-अनुष्ठान से रहित व्यक्ति कभी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता है, विद्यार्थी जीवन एक तप और त्याग का जीवन है। दुष्टाचरण-कर्त्ताओं से विद्या सदा भयभीत

---

[1] ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥ अथर्ववेद ११/५/१९
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥

[2] श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ ऋ० १०/१५१/१

[1] व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणाश्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ यजु० १९/३०

रहती है, कदाचित् ऐसे दुष्टाचारी यदि विद्या उपार्जन कर भी लेते हैं, तो विद्या उसका कल्याण न कर अहित ही करता है। निरुक्त (२/१/७) के ये वचन द्रष्टव्य हैं—

विद्या आचार्य से कहती है—हे आचार्य ! मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी शरण मे हू। ईर्ष्यालु, कुटिल एवं दुराचारी को मेरा दान न करो।[1]

पुनश्च—विद्या उन्ह भी फलीभूत नही होती, जो कि गुरुओं का आदर नही करते।[2]

विद्या पवित्र शुद्धाचरण कर्त्ता मेधावी ब्रह्मचारी को अपनी कृपा से अनुग्रहीत करती है।[3]

मनुस्मृतिकार का वचन भी दर्शनीय है[4] कि उत्पादक पिता की अपेक्षा आचार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उत्पादक पिता ने तो केवल एक जन्म प्रदान किया है किन्तु इस भवसागर से सतरण के लिए आचार्य ही मानव का पूर्ण निर्माण करता है।

योग दर्शन में पचक्लेशों का अर्थात् दुखो का वर्णन मिलता है जिनमें अविद्या को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है—अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशा पचक्लेशा। वास्तव मे अविद्या ही मानव को पतन के गर्त मे ले जाकर हर सम्भव दुखो से पीडित करती है। अत इन दुखो से यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो ज्ञानार्जन करना चाहिए क्योंकि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नही है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति।' ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन शिक्षा सम्बन्धी भारतीय विचारधारा का अनुपालन ही है।

अन्तत हम देखते हैं कि वैदिक भारत की शिक्षा का आदर्श महान् था, वह मानव के सर्वाङ्गीण विकास पर ध्यान देती थी भौतिकवाद की अपेक्षा अध्यात्मवाद उसका ध्येय था अत उसमे कर्मकाण्ड का पवित्रता का, प्राधान्य था किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि केवल चरित्र और कर्मकाण्ड की शिक्षा उस काल मे दी जाती थी। श्री बी० जी० गोखले ने ठीक ही लिखा है—'इस प्रणाली का आयोजन इस प्रकार का था कि जीवन के प्रति छात्र का दृष्टिकोण विस्तृत हो जाय, उसमे ज्ञान की ज्योति जगे, उसकी बुद्धि प्रखर हो और उसके व्यक्तित्व विकास द्वारा उसके अन्दर

---

[1] विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि,
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथास्याम॥

[2] अध्यापिता ये गुरु नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्नभुनक्ति श्रुतन्तत॥

[3] यमेव विद्या शुचिमप्रमत्त मेधाविन ब्रह्मचर्योपसन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय—
ब्रह्मन्निति निधि शेवधिरिति।।

[4] उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मद पिता।
ब्रह्म जन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

चरित्र बल की स्थापना हो। यह सत्य है कि इस प्रणाली में धर्म की शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था परन्तु साथ ही ज्ञान तथा साहित्य की शाखाओं के महत्त्व को भी नहीं भुलाया जाता था।"[1]

यह सुनिश्चित है कि शिक्षा का पूर्ण विकास राष्ट्र की संस्कृति के आधार पर ही हो सकता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में अपने देश के आदर्शों का वरद हस्त रहता है। जिस प्रकार एक पौधा अपने अनुकूल जलवायु एवं भूमि से पृथक हो अन्य भूमि पर विकसित नहीं हो सकता है उसी प्रकार किसी राष्ट्र की शिक्षा पद्धति अपनी संस्कृति की आधारशिला का परित्याग कर उन्नत नहीं हो सकती है। वैदिक काल के भारत की शिक्षा का पूर्ण विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ था। प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति के आदर्श की जानकारी के लिए स्नातक बनते समय आचार्य के उपदेशों को पढ़ना चाहिए। यही प्राचीन भारत की शिक्षा का आदर्श है।

शिक्षा-पद्धति

वैदिक भारत का निर्माण राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक क्षेत्र में न होकर धर्म के क्षेत्र में हुआ था। सर्वाङ्गीण जीवन में धर्म का प्राधान्य था धर्म ही यहाँ की जनता की जीवन श्वास था फलस्वरूप प्राचीन भारतीय रीति नीति स्वार्थमूलक न होकर परमार्थमूलक थी। व्यष्टि का विकास समष्टि के विकास का मूल था। वैदिक समाज का संगठन सर्वथा मानवीय उदात्त भावनाओं तथा नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित था। इसके लिए प्राचीन शास्त्रकारों ने अनेक उपयोगी व्यवस्थायें की थी, फलस्वरूप उस काल में अनिवार्य शिक्षा न होने पर भी शिक्षा का बहुत प्रचार व प्रसार था। उन व्यवस्थाओं में—ब्रह्मचर्य आश्रम उपनयन संस्कार (इसके अभाव में द्विज भी व्रात्य माना जाता था), स्नातक की राजा की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा ऋषि ऋण की अनिवार्यता शिक्षा दानी ब्राह्मण पूज्य दान लेने के अधिकारी तथा करों से मुक्त थे। इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण प्राचीन काल में जितनी साक्षरता भारत में थी, उतनी उस समय किसी दूसरे देश में नहीं थी। राजा अश्वपति और दशरथ का यह दावा था कि उनके राज्य में कोई अशिक्षित नहीं है। प्राचीन शिक्षा पद्धति से भारत ने न केवल सहस्रों वर्षों तक मौखिक परम्परा द्वारा विशाल वैदिक वाङ्मय को सुरक्षित रखा किन्तु प्रत्येक युग में दर्शन न्याय गणित ज्योतिष, वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों में ऐसे मौलिक विचारक विद्वान उत्पन्न किये जिनसे भारत का मस्तक आज भी ऊँचा है।"[2] प्राचीन भारत के मानव जीवन का एक उद्देश्य था एक

---

[1] It was so designed as to broaden the students outlook on life, give him enlightment sharpen his intellect and establish his character through the development of personality In this scheme of course religious instruction predominated but importance of the other humanities subjects was not lost sight

[2] भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १८६६

आदश था, और उस आदश की उपलब्धि जीवन का चरम लक्ष्य था। वदिक भारत की शिक्षा के मूल म यही व्यष्टि समष्टि के उत्थान की भावना थी और इसी भावना के अनुकूल उसका विकास भी हुआ था। वदिक भारत म शिक्षा तथा ज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही नही हुई थी, अपितु धम के प्रशस्त पथ पर चल कर ब्रह्म के साथ तदाकार परिणति के लिए हुई थी। वदिक ऋषियो ने अदृश्य जगत और आध्यात्मिक तत्त्व के मनोहारी गीतो का गान किया था, वदिक ऋषियो न सवत्र भौतिकवाद की उपेक्षा करते हुए आध्यात्मिक उत्थान का प्रधानता दी थी। इस प्रकार यदि हम यह कहे कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य ही चित्तवृत्ति का निरोध था, तो अनुपयुक्त न होगा। विद्यार्थी इस जगत के सम्पूण विप्लव विद्रोह से परे प्रकृति की मनोरम अक म अपने गुरु चरणो म बैठकर आध्यात्मिक समस्याओ की साधना श्रवण, मनन और चिन्तन के द्वारा किया करते थे।

जिज्ञासु शिष्य गुरुगृह म रहकर उनकी सेवा करता हुआ गुरु के आदश गुणो को अपने म धारण कर लेता था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिए यह आवश्यक था, क्योकि गुरु ही आदश, परम्पराओ तथा सामाजिक नीतियो का प्रतीक अथवा प्रतिमूर्ति था। यह शिक्षा प्रणाली जीवनोपयोगी थी। गुरुगृह म रहते हुए विद्यार्थी समाज के निकट सम्पक म आता था। गुरु के लिए समिधा, जल का लाना तथा गृहकाय करना उसका कत्त य समझा जाता था। इस प्रकार वह गृहस्थ धम की शिक्षा के साथ साथ श्रम का गौरवपाठ और सेवा का पदाथ पाठ पढता था। गुरुओ की सेवा से विद्यार्थियो म विनय तथा अनुशासन का भाव उत्पन्न होता था। इसलिए आज की तरह उस काल म शिक्षा के क्षेत्र म अनुशासन की समस्या कही भी उत्पन्न दिखाई नही देती थी, इसके साथ साथ विद्यार्थी जीवनोपयोगी उद्यम (पशुपालन या कृषि आदि) मे भी सहज ही कुशल हो जाता था। सादा जीवन और उच्च विचार की भावना उस काल की शिक्षा की प्रमुख देन है। छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा के अनुसार सत्यकाम गुरु की गायो की सेवा करते करते उनकी सख्या चार सौ से एक हजार तक पहुँचा देते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उस काल म शिक्षा केवल सद्धान्तिक और पुस्तकीय नही था अपितु जीवन की वास्तविकताओ के निकट थी। उस शिक्षा म शारीरिक श्रम का महत्त्व था। जीवन की गूढतम समस्याओ का समाधान जीवन के सामान्य काय करने से ही हो जाता था। वस्तुत वदिक शिक्षा पद्धति जीवन की प्रयोगशाला म ही पल्लवित हुई थी। गुरुगृह म रहते हुए विद्यार्थी अपने एव गुरु के भोजन के लिए भिक्षान्न प्राप्त करने के लिए गृहस्थो के पास जाता था। यह प्रथा विद्यार्थियो का परमुखापेक्षी बनाने की अपेक्षा त्याग दान तथा मानवीय गुणो के विकास का कारण बनती थी। विद्यार्थी अहकारादि दुगुणो से बचकर विनम्र तथा समाजहित की भावना स युक्त होता था। समाज के सम्पक म आने स वह वास्तविक जीवन से भी परिचित हो जाता था। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा स्वावलम्बन के पाठ के साथ समाज के प्रति कत्तव्यपरायणता

तथा कृतज्ञता का पाठ भी पढा देती थी। वदिक शिक्षा पद्धति का विकास योजनानुसार हुआ था, उसकी जडे समाज क अ तर म थी भले ही शिक्षा देने का स्थान उपवन और कानन थे। उपवनो और काननो के अक म स्थित प्राकृतिक रमणीय छटा से आच्छादित ये शिक्षाकेन्द्र सभ्यता संस्कृति एव मानवता के उद्गम स्थल थे। जब विश्व की अन्य जातिया घुटनो क बल चलना सीख रही थी उस समय भारतीय ऋषि तत्वज्ञान की मीमासा कर रहे थे। वदिक शिक्षको ने शिक्षा के क्षेत्र मे जो अमूल्य योगदान दिया है, वह अविस्मरणीय है। उनकी साधना का एकमात्र लक्ष्य लौकिक पारलौकिक विभूतियो का समन्वय और मानवीय जीवन की पूर्णता ही था।

वदिक शिक्षा पद्धति की सर्वाङ्गीण जानकारी के लिए हम समस्त वदिक साहित्य का परिचय अपेक्षित है। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है किन्तु इसम हम शिक्षा के विकास का इतिहास देखने को नही मिलता है। पर इसम सन्देह नही कि इस प्रकार का उच्चतम ज्ञान कोष अनायास ही निर्मित नही हुआ है इसके पीछे सहस्रो वर्षों का अध्यवसाय एव तप पूत ऋषियो की साधना निहित है। ऋग्वेद भौतिक वातावरण से दूर रहकर परम शान्ति के लिए अन्तर्मुखी प्रकृति अपनाने का सन्देश देता है। ऋग्वेद म वदिक देवतावाद की पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। अन्य वेदो के रचनाकाल म पुरोहितवाद का प्रचुर प्रचार हो जाता है इसलिए शिक्षा का दृष्टिकोण पुरोहितवाद तथा धर्म के क्रियात्मक रूप की ओर उन्मुख हो जाता है। पूजा तथा यज्ञ के बाह्य उपकरणो का इतना प्रचार हो गया था कि पौरोहित्य के समस्त कार्यजात की शिक्षा लेना अनिवार्य था। पुरोहितो को भी चारो वेदो के अनुसार विभक्त कर दिया गया था जो कि एक एक वेद के प्रतिनिधि होते थे।

वदिक भारत की शिक्षा के पाठ्य विषय भी व्यापक थे आरम्भिक वदिक युग मे वेदमन्त्र इतिहास, नाराशंसी गाथाए पाठ्य विषय थे उत्तर वदिक-युग म वेदो की व्याख्याओ—ब्राह्मण ग्रन्थो को पाठ्य विषय म समाविष्ट किया गया। उपनिषद् और सूत्र युग (१००० ई०—ईसवीय प्रथम शतक) म वेदाङ्गो (व्याकरण शिक्षा, कल्प ज्योतिष, छन्द निरुक्त) के अतिरिक्त अनेक विज्ञानो को शिक्षा की पाठ्य विधि म समावेश किया गया है। इस काल के पाठ्य विषयो का सुन्दर वर्णन छान्दोग्योपनिषद् (१०/१/२) म मिलता है जो कि प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली के उत्कर्ष का सूचक है। नारदजी उच्च शिक्षा को प्राप्त करने आये हुए सनत्कुमार से कहते हैं कि मैंने ऋग्वेद सामवेद अथर्ववेद इतिहास-पुराण, वेदो के अर्थ विषयक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या ब्रह्मविद्या निधिविद्या क्षत्र विद्या नक्षत्रविद्या, और सर्पदेवजन विद्याओ का अध्ययन किया है।[1] इन प्राचीन विद्याओ की अनेक

[1] छान्दोग्योपनिषद् 'ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।'

विद्वानो ने अपने अपने अनुसार व्याख्या की है। श्री शिवदत्त ज्ञानी भारतीय संस्कृति मे इनकी व्याख्या इस प्रकार करते है—

'इतिहास पुराण' यानि आधुनिक इतिहास, 'वेदाना वेद' अर्थात् वेदो के अर्थ जिन विद्याओ से जाने जायें, जैसे व्याकरण, निरुक्त आदि 'पित्र्यम्' अर्थात पितर सम्बन्धी विद्या जिसको मनुष्य शास्त्र' (Anthropology) कह सकते हैं, 'राशिम्' अर्थात् गणितविद्या, उत्पातविद्या' जसे भूकम्प वायु कोप आदि (Physical Geography), निधिम् अर्थात् खानो की विद्या (Minerology), वाकोवाक्यम्' अर्थात् तर्कशास्त्र (Logic), 'एकायनम्' अर्थात् नीति विद्या (Ethics), 'ब्रह्मविद्याम्' जिसमे ब्रह्म की व्याख्या की हो, भूतविद्याम् अर्थात् प्राणियो के प्रकार, उनका वर्णन तथा उनकी रचना आदि का विद्या (Zoology Anatomy etc), 'क्षत्रविद्याम्' अर्थात धनुर्विद्या व राज्य शासन विद्या 'नक्षत्रविद्याम्' अर्थात् ज्योतिष, 'सर्पदेवजन विद्याम्' का तात्पर्य ठीक ज्ञात नही होता, परन्तु सम्भव है कि इसमे सर्पों के विष दूर की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओ का वर्णन हो। सम्भव है कि इस व्याख्या से कही-कही विद्वानो का मतभेद हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारत म नाना प्रकार की विद्याए पढाई जाती थीं।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल मे शिक्षा का लक्ष्य चारो वेदों का पूर्णज्ञान तथा धर्म, दर्शन पौरोहित्य के कार्यकलाप का ज्ञान था। अथर्ववेद लौकिक सामग्री व विचारधारा से भरा हुआ है, उसे भी शिक्षा म स्थान दिया गया था। आशय यह है कि वैदिक भारत मे शिक्षा का स्वरूप बहुत व्यापक था।

वैदिक भारत मे आज की तरह मुद्रणयन्त्र न था, पुस्तकें न थी, बडे-बडे विद्यालय न थे किन्तु तप की साधना थी गुरु का मुख एव शिष्य के कर्ण थे। प्रश्नोत्तर प्रणाली थी, परिणामस्वरूप शास्त्र पवित्र थे, गुरु छात्र का वयक्तिक रूप मे ध्यान रखता था, मेधा एव प्रतिभा को परखने का अवसर था। ऋषियो द्वारा तप तथा योग द्वारा महान् ज्ञान प्राप्त कर लेने तथा उनके छन्दो और मन्त्रो के रूप मे सकलित होने के अनन्तर ऐसे साधनो का विकास हुआ जिनके द्वारा यह ज्ञान सुरक्षित किया जा सके अथवा आगे की सन्तति को हस्तान्तरित किया जा सके। यही से वश-परम्परा एव शिष्य-परम्परा का उदय होता है। वदिक शिक्षा पद्धति म परिवार या कुल शिक्षा सस्थाओ का यहीं से उदय होता है। आचार्य अपने शिष्य को उच्चारण कर-कर के ऋचायें कठाग्र करा देता था प्रत्येक विद्यार्थी योग्यतानुरूप ज्ञानार्जन करता था। सायण ने तीन प्रकार के विद्यार्थियो का उल्लेख किया है (१) महाप्रज्ञ (२) मध्यमप्रज्ञ (३) अल्पप्रज्ञ। यह वर्गीकरण मानसिक स्तर के अनुरूप किया गया है। इस काल मे मन्त्रो का ज्ञान होता था। शब्दो, पदो तथा अक्षरों के शुद्ध उच्चा-

[1] भारतीय संस्कृति, पृ० १०४ १०५

रण पर ध्यान दिया जाता था। छन्द की रचना मन्त्रों तथा पदों का अक्षरों द्वारा होती थी। वैदिक ऋचाओं का उच्चारण गुरु एक निश्चित रूप में करता था इस काल में उच्चारण की शुद्धता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। यह शिक्षा-पद्धति मौखिक ही थी क्योंकि इस समय तक लेखन कला का विकास नहीं हुआ था। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन शिक्षा-पद्धति में रटना और घोटना ही प्रधान था अपितु इस काल में विचार शक्ति पर अधिक बल दिया जाता था। प्राचीन आचार्यों में यास्क और सुश्रुत ने रटन्त विद्या की निन्दा की है—सुश्रुत में रटने वाले छात्र का उस गधे से समता की गई है जो अपने पर भार का तो अनुभव करता है किन्तु वह भार किस चीज का है यह नहीं जानता। प्राचीन शिक्षा पद्धति में धारणा शक्ति का महत्त्व था जबकि आज की शिक्षा और विद्वता पुस्तकालयों में रखी हुई है, प्राचीन काल का पण्डित स्वयं एक चलता फिरता पुस्तकालय या विश्वकोष होता था।

संक्षेप में वैदिक शिक्षा पद्धति का सार यह है—गुरु गृह ही विद्यालय था। उपनयन-संस्कार उसका प्रवेशाधिकार था, और यह अधिकार शिक्षा के पूर्ण हो जाने तक उसके पास रहता था। शिक्षक पिता के रूप में उसका संरक्षक होता था और उसके भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करता था। गुरु गृह में विद्यार्थी का प्रवेश केवल नैतिक बल और सदाचार के आधार पर ही हो सकता था। सदाचार के दृष्टिकोण से जो विद्यार्थी निम्न-स्तर का समझा जाता था उसके लिए गुरुकुल में रहना निषिद्ध था। ब्रह्मचर्य का जीवन में पालन अनिवार्य था। विवाहित युवक भी विद्याध्ययन करते थे, किन्तु वे आश्रम में नहीं रह सकते थे। गुरु सेवा विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य था। आश्रमवासी विद्यार्थी सदैव गुरु सेवापरायण रहता था। वह शिष्य मनसा वाचा कर्मणा गुरुभक्त रहता था। गुरु ही उसका सर्वस्व था।

ऋग्वेद काल में हमें वर्ण व्यवस्था के संकेत मिलने लगे थे किन्तु वह इतनी स्पष्ट एवं जटिल नहीं हुई थी। ज्ञान किसी वर्ण तक सीमित नहीं था वह तो व्यक्ति की साधना पर निर्भर था। अम्बरीष त्रसदस्यु सिंधुद्वीप मान्धाता तथा शिवि आदि क्षत्रिय अपने अध्यवसाय से ही ऋषि परम्परा में आ सके थे। इसी काल में स्त्रियाँ भी ज्ञानार्जन पुरुषों के समान ही करती थीं वे यज्ञों में भी भाग लेती थीं स्त्री सन्तों को ऋषिका और ब्रह्मवादिनी कहकर पुकारा जाता था। रोमसा, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला कद्रु श्रद्धा, उर्वशी, देवयानी इत्यादि ऋषिकाओं के नाम विभिन्न वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद में अनार्य (शूद्र) भी शिक्षा प्राप्त करते थे ऐसा उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक शिक्षा पद्धति का उद्देश्य महान् था व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास ही इसकी आधारशिला थी। गुरु व्यक्तिगत रूप से शिष्य से परिचित रहता था। अतः दैनिक दिनचर्या के परिचय के साथ वह छात्र के मानसिक स्तर से भी परिचित रहता था। उसका परिणाम विद्यार्थी के सर्वाङ्गीण विकास में होता था। जीवन के तीन ऋण—ऋषि ऋण, देव ऋण तथा पितृ ऋण,

जिनका उल्लेख यजुर्वेद मे मिलता है --ब्रह्मचय यज्ञ और सतानोत्पत्ति के द्वारा पूरे किय जाते थे। गुरु-गृह म निवास करते हुए ब्रह्मचय पूवक शिष्य शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक पूणता को प्राप्त करता था। वदिक शिक्षा पद्धति चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व के विकास तथा सामाजिक-अभ्युत्थान म पूणत सफल थी।

किन्तु उत्तर-वदिक काल म हम शिक्षा के क्षेत्र मे स्वल्प अतर प्राप्त करते हैं। उत्तर वदिक-काल म शिक्षा केवल शिक्षा क लिए नही अपितु शिक्षा जीवन के लिए थी—शिक्षा का उद्देश्य पूण ब्रह्म को प्राप्त करना था। यद्यपि यज्ञ और धार्मिक क्रिया कलाप, ब्रह्म प्राप्ति के साधन थे किन्तु इन दिनो धम ग्रथो के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा था। इन शिक्षा को स्वाध्याय कहा जाता था। स्वाध्याय ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र माग था।

वदिक शिक्षा पद्धति के समान ही इस काल मे विद्यार्थियो के कुछ विशिष्ट कत्तव्य थे—एक तो विद्यार्थी इस काल मे आचाय के कुल का वासी होता था, दूसरे पालन पोषण के लिए भिक्षान्न मागकर लाता था। तीसरा उसका कत्तव्य गुरु गृह की पवित्र अग्नि को सदा प्रज्वलित रखना था। चौथा कत्तव्य गुरु की गायो की सेवा करना था। इस प्रकार गुरु सेवा इस काल म भी प्रधान थी। किन्तु सम्पन्न शिष्य गुरु दक्षिणा भी इस काल म दने लगे थे। शिक्षा वेद के अध्ययन से आरम्भ होती थी अक्षर, शब्द, उच्चारण छद तथा प्रारम्भिक व्याकरण का ज्ञान भी पूरी तरह से इस काल मे कराया जाता था। उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा के पूण हो जाने पर गुरु उपदेश देकर शिष्य को गृहस्थ धम म प्रविष्ट होने की अनुमति दे देता था। यही उपदेश आज का दीक्षात भाषण तथा उस काल म 'समावत्तन सस्कार' के रूप मे प्रसिद्ध था। किन्तु इन दोनो दीक्षान्त-भाषण तथा समावत्तन सस्कार की क्रियाओ म पर्याप्त अतर है।

वदिक शिक्षा पद्धति मे जहा गुरु की प्रधानता थी वहा इस काल की शिक्षा म शिष्य की प्रधानता हो जाती है। गुरु शिष्य परम्पर प्रश्नोत्तर करते हुए ज्ञानाजन करते थे। यद्यपि लेखन कला का विकास हो रहा था, किन्तु शिक्षा का प्रमुख साधन वाणी ही था। इस काल की शिक्षा म तक, चिन्तन और मनन की प्रधानता हो चुकी थी। इस काल की सामान्य विशषतायें निम्न हैं —

इस काल की शिक्षा विद्यार्थी को पूण जीवन क लिए निर्मित करती थी। शिक्षा प्रणाली केवल पुस्तकीय नही थी अपितु वह भावी जीवन सघष के लिए व्यावहारिक ज्ञानदान दती थी। शिक्षा के अधिकारी व्यक्ति ही रुचि एव योग्यतानुसार निश्चित किये जाते थे। उपनयन सस्कार सभी के लिए अनिवाय था। तीन ऋणो से मुक्त होन क लिए शिक्षा एक आवश्यक तत्त्व था, अत शिक्षा प्रत्येक के लिए स्वत अनिवाय हो जाती थी। ब्रह्मचय एव तपस्या इस काल की शिक्षा का एक परम अनिवाय शिक्षा उपकरण था। इस काल म शिक्षा पाच और आठ वष के बालक को अनिवायत दी जाती थी। इस काल की शिक्षा पद्धति व्यावहारिक मनोविज्ञान पर

आधारित थी। विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। उसे अन्य उपायों से शिक्षा दी जाती थी—अनुशासित रखा जाता था। हाँ, यदि कभी शारीरिक दण्ड दिया जाता था, तो वह छात्र को सुधारने का अंतिम उपाय होता था। गुरुकुलों में गुरु और शिष्य का सीधा सम्पर्क रहता था, इसलिए गुरु शिष्य दोनों ही एक दूसरे से पूर्णत परिचित रहते थे। इस स्थिति में गुरु को बालक की शक्तियों और मस्तिष्क के अध्ययन का भी पर्याप्त अवसर रहता था। गुरु भी अपनी शक्ति के अनुसार शिष्य को विद्यादान देकर समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति महान् थी, मानव का सर्वांगीण विकास करने में समर्थ थी। इस शिक्षा-पद्धति में ज्ञान की प्राप्ति सामाजिक कर्त्तव्य, धार्मिक क्रियाओं के प्रति रुचि और सर्वोपरि चरित्र निर्माण पर ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार इस शिक्षा पद्धति के उद्देश्य महान् थे।

साहित्य—इस युग में चारवेद ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् साहित्य का सृजन तो हुआ ही था साथ में ही वेदांग, उपवेद, सूत्रग्रन्थों का निर्माण हुआ था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का यदि आकलन किया जाय, तो कहा जा सकता है कि इतना सम्पन्न साहित्य अन्यत्र दुर्लभ है।

विश्व सभ्यता के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य का अनिर्वचनीय महत्त्व है। प्राचीन आर्यों की सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन भी वैदिक साहित्य से ही सम्भव है, अतः हम कह सकते हैं कि वेद भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं।

४

महाकाव्य

- रामायण महाभारत तथा तत्कालीन सस्कृति
- सामाजिक जीवन
- आर्थिक दशा
- राजनीतिक जीवन
- धार्मिक अवस्था
- साहित्य एव दर्शन

रामायण-महाभारत तथा तत्कालीन सस्कृति

रामायण तथा महाभारत भारत की अमूल्य साहित्यिक निधियाँ हैं। इन दोनो ही महाकाव्या से भारत की सास्कृतिक निधि सुरक्षित है। य दोनो ही महाकाव्य भारतीय जन-जीवन के लिए शताब्दियो स प्रेरणा स्रोत रहे हैं। इन काव्यो मे जीवन के प्रत्यक क्षेत्र का स्पष्ट तथा विशद अमृत भरा हुआ है। वस्तुत ये दोनों काव्य भारतीय जीवन की आधार शिला हैं। ये हमारे धर्म के प्रधान मूल स्रोत, सामाजिक आचार विचार के मरुदण्ड और सस्कृति के प्राण हैं। इनमे वर्णित धर्म, आचार-व्यवहार के नियम, सस्थाएँ व्यवस्थायें और प्रथाएँ शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी हम प्राणान्वित कर रही हैं। श्री लूनिया महाकाव्यो के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

'ये दोनो महाकाव्य न तो कवि कल्पना की कृति हैं और न विशुद्ध पौराणिक गाथा हैं और न दृष्टान्त और रूपक की कथा ही हैं। परन्तु इनमे वास्तविक घटनाएँ

कहानियाँ और गाथाएँ निस्संदेह घनिष्ठतापूर्वक मिश्रित हो गई हैं। रामायण और महाभारत प्राचीन वीरों और वीरांगनाओं के पारस्परिक प्रणय और विग्रह, जय और पराजय की गाथाएं हैं तथा प्राचीनतम जनश्रुतियों की संहिताएँ हैं। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए दोनों महाकाव्य अधिक महत्त्व के हैं क्योंकि ये महाकाव्यकाल की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दशा व संस्थाओं के विषय में बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करते हैं। साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से भी ये कम महत्त्व के नहीं हैं। भारतीय साहित्य की ये सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से रामचन्द्र की दक्षिण-यात्रा आर्यों की दक्षिण विजय का वृत्तान्त है।[१] इन काव्यों में हम गृहस्थ धर्म का भी मार्मिक चित्र देखते हैं इन काव्यों में गृहस्थ जीवन के उज्ज्वल और उच्च आदर्श लोकप्रिय और मनोरंजक रूप में चित्रित किये गये हैं। 'सदियों से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर रहे हैं। और देश की सांस्कृतिक एकता की वृद्धि कर रहे हैं। इन काव्यों के पात्र हिन्दुओं की पीढ़ियों के नैतिकता के उदाहरण रहे हैं। आज भी राम अनेक आदर्शों के पुञ्ज माने जाते हैं व आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति और अपनी प्राणाधिका प्रियतमा को लोकानुरंजन के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं। रामराज्य आज तक आदर्श राज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात प्रतीक है। भारतीय स्त्रियों के लिए वह पवित्रता और पातिव्रत धर्म में आज भी आदर्श है। सदियों से ललनाएं सीता के उदात्त उदाहरण का अनुसरण करती आ रही हैं। कौशल्या जैसी माता और लक्ष्मण जैसे भाई आज भी हिन्दू समाज में आदर्श और अनुकरणीय माने जाते हैं।[१] रामायण के समान ही महाभारत भी संस्कृति का एक अक्षयकोष है। श्री हरिदत्त वेदालंकार महाभारत के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

महाभारत केवल कौरव पाण्डवों के संघर्ष की कथा ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास का प्रदर्शक एक विशाल विश्व-कोष है। इसमें उस समय के धार्मिक, नैतिक दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शों का अमूल्य और अक्षय संग्रह है। महाभारत की इस उक्ति में लेशमात्र सन्देह नहीं कि वह सब प्रधान काव्य सब दर्शनों का सार स्मृति, इतिहास और चरित्र चित्रण की खान तथा पंचम वेद है। मानव-जीवन का कोई ऐसा पहलू या समस्या नहीं जिस पर इसमें विस्तार में विचार न किया गया हो। शान्तिपर्व और अनुशासन-पर्व तो इसी दृष्टि से लिखे गए हैं। इसीलिए महाभारत का यह दावा सर्वथा सत्य है कि धर्म अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो उसमें कहा गया है वही अन्यत्र है जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं (यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्)। भारत या भारत से बाहर जहाँ कहीं भी हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ रामायण के साथ-साथ

[१-१] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० ७८ ७६

वहाँ महाभारत का भी प्रचार हुआ। दूसरी शती ई० पू० में यूनानी राजदूत इसके उपदेशों को उद्धृत करते हैं और छठी शती ई० में सुदूर कम्बोडिया के मन्दिरों में इसका पाठ होने लगता है, सातवीं शती में मंगोलिया के तुर्क अपनी भाषा में हिडिम्बा वध आदि उपाख्यानों का आनन्द लेने लगते हैं, १० वीं शती में जावा की लोक भाषा में इसका अनुवाद हो जाता है।"

रामायण एवं महाभारत दोनों ही महाकाव्यों का रचना काल सुनिश्चित नहीं हैं, दोनों ही महाकाव्य क्रमशः विकसित होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुए हैं। हमारा निश्चित मत है कि क्रमिक विकास होने के बावजूद ई० पू० दूसरी सदी तक रामायण अपने आज के समूचे रूप में तैयार हो चुका था। इससे उसका रचना काल ई० पू० ५०० और ई० पू० २०० के मध्य मान लेना चाहिये। इसी प्रकार महाभारत के सम्बन्ध में भी हमारा विश्वास है कि पाँच सौ ई० के लगभग वह भी विद्वन्मण्डली में प्रचारित हो चुका था, क्योंकि गुप्त काल के भूदान सम्बन्धी एक लेख में उसे शतसाहस्री संहिता कहा गया है। इससे महाभारत का रचनाकाल ई० पू० ५०० और ३०० ई० के मध्य मान लेना अनुपयुक्त न होगा। इन दोनों महाकाव्यों का रचना-काल एक न होने पर भी इनमें प्राग्बुद्ध-कालीन सांस्कृतिक भारत की झलक प्रतिबिम्बित होती है। इन दोनों ही काव्यों में भारतीय संस्कृति के अवतारवाद, जन्मान्तरवाद, आत्मा की अमरता, कर्मवाद, जातिवाद (वर्ण व्यवस्था) आदि सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है। रामायण के सम्बन्ध में Michelet लिखते हैं—"जिस किसी ने भी बड़े काम किये हैं या बड़ी आकांक्षायें की हैं उसे गहरे प्याले से जीवन और यौवन की एक लम्बी घूँट पीनी चाहिये। पश्चिम में सभी वस्तुएँ संकीर्ण और तंग हैं। यूनान एक बहुत छोटी सी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है जूडिया खुश्क जगह है और मैं हाँफ जाता हूँ। मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की ओर तनिक देर को देखने दो। वहाँ मिलता है मेरे मन का महाकाव्य हिन्दुस्तान जैसा विस्तृत मंगलमय सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ, जिसमें दैवी संगीत है और जहाँ कोई बेसुरापन नहीं। वहाँ एक गहरी शान्ति का साम्राज्य है और संघर्ष के मध्य भी वहाँ अत्यधिक मिठास और चरम सीमा का भाईचारा है।" श्री नेहरू ने अपनी डिस्कवरी आफ इण्डिया में महाभारत के सम्बन्ध में लिखा है—"महाकाव्य की दृष्टि से रामायण एक विशाल ग्रन्थ है, तथा जनता को उससे अत्यधिक प्रेम है परन्तु यह महाभारत है जो कि वास्तव में दुनिया के सबसे प्रमुख ग्रन्थों में से एक है। यह एक महान रचना है भारतीय परम्पराओं, गाथाओं, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विशाल कोष है"—

Great as the Ramayana is as an Epic poem and loved by the people, it is really the Mahabharat that is one of the outstand ing books of the world It is a colossal work, an encyclopaedia of

tradition and legend, and political and social institutions of ancient India"

सामाजिक जीवन

महाकाव्य युग में सामाजिक जीवन में वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से वर्णों का विभाजन गुण कर्म के अनुसार किया जाता था। गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं लिखा है—'मैंने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण-कर्म के आधार पर की है—चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः" यह इस बात का स्पष्ट निदर्शन है कि महाभारत-गीता के समय तक जाति प्रथा जन्म के आधार पर नहीं थी। महाभारत के वन-पर्व में ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं "वही व्यक्ति ब्राह्मण है जिसने काम क्रोध को वश में कर लिया है, इन्द्रियों पर विजय पाई है। जो अध्ययन अध्यापन और यज्ञ कर्म करने वाला, अहिंसक तथा शुद्ध आचार वाला है।' महाभारत के काल में सामाजिक विभाजन आज की भाँति निश्चित नहीं हुआ था। ब्राह्मण क्षत्रियों के कार्य और क्षत्रिय, ब्राह्मणों के कार्य सहर्ष किया करते थे। उदाहरण के लिए ब्राह्मण द्रोणाचार्य धनुर्विद्या के सबसे बड़े आचार्य थे और भीष्म पितामह क्षत्रिय होते हुए तत्त्वोपदेष्टा के रूप में प्रसिद्ध थे। शान्ति पर्व (१८८/१०७) में इस वर्ण विभाजन को स्वीकार नहीं किया गया है। फिर भी गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था थी।

समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। उन्हें समाज में स्वतन्त्रता प्राप्त थी फिर भी उनकी स्थिति ह्रासोन्मुख थी। पुत्री जन्म पर प्रसन्नता व्यक्त नहीं की जाती थी, पुरुष अनेक विवाह कर सकते थे सती प्रथा प्रचलित थी नारियाँ पर्दा भी करती थी। अग्नि-परीक्षा के समय राम ने सीता को सबके सामने लाने को कहा तो लक्ष्मण आश्चर्यचकित होकर राम की ओर देखने लगे। तब राम ने स्वयं कहा कि संकट यज्ञ और विवाह के समय स्त्री का दर्शन आपत्तिजनक नहीं होता है। महाभारतकार ने भी स्त्रियों को असूर्यम्पश्या (शल्यपर्व २९/७४) कहा है। फिर भी घोर पर्दा प्रथा नहीं थी। स्वयंवर प्रथा भी थी। समाज में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे किन्तु गान्धर्व राक्षस और आसुर विवाह अधिक प्रचलित थे। दुष्यन्त शकुन्तला का विवाह गान्धर्व प्रणय विवाह था। राक्षस विवाह में कन्या का हरण होता था—सुभद्रा हरण रुक्मिणीहरण दुर्योधन द्वारा कलिंगराज की कन्या हरण राक्षस विवाह के उदाहरण हैं। आसुर विवाह में कन्या का पिता वर-पक्ष से रुपये लेकर कन्या प्रदान करता था। माद्री का विवाह इसी आसुर विवाह का उदाहरण है। स्त्रियाँ नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करती थी। कुन्ती ने युधिष्ठिर आदि पुत्र नियोग द्वारा ही उत्पन्न किये थे। यत्र-तत्र बाल विवाह भी हो जाते थे।

गृहस्थ जीवन में पत्नियों का स्थान सम्मान था, वे अर्धांगिनी थी। वे पातिव्रत्य धर्म का उच्चतम आदर्श प्रतिष्ठित करती थी। सीता सावित्री और दमयन्ती आज भी आदर्श नारियों के रूप में भारतीय स्त्रियों के लिए उदाहरण-स्वरूप हैं।

सार्माजिक जीवन इस काल म भाग्य की अपेक्षा कम पौरुष पर विश्वास करता था। महाभारत मे अनेकश इस बात को प्रतिपादित किया गया है। भाग्य से पुरुषार्थ अधिक श्रेष्ठ है। 'जिनक पास दव प्रदत्त दस उँगनियो वाले हाथ हैं, उन्ह और क्या चाहिए? निश्चय ही उनके लक्ष्य की सिद्धि होगी। जिनक पास हाथ हैं, उन्हीं के लिए मेरे मन म सच्ची सराहना है। तुम भले हो धन की ओर ताको, मैं तो इन हाथो की ओर दखता हू। पाणिलाभ स बढकर भी कोई दूसरा लाभ है इस विश्व म ?[1]

तथा—

जो अपने बाहुबल का आश्रय लकर जीवित रहता है, वह मनुष्य ससार मे कीर्ति और दूसरे लोक म शुभ गति प्राप्त करता है।

स्व बाहु बलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानव ।
स लोके लभते कीर्ति परत्र च शुभा गतिम् ॥

इस काल म भारतीय जन जीवन म चरित्र और आचार को अधिक महत्त्व दिया गया है। "लक्ष्मी वहा रहती है जहा शील, धम और सत्य रहत हैं। राम का वचन पालन और युधिष्ठिर का सत्य प्रेम प्रसिद्ध घटनायें हैं।

'महाभारत म लिखा है सत्य स धम की रक्षा होती है, विद्या योग से, सरलता से रूप और चरित्र से कुल की रक्षा होती है—

सत्यन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगन रक्ष्यत ।
मृजया रक्ष्यत रूप कुल वृत्तेन रक्ष्यत ॥

सर्वाधिक महत्त्व चरित्र की रक्षा को दिया गया है और इसका बार-बार आग्रह किया गया है—

वृत्त यत्नेन सरक्षेत् वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्तत क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहत ॥

रहन सहन की दृष्टि से यह काल सादा जीवन और उच्च विचार वाला है सरलता इस युग की विशेपता है। राजा लोग वभव सम्पन्न थे। महाभारत म वभव पूण प्रासादो एव विशाल दुर्गों के भी दशन होते हैं।

भोजन म मास मदिरा को अच्छा नही माना जाता था, फिर भी इनक प्रयोग के यत्र तत्र उल्लख मिलत हैं। यदा कदा यज्ञ अथवा किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन पर ब्राह्मण तथा ऋषि-मुनि भी मास का सेवन कर लत थ।

---

1 अहो सिद्धार्थता तेषा येषा सन्तीह पाणय ।
अतीव स्पृहे तेषा येषा सन्तीह पाणय ।
पाणिमद्भ्य स्पृहास्माक यथा तव धनस्य व ।
न पाणिलाभादधिकोलाभ कश्चन विद्यते ॥
म० भा० शा० पव १८०/११ १२

आमोद प्रमोद म शिकार, द्यूत, नृत्य और संगीत प्रमुख थ, इन सभी क उल्लेख महाभारत म मिलते है। मल्ल युद्ध भी इस काल का प्रमुख व्यसन था।

शिक्षा का इस युग म प्रचुर प्रचार था। बालक प्राय गुरुकुलो म आचार्यों के पास रहकर विद्याजन करते थे। राजकुल क बालक को अ य कलाओ क साथ शस्त्र विद्या का अध्ययन नितान्त अनिवाय था। वेदो का अध्ययन महत्वपूण था। आशय यह है कि इस काल म समाज की स्थिति सुगठित थी।

आर्थिक दशा

इस काल की आर्थिक स्थिति का परिज्ञान रामायण महाभारत स सहज ही होता है। इन दोनो काव्यो के अध्ययन स पता चलता है कि जनता की स्थिति सतोष जनक थी, राजा वभवपूण थे इस काल की अजीविका क साधन—कृषि, पशु-पालन और शिल्प थे। राजा इन तीनो की ओर विशेष ध्यान तथा सहयोग देता था। कृषि पर्याप्त उन्नत थी सिंचाई का व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। उद्यान कला भी क्रमश विकसित हो रही थी। पशु इस युग म भी सम्पत्ति क प्रमुख अग थे। कृषि के लिए बल, युद्धो क लिए घोडे और हाथी आवश्यक थ। इनकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था थी। पाण्डवो क अज्ञातवास क काल म सहदेव और नकुल क्रमश गो और अश्व क विशेषज्ञ क रूप म विराट के यहाँ नौकरी करते हैं। इसी युग म पशु चिकित्सा पर अनेक ग्र थ निर्मित हुए थे जिनम स नकुल का अश्वविद्या विषयक शालिहोत्र तथा 'हस्त्यायुर्वेद आज भी प्राप्त है।

शिल्पो म वस्त्र व्यवसाय की विशेष उन्नति थी कपास भारत की ही देन है। महाभारत के काल म भरुच और चोल देशो म सूती वस्त्र बनता था ऊनी वस्त्र काश्मीर और कम्बोज म बनता था। रेशमी वस्त्र भी बनते थे। सोना चाँदी, लोहा सीसा और रांगे का इस काल म प्रयोग होता था। मोती हीरे, मणि आदि भी समुद्र खान आदि स्थानो से प्राप्त की जाती थी इनका भी व्यापार होता था। विभिन्न शिल्पो के प्रोत्साहन के लिए राज्य की ओर से भी सहायता मिलती थी। आन्तरिक तथा वदेशिक व्यापार विशेषत वश्यो के हाथ म था।

राजनीतिक जीवन

भारत म राजतन्त्र प्रचलित था। राजा कुल क्रमागत होता था। किन्तु उसका प्रधान उद्देश्य प्रजा का हितचिन्तन था वह स्वेच्छाचारी—निरकुश न था। उसकी स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित रखने के लिए 'सभा' होती थी। सभा वदिक युग म भी थी। वृद्ध परिषद भी होती थी। राजा क सहयोग के लिए उसके भाई मन्त्री और प्रजा के प्रतिनिधि भी रहते थे। सभा वृद्ध परिषद् आदि अनेक सस्थाएँ अपने अपने नियमो का विधान करते थे। राजा तदनुकूल आचरण करता था। कुल जाति श्रेणी और पूग नामक सस्थाए भी थी। जाति स अभिप्राय वर्णों से था, 'श्रेणी' व्यापार सघ और पूग' जनवग का सस्थाए थी। राजा के द्वारा गलती होने पर

परामर्शदाता उसकी भर्त्सना भी करते थे। राजा वृद्धों, ब्राह्मणों और विद्वानों का आदर करता था। राजा प्रजा का अनुरंजन तथा रक्षण करता और उसके बदले में उसे प्रजा 'कर' देती थी। राजा पृथु ने राज्याभिषेक के अवसर पर प्रतिज्ञा की थी कि "मैं जब तक जीवित रहूंगा, जो कार्य धर्मानुकूल होगा, वही करूँगा।" अत्याचारी राजा के विरुद्ध अत्याचार करने पर उसे विद्रोह कर पदच्युत कर दिया जाता था। जब राग द्वेष वश, राजा वेन ने प्रजा पर अत्याचार किये, तब ऋषियों ने उसे गद्दी से उतार दिया।" दुष्ट राजा को गद्दी से उतार कर 'पागल कुत्ते' की तरह मार देने का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। यदि राजा का उत्तराधिकारी अन्धा, अपाहिज होता था, तो वह राज्य नहीं कर सकता था। शान्ति और युद्ध के समय राजा प्रजा का नेता होता था। राजा बड़े ऐश्वर्य से रहता था। राजा आमोद प्रमोद के साधन संगीत, जुआ, शिकार, पशु-युद्ध और मल्लयुद्ध में रुचि लेता था। राजा अपने महल के एक भाग में न्याय तथा दण्ड विधान का कार्य करता था। वृद्धावस्था में स्वयं ही वह वानप्रस्थ ले लेता था। राजा की राजधानी सदा ही परकोटे से घिरी रहती थी, जिसमें अनेक विशाल द्वार बुर्जियां होती थीं। परकोटे के अन्दर ही संगीतशाला प्रमदवन, राजप्रासाद, सम्भ्रान्त मन्त्रियों के महल तथा व्यापारियों के बाजार भी होते थे। प्रधान सड़क राजमार्ग कहलाती थी, जिस पर रात्रि में प्रकाश की व्यवस्था रहती थी और उस पर जल का छिड़काव करा कर उसे नम कर दिया जाता था।

महाभारत में राजा के उच्च आदर्श और कर्त्तव्यों का विधान मिलता है। राजा को मन, वचन और शरीर से न्याय करना चाहिए और गरीबों पर अत्याचार नहीं करना चाहिए। उसे अपने पुत्र के अपराध पर भी दण्ड देना चाहिए। राजा को प्रजा की भांति ही अभागे, अनाथ और वृद्धों के भी आंसू पोंछने चाहिए।' उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी सेना, कोष और व्यापार की वृद्धि करता हुआ प्रजा के कष्टों का निवारण करे।

राज्य की आय के प्रधान साधन भूमि की उपज, व्यापार खान समुद्र तथा वन थे। इन स्थानों से प्राप्त आय पर कर लगा था। कर संग्रह की व्यवस्था जटिल थी। एक दस बीस, सौ और हजार ग्रामों के अफसर अपने अपने क्षेत्र से कर वसूल कर ऊपर के अधिकारी के पास भेजते थे। कर का उद्देश्य प्रजा-सुख था। इस कर से प्राप्त धन का गरीब और अमीरों में समानुपात से व्यय किया जाता था।

राजा मन्त्रि-परिषद् की सहायता से राज्य करता था। 'परिषद् में ब्राह्मणों के चार, क्षत्रियों के आठ, वैश्यों के इक्कीस, शूद्रों के तीन और सूतों के एक प्रतिनिधि बैठते थे। प्रधान मन्त्री और दूसरे मन्त्री तथा सभासद विद्वान्, समझदार, ईमानदार और नीति कुशल नियुक्त होते थे। इनके अतिरिक्त राजा शासन में युवराज कुल के प्रधान, सामन्तों और ऊंचे पद के राज पुरुषों से सहायता लेता था। राजपुरुषों में प्रधान पदाधिकारी थे—पुरोहित चमूपति (सेनापति) द्वारपाल प्रदेष्टा (न्यायाधीश)

धर्माध्यक्ष, दण्डपाल (पुलिस का अध्यक्ष), न्यायाध्यक्ष कार्यों का विधायक, कारागार का अधिकारी, दुर्गपाल आदि।"[1]

शासन यन्त्र का सबसे छोटा रूप ग्राम' था। ग्राम का प्रमुख व्यक्ति ग्रामणी' कहलाता था। दस ग्रामों का शासक दशग्रामी' बीस ग्रामों का विंशतिप', सौ का 'शतग्रामी' और हजार का अधिपति' कहलाता था। ग्रामणी दसग्रामी, विंशतिप, शतग्रामी और अधिपति अपने क्षेत्र में लगान, दण्ड, शान्ति आदि की व्यवस्था करते थे।

महाभारत के शान्ति पर्व में गण राज्यों का वर्णन मिलता है। गणराज्य में राजा एवं प्रजा के प्रतिनिधियों को समान महत्त्व प्राप्त था। इन गण राज्यों में अंधक वृष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज थे। इन राज्यों में पूर्णतः प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली प्रचलित थी। अंधक वृष्णि नामक संघ के प्रधान व्यक्ति का नाम कृष्ण था।

इस काल में शत्रु राजाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए प्रत्येक राजा एक सेना रखता था, यह सेना स्थायी एवं स्वयंसेवक दोनों ही प्रकार की थी। सेना के चार अङ्ग होते थे। इसलिए सेना चतुरङ्गिणी कहलाती थी। चार दल थे—गज दल, रथदल, हयदल और पदाति। सेना के इन प्रमुख अंगों के अतिरिक्त आवश्यक और सहायक अन्य विभाग भी थे जिनमें यातायात, नौ सेना और गुप्तचर भी थे। पदातियों के मुख्य अस्त्र ढाल तलवार फरसे भाले, गदा आदि होते थे। अश्वारोही प्रमुख रूप में तलवार और भाले का प्रयोग करते थे। रथारोही प्रमुख रूप में धनुष बाण का प्रयोग करते थे। कवच का प्रयोग प्रायः सभी करते थे। महाभारत में परिघ तोमर भिंदिपाल, रिष्टि शतघ्नी भुशुण्डी आदि अनेक प्रकार के अस्त्रों का वर्णन आता है उस समय मन्त्रशक्ति से आग्नेय, वायव्य वारुण आदि अनेक प्रकार के विचित्र बाण छोड़े जाते थे सेना के सूची मकर, चक्रादि अनेक व्यूह बनाये जाते थे।'[2]

इस युग के युद्ध में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियम भी थे, जिनका सभी पालन करते थे। छल प्रपञ्च का कम प्रयोग होता था। युद्ध में मरना गौरवपूर्ण माना जाता था, क्षत्रिय यश स्वर्ग और राजा के लिए लड़ते थे। लड़ाई में मरे हुए व्यक्तियों की विधवाओं की जीविका की व्यवस्था राज्य करता था। युद्ध में पकड़े हुए बन्दी को एक वर्ष तक विजयी व्यक्ति दास बनाकर रखता था।

इस युग में ज्योतिष चिकित्सा शास्त्र, पशु विद्या, रण कला धनुर्वेद और स्थापत्य की अच्छी प्रगति हुई थी। मय दानव द्वारा निर्मित भवन स्थापत्य कला का अच्छा उदाहरण था।

---

[1] सांस्कृतिक भारत पृ० ८०

[2] भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृ० ७४

धार्मिक अवस्था

वैदिक युग और महाकाव्य काल के धर्म में पर्याप्त अन्तर आ गया था। वैदिक युगीन प्राकृतिक शक्तियों के सूचक इन्द्र, वरुण रुद्र उषा आदि देवताओं के स्थान पर इस युग में त्रिमूर्ति देवता—ब्रह्मा विष्णु महेश—का प्राधान्य हो गया था। इस युग में वैदिक युग की अपेक्षा देवियाँ भी उभरकर आई थीं, और लक्ष्मी, पार्वती जैसी देवियाँ भी पूज्य मानी जाने लगी थीं। जहाँ वैदिक युग में प्राकृतिक शक्तियाँ ही देवत्व प्राप्त करती थीं, वहाँ अब वीर पुरुषों को देवत्व प्रदान किया जाने लगा था। परिणामतः श्रीराम और श्रीकृष्ण को यह देवत्व इसी युग में मिला। "जिस तरह वैदिक युग में सब देवता एक भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सूचक थे, उसी प्रकार से अब भगवान् की तीन मुख्य उत्पादक धारक और संहारक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विविध रूप बने। इस युग में विष्णु के भक्त भागवत या पांचरात्र तथा शिव के उपासक पाशुपतों का प्राधान्य था। सूर्य का उपासक और सम्प्रदाय भी प्रबल हो रहा था।" इस पारस्परिक विषमता के कारण आर्य-संगठन के छिन्न होने की सम्भावना के उत्पन्न होने पर अवतारवाद की कल्पना का आविर्भाव हुआ। भक्ति की प्रधानता हुई महाभारत के एक पर्व में ही विष्णु और शिव की सहस्र नाम से संस्तुति की गई है। भक्ति के इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकृष्ण थे, जिन्होंने घोषणा की थी कि धर्म स्थापना और दुष्टों के दलन के लिए मैं विष्णु का अवतार लेकर अवतरित हुआ हूँ, यह अवतारवादी धारणा उस युग में जन विश्वास के रूप में पल्लवित हुई थी।

औपनिषदिक आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त को इस युग में विशेष प्रतिष्ठा हुई। गीता ने अपने अपने विश्वासों, कर्मों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति की भावना पर विश्वास कराया। इससे पूर्व कर्मकाण्डी यज्ञों को तपस्वी तप को महत्त्व प्रदान कर रहे थे। किन्तु इस युग में पशु यज्ञ के स्थान पर आत्मयज्ञ, आत्म संयम और आचार शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। सच्चा यज्ञ तो सत्य, अहिंसा, तृष्णा, क्रोध का परित्याग, संयम, वैराग्य और त्याग को स्वीकार किया गया। श्रीकृष्ण ने अपने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व को पूर्ण करने की भावना पर बल दिया। यही उनका अपना धर्म था। इसी धर्म का पालन श्रीकृष्ण राम, भीष्म और युधिष्ठिर ने किया था उन्हें अपने काल में देवत्व की प्राप्ति हुई थी। राम और कृष्ण की पूजा इसीलिए प्रवर्तित हुई थी। कृष्ण की पूजा लोकप्रिय थी। कृष्ण का चरित्र मोहमय, प्रेममय और मांसल मानवीय होने के कारण स्वभावतः हृदयाकर्षक था। कृष्ण पूजा का प्रारम्भ भी राम-पूजा से पहले हुआ। रामायण और महाभारत का लिखा जाना ही राम और कृष्ण के देवत्व की प्रतिष्ठा थी।

दर्शनों की दृष्टि से छहों भारतीय दर्शनों के मूल विचारों का विकास हो रहा था, किन्तु उनमें अभी क्रमबद्धता, सुस्थिरता नहीं आई थी, वे निर्माणावस्था में थे।

उ होने अभी सम्प्रदायो का रूप ग्रहण नही किया था। प्राय सभी दार्शनिक भावो का प्रारम्भिक रूप महाभारत मे विद्यमान है। आत्मा के आवागमन का सिद्धा त, कम सिद्धा त, अवतारवाद भक्तिमाग, निष्काम कम आदि सिद्धा तो की चर्चा व विश्लेषण होने लगा था।

इस युग म आरण्यक एव उपनिषद् साहित्य का भी सजन हो रहा था उपनिषदो मे ईश्वर के सवव्यापी, अन्तर्यामी निगुण आदि रूपो की प्रतिष्ठा समारम्भ के साथ हुई थी।

रामायण महाभारत भारतीय सस्कृति के परिचायक गौरव ग्र थ हैं। नि स देह ये दोनो ही का य महान् हैं। इनम भारतीय सस्कृति का रूप मूर्तिमान हो उठा है। रामायण एव महाभारत ऐसी महान शास्त्रीय रचनाएँ हैं जिनसे इसके बाद के शास्त्रीय साहित्य ने केवल कथानक की विषय वस्तु म ही नही, अपितु शली और छ द मे भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। परवर्ती साहित्य म महाभारत तथा रामायण की अनेक घटनाओ को लेकर नाटको तथा काव्यो की रचना की गई है और बाल्मीकि की का य रचना के सौ दय तथा अलङ्कारो के कुशल प्रयोग ने ही कालिदास की कोमल तथा परिमार्जित का य कला के लिए माग प्रशस्त किया है।[१]

निष्कष रूप मे हम कह सकते है कि रामायण एव महाभारत केवल महा का य ही नही हैं ये दोनो ही ऐसी रचनाए हैं जिनमे भारतीय सस्कृति प्रतिबिम्बित है। जिनमे धम नीति, दशन लोक ान की विविध समस्याओ पर विचार किया गया है जो इस देश के असख्य व्यक्तियो ने जीवन के मूलाधार हैं जिनम हमारे सामूहिक अचेतन का सारतत्व मूर्तिमान है।

---

[१] ए शयेन्ट इण्डिया पृ० १६८

The Mahabharat and the Ramayan are the great classics' to which the later classical literature is undebted not only for much of its episodic matter but also in the matter of style and metre Themes from the Mahabharat and the Ramayan are freely borrowed in later literature and worked into drama and poetry and the el gance of Balmiki s handling of metre and his skilled use of figures of speech are precursors of the daintiness and polish of Kalidas

५

मौर्य-काल

- मौय सस्कृति,
- सामाजिक दशा
- धार्मिक दशा
- आर्थिक दशा
- शासन प्रव ध
- कला एव साहित्य

मौय-सस्कृति

भारतीय सस्कृति के इतिहास म मौय युग और मौय-सस्कृति का अपना विशिष्ट स्थान है। भारत के राजनीतिक इतिहास म मौय युग अभूतपूव नवीन युग के रूप म आविभू त होता है। इतिहासकारो के अनुसार मौर्यों का उदय अ धकार से प्रकाश का उदय है। मौय युग ने विकीण भारतीय शासनत त्र को एक सूत्र म सग्रथित किया है। वस्तुत भारतीय इतिहास का क्रमबद्ध रूप हम मौययुग से ही मिलता है। 'मौययुग का भारतीय इतिहास म विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। सास्कृतिक उपलब्धियो (Achievements) और सामाजिक सगठन के क्षेत्र म इसकी गोरव शालिनी सफलतायें आज भी इतिहास क विद्यार्थी को विस्मय मे डाल देती हैं। सुदूर व्यापिनी साम्राज्य सीमायें और सुसगठित शासन व्यवस्था ने जो राजनीतिक क्षेत्र म मौयकाल की दो महत्त्वपूर्ण सफलताय कही जा सकती हैं सामाजिक आर्थिक और सास्कृतिक उपलब्धियो का जो सिलसिला जारी किया, उसके द्वारा हमारी सामाजिक रचना और सस्कृति को पुष्टता प्राप्त हुई।" मौयकाल म भारत जहाँ एक

और राजनीतिक एकता-सूत्र में समान शासन प्रणाली में आबद्ध हुआ वहीं भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध भी विभिन्न सभ्यताओं के साथ स्थापित हुआ। श्री० बी० एन० लूनिया ने ठीक ही लिखा है— मौर्य सम्राटों ने विश्व के अन्य गुरुतर शासकों जैसे सीरिया के सिल्युकस, मिस्र के टालमी, मसिडोनिया के अस्टीगोनस, लंका के रिसा और नेपाल के राजाओं से अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इस सम्पर्क से भारतीय और पश्चिमी संस्कृति का परस्पर हेल-मेल बढ़ा। मौर्य काल में ही भारत पृथ्वी के दूरस्थ प्रदेशों में अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म प्रसार के हेतु प्रचारक भेजकर विश्व का अग्रगामी सांस्कृतिक दूत बन गया। अशोक के धार्मिक उत्साह ने धर्म के प्रचारक दूतों को प्रेरणा दी कि वे भारत की सीमा के पार जाकर मनुष्य मात्र के कष्ट निवारण कर वास्तविक मानव सेवा का काम करें। प्राकृतिक और भौगोलिक सीमाओं को न मानने वाली अशोक की धार्मिक नीति और सहिष्णुता विश्व बन्धुत्व पर निर्भर थी। इस प्रकार मौर्यों की छत्र छाया में भारतवर्ष ने शान्ति, बन्धुत्व और सांस्कृतिक एकता के आधार पर एक नवीन विश्व के निर्माण का प्रयास किया।'[1]

अशोक के काल में भारतीय संस्कृति का प्रभाव यूनानी संसार पर पड़ा था। इस तथ्य का प्रमाण अशोक के तेरहवें शिलालेख को देखने से मिलता है। इस अभिलेख में लिखा है कि भारतीय धर्म प्रसारकों की सक्रियता के फलस्वरूप निम्नलिखित यूनानी शासकों के राज्यों में धर्म के अनुयायी थे सीरिया के एन्तियोकस, मकदूनिया के अन्तिगोनस, गोनातस एपिरस अथवा कारिन्थ के सिकन्दर, मिस्र के टालमी और साइरीन के मागास। बौद्ध धर्म से बहुत पहले ही उपनिषद् और सांख्य-दर्शन या पारिक सामानी और व्यापारियों के साथ यूनानी संसार में पहुंच गया था। कुछ विद्वानों का विचार है कि उन दर्शनों का प्रभाव पाइथागोरस और प्लेटो पर और विशेष रूप से बाद के ईसाई बुद्धिवादियों व नव प्लेटोवादियों पर बहुत पड़ा था। हिमालय के पार गान्धार और गड्रोशिया के मौर्य काल में ब्राह्मण धर्म और बुद्ध धर्म का खूब प्रचार था। जेम्स आटमेस्टेटर का कथन है, 'हिन्दू सभ्यता उन भागों (काबुल और सीस्तान) में फली थी। सच तो यह है कि ईसा से दो शताब्दी पहले और बाद तक वे भाग श्वेत भारत के नाम से जाने जाते थे। ये प्रदेश मुसलमानों की विजय से पहले तक ईरानी से अधिक भारतीय थे। मौर्य संस्कृति का प्रसार पामीर के पार प्रदेशों में भी हो गया था। यह इस तथ्य से भी जाना जाता है कि तीसरी शताब्दी ईसवी के ससानियाई बक्ट्रिया को परोक्ष रूप से भारत का अंग मानते थे और ओक्सस को ब्राह्मणों और बौद्धों की नदी। वह सम्पूर्ण क्षेत्र, जिसमें हेलमन्द, काबुल, ओक्सस, तारिम नदियों की घाटियाँ भी सम्मिलित थीं, ईसा के तुरन्त पहले और बाद के समय में वैदिक संस्कृति को मानता था। टामस ने लिखा है सम्भव है कि उत्तरी

[1] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास पृ० १५४

अफगानिस्तान के निवासियो का हाथ प्रारम्भ से ही वैदिक सभ्यता के विकास म रहा हो क्योकि यूनानियो को वे भारतीया जसे मालूम पडे थे और उनकी सेनाओ मे हाथी थे।"[1]

मौय साम्राज्य ३२२ से १८४ ई० पू० मे भारत वसुधरा मे उदय एव विकास प्राप्त कर एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप म प्रतिष्ठित होता है। इस साम्राज्य का सस्थापक चद्रगुप्त मौय (३२२ २९८ ई० पू०) था। चद्रगुप्त मौय ने कौटिल्य के सहयोग से नन्दवश का उमूलन कर मौय राज्य की स्थापना की थी। मौय राजाओ म चद्रगुप्त, बिदुसार (२९८ २७३ ई० पू०) तथा अशोक (२७३ २३३ ई० पू०) विशेष उल्लेखनीय राजा है। सम्प्रति हम मौय काल की सामाजिक, राज नीतिक आर्थिक एव धार्मिक स्थितियो का मूल्याड्न करेंगे।

सामाजिक दशा

मौय काल म जनता सम्पन्न थी श्री एव वभव दोनो ही मौय-काल म जनता के पास थ, मनुष्य आत्म निभर थे। मेगास्थनीज के आधार पर यूनानी भारतीय भूमि की उवरता सरिताओ की विशालता, खनिज पदार्थों की विविधता और सम्पनता तथा वनस्पति और पशु वग वभव पर आश्चय करते थ। दूसरी ओर समाज शिष्ट, सभ्य एव सदाचार सम्पन्न था। समाज की नतिक मायतायें और उसका स्तर उच्च था। समाज म मितव्ययता थी सादगी थी, व्यक्ति सत्यनिष्ठ, वीर और साहसी थे। धरोहर और वचन पालन सम्ब धी मुकदम नही होते थे। चोरियाँ कम होती थी। मद्यपान विशिष्ट अवसरो पर ही किया जाता था। अशोक के उपदेशो से जनता के मनोबल का विकास हुआ और उन उपदेशो के पालन से तात्कालिक समाज की धार्मिक प्रवृत्ति और नतिकता का सकेत मिलता है। श्री रमेशचद्र मजूमदार अशोक युगीन इस वचारिक सनाति क सम्बध म लिखते हैं—

'धम के मूल-तत्वो को बता कर जनता के सदाचार को उठाना इसका प्रधान लक्ष्य और उसकी चिता थी। इसलिए उसने इन अमिट चट्टानो पर लेखा को अकित कराया जो दो हजार से अधिक वर्षों के बात जाने पर भी उसके जीवन की पवित्रता और विचारो की उच्चता के अमर स्मारक हैं। धम के जिस स्वरूप पर उसने जोर दिया, वह किसी धार्मिक सिद्धात की अपेक्षा सदाचार के नियमो का एक सग्रह है। उसने न तो कभी तत्त्व ज्ञान की चर्चा की और न ईश्वर और आत्मा का उल्लेख। उसने कवल जनता से अपनी वासनाओ को नियन्त्रित करने, अपने भीतरी विचारो म जीवन और आचरण को पवित्र बनाने, अय धर्मों के प्रति सहिष्णु होने, जानवरो को न सताने और न मारने, उनकी चिन्ता रखने, सब के प्रति उदार होने, माता, पिता, गुरु, सम्बधिया मित्रो और साधुओ के प्रति उचित सम्मान प्रकट करने नौकरो

[1] राधाकमल मुकर्जी भारत की सस्कृति और कला, पृ० ९२ ९३

और दासो के प्रति उदारता और दया का भाव रखने और सर्वोपरि सत्य बोलने को कहा।[1]

समाज सम्पन्न एव धमपरायण था अत उसकी अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न उत्सव मनाये जाते थे समारोह किये जाते थे। ऋतु-परिवतन सम्बन्धी उत्सवों की धूम धाम रहती थी। गोपद उस काल की प्रमुख द्यूत क्रीडा थी गृह शासन के द्वारा नियन्त्रित थे अत द्यूत क्रीडा शुल्क भी लिया जाता था। नारियाँ उद्यानों म कन्दुक क्रीडा में अभिरुचि लती थी। साहसी पुरुषो के लिए आखेट मनोरजन का प्रिय साधन था। नौका, तरना धनुविद्या, युद्ध, रथ सचालन, नृत्य गान, वाद्य सगीत, धार्मिक दृश्य आदि विभिन्न प्रकार के मनोरजन के साधन थे। विभिन्न देवी देवता—ब्रह्मा, शिव पशुपति, सरस्वती आदि के कारण भी उत्सव मनाये जाते थे और इन्ह समाज कहा जाता था।

समाज म दास प्रथा प्रचलित थी अथवा नही, इस विषय म विद्वानों म मत वैभिन्य है। ग्रीक लेखको के अनुसार भारत म दास प्रथा नही थी। एरियन का कथन है कि 'समस्त भारतीय स्वतन्त्र हैं उनम कोई भी दास नही।' मेगस्थनीज भी दास प्रथा को स्वीकार नही करता है। उसके अनुसार 'भारतीय विदेशियो तक को दास नही बनाते, अपने देशवासियो की तो बात ही क्या।' इसके विपरीत भारतीय अथशास्त्र का प्रणेता कौटिल्य दास प्रथा का उल्लेख करता है। सम्भवत इसी कारण बी० एन० लूनिया ने "भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास" म लिखा है, समाज मे दासता की प्रथा थी। स्मृतियो और राजनीतिक साहित्य म ही इसे अगीकार नही किया गया अपितु अभिलेखो म भी इसका स्पष्ट उल्लेख है।"[2] इस प्रकार समकालीन लेखको की इस सम्बन्ध म दो मान्यतायें मिलती हैं। नि सन्देह कौटिल्य अधिक प्रामाणिक हैं। क्योकि वह भारतीय हैं मौय साम्राज्य की सस्थापना मे उनका महत्त्वपूण योग दान है। इन दोनो दृष्टिकोणो म अन्तर दो सस्कृतियो और उनकी मान्यताओ के कारण है। यूनानी जिस दास प्रथा को स्वीकार करते हैं वह दास प्रथा भारतीय नही है। यहाँ दासो के साथ भी उदारता, सहानुभूति एव समता का व्यवहार किया जाता था। इसके सम्बन्ध मे सत्यकेतु विद्यालकार का कथन है— सम्भवत ग्रीक लोगो की दृष्टि म जो दास प्रथा थी वह भारत में नहीं थी। यहाँ दासो के साथ उतना कडा तथा भयकर व्यवहार नही किया जाता था जसा कि ग्रीस व रोम म होता था।[3] डा० राइस डेविड्स ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि भारत म दास अधिकतर घरेलू नौकर होते थे। उनके साथ बुरा

---

[1] प्राचीन भारत पृ० ९३ ९४

[2] वही पृ० १६५

[3] भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ४७०

व्यवहार नहीं किया जाता था। उनकी संख्या भी महत्त्व शून्य होती थी।' अर्थशास्त्र के अनुसार भारत में दास प्रथा के सम्बन्ध में निम्न संकेत मिलते हैं—

(१) इस काल में दास जन्मत भी होते थे, दासों का क्रय विक्रय भी होता था। (२) म्लेच्छ अपने बच्चों व सम्बन्धियों का दास की भाँति क्रय विक्रय कर सकते थे। किन्तु आर्यों को इस प्रकार के क्रय विक्रय पर दण्ड दिया जाता था। (३) सामान्यत आर्य दास नहीं बन सकता था, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में वह दास भी बन सकता था—(अ) अपने परिवार को अर्थ संकट से बचाने के लिए (ब) आर्थिक दण्ड को पूरा करने के लिए, (स) राज दण्ड ही दास होने के लिए होने पर, (द) युद्ध में बन्दी होने पर। (४) दासों के साथ व्यवहार अच्छा होता था। उनसे निकृष्ट कार्य नहीं लिये जाते थे, उन्हें पीटना दण्डनीय था। (५) दास स्वामी की सेवा के अतिरिक्त समय में अपना छोटा मोटा व्यापार कर सकते थे। वे अपनी पारस्परिक सम्पत्ति के स्वामी थे। (६) दास स्वतन्त्र भी हो सकते थे। (७) बिना अभियोग-पत्र के दासों को बन्दी नहीं बनाया जा सकता था। (८) दास स्त्रियों व कन्याओं के साथ स्वामी द्वारा अनाचार होने पर वह स्वतन्त्र हो जाता था। (९) आर्य सन्तान दास नहीं होती थी। (१०) स्वतन्त्र होने के लिए दास अतिरिक्त आय भी करते थे, और कीमत अदा कर स्वतन्त्र हो जाते थे। आशय यह है कि ग्रीक तथा भारतीय दास प्रथा में महान् अन्तर है। भारत में इन्हें पारिवारिक सेवकों के रूप में सम्मान प्राप्त था, इसीलिए मेगस्थनीज ने उदार तथा सहानुभूति पूर्ण इस भारतीय दास प्रथा को दास प्रथा नहीं माना है।

वर्ण व्यवस्था

भारतीय वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। मेगस्थनीज ने सात जातियों का उल्लेख किया है (१) दार्शनिक, यह विद्वानों एवं भविष्यवक्ताओं का वर्ग था समाज में इनका सम्मान था, भूल होने पर भी ये दण्डनीय नहीं थे। आज के पुरोहितों का भी इनसे कार्य लिया जाता था। (२) कृषक, इस जाति में किसान लोग आते हैं। ये संख्या की दृष्टि से अधिक होते थे। ये राजा को भूमि-कर देते थे। कृषकों का यह वर्ग स्वयं अपने परिवार के साथ रहता था और नगरों में इनका आना जाना बहुत कम हुआ करता था। (३) तीसरा वर्ग गोपालकों का था, जो कि यत्रतत्र भ्रमण करते रहते थे। ये पशुओं का पालन तथा शिकार करते थे। विशेषत अपनी शारीरिक क्षमता के द्वारा हानिकर पशु-पक्षियों को निरापद करते थे। (४) चतुर्थ वर्ग कारीगरों का था। यह वर्ग विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्र बनाया करता था जो कि रक्षा एवं विभिन्न व्यवसायों के लिए उपयोगी होते थे। (५) पाँचवाँ वर्ग सैनिकों का था संख्या की दृष्टि से इनका दूसरा स्थान था। ये सदा ही सावधान और युद्धोद्यत रहते थे, किन्तु शान्ति के काल में इनका जीवन आमोद प्रमोद में व्यतीत होता था। सेना, सैनिक, युद्ध के अन्य

उपयोगी हाथी घोड़े, रथ आदि के लिए पशुओं की व्यवस्था राजकीय खान में होती थी। (६) छठा वर्ग गुप्तचरों का था जो नागरिकों के विभिन्न वर्गों में छिपा रहता था और सभी प्रकार की सूचनाएँ राज्य की रक्षा के लिए एकत्र कर राजा को सूचित करता था। (७) सातवाँ वर्ग राज्य कर्मचारियों का था जिसमें सेनापति, मंत्री, न्यायाधीश तथा अन्य शासनकर्ता थे। यह वर्ग शक्ति तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से श्रेष्ठ था।

मेगस्थनीज द्वारा वर्णित यह जाति विभाजन सर्वथा दोषपूर्ण है। ऐसा लगता है कि वह जाति एवं वर्ण से पूर्णतया परिचित नहीं था। उसने विदेशी [illegible] विभिन्न व्यवसायों तथा उनमें काम करने वाले व्यक्तियों को तथा जाति का मान लिया है। इसलिए श्री पुनिया लिखते हैं "और राजगुरु का यह वचन प्रमाणित, अशुद्ध और दोषपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि जातियों और विभिन्न व्यवसायों में संलग्न मनुष्यों की श्रेणियों का भ्रम ही मेगस्थनीज को भ्रान्ति हो गई थी।"[1] श्री सत्यकेतु विद्यालंकार उपर्युक्त वर्गों को क्रमशः ब्राह्मण श्रमण, कृषक, गोपालक, व्यापारी [illegible] भट, प्रतिवेदक [illegible] सचिव और मंत्रि महामात्य [illegible] के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः इस काल में वर्ण व्यवस्था क्रमशः शिथिल हो रही थी लेकिन यह वर्ण व्यवस्था गुण-कर्मानुसार होती थी अतः समाज में पुरोहित, शिक्षक, सैनिक, व्यवसायी, गोपालक, सेवक आदि सभी के मिलने से समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से संचालित होती थी।

विवाह तथा स्त्रियाँ

मौर्ययुगीन अभिलेख तथा यूनानी लेखकों के आधार पर तत्कालीन विवाह पद्धति तथा नारियों की दशा का पता चलता है।

मौर्यकाल में बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। इस सम्बन्ध में मेगस्थनीज ने लिखा है कि "वे बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते थे। विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को आमोद प्रमोद के लिए भी घर में रखा जाता था। मेगस्थनीज के अनुसार कुछ को तो वे इसलिए सहधर्मिणी बनाने के लिए विवाह करके लाते थे और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को सन्तान से भर देने के लिये ही।"[2] कौटिल्य अर्थशास्त्र से भी यह बात पुष्ट होती है। वहीं लिखा है—"पुरुष जितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है स्त्रियाँ संतान उत्पन्न करने के लिए ही हैं।"[3] मौर्य युग में दहेज प्रथा का प्रचलन था। यद्यपि इस प्रकार के विवाह निन्दित थे फिर भी दहेज प्रथा उस काल में प्रचलित थी। इस युग में स्त्री और पुरुष दोनों ही को पुनर्विवाह का अधिकार था। यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो, या

---

[1] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० १६६

[2] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास पृ० २७२

[3] वही, पृ० २७२

जिसके कोई पुरुष सन्तान न हो या जो बन्ध्या हो उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के मरा बच्चा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियां ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है।'[1] स्त्री की मृत्यु के पश्चात् विवाह सहज रूप में प्रायः होते ही थे। पुरुषों की भांति स्त्रियां भी पुनर्विवाह कर सकती थीं। पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री अपने परिवार के व्यक्तियों से राय लेकर पुनर्विवाह कर सकती थी। यदि श्वसुर इसके लिए उद्यत न हो उस अवस्था में वह श्वसुर से प्राप्त समस्त धन को प्रत्यर्पित कर विवाह कर सकती थी। पति की मृत्यु के अतिरिक्त पुनर्विवाह के अन्य कारण भी हो सकते थे। यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो, और उसका पति विदेश गया हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई सन्तान हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिए भरण पोषण का प्रबन्ध कर गया हो, तो दुगुने समय तक प्रतीक्षा की जाय। यदि पति विद्याध्ययन के लिए विदेश गया हो, तो सन्तान रहित स्त्री दस वर्ष और सन्तान सहित स्त्री बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे।"

मौर्यकाल में अपने वंश की सुरक्षा के लिए नियोग प्रथा प्रचलित थी यह वंश सुरक्षा के लिए किया गया उसका कार्य निन्दित न था। मौर्ययुग में तलाक प्रथा भी विद्यमान थी। कौटिल्य ने इसके लिए मोक्ष शब्द का प्रयोग किया है। कौटिल्य ने मोक्ष के लिए अनेक नियमों का उल्लेख किया है। मोक्ष का अधिकार पति पत्नि दोनों को था। व्यभिचारी प्रवासी, पतित राज्य द्वेषी, खूनी नपुंसक पतियों का सभी परित्याग कर सकती थी। परस्पर घृणा करने पर ही तलाक सम्भव था। स्त्री से दुःखित व्यक्ति तलाक तभी दे सकता था जबकि वह स्त्री उसके माता पिता से प्राप्त धन को लौटा दे। किन्तु पति से दुःखी स्त्री के लिए ऐसा विधान नहीं था। मौर्यकाल में आठ प्रकार के ब्राह्म, दैव आर्ष, प्राजापत्य आसुर, गान्धर्व राक्षस और पैशाच विवाह प्रचलित थे। किन्तु ब्राह्म, प्राजापत्य आदि प्रथम धर्मानुकूल चार विवाहों में तलाक प्रथा प्रचलित न थी। तलाक केवल आसुर, गन्धर्व आदि विवाहों में ही प्रचलित था। इस काल में विवाह अपनी ही जाति में होता था, किन्तु अपवाद रूप में अन्तर्जातीय विवाह भी हो जाते थे। गोत्र विवाह और सपिण्ड विवाह निन्दित थे। कौटिल्य के अनुसार कन्या का विवाह १२ वर्ष की अवस्था में तथा युवक का विवाह १६ वर्ष की अवस्था में हो जाना चाहिए।

मेगस्थनीज और कौटिल्य के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में स्त्रियों की अवस्था अच्छी नहीं थी। मेगस्थनीज के अनुसार स्त्रियां बेची भी जाती थीं। स्त्रियों में पर्दे की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों में सती प्रथा भी प्रचलित थी। कौटिल्य के अनुसार समाज में स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार तथा अनौचित्य कठोर

[1] वही, पृ० २७२

दण्ड का कारण बनता था। इसके लिए राज्य कर्मचारी भी दण्डित किये जाते थे। स्त्री वध का अपराध गुरुतर अपराध था, वह अपराध ब्रह्महत्या के समान ही भयंकर था।

धर्म

मौर्य युगीन धार्मिक दशा के अवलोकन करने पर हम कह सकते हैं कि इस युग में जहां एक ओर वैदिक देवताओं की उपासना प्रचलित थी, इन्द्र और वरुण की स्तुति की जाती थी, वहीं दूसरी ओर अन्य अनेक देवता भी उपास्य का रूप क्रमशः ग्रहण कर रहे थे। इन नवीन प्रादुर्भूत देवताओं में महाकाव्य काल से विष्णु अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रहे थे। भागवत धर्म का प्रचुर प्रचार होता चला जा रहा था। वस्तुतः यह काल एक संक्रान्ति काल था जहां एक ओर राजनीतिक नभोमण्डल में मगध एक विशाल साम्राज्य रूपी सूर्य के रूप में उदित हो रहा था, वहीं भारत के धार्मिक विचारों में युगान्तकारी परिवर्तन हो रहे थे। इस काल के भारत की धार्मिक स्थिति का परिचय देते हुए श्री सत्यकेतु विद्यालङ्कार लिखते हैं, 'यह नहीं समझना चाहिए कि महात्मा बुद्ध के बाद भारत में अन्य धर्मों का लोप होकर केवल बौद्ध धर्म का ही प्रचार हो गया था। प्राचीन यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म, विविध देवी-देवताओं की पूजा अनेक पाखण्ड आदि उस युग में भी विद्यमान थे। अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ़ गया, पर सम्प्रदाय भी कायम रहे। भक्ति प्रधान वैष्णव या भागवत धर्म का अंकुर भी इस युग में भली भांति पल्लवित हो रहा था। आगे चलकर यह भारत का प्रमुख धर्म हो गया। मैगस्थनीज ने लिखा है कि शूरसेन देश में कृष्ण की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। राजपूताना में चित्तौड़ के समीप प्राचीन माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषों के समीप घासुण्डी नामक गाँव में मौर्यकाल का एक विशाल शिलालेख मिला है जिसमें संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए दान देने की बात उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है कि मौर्यकाल में भागवत धर्म का प्रचार शूरसेन देश से बाहर भी राजपूताना तक हो चुका था।'[1] इस युग में ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म का बोलबाला तो था ही, किन्तु इनके अतिरिक्त अनेक सम्प्रदाय भी उन्नति हो चुके थे। इस काल में आजीवक सम्प्रदाय विकासोन्मुख था। इस सम्प्रदाय के विकास में अशोक का भी योगदान रहा है, अशोक ने दो गुफायें आजीवकों को दान में दी थी, इसका उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में मिलता है। चन्द्रगुप्त के काल में भी इसका प्रचुर प्रचार हुआ। जैन धर्म के ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्थविर भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को जैन धर्म में दीक्षित किया था। बौद्ध धर्म भी इस काल का प्रमुख धर्म था। अशोक के काल में यह भारत में खूब फला-फूला। इतिहासकारों के मत में अशोक बौद्ध धर्म का मानने वाला था। उसने शासन काल में बौद्ध-संगीति का आयोजन किया था। मोग्गलिपुत्र

[1] भारतीय संस्कृति और उसका विकास पृ० २३८

तिस्स की अध्यक्षता म आयोजित इस सगीति के आधार पर बौद्धधम प्रचारक विभिन्न देशो म गय थे। यद्यपि इस काल म जन और बौद्ध धम का प्रचार था फिर भी यना म पशु हिंसा, बलिदान तथा श्राद्ध प्रचलित थे। मेगस्थनीज ने लिखा है—'यन व श्राद्ध म कोई मुकुट धारण नही करता। वे बलि के पशु को छुरी घसाकर नही मारते, अपितु गला घोट कर मारते हैं, जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके पूरी वस्तु भेंट म दी जाय। एक प्रयोजन जिसके लिए राजा अपना महल छोडता है, बलि प्रदान करना है। पर गृहस्थ लोगो द्वारा य दाशनिक बलि प्रदान करन तथा मृतको का श्राद्ध करन के लिए नियत्त किय जाते हैं।'[1] इस प्रकार हम देखते है कि यह युग विचारो की सक्राति का युग था। अत इस युग म प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय ब्राह्मण बौद्ध और जन थे। इनके अतिरिक्त योगी, साधु बरागी और आजीवक भी थ। भागवत सम्प्रदाय भी क्रमश उत्कष की ओर बढ रहा था और शव मत भी ब्राह्मण धम का अगभूत होकर जीवन श्वासें लेने लगा था।

नैतिक आदर्शो की दृष्टि स मौयकाल उत्कष पर था। समाज म सामा य व्यक्ति नतिक, मित यथी और शिष्ट था, सुरापान केवल यनो के ही अवसर पर होता था। चोरी की घटनाए भी कम होती थी। कानून का उल्लघन और यायालय की शरण भी कम ही लोग लेते थ। गुणो का आदर होता था।

आर्थिक दशा

मौर्ययुगीन भारत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था, आर्थिक दृष्टि से भारत मे भौतिक वभव का काल था। प्रजा धन सम्पन्न और सुखी थी विभिन्न उद्योग एव व्यापार अर्थोपाजन क साधन थे। भारत का प्रधान यवसाय कृषि था। अधिकाश जनता कृषक थी। कृषको को केवल कृषि से मतलब था। इसक अतिरिक्त उन्हे न तो युद्ध स मतलब था और न सावजनिक सेवाओ स। उनका अधिकाश समय कृषि कम म ही व्यतीत होता था। शासन अतिवष्टि अनावष्टि तथा अकालोत्पन्न कठिनाइयो मे कृषको की सहायता करता था। आर० सी० मजूमदार ने तत्कालीन कृषको की सख्या, अवस्था आदि के सम्ब ध म लिखा है कि 'जनसख्या का अधिक भाग कृषक था। प्रारम्भिक मौर्यो के समय मे उनकी हालत बुरी नही जान पडती है। प्रीक पय-वक्षको का कहना है कि वे युद्ध करने तथा अ य सावजनिक कार्यो से मुक्त थे और अपना सारा समय कृषि काय म लगाते थे। इस वग के लोग जनता की भलाई करने वाले समझे जात थे और युद्ध तथा सघष क समय उ ह तग नही किया जाता था। जिस भूमि म किसी तरह की लूट-पाट नही होती थी, उसम बहुत अधिक अन्न उपजता था और लोगो क जीवन को सुखमय बनान के लिए पर्याप्त होता था।'

भारतीय कृषक परिश्रमी था वह वष म सामा यतया दो फसलें तयार कर लेता था। सिंचाई की अच्छी यवस्था थी, अधिकाश भूमि सिंचाई म आती थी।

[1] भारतीय सस्कृति और उसका विकास, पृ० २७५

मौर्यकाल में सिंचाई के विभिन्न साधन अपनाये जाते थे। अर्थशास्त्र में उन साधनों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है (१) हस्तप्रावर्तिमम्—जल को एकत्र कर हाथ, डोल या चरस द्वारा निकाल कर सिंचाई करना। (२) स्कंध प्रावर्तिमम्—कंधों की सहायता से जल निकाल कर (रहट या चरस द्वारा) सिंचाई करना। (३) स्रोतयंत्र प्रावर्तिमम्—पवन चक्की जलयंत्रों द्वारा सिंचाई। (४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम—नदी, सर तालाब और कूप द्वारा सिंचाई करना। (५) सेतुबंध—बांध बनाकर—नहरों व नालियों के सहयोग से सिंचाई करना। जलयन्त्रों तथा बांध बनाकर सिंचाई करने का उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढ के लेख में संकेत मिलता है। इस लेख में पुष्यगुप्त का सुदर्शन झील निर्माण का उल्लेख आया है। वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई के अनेक साधन सुलभ होने के कारण मौर्यकाल में भूमि उपजाऊ थी तथा प्रचुर मात्रा में अन्न उत्पन्न होता था। अर्थशास्त्र के आधार पर इस काल के प्रमुख उत्पादन तिल, माश मसूर यव, गोधूम (गेहूं) केला अंगूर गन्ना तथा विभिन्न प्रकार की तरकारी थे। मेगस्थनीज ने गेहूं, गन्ना, चावल तथा कपास की कृषि का उल्लेख किया है। खेत जोतने बोने का प्रकार आज के समान ही था। कृषि पर अनेक प्रकार के कर भी लगाये जाते थे, जिनका लाभ सामान्य जनता को विभिन्न प्रकार से होता था।

व्यवसाय तथा उद्योग

मौर्य युग में कृषि के साथ-साथ व्यवसाय तथा उद्योग की भी अत्यन्त उन्नत अवस्था थी। मेगस्थनीज के वर्णनों से हमें तत्सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है। उसने भारतवासियों को कला-कौशल में निपुण बताया है और लिखा है कि वे भिन्न भिन्न व्यवसायों से अपनी आजीविका कमाया करते थे। कौटिल्य ने भी अपने अर्थ शास्त्र में मौर्ययुगीन अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। ये व्यवसाय निम्न लिखित थे

१ वस्त्र बुनना—यह मौर्ययुग का सबसे प्रसिद्ध व्यवसाय था। सूती, ऊनी तथा रेशमी तीनों प्रकार का कपड़ा बुना जाता था। सबसे अधिक मात्रा में सूती कपड़ा तैयार होता था। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र मदुरा, अपरान्त वंग महिषा आदि थे। सूत चरखा पर काता जाता था और खड्डी पर उसकी बुनाई होती थी। सूत की कोटि के आधार पर ही उसका मूल्य निर्धारित किया जाता था। ये खादियाँ उत्तम मध्यम और निकृष्ट तीनों प्रकार की हुआ करती थी। वस्त्र उद्योग को राज्य की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाता था।

अर्थशास्त्र में ऊन के कम्बलों का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। उसमें लिखा है कि ये कम्बल सफेद शुद्ध लाल तथा कमल की तरह लाल रंग के होते हैं। मौर्यकाल में भारतीय मलमल के वस्त्र भी पहनते थे। इस बात की पुष्टि मेगस्थनीज के विवरण से होती है।

२ खान का व्यवसाय—मौययुगीन भारत मे खानो म काय करने वाले व्यवसायियो का वग भी महत्त्वपूण था। मेगस्थनीज ने यहा की खानो का वणन किया है, जिनसे सोना, चादी, ताबा, लोहा, जस्ता तथा अन्य धातुए निकलती थी और उनका आभूषण व हथियार बनाने म उपयोग किया जाता था। कौटिल्य के अथशास्त्र से हम इस व्यवसाय के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी मिलती है। खानो के विभाग का अध्यक्ष आकराध्यक्ष कहलाता था। इस पद पर वही नियुक्त होता था जिसे विविध प्रकार की धातुओ के सम्बन्ध म पूणरूपेण जानकारी होती थी और जो उनकी पहचान व परख करने म अत्यन्त दक्ष होता था। आकराध्यक्ष के अधीन कमचारियो का एक वग रहता था जो कि विविध धातुओ की खानो का पता लगाता था। प्रत्येक धातु के व्यवसाय का पृथक पृथक अध्यक्ष होता था और वे सभी आकराध्यक्ष के आधीन रह कर काय किया करते थे।

३ *समुद्र से रत्न आदि निकालने का व्यवसाय*—*यह व्यवसाय* 'खन्यध्यक्ष' नामक अधिकारी के आधीन था। खन्यध्यक्ष का काय समुद्र के गभ से विविध मूल्य वान रत्नो को निकलवाना तथा उनसे तरह तरह की वस्तुएँ बनवाना था।

४ सुवणकार—मौय युग के स्त्री-पुरुष आभूषण प्रेमी थे। वे सोने चादी के बने हुए अनेक आभूषण पहनते थे। इनके निर्माण का काय सुनार लोग करते थे। तत्कालीन भारत म यह व्यवसाय भी यथेष्ट उन्नतिशील था।

५ वद्यक व्यवसाय—मौयकाल म वद्यक व्यवसाय ने पर्याप्त विकास कर लिया था। वद्य चार प्रकार के होते थे—

(क) भिषक् जो कि साधारण चिकित्सा किया करते थे (ख) जगलविद, *जो विषचिकित्सक होते थे (ग) गभ की बीमारियो को ठीक करने वाले वद्य, तथा* (घ) सन्तान उत्पन्न कराने वाले वद्य। वद्यो को राज्य की ओर से आदेश था कि यदि किसी रोगी की मृत्यु की सम्भावना हो, तो वे सरकार को चिकित्सा करने के पूव ही सूचित कर दें। एसा न करने पर उन्ह दण्ड दिया जाता था। चिकित्सक की असावधानी के कारण यदि रोगी के रोग म वृद्धि हो जाती थी, तो वह दण्ड का भागी होता था।

६ नमक का व्यवसाय—यह व्यवसाय 'लवणाध्यक्ष' नामक अधिकारी के *नियन्त्रण म रहता था। मुख्यत* नमक समुद्र के जल स ही बनाया जाता था।

७ शराब का व्यवसाय—इस विभाग का अध्यक्ष सुराध्यक्ष कहलाता था। कौटिल्य के अथशास्त्र म छ प्रकार की शराबो का उल्लेख है और उनका निर्माण करने की विधि भी वर्णित है।

८ बूचड का व्यवसाय—यह व्यवसाय 'सूनाध्यक्ष' नामक अधिकारी के आधीन था। मौयकाल म मासाहार का यथेष्ट प्रचार होने के कारण यह व्यवसाय पर्याप्त उन्नत था।

९ चमडे का व्यवसाय—मौर्ययुग मे पशुओ की खाल को अनेक प्रकार मुलायम चमडो मे परिवर्तित किया जाता था। यह व्यवसाय भी उस युग म उन्नत दशा मे था।

१० जहाज और नौका बनाने का व्यवसाय—मौर्ययुग मे अनेक प्रकार बडे बडे जहाज व छोटी छोटी नौकाएँ बनाई जाती थी। इस प्रकार यह व्यवसाय भ पर्याप्त उन्नति पर था।

११ बर्तन बनाने का व्यवसाय—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र म धातु मिट्टी, बेंत और छाल इन चार चीजो क बने बर्तनो का उल्लेख किया है।

१२ खाना पकाने का व्यवसाय—खाना पकाने वालों क भी अनेक भेद थे चावल, मास, रोटी आदि पदार्थों को पकाने वाला का उल्लेख अर्थशास्त्र मे हुआ है

उपयु क्त प्रमुख व्यवसायो के अतिरिक्त मौर्ययुग म और भी अनेक प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे। जगलो से सम्बन्धित व्यवसाय भी थे। सुगन्धियाँ बनाने व बेचने वाले मालाए बनाने व बेचने वाले विविध देवी देवताओ की मूर्तियाँ बनाने व बेचने वाले भी उस समय पाये जाते थे। इस प्रकार व्यवसाय और उद्योग की दृष्टि से मौर्ययुग का भारत उन्नत अवस्था को पहुचा हुआ था।

व्यापार

मौर्यकाल म व्यापार की दशा बहुत अच्छी थी। व्यापार जल और स्थल दोनो प्रकार के मार्गों द्वारा होता था। व्यापारी लोग भिन्न भिन्न स्थानो की प्रसिद्ध वस्तुओ को दूर दूर तक ले जाकर बेचते थे। हिमालय, द्वादशग्राम, आरोह वाह्लव आदि स्थानो के चमडे प्रसिद्ध थे। कोशल, काश्मीर विदर्भ, कलिंग आदि के हीरे तथा ताम्रपर्णी, पाडय करल आदि के मोती उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष म प्रसिद्ध थ। बगाल की मलमल नेपाल क कम्बल और काशी एव पुण्ड्रदेश के सनिया कपडे भी प्रसिद्ध थ। मौर्ययुग म सौदागर व्यापार के लिए काफिल बनाकर निकलते थ। राज्य प्रत्यक व्यापारी से मार्ग-कर लेता था। इसके बदले म उसका यह कर्तव्य था कि यदि व्यापारी मार्ग म लुट जाय तो वह उसके माल की क्षतिपूर्ति करे।

इस आन्तरिक व्यापार के साथ-साथ मौर्यकाल म विदेशो के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध प्रचलित थ। भारत क व्यापारी अपना माल लकर पडोसी राज्यों म जाया करत थे और दूसरे देशो के व्यापारी अपन माल को बचन क लिए भारत आते थ। स्थल मार्ग स व्यापार सडको क द्वारा होता था। कौटिल्य ने लिखा है कि सडको का निर्माण करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य था। यही कारण है कि मौर्ययुगीन शासको न अपन विशाल साम्राज्य म सडको का जाल-सा बिछवा दिया था। उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी और पाटलिपुत्र म चारो दिशाओ म सडकें जाती थी। छोटी सडको को वणिक पथ कहा जाता था। सडको पर आध आध कोस की दूरी पर दूरी सूचित करन वाल प्रस्तर ल थ। सम्राट अशोक न इन सडको के किनार

छायादार वृक्ष भी लगवाये थे। सड़कें राजधानी से पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं में गई थीं तथा व्यापारिक दृष्टि से इनका पृथक् पृथक् महत्त्व था। चाणक्य ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि पुराने आचार्य उत्तर की ओर जाने वाले मार्ग को दक्षिण मार्ग की अपेक्षा अधिक अच्छा मानते हैं, क्योंकि उसके द्वारा हाथी, घोड़े, हाथीदांत गधद्द, चमड़ा, चांदी सोने आदि का व्यापार होता है। किन्तु चाणक्य स्वयं इस बात से सहमत न था और वह दक्षिण पथ को व्यापारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी समझता था। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्ववर्ती युग में उत्तर मार्ग भले ही महत्त्वपूर्ण रहा हो किन्तु मौर्ययुग में दक्षिण पथ ही अधिक उपयोगी हो गया था और व्यापारिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया था।

मौर्ययुग में स्थल मार्ग के साथ ही जल मार्गों के द्वारा भी व्यापार होता था। अर्थशास्त्र में विविध प्रकार की नौकाओं का उल्लेख मिलता है। कुछ जहाज बहुत बड़े-बड़े होते थे जो महासागरों में व्यापार के लिए जाया करते थे और इन्हें संयात्य नाव कहा जाता था। दूसरे प्रकार के जहाज समुद्रों में व्यापार के काम आते थे और प्रवहण कहलाते थे। समुद्र से शंख, मोती आदि एकत्र करने वाली नौकाएँ शंख मुक्ताग्राहिण नाव कहलाती थीं। नदियों में चलने वाली छोटी छोटी नौकाएँ क्षुद्रका नाव कहलाती थीं। इसके अतिरिक्त लोगों की निजी नौकाएँ, राजकीय नौकाएं तथा सामुद्रिक डाकुओं के जहाज भी हुआ करते थे। राज्य की ओर से इन जहाजों और नौकाओं की सुरक्षा के लिए बहुत ध्यान दिया जाता था। इस पर भी यदि कोई जहाज विपत्तिग्रस्त हो जाता था तो उसके साथ विशेष अनुग्रह का व्यवहार किया जाता था।

मौर्ययुग में व्यापारियों के लिए अनेक नियम बने हुए थे और उन्हें इन नियमों के अनुसार चलना पड़ता था। उनके लिए यह आवश्यक था कि वे घटिया माल को बढ़िया न बतायें, मिलावटी माल को असली न बतायें और गलत तराजू तथा बाट रखकर जनता को ठगने की कोशिश न करें। यदि वे ऐसा करते थे, तो उनसे जुर्माना लिया जाता था। यदि वे वस्तु पर अधिक मुनाफा लेते हुए पकड़े जाते थे तो उन्हें इसके लिए भी दण्ड दिया जाता था।

शासन प्रबन्ध

सौभाग्यवश मौर्यकालीन शासन व्यवस्था का परिचय देने वाली अनेक ऐतिहासिक सामग्रियाँ हमारे समक्ष हैं। इनमें अशोक के शिलालेख, कौटिल्य का अर्थशास्त्र एवं मेगस्थनीज की इण्डिका आदि हैं। मौर्य शासकों में चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान विजेता था और उसने अपने विशाल साम्राज्य का शासन प्रबन्ध अत्यन्त सुनियोजित ढङ्ग पर चलाया था। फलत जब उसका पौत्र अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ तो उसे पहले से चली आती हुई एक उत्तम

शासन व्यवस्था परम्परागत रूप से प्राप्त हुई। अशोक को किसी नूतन शासन प्रणाली का निर्माण न करना पड़ा और उसने कुछ थोड़े से परिवर्तनों के साथ उसी व्यवस्था को अपना लिया। अतएव मौर्य शासन प्रणाली के स्वरूप को समझने के लिए हमें चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन प्रणाली को समझ लेना चाहिए क्योंकि उसको ही थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ उसके पुत्र बिन्दुसार, पौत्र अशोक एवं तदनन्तर अन्य मौर्य शासकों ने अपनाया था।

मौर्य-साम्राज्य एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य था। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, परन्तु वहाँ से सम्पूर्ण साम्राज्य का शासन करना सम्भव न था। अतएव सुविधा के लिए साम्राज्य को पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया—

(१) उत्तरापथ (२) पश्चिम चक्र (३) दक्षिणापथ (४) कलिंग, (५) मध्यदेश। इन प्रान्तों की राजधानियाँ क्रमशः तक्षशिला, उज्जयिनी, सुवर्णगिरि, तोसाली और पाटलिपुत्र थीं। ये प्रान्त आगे चलकर और मण्डलों में, मण्डल जनपदों में और जनपद ग्रामों में विभक्त थे। साम्राज्य की छोटी से छोटी इकाई में भी शासन का बड़ा उत्तम प्रबन्ध था और अपनी प्रजा को पुत्रवत समझने वाले मौर्य सम्राटों ने सारी प्रजा को सुखी तथा सन्तुष्ट रखने का प्रयास किया था।

राजा

मौर्य शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। शासन का प्रधान राजा होता था और उसकी शक्तियाँ एवं अधिकार अत्यन्त विस्तृत थे। कौटिल्य ने लिखा है "मन्त्री, पुरोहित आदि अध्यक्षों की और राज्य के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता था। राजपुरुषों, कोष व जनता पर यदि कोई विपत्ति आ जाये, तो उसका प्रतिकार राजा द्वारा ही होता है। इनकी उन्नति भी राजा के ही हाथ में है। यदि अमात्य ठीक न हों तो राजा उन्हें हटाकर नये अमात्यों की नियुक्ति करता है। कौटिल्य ने राजा के लिए कुछ आवश्यक गुणों का वर्णन किया है। उसके अनुसार राजा को काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और हर्ष नामक छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कौटिल्य ने राजा के परिश्रमशील होने पर भी जोर दिया है और उसे *भोग विलास से विमुख होकर अधिक से अधिक काम और कम से कम* विश्राम करने की शिक्षा दी है। जहाँ तक मौर्य शासकों का सम्बन्ध है हम देखते हैं कि उनमें आदर्श सम्राट के सभी गुण विद्यमान थे। शासन की सम्पूर्ण शक्तियों को अपने हाथ में रखते हुए भी वे स्वेच्छाचारी न थे। मौर्य शासक प्रजाहित को अपना प्रधान कर्तव्य समझते थे और जनता का अधिक से अधिक हित सम्पादन करने के लिए तत्पर रहते थे। मौर्य शासकों की लोकहितकारी भावना का परिचय हमें अशोक के इन शब्दों से मिलता है "सम्पूर्ण प्रजा मेरी सन्तान है, और ठीक जैसे मैं अपने बच्चों

के लिए प्रत्येक सुख, वैभव एवं प्रसन्नता को चाहता हूँ वैसे ही इस संसार में और दूसरे में सभी मनुष्य सुखी रहें।[1]

सम्राट् अशोक प्रति क्षण अपनी प्रजा की समस्याओं को सुनने और सुलझाने के लिए तैयार रहता था। इसका पता हमें उसके स्तम्भ लेखों से मिलता है।

इस प्रकार यह प्रकट है कि मौर्य शासन-व्यवस्था में राजा सर्वशक्तिमान होते हुए भी प्रजापालक था। अर्थशास्त्र में एक स्थान पर उल्लिखित है— प्रजा की प्रसन्नता में ही उनकी (राजा की) प्रसन्नता निहित है। प्रजा के हित में ही उसका हित निहित है जो कुछ उसे सुन्दर और अच्छा लगे उसे उचित नहीं मान लेना चाहिए, जो उसकी प्रजा को सुन्दर और अच्छा लगे उसे ही उचित मानना चाहिए।"

मन्त्रि परिषद

मौर्य युग में यद्यपि सम्राट् सर्वशक्तिसम्पन्न था परन्तु वह स्वयं राज्य के सम्पूर्ण कार्यभार का सचालन नहीं कर सकता था। कार्य की सुविधा के लिए यह आवश्यक था कि उसे सहायता एवं परामर्श देने के लिए अन्य व्यक्ति भी हों। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मौर्य शासन-यन्त्र में मन्त्रि परिषद् की व्यवस्था की गई थी। मन्त्रिपरिषद् में कितने मन्त्री रखे जायें इसकी चाणक्य ने कोई निश्चित संख्या नहीं बताई है। उसका कहना था कि जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मन्त्री नियुक्त किये जायें। मन्त्रिपरिषद् का कार्य अत्यन्त गुप्त रूप से होना चाहिये और परिषद की गुप्त बातों का भेद बाहर के किसी भी व्यक्ति पर प्रकट न होना चाहिए। मौर्य युग में मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त, चुने हुए तीन चार व्यक्तियों की 'मन्त्रिण' नामक एक अन्य उपसमिति भी होती थी। राजा इन्हीं दोनों संस्थाओं की मन्त्रणा और सहायता से शासन कार्य का सचालन करता था। मन्त्रिपरिषद् को इस बात का तो अधिकार था कि वह राजा को किसी मामले में अपना परामर्श दे परन्तु यदि राजा उसके परामर्श को स्वीकार न करता था तो वह उसे मनवाने के लिए बाध्य नहीं कर सकती थी। परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था और ये मन्त्री वंश-परम्परागत नहीं होते थे।

जनता का शासन

विशाल मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत एक बहुत बड़ी संख्या जनपदों की थी। इन जनपदों को शक्तिशाली मौर्य-सम्राटों ने अपने आधीन कर लिया था। यद्यपि बाह्य दृष्टि से ये जनपद मौर्य-साम्राज्य के आधीन थे परन्तु इन्हें अपनी आन्तरिक

[1] आर० सी० मजूमदार एंशियेण्ट इण्डिया
'All men are my children and just I desire for my children that they may enjoy every kind of prosperity and happiness in both this world and the next, so also I desire the same for all men"

नीति का संचालन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस बात का उल्लेख मिलता है कि नवविजित प्रदेशों के बीच राजा को लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करना चाहिए और उनके धर्म, रीतिरिवाज और आचार व्यवहार का सम्मान करना चाहिए, तभी उन नवविजित प्रदेशों में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रह सकती है। मौर्य सम्राटों ने अपने विजित जनपदों के सम्बन्ध में इसी नीति का पालन किया था। सम्राट की ओर से इन जनपदों में 'समाहर्त्ता' नामक अधिकारी की नियुक्ति तो की जाती थी पर वह उनके आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करता था। किन्तु इसके साथ ही जो जनपद मगध साम्राज्य के विकास-मार्ग में रोड़े अटकाते थे और बाधा स्वरूप प्रतीत होते थे उनका दमन करके मौर्य सम्राटों ने उन्हें अपनी अधीनता में कर लिया था।

प्रान्तीय शासन

विशाल मौर्य-साम्राज्य को शासन सुविधा के लिए जिन पाँच चक्रों में विभक्त किया गया था उनका शासन प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को दिया जाता था। ये व्यक्ति 'कुमार' कहलाते थे और इनके अधीन 'महामात्य' नाम के कर्मचारी हुआ करते थे। जब सम्राट किसी चक्र के पास अपनी कोई आज्ञा प्रेषित करते थे तो वे उसे केवल 'कुमार' के नाम नहीं, अपितु महामात्य और कुमार दोनों के नाम भेजते थे। इससे प्रकट है कि इन महामात्य नामक अधिकारियों का भी मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय शासन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग था। प्रान्तीय शासन पर केन्द्र का पूर्ण नियन्त्रण रहता था और सजग गुप्तचर विभाग की ओर से प्रान्त की छोटी से छोटी कार्यवाही की सूचना भी सम्राट को मिलती रहती थी।

नगर-प्रशासन

मौर्य युगीन नगर प्रशासन का अत्यन्त विस्तृत विवेचन हमें मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अर्थशास्त्र के आधार पर पता चलता है कि नगर के 'मेयर' को नागरिक कहते थे। प्रत्येक नगर चार भागों में विभक्त था और प्रत्येक विभाग 'स्थानिक' नामक पदाधिकारी के अधीन था। ये अधिकारी जन गणना का ब्यौरा रखते थे। नगर का प्रबन्ध सुचारु रूप से चलता रहे, इसके लिए कुछ नियम बने हुए थे। प्रत्येक गृह स्वामी को अपने घर में आने जाने वाले अतिथियों की सूचना देनी पड़ती थी। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो उन्हें दण्ड दिया जाता था। शल्य चिकित्सकों को भी आदेश था कि यदि उन्हें किसी रोगी के शरीर में कोई सन्देहजनक घाव दिखाई दे तो वे उसकी सूचना स्थानिक को दें।

उस समय नगर की सफाई के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण नियम बने हुए थे। जो लोग इधर उधर कूड़ा फेंक देते थे उन्हें दण्ड दिया जाता था। मन्दिर, जलाशयों तथा राजकीय भवनों में यदि कोई व्यक्ति मूत्र-त्याग कर देता था तो वह भी

दण्डित होता था। साप, बिल्ली, कुत्ते या नेवल की लाश को भी यदि कोई व्यक्ति इधर-उधर फेंक देता था तो उस पर जुर्माना किया जाता था। यदि लाश ऊँट, गदहे, खच्चर या घाडे जसे बडे जानवर की होती थी तो जुर्माना दुगुना कर दिया जाता था।

मौय काल मे नागरिक प्रशासन की सुनियोजित व्यवस्था के लिए भवन निर्माण सम्बन्धी नियम भी बने हुए थे। घर म शौचालय, नाली तथा कुएँ रहना आवश्यक था। पशुओ के लिए पशुशाला, चूल्हा, अनाज पीसन की चक्की, ओखली तथा पानी के मटके रखने का स्थान भी घर म रहता था। हवा के लिए खिडकिया का रहना आवश्यक था। यदि कोइ व्यक्ति अपने मकान म इस प्रकार दरवाजे खिडकियाँ बनाता था जिससे दूसरो को असुविधा होती थी, तो उसे दण्ड दिया जाता था। मकान मालिक को अपने घर की नालियाँ साफ रखनी पडती थी तथा घर के सामने चबूतरा भी बनवाना पडता था।

कौटिल्य ने नगर के प्रधान अधिकारी के लिए कुछ आवश्यक कतव्य बताये हैं, जिनका उसे पालन करना पडता था। ये कतव्य थे—नगर की जल व्यवस्था, सडको की व्यवस्था मदानो, जमीन के नीचे बने हुए मार्गो तथा खाई आदि का निरीक्षण करना। नगर की वश्याओ क बारे म भी कुछ नियम बने हुए थे और गणिकाध्यक्ष' नामक अधिकारी नगरवासियो के नतिक आचरण की दखभाल करता था। नगर म मनोरजन के लिए नट, नतक गवये, वादक वाग्जीवी आदि हुआ करते थे। वाग्जीवी का काय कहानी सुनाना रहता था।

मौयकाल म नगर वासियो के जीवन को सुखी बनाये रखने के लिए उन्हे अनेक सुविधाएँ दी गई थी। आग बुझाने के लिए सडको पर हर समय पानी स भरे हुए हजारा बतन रखे रहते थे। नगर म राजा की सवारी बडी धूमधाम से निकलती थी। मदिरालया सरायो, तथा आमोद प्रमोद के स्थाना पर निगरानी रखी जाती थी और वहा जाने वाले हर नय आगतुक की सूचना नगरपालिका को देनी पडती थी। इस प्रकार मौय युग का नगर जीवन पर्याप्त समुन्नत था।

कौटिल्य क अतिरिक्त मेगस्थनीज न भी पाटलिपुत्र के नगर शासन का विस्तृत वणन किया है। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र की नगर-सभा छ उपसमितिया मे विभाजित थी जिनम से प्रत्येक मे पाच-पाँच सदस्य होते थे। इस प्रकार कुल सदस्यो की सख्या तीस थी। नगर सभा की छ उपसमितियाँ निम्नांकित थी—

१ औद्योगिक तथा शिल्पकला समिति—इस समिति का काय उद्योग एव शिल्प सम्बन्धी कार्यों की देखभाल करना था। यह शिल्पियो एव मजदूरा की मजदूरी निश्चित करती थी, उनके काय क घण्टे तय करती थी और उनक द्वारा काम म लाये जाने वाले माल की शुद्धता पर विचार करती थी। उस युग म शिल्पियो को समाज म बहुत ऊचा स्थान प्राप्त था और यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी का

एसा अङ्ग भङ्ग कर देता था जिससे उसके शिल्पकार्य मे कोई कमी आ जाती थी त
उस व्यक्ति को मृत्युदण्ड दे दिया जाता था।

२ वैदेशिक उपसमिति—समय समय पर जो विदेशी नगर म आते रहते थे उनके स्वागत, निवास सुरक्षा और आवश्यकता पडने पर उनकी चिकित्सा आदि क प्रबन्ध करना इस समिति का काय था। यदि दुर्भाग्य से विदेशी की मृत्यु हो जाये तो उसके देश की परम्परा के अनुसार उसका अतिम सस्कार भी यही समिति करती थी और उसकी सम्पत्ति व जायदाद की भी उचित व्यवस्था करती थी।

३ जनसख्या समिति—यह उपसमिति जन्म मरण का लेखा रखती थी।

४ उद्योग निरीक्षक उपसमिति—यह उपसमिति नगर के व्यापारियो पर अपनी निरीक्षण-दृष्टि रखती थी और इस बात पर ध्यान देती थी कि कही वे नई और पुरानी वस्तुओ को एक मिलाकर तो नही बेचते है। यदि कोई व्यापारी ऐसा करता था तो उसे दण्ड दिया जाता था।

५ वाणिज्य व्यवसाय उपसमिति—इस उपसमिति का काय यह था कि वह क्रय-विक्रय के नियम निश्चित करे और इस बात पर ध्यान दे कि कही व्यापारी लोग गलत बाटो का प्रयोग तो नही करते हैं। साथ ही यदि व्यापारियो को नगर म किसी विशेष वस्तु को बचने की अनुमति मागनी होती थी तो व इसी समिति के पास आवेदन पत्र भेजते थे और विशेष वस्तु को विक्रय करने के लिए जो अतिरिक्त कर देना पडता था उस भी इसी समिति के पास जमा करते थे।

६ कर उपसमिति—यह समिति बची जाने वाली वस्तुओ पर कर लेती थी उस समय यह नियम था कि जिस कीमत पर वस्तु बेची जाय उसका दसवा हिस्सा कर के रूप म नगर सभा को दिया जाय। इस कर को वसूल करने का काम इसी समिति को था।

इस प्रकार कौटिल्य और मेगस्थनीज के वणनो स प्रकट हो जाता है कि मौय काल म नगर का शासन अत्यत सु यवस्था के साथ सचालित किया जाता था। अशोक के अभिलेखो स भी पौर सभाओ का उल्लेख प्राप्त होता है। यह पौर सभा नगर का प्रशासन चलाने वाली तीस सदस्यो की समिति ही थी और इसको अत्य त महत्त्व पूर्ण कार्यों का दायित्व सभालना पडता था।

ग्राम प्रशासन

मौर्य-काल म ग्राम का शासन ग्रामिक नामक अधिकारी के अधीन होता था। ग्रामिक ग्राम के अन्य प्रमुख व्यक्तियो की सहायता म सपूर्ण काय किया करता था। वह अपराधियो को दण्ड देता था और उस किसी व्यक्ति को ग्राम स बहिष्कृत करने का भी अधिकार था। ग्रामवासियो पर जुर्माना आदि करने स जो रकम इकट्ठी होती थी उसको सार्वजनिक कार्यों म लगाया जाता था। गाँव के लोग मिल-जुल कर अपने

सावजनिक कार्यों का सम्पादन करते थे और इससे बचने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होता था। इस प्रकार उस समय का ग्राम-शासन पर्याप्त सुव्यवस्थित था।

न्याय-व्यवस्था

मौयंयुगीन न्याय व्यवस्था बहुत उत्तम थी। न्याय का सबसे बडा अधिकारी राजा होता था और उसे किसी भी विषय पर अन्तिम निणय देने का अधिकार प्राप्त था। ग्रामो मे न्याय का प्रबन्ध ग्राम-संस्था द्वारा होता था और ग्रामवासी मिलकर अपने झगडो का निपटारा कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त न्याय की व्यवस्था 'धमस्थीय' और 'कण्टकशोधन' नामक न्यायालयो के हाथ म थी। इन दोनो प्रकार के न्यायालयो के सम्बन्ध म कौटिल्य के अथशास्त्र म विस्तृत विवरण मिलता है। धम स्थीय न्यायालय म वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे जो व्यक्तियो के आपस के सम्बन्ध रखने वाले होते थे। इसके विपरीत कण्टकशोधन म राज्य से सम्बन्धित मुकदमे पेश होते थे। डाका, चोरी, हत्या, स्वामी-सेवक के झगडे, पति-पत्नी सम्बन्धी झगडे, बलात्कार व कानून का उल्लघन आदि के मुकदमे इन न्यायालयो के विषय थे। अप राधियो को कडा दण्ड दिया जाता था। छोटे अपराधो के लिए जुर्माना और बडे अपराधो के लिए अग भग व प्राणदण्ड तक दिया जाता था।

सैन्य-व्यवस्था

मौर्य शासको के पास एक सुविशाल और सुव्यवस्थित सेना विद्यमान थी। चन्द्रगुप्त ने शक्तिशाली नन्द साम्राज्य का अन्त करके मौयवश की स्थापना की थी। इसी से हम उसकी सैनिक क्षमता का अनुमान लगा सकते हैं, क्योकि सुविशाल नन्द साम्राज्य का अन्त करना कोई आसान काय न था। मेगस्थनीज के अनुसार मौय सेना म साठ लाख से भी अधिक पदल, ३०,००० अश्वारोही, ९,००० गजारोही और ८,००० रथ थे। यह सुविशाल सेना युद्ध कार्यालय के नियन्त्रण मे थी, जिसम ३० सदस्य थे। यह कार्यालय पाँच पाच सदस्यो के छ मण्डलो म विभक्त था जो कि इस प्रकार थे—

(१) पदल सेना (२) घुडसवार सेना (३) युद्ध रथ (४) युद्ध के हाथी (५) सनिक सेवा, रसद तथा (६) नौ सेना।

मौय काल मे सेना का सर्वोच्च अधिकारी सेनापति होता था तथा उसका वेतन ४८ ००० पण था। सेनापति के नीचे प्रशास्ता था जिसे २४,००० पण वेतन मिलता था। प्रशास्ता के बाद नायक था जो कि १२ ००० पण वेतन प्राप्त करता था। तत्पश्चात् मुख्य नायक सन्य अधिकारी ८,००० पण वेतन पाता था। इस प्रकार मौययुग का सन्य विभाग पर्याप्त सुसगठित था।

मौय सम्राटो की सेना विभिन्न प्रकार के हथियारो से सुसज्जित रहती थी। तलवार, भाले, कटार, तथा धनुष बाण आदि अस्त्र शस्त्र अधिकता स प्रयुक्त होते थे।

युद्ध का संचालन राजा स्वयं करता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि सैनिकों को वेतन निश्चित समय पर मिल जाता था और यह वेतन इतना होता था कि सैनिक अपना जीवन-यापन भली प्रकार कर सकता था। इस प्रकार यह प्रकट है कि मौर्य काल का सैनिक प्रबन्ध बहुत सराहनीय था।

गुप्तचर-विभाग

मौर्यकाल का गुप्तचर विभाग अत्यंत सुसंगठित था। गुप्तचरों को अनेक प्रयोजनों के लिए नियुक्त किया जाता था। वे अमात्यों के कार्यों पर अपनी दृष्टि रखते थे और अनेक प्रकार से उनकी राजभक्ति की परीक्षा किया करते थे। राज्य के अन्य छोटे-बड़े कर्मचारियों पर भी उनकी सजग दृष्टि हर समय स्थित रहती थी। ये गुप्तचर जनता के बीच घुलमिल कर इस बात का भी पता लगाते रहते थे कि सम्राट और राजकीय व्यवस्था के प्रति जनसाधारण में कोई असन्तोष तो नहीं है। इसके अतिरिक्त वे पड़ोसी राज्यों में जाकर वहाँ की भावनाओं का भी अध्ययन किया करते थे। ये गुप्तचर अपने सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए गुप्तलिपि का प्रयोग करते थे। उनके अपने कुछ विशेष संकेत, गीत, वाद्य तथा ध्वनियाँ आदि भी इस काम के लिए होते थे और उनमें छिपा हुआ अर्थ अन्य व्यक्ति नहीं समझ पाते थे।

आय-व्यय

मौर्य युग में राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। जो भूमि राज्य की अपनी थी उससे होने वाली आमदनी सीता कहलाती थी तथा जो जमीन राज्य के अधिकार में नहीं थी उससे होने वाली आमदनी भाग कहलाती थी। भूमिकर उपज का ⅙ या ¼ भाग होता था। राजकीय आय का दूसरा साधन तटकर था। यह तटकर आयात और निर्यात दोनों की वस्तुओं पर लिया जाता था। बाहर से आने वाली वस्तुओं पर कर कितनी मात्रा में लिया जाता था इसका विवरण तो अर्थशास्त्र में मिलता है पर बाहर भेजे जाने वाली वस्तुओं पर कर की मात्रा उसमें नहीं दी हुई है। बिक्री की वस्तुओं पर कर लेकर भी राज्य अपनी आमदनी करता था प्रत्येक वस्तु पर चुंगी लगती थी और उसे देने के बाद ही वस्तु बेची जा सकती थी। इसके अतिरिक्त मौर्ययुग में जुआरियों पर, वेश्याओं पर, नट तथा नर्तक पर और धोबी, सुनार आदि पर भी कर लगाये जाते थे। अपराधियों से दण्ड के रूप में जुर्माना भी वसूल किया जाता था। इसके साथ साथ विपत्ति के समय राज्य विशेष कर भी लगा देता था। इस प्रकार मौर्ययुग में राजकीय आय के अनेक साधन थे।

यद्यपि राज्य को विविध स्रोतों के माध्यम से पर्याप्त आय हो जाती थी पर उस आय को खर्च करने के साधन भी कम न थे। आय का एक भाग राजकर्मचारियों को वेतन देने में निकल जाता था। दूसरा प्रमुख व्यय सेना पर होता था। यही नहीं, शिक्षा के प्रचार और प्रसार के लिए भी राज्य की ओर से पर्याप्त धनराशि व्यय की जाती थी। अनेक शिक्षणालयों का भार वहन राजकीय आय में से ही किया जाता

था और उसी से उसके शिक्षकों के वेतन आदि की व्यवस्था की जाती थी। अनाथ, पीड़ित, वृद्ध, बालक एवं आपत्तिग्रस्त के लिए भी राज्य की ओर से धन व्यय किया जाता था। शिल्पियों को भी राज्यकोष से सहायता दी जाती थी। विशेष परिस्थिति में कृषक वर्ग भी इस सहायता को प्राप्त करता था। साथ ही, सार्वजनिक हित के कार्यों में भी राज्य का धन लगाया जाता था और राज्य की ओर से जन कल्याण के लिए कुएँ, तालाब, सड़कें आदि निर्मित की जाती थीं। सम्राट के वैयक्तिक खर्च को भी इसी आय से पूरा किया जाता था। इस प्रकार मौर्यकाल में राज्य की आय को खर्च करने के अनेक तरीके थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मौर्य शासन व्यवस्था अत्यन्त सुनियोजित और सुसगठित थी। मौर्य राजाओं ने जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, उसका शासन भी उन्होंने सुचारु रूप से सचालित किया था। जनता सुखी और सम्पन्न थी और वह सम्राट के सुशासन के अन्तर्गत अत्यन्त सन्तुष्ट अवस्था में जीवन यापन करती थी। तात्कालिक भारत की राजनीतिक एकता के सम्बन्ध में रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—

"अशोक का साम्राज्य न केवल विस्तार से फैला हुआ था, वरन् शासन की इकाई के रूप में सुगठित भी था। एक ही राज्यादेश पेशावर से बगाल तक और कश्मीर से मसूर तक चलता था। प्राचीन भारत में ऐसा फिर कभी हुआ ही नहीं और उन्नीसवीं शताब्दी ई० के मध्य से पूर्व भी यदाकदा ही देखने में आया। अशोक के लेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि सारे साम्राज्य की भाषा एक थी और सुदूर उत्तर पश्चिम के एक छोटे से प्रदेश को छोड़ कर सारे साम्राज्य में एक ही लिपि प्रचलित थी। इस प्रकार अशोक के साम्राज्य में वह राजनीतिक और सास्कृतिक एकता स्थापित हुई थी, जिसका स्वप्न आधुनिक भारत अशोक-स्तम्भ के शीर्ष को अपने राज्य चिन्ह के रूप में अपना कर साकार करना चाहता है।"[1] इस प्रकार अशोक युगीन भारत सास्कृतिक दृष्टि से आज भी भारत का आदर्श बनने की क्षमता रखता है।

मौर्यकालीन कला

भारतीय-कला के इतिहास में मौर्य-युग अपना विशिष्ट स्थान रखता है। राजनीति समाज और धर्म के समान ही कला के क्षेत्र में भी यह युग अपनी विविध विशेषताओं को लेकर हमारे सामने आता है। इतिहासकारों ने इस युग को भारतीय कला के क्षेत्र में एक युगान्तरकारी युग कहा है।

श्री लूनिया के अनुसार 'मौर्य कला भारतीय कला के इतिहास में युग प्रवर्तक है। हमारे पास ऐसे कोई प्राचीन अवशिष्ट स्मारक नहीं हैं जिनका सम्बन्ध मौर्यों से

---

[1] प्राचीन भारत, पृ० ९६

पूर्व की भारतीय कला में हो। मौर्य सम्राट अशोक का कला के इतिहास में अपनी महत्वपूर्ण देन के लिए कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। निश्चय ही प्राचीन भारत की कला का इतिहास हम वास्तव में अशोक के समय से ही प्रारम्भ कर सकते हैं। अशोक ने ही सर्वप्रथम भवन निर्माण में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग आरम्भ कराया। उससे पहले मकान बनवाने के लिए गारा या लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था। मौर्यकालीन कला तो ऐसा प्रतीत होता है सहसा प्रबल आवेग से इतिहास के रंगमंच पर छा गयी। यह बात उस कला की प्रविधि तथा उसमें प्रयुक्त सामग्री दोनों ही में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। इस कला में मूल सामग्री के रूप में बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया और बड़ी दक्षता से उसकी विशालकाय शिलाओं को काट कर विभिन्न रूपों में ढाला गया और उन्हें चिकना करके मानो मौर्य दरबार के वैभव को प्रतिबिम्बित करने के लिए उनमें चमक उत्पन्न की गयी।[1]

मौर्य युग की कला के जो अवशेष आज उपलब्ध हैं उनसे हम उस युग की कला के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। इन अवशेषों को हम निम्न भागों में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं—

(१) पाटलिपुत्र का नगर एवं राजप्रासाद—पाटलिपुत्र मौर्य सम्राटों की राजधानी थी। यह एक सुविशाल नगर था। ३०३ ई० पू० में मेगस्थनीज नामक विदेशी यात्री यहाँ आया था और अनेक वर्षों तक यहीं रहा था। उसके विवरण से हमें इस नगर के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। उसने लिखा है कि यह नगर गंगा और सोन नदी के तट पर बसा हुआ एक विशाल नगर है। मेगस्थनीज ने नगर के चारों ओर लकड़ी की बनी प्राचीर का भी उल्लेख किया है जिसमें बीच में तीर छोड़ने के लिए बहुत से छेद बने हुए थे। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई थी जो युद्ध के समय में काम आती थी। साथ ही नगर की गन्दगी बहाने के भी काम में आती थी। मेगस्थनीज ने इस खाई को गहराई में ४५ फीट और चौड़ाई में ६०० फीट बताया है।

मौर्य युग के इस वैभवशाली पाटलिपुत्र नगर में बहुत से राजप्रासाद भी बने हुये थे। समय के साथ वे सभी काल के गाल में समा गये हैं और उनमें से कोई भी

---

[1] बी० जी० गोखले एंशिएण्ट इण्डिया, पृ० १८३

It is only with Ashoka that we can properly begin the history of the art of Ancient India It was he who substituted stone for wood the common material for building purposes before his time The Mauryan art burst, as it were on the science with a tremendous force shown through both its technique and material used This material is sand stone, dexterously worked into huge monoliths highly polish d as if to reflect the elegance of the Maurya Court

अब शेष नहीं है। परन्तु ऐतिहासिक वर्णनों के आधार पर हमें उनके सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। मेगस्थनीज ने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के विशाल प्रासाद के सम्बन्ध में लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त का विशाल प्रासाद एशिया के सूसा आदि के प्रसिद्धतम प्रासादों को भी मात करता था।" कई शताब्दियों बाद गुप्त युग में आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने भी मौर्य-काल के प्रासादों की मुक्त कण्ठ से सराहना की थी। वह इनकी दीवारों की खुदाई और सुन्दर पच्चीकारी को देखकर चकित रह गया था।

(१) स्तूप—मौर्यकालीन कला का दूसरा रूप हम स्तूपों के निर्माण में दिखाई देता है। ये स्तूप मौर्यकालीन वास्तुकला की एक महत्त्वपूर्ण देन हैं। जिन्हें हम स्तूप कहते हैं, वस्तुतः वह मौर्यकाल की वास्तुकला की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। स्तूप का शाब्दिक अर्थ है 'भूमि से उठा हुआ गुम्बद'। यह बौद्ध वास्तुकला में एक गुम्बद के लिए प्रयुक्त शब्द है जिसमें बुद्ध के अवशेष सुरक्षित रखे जाते हैं। किसी बौद्ध साधु या उपदेशक की राख, अस्थियाँ, दाँत या लाश रखकर उस स्तूप का निर्माण किया जाता है'—

The structures known as Stupas formed an important part of the architectural inheritance and achievement of Mauryan India The Stupa literally means Something raised , a mound It come to be used as a Buddhist architectural term for a mound containing relics of the Buddha, his ashes, bones or tooth or relics of famous Buddhist saints or teachers" वास्तव में स्तूपों की परम्परा अन्त्येष्टि क्रिया के बाद सन्तों की अस्थियों को सुरक्षित रखने वाले स्मारकों के रूप में हुई है।

स्तूपों के निर्माण का इतिहास महात्मा बुद्ध की मृत्यु के साथ प्रारम्भ होता है। मृत्यु से पूर्व ही महात्मा बुद्ध ने आदेश दे दिया था कि उनके शव का अंतिम संस्कार करने के उपरान्त अस्थियों को किसी सार्वजनिक स्थान पर गाड़ दिया जाये और उन पर स्तूप बनवा कर उसके ऊपर उनके उपदेश खुदवा दिये जायें, जिससे लोग उन्हें पढ़कर उनके अनुसार आचरण करें। इस प्रकार बुद्ध के आदेश के अनुसार उनकी मृत्यु के पश्चात् स्तूप बनवाया गया तथा इस प्रकार स्तूपों के निर्माण का इतिहास आरम्भ हुआ।

यद्यपि अशोक से पहले भी भारत में अनेक स्तूप बनवाये जा चुके थे, पर कला की दृष्टि से वे उत्तम न थे। वस्तुतः श्रेष्ठतम स्तूपों के निर्माण का श्रेय अशोक को ही है। दिव्यावदान में लिखा है कि अशोक ने आचार्य उपगुप्त से प्रतिज्ञा करते हुए कहा था कि वह महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित समस्त स्थानों की यात्रा करेगा तथा भावी सन्तान के लिए स्मारकों का निर्माण करायेगा। 'दिव्यावदान' के अनुसार इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए अशोक ने ८४ हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। 'महावंश' में इस सम्बन्ध में एक दूसरी ही कथा दी हुई है। उसमें लिखा है कि अशोक ने आचार्य

मोगालीपुत्त तिस्स से प्रश्न किया कि भगवान बुद्ध का धम कितना महान है ? आचाय ने उसके ८४ हजार खण्ड बताये। यह सुनकर अशोक ने प्रतिज्ञा की कि वह प्रत्येक खण्ड के लिए एक एक स्तूप का निर्माण करायेगा। तत्पश्चात् उसने प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए इतने ही स्तूप बनवाये।

अशोक द्वारा निर्मित ८४,००० स्तूपों के निर्माण की बात पर सहज ही विश्वास कर लेना कठिन है। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि अशोक ने अपने राज्य काल में बहुसंख्यक स्तूपों का निर्माण कराया होगा। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अशोक के ८० स्तूप तथा विहारों का वर्णन किया है। ये स्तूप कपिसा, नागर, उदयान तक्षशिला सिंहपुर प्रयाग, कौशाम्बी, कपिल वस्तु श्रावस्ती, कुशीनगर सारनाथ, पाटलिपुत्र वल्लभी महाराष्ट्र व मुल्तान में थे। इन स्तूपों में सबसे ऊँचा स्तूप लगभग ३०० फीट ऊचा है। शेष ७० से २०० फीट तक ऊँचे हैं।

मौर्यकालीन कलाकृतियों में साँची के स्तूप का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह एक विशालाकार स्तूप है और इसका निर्माण लाल रंग के बलुए पत्थर से किया गया है। आधार के समीप इसका व्यास १०० फीट है। इसके चारों ओर लगभग ११ फीट ऊँची एक मेड या मधि बनी हुई है जो कि प्राचीन काल में प्रदक्षिणा पथ का काय दिया करती थी। इस प्रदक्षिणा पथ तक पहुचने के लिए स्तूप के दक्षिणी भाग में दोहरी सीढ़ियाँ बनी हैं। समस्त स्तूप के चारों ओर एक अन्य प्रदक्षिणा पथ है जो कि पाषाण वेष्टिनियों से आच्छादित है। साँची के इस स्तूप के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों का कहना है कि यह अशोककालीन स्तूपों के लगभग १०० वर्ष उपरान्त बनाया गया है।

साँची के स्तूप की भाँति ही दूसरा महत्त्वपूर्ण स्तूप भरहुत का है। यह इलाहाबाद से १५ मील दक्षिण पश्चिम की ओर बुन्देलखण्ड की नागोद रियासत में स्थित है। ईंटों से निर्मित इस स्तूप का व्यास ६८ फीट था। इसके चारों ओर एक पाषाण वेष्टनी थी जिस पर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक गाथाओं को चित्रों के माध्यम से अंकित किया गया था। वेष्टनी की ऊंचाई सात फीट से अधिक थी। स्तूप में स्थान-स्थान पर बहुत से आले बने हुए थे जिनमें उत्सवादि के समय दीप जलाये जाते होंगे। यह स्तूप समय के आघातों के कारण आज नष्टप्राय हो गया है और इसके भग्नावशेष ही अवशिष्ट हैं। इसकी पाषाण वेष्टनी के अवशिष्ट अंश कलकत्ते के अजायबघर में रखे हुए हैं।

(३) **सारनाथ की पाषाण वेस्टनी**—मौर्यकालीन कलाकृतियों में सारनाथ की पाषाण वेष्टनी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अशोक कालीन कलाकृति है। इसके निर्माण के व्यय भार का वहन सर्वहिका नामक किसी व्यक्ति ने किया था। उसका नाम

वेष्टनी पर खुदा हुआ है। वष्टनी अत्यंत सुन्दर तथा चिकनी है। इसका विशेषता यह है कि यह एक पत्थर की बनी हुई है और बीच में कहीं भी जोड नहीं है।

(४) स्तम्भ—अशोक के स्तम्भ मौर्यकालीन कला-कृतियों के सबसे उत्तम उदाहरण हैं। डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने इन स्तम्भों के विषय में लिखा है कि मौर्यकला के ये अनुपम स्तम्भ हैं। इन्हें जो चमक प्रदान की गई है, वह आज के संगत-राश को निराशा ही प्रदान करती है क्योंकि आज के कलाकार वह चमक लाने में असमर्थ हैं। जिस निपुणता से उन्हें आकार चमक और सजावट दी गई है वह निश्चय ही एक चक्रवर्ती राजा की भावना के अनुरूप है, निश्चय ही ये स्तम्भ संगत-राशों के उच्चतम कौशल के निष्कलङ्क उदाहरण हैं।

अशोक स्तम्भ उस युग की कला की श्रेष्ठता के परिचायक है। प्रत्येक का वजन लगभग ५० टन और ऊँचाई ५० फुट है। ये एक ही चट्टान को काटकर बनाये गए हैं। स्मिथ महोदय का कथन है कि "स्तम्भों का निर्माण, उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना तथा उनकी स्थापना एक प्रबल प्रमाण है कि अशोक कालीन कलाकार तथा इंजीनियर किसी भी अन्य देश के कलाकारों की शिल्पकला तथा साधनों में कम नहीं थे।" वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार इतने भारी स्तम्भों को सकडों मील दूर ले जाकर उन स्थानों पर स्थापित किया गया जिन्हें सम्राट् ने सार्वजनिक स्थान समझा था।

ये अशोक कालीन पाषाण स्तम्भ संख्या में प्रायः ३० या ४० के लगभग होंगे। ये देश के विभिन्न भागों में पाए गए हैं जैसे साँची, दिल्ली कौशाम्बी लुम्बनी, लौरिया नन्दनगढ आदि। ये स्तम्भ नीचे से ऊपर की ओर पतले होते चले गये हैं। बनावट की दृष्टि से हम इन्हें तीन भागों में बाँट सकते हैं

१ स्तम्भ शीर्ष—जिस पर सिंह, हाथी, अश्व तथा बैल की मूर्तियाँ हैं।

२ कण्ठ या गला—जो गोलाकार है और चक्र, लता, पशु व पुष्प आदि से सुसज्जित है।

३ ध्वज अथवा स्तम्भ का तना—जो नीचे से ऊपर की ओर पतला होता चला गया है।

सम्पूर्ण स्तम्भ का सबसे अधिक कलात्मक भाग उसका शीर्ष ही है। स्तम्भों के शीर्षों पर पशुओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं, जो कि अत्यन्त सुन्दर हैं। सारनाथ शीर्ष पर बनी हुई चार सिंह मूर्तियाँ तो अनुपम ही हैं। डा० स्मिथ इन सिंह मूर्तियों को विश्व की सर्वोच्च पशु मूर्तियों में मानते हैं। मूर्तियों पर किया गया वज्रलेप इतना उच्चकोटि का है कि अब भी मूर्तियाँ उसी प्रकार चमकदार हैं जैसी हजारों वर्ष पूर्व अपने निर्माण काल में थीं। इस स्तम्भ के सिर (शीर्ष) पर चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं जो मूर्ति निर्माण कला की दृष्टि से अनुपम हैं। किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्ति अन्यत्र कहीं भी नहीं बनी। मूर्तिकला की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष

नहीं है। पहले इन मूर्तियों की आँखें मणियुक्त थीं, अब उनमें मणियाँ नहीं हैं। किन्तु वहाँ मणि होने के चिह्न अभी तक विद्यमान हैं। सिंहों के अंकन के विषय में श्री वी० जी० गोखले लिखते हैं कि— सिंह वह साधारण सिंह नहीं है जो बयाबान वन में रहता है और संध्या के समय किसी पर्वत की चट्टान पर से शिकार की खोज में दहाड़ता है। यह सिंह प्रतिभावान व्यक्ति तथा उदात्त संकल्प का प्रतीक है।'[1]

इस प्रकार यह प्रकट है कि अपनी भव्य एवं सुन्दरतम सिंह मूर्तियों के कारण सारनाथ स्तम्भ का शीर्ष कला पारखियों की दृष्टि का केन्द्र बिन्दु बन गया है। मार्शल महोदय ने इस शीर्ष के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष पर स्थित मूर्तियाँ निःसन्देह अत्यन्त उन्नत कला की रचना है जिसका परिचय विश्व को ईसा पूर्व तीसरी सदी में हुआ था। इस कला की पृष्ठभूमि में कलाकारों की सदियों की साधना का श्रम तथा कुशलता अनुभव करने को मिलता है।[2]

स्तम्भ का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग मसा (एबकस) है। इस पर चक्र, पशु, पुष्प, तथा लताएँ अंकित की गई हैं। यह देखने में घण्टाकार प्रतीत होता है। यह आकृति पर्शिया के डेरियस कालीन स्तम्भों जैसी ही है। अतः इस आधार पर अनेक विद्वान् अशोक के स्तम्भों को पर्शिया की नकल मानते हैं। परन्तु वास्तव में अशोक ने किसी विदेशी कला का अनुकरण करके ऐसा नहीं किया है। उसके स्तम्भों का यह भाग घण्टाकार प्रतीत तो अवश्य होता है पर वास्तव में है नहीं। यह आकृति यथार्थ में उल्टे कमल की आकृति है। भारतीय परम्पराओं में उल्टे कमल का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। यहाँ पर कमल को स्वर्गीय पुष्प माना जाता है और वह सदैव आकाश की ओर— भारतीय परम्पराओं के अनुसार जहाँ स्वर्ग है—मुख करके खिलता है। उसका नीचे का भाग पृथ्वी की ओर संकेत करता है। इसलिए अशोक कालीन कलाकारों ने उल्टे कमल को पृथ्वी का परिचायक माना और उस पर शेर, हाथी, अश्व आदि के चिह्नों के रूप में भगवान बुद्ध को आसीन कर दिया। उल्टे कमल पर बुद्ध को

---

[1] एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० १८३

The lion is no ordinary lion—a denizen of the frightening wild roaring of an evening across a mountain spur in search of prey but a symbol of dignified strength and noble determination'

[2] दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ६२०

The Sarnath Capital on the other hand though by no means a masterpiece is the product of the most developed art of which the world was cognisant in the third century B C—the handiwork of one who had generations of artistic effort and experience behind him'

आसान करने का यह भी अभिप्राय है कि वे धरती पर रहते हुए भी माया से पृथक रहे हैं।

इस प्रकार अशोक स्तम्भ के गले की घण्टाकार आकृति को पर्शियन कला की नकल मानना हमारी भूल होगी। वास्तव म यह आकृति घण्टे की न होकर उल्टे कमल की ही है और भारतीय परम्पराओ स सम्बध रखती है। हैवेल महादय का भी इसीलिए यही मत है कि हम इसको पर्शियन अनुकरण नही मान सकते। अशोक के स्तम्भ तथा उसकी कला पूण भारतीय है।

स्तम्भ का तीसरा भाग ध्वज है और इसी भाग पर सम्राट अशोक के लेख अङ्कित किय गय हैं। जसा वज्रलेप शेप स्तम्भ पर है, वसा ही इस भाग पर भी है। केवल सबसे नीचे के भाग पर ही लप नही है। यह लप वस्तुत मौय युगीन कला कृतियो की विशेषता है। हजार वर्षों के बीत जाने पर भी यह उतना ही चमकदार है, जैसा अपन निर्माण काल म था।

अशोक कालीन स्तम्भो को देख यह प्रश्न हमारे मन म उत्पन्न होता है कि इतने विशाल भार वाल स्तम्भ किस प्रकार एक स्थान स दूसरे स्थान को ल जाय गय होग। शम्स ई सिराज क वणन स विदित होता है कि फीरोज तुगलक अशोक के एक स्तम्भ को टोपरा स दिल्ली ले गया था। इस काय को करने म उसे जितनी शक्ति लगानी पडी और उसन जितना परेशानी उठाई उसके द्वारा हम मौयकालीन निपुणता एव कौशल का अनुमान लगा सकत है, जब इन स्तम्भो को सकडो मील दूर ले जाकर स्थापित किया गया था। शम्स ई सिराज ने लिखा है कि फिरोज शाह ने टोपरा म बहुसख्यक व्यक्तियो का एकत्रित किया और अत्यधिक परिमाण म सेमल की रुई भी वहाँ पहुचवाइ। स्तम्भ को खोदन क बाद रुई पर लिटा दिया गया तथा उसके चारो ओर कच्ची खाल एव घास लपट दी गई। स्तम्भ को वहाँ स ले जाने के लिए एक विशाल गाडी बनवाई गई जिसम ४२ पहिय लग हुए थे। हजारो व्यक्तियो ने मिलकर स्तम्भ गाडी पर रखा, प्रत्यक पहिय पर २०० व्यक्ति लग और तब इस प्रकार ८४०० व्यक्तियो ने मिलकर उस गाडी को खीचकर यमुना नदी तक पहुचाया। वहा अत्य त विशाल आकार वाली बहुत-सी नावें मौजूद थी जिनक द्वारा स्तम्भ को फीरोजाबाद पहुचाया गया। इस वणन को पढकर हम अशोक क समय की बुद्धिमत्ता की सराहना किय बिना नही रहते जब इन स्तम्भो को इनक निमाण स्थान स बहुत दूर-दूर तक पहुचाया गया होगा।

(४) गुफाएँ—मौयकालीन कला क अन्तगत गुफाओ को भी परिगणित किया जाता है। इन गुफाओ का महत्त्व वास्तु कला की दृष्टि से है। सम्राट् अशोक के लेखो स प्रकट है कि उसन अनेक गुफाओ का निर्माण कराया था। य गुफाए गया क पास 'बराबर तथा नागार्जुन' पहाडियों पर मिली हैं। कुल मिलाकर सात गुफाए पाई गई हैं जिनम स तीन अशोक क पौत्र दशरथ द्वारा बनवाई गई हैं। सबस बडी गुफा

का नाम गोपिका गुफा है जो कि ४० फीट ५ इंच लम्बी, १७ फीट २ इंच चौड़ी तथा १० फीट ६ इंच ऊँची है। 'बराबर' पहाड़ी पर अशोक द्वारा निर्मित ऐतिहासिक गुफाओं में कर्ण चौपट सुदामा तथा लोमष गुफा प्रमुख हैं। सुदामा गुफा को अशोक ने आजीवक सम्प्रदाय के लिए बनवाया था। समस्त गुफाओं में लोमष ऋषि की गुफा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ये गुफायें पहाड़ियों को काटकर बनाई गई है और इनकी दीवारों व छतों की पालिश आज भी उसी प्रकार चमकदार बनी हुई है। इन गुफाओं के सामने का भाग खुला रहता है। 'बराबर' गुफा समूह एक निर्जन स्थान में स्थित है। इस गुफा समूह की गुफायें लम्बी चौड़ी हैं, इनकी बनावट लगभग एकसी है, अन्दर और बाहर से देखने पर सादी लगती है। भारत की समस्त गुफाओं में सबसे कम सजावट इन्हीं में है। अतः इनका रचना काल एक ही है। विद्वानों के अनुसार इन गुफाओं का रचना काल अशोक के शासन-काल के बारहवें वर्ष से उन्नीसवें वर्ष तक है।

इन गुफाओं को देखकर इस काल के व्यक्तियों की भावना की प्रशंसा करनी पड़ती है क्योंकि धार्मिक भावना के अभाव में इतनी सुन्दर और परिश्रम साध्य गुफाओं का निर्माण सम्भव नहीं था। इन्हीं गुफाओं में एल्लोरा तथा एलीफेन्टा की गुफाओं के निर्माण की प्रेरणा समाहित है।

मौर्यकालीन मूर्तियाँ

मौर्य-युगीन कला कृतियों में मूर्तियाँ भी मिली जाती हैं। इस काल की सबसे प्रसिद्ध मूर्ति परखम नामक गाँव से मिली है जो आगरा और मथुरा के बीच में है। मूर्ति पर सुन्दर चमकदार पालिश है। इसकी ऊंचाई सात फीट है। मूर्ति का मुख व भुजाएँ टूटे हुए हैं। आजकल यह मथुरा के संग्रहालय में संगृहीत है। मौर्य-युग की दूसरी मूर्ति बेसनगर में मिली है। यह ६ फीट ७ इंच ऊंची एक स्त्री मूर्ति है। इसकी भी भुजाएँ व मुख टूटे हैं। इन दो मूर्तियों के अतिरिक्त पटना व दीदारगंज से भी दो मूर्तियाँ मिली हैं जो कि परखम की मूर्ति से मिलती जुलती हैं। विद्वानों ने इन्हें मौर्यकालीन माना है किन्तु इन मूर्तियों की आत्मा भिन्न है, ये मूर्तियाँ मूलतः मौर्यकाल की कला से अपनी भिन्नता का प्रमाण भी देती हैं क्योंकि ये शुद्ध रूप में भारतीय हैं इनकी प्रविधि मौलिक है तथा परिपक्व भी। यद्यपि ये मूर्तियाँ मौर्यकालीन ही हैं किन्तु अपनी विचित्र जड़ता तथा आकृति को सरल ढंग से प्रस्तुत करने के कारण इनमें एक निराली ही विशिष्टता आ गयी है जो *इनके विशाल आकार के कारण और भी उभर कर सामने आती है।*

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि कला के इतिहास में मौर्य युग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस युग से पूर्व की कला के जो उदाहरण मिलते हैं वे इसकी तुलना में नहीं ठहर पाते हैं। भारतीय कला अपने उत्तरोत्तर पूर्ण स्वरूप को लेकर मौर्य युग में ही सर्वप्रथम प्रकट हुई थी। मौर्य कला को भारतीय कला के इतिहास में युग प्रवर्तनकारी कहा जा सकता है।

साहित्य—भारतीय साहित्य के इतिहास म पाणिनि (लगभग छठी शताब्दी ई० पू०) की अष्टाध्यायी का महत्त्वपूण स्थान है। इस कृति की रचना के बाद सस्कृत के दो भेद हो गय एक वैदिक सस्कृत तथा दूसरी लौकिक सस्कृत। लौकिक सस्कृत पाणिनि की अष्टाध्यायी के नियमा स प्रभावित हुई। पाणिनि का व्याकरण आज तक सस्कृत म मा य है। पाणिनि क याकरण की परम्परा मे कात्यायन का महत्त्वपूण स्थान है। ये मौयकाल के विद्वान हैं।

इसी युग म कौटिल्य के अथशास्त्र का निर्माण भी हुआ। इस युग म धार्मिक साहित्य के अन्तगत सूत्र ग्रथो का भी सृजन हुआ। यद्यपि नाटककार भास का समय विवादास्पद है फिर भी विद्वानो का मत है कि उनका रचना-काल भी मौय-युगीन है। बौद्ध एव जन साहित्य का अधिकाश भाग इसी युग म निर्मित हुआ था। कात्यायन इस युग का विद्वान व्याकरणाचाय था।

भाषा की दृष्टि से इस युग म सस्कृत तथा पालि प्राकृत अधिक प्रचलित थी सस्कृत विद्वानो की भाषा थी, पालि प्राकृत जन सामा य की।

इस युग मे ब्राह्मणी तथा खरोष्ठी लिपियाँ प्रचलित थी। अशोक के अभिलेख पालि भाषा तथा खरोष्ठी लिपि म लिखे गय थे। इस प्रकार भाषा एव साहित्य की दृष्टि स भी यह काल सम्प न था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय-सस्कृति के विकास मे मौय-सस्कृति का अपना महत्त्वपूण योगदान है।

६

शु ग-सातवाहन-कुषाण काल

शुङ्ग-सस्कृति

इसा पूव द्वितीय शतक स लेकर ईसा की तृतीय शता दी तक भारतीय इतिहास म महत्त्वपूण एव शक्तिशाली शासन का अभाव रहा है। इस काल म शुङ्ग एव सातवाहन राजा महत्त्वपूण स्वीकार किये जा सकते थ। इसीलिए इतिहासकारो ने प्रबल राजशक्ति के अभाव म इस युग को शुङ्ग सातवाहन युग का नाम दिया है। यद्यपि इस काल म भारतवष म इन दोनो क अतिरिक्त शक, कुषाण, यवन, पह्लव आदि राज शक्तियाँ भी विद्यमान थी कि तु वे अधिक प्रबल नही थी।

सास्कृतिक दृष्टि से इस युग की विशेषताओं पर विचार करने पर हम कह सकते है कि—

(१) इस युग म समस्त विदेशी आक्रा ता अन्तत भारतीय बन गये थे। यवन शक, पह्लव कुषाण आदि सभी न समयानुसार भारतीय बौद्ध जन, शव तथा वष्णव

धम मे श्रद्धा व विश्वास व्यक्त किया। इन सभी ने भारतीय धर्मों के प्रचार, प्रसार व उत्थान के लिए भी सद्प्रयत्न किए।

(२) इस युग मे भारतीय सस्कृति एव धम का विदेशो म प्रचार भी हुआ। अशोक द्वारा जो धम प्रचार का समारम्भ हुआ था, उसे इस युग मे पूण प्रश्रय मिला। कनिष्क का साम्राज्य भारत से बाहर हिन्दुकुश पवत के पश्चिम व उत्तर मे चीन तक था। "कनिष्क के सरक्षण म बौद्ध धम न बहुत उन्नति की और सम्पूण मध्य एशिया भारत क सास्कृतिक प्रभाव मे आ गया। चीन आदि अय एशियन देशो म भी इस युग मे बौद्ध धम का प्रसार हुआ। केवल बौद्ध धम ही नहीं, अपितु शव और वैष्णव धर्मों ने भी इस काल म उन्नति की।"[1]

(३) भारतवष मे इस युग म महान् उपलब्धि वदिक धम का पुनरुत्थान था। भारतवष ने ईश्वर और वेद पर आस्था एव श्रद्धा न रखने वाला धम स्थय प्राप्त नही कर सकता था। अत बौद्ध और जन दोनो ही धम भारतीय आस्था एव विश्वास के अनुकूल न होने के कारण यहाँ पल्लवित न हो सके, इन दोनो धर्मों की प्रतिक्रिया स्वरूप भागवत धर्म का अभ्युदय इसी युग म होता है।

(४) विदेशियो के आगमन एव ससग से भारत के विज्ञान एव कला के क्षेत्र म विकास हुआ, एक दृष्टि मिली और नवीन कृतियो का सृजन हुआ।

(५) इस काल म भारतवष म शक्तिशाली सम्राट् के अभाव म छोटे छोटे गणराज्यों का उदय होता है, वे स्वतन्त्र रूप म अपने अस्तित्व की घोषणा करते हैं।

शुङ्ग सस्कृति

सास्कृतिक दृष्टि से शुङ्ग युगीन सस्कृति गुप्त कालीन भारतीय सस्कृति का शशव काल था। शुङ्ग शासन काल म ब्राह्मण धम की महान् उन्नति होती है। शुङ्ग राजा और महर्षि पतजलि दोनो ही वदिक मर्यादाओ यानिक हिन्दू कमकाण्डो का पुनरुद्धार करते हैं। बुद्धयुगीन युद्ध के प्रति घृणा और उदासीनता को दूर कर एक हिन्दू समाज की स्थापना की जाती है। 'पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों ने अशोक के पूववर्ती मगध की परम्परा को बनाया। धम विजय की अभिप्राप्ति का साधन युद्ध से घृणा नही अपितु सय सगठन का निर्माण समझा गया। राजनीति का रूप यथाथ हो गया। शुङ्गो ने उत्तर भारत के एक विशाल भू भाग पर अपना अधिकार जमाया यवन आक्रमणकारियो को पराजित किया और विदेशी राजाओ का सम्मान प्राप्त किया। उन्होने कला, साहित्य और वास्तु क पुनरावत्तन को पोषित किया। मध्य-देश म बुद्धिजीवियो तथा बुद्धिमानो की दृष्टि म सयास का आकषण नष्ट हो गया। धम की शक्ति सुदृढ़ की गई, स्मृति, न्याय की सत्ता को पुन पूरी

---

[1] भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास पृ० २८१

तरह से स्थापित किया गया। साम्प्रदायिक उत्साह की नई लहर ने बौद्धधर्म के प्रति संघर्ष के दृष्टिकोण एवं अधिक गम्भीर तथा पूर्णतर जीवन की खोज में गुरु देवता धार्मिकता के सम्प्रदाय में, भागवत सम्प्रदाय के पुनरुत्थान में तथा हिन्दू देव मण्डल में वासुदेव कृष्ण की प्रधानता में अभिव्यक्ति प्राप्त की।[1]

मनुस्मृति ग्रन्थ में यद्यपि संकीर्णतावादी दृष्टिकोण था, किन्तु हिन्दू धर्म अभी इतना संकीर्ण न हुआ था। बेसनगर का स्तम्भ लेख एक यूनानी का हिन्दू धर्म में अनुराग सूचित करता है। भागवत धर्म का प्रचुर प्रचार था। विदिशा तथा साँची का शिलालेख इसका प्रमाण है किन्तु बौद्ध धर्म के प्रति अभी असहिष्णुता की भावना नहीं थी।

समाज और धर्म के क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था का पुनः समारम्भ हुआ, उसके नियम कठोर कर दिये गये। स्त्री का महत्व स्वीकार किया गया, सम्पूर्ण समाज और धर्म की व्यवस्था इसी युग में निर्मित मनुस्मृति के आधार पर संचालित होती थी। ब्राह्मण युगीन आदर्शों को पुनः समाज में प्रचलित किया गया। ब्राह्मण उत्तम देवता माना गया, वर्ण को महत्व दिया गया और शूद्रों के विरुद्ध नियम और कठोर कर दिये गये। आचार जिसके टूट जाने का उल्लेख गार्गी संहिता के युग-पुराण में हुआ है मनुस्मृति में फिर से प्रतिबिम्बित किया गया। जो लोग शास्त्र विरोधी और वर्णाश्रम विरोधी आचरण के दोषी पाए गए उनको धर्मच्युत कर दिया गया और वे गिरे हुए या तो शूद्र मान लिये गए या अछूत। इस प्रकार मौर्यों की अहिंसा नीति एवं बौद्धों से अभिभूत राज्य सत्ता के विरोध-स्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई उसकी चरम परिणति शुंग शासन तथा ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय के रूप में हुई।

साहित्य

यह युग साहित्य के सृजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस युग में मनुस्मृति तथा रामायण महाभारत के वर्तमान रूप की रचना हुई। गीता का रचना काल भी यही है। गीता एवं मनुस्मृति का क्रमशः ज्ञान एवं समाज के संगठन के क्षेत्र में जो महत्त्व है, वह किसी से छिपा नहीं है। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में मेरुदण्ड हैं। पतञ्जलि का महाभाष्य पाणिनि की अष्टाध्यायी पर व्याकरण के क्षेत्र में अनुपम रचना है। सम्भवतः योगदर्शन के सूत्रों का रचना काल भी यही है क्योंकि किम्बदन्तियों के आधार पर पतञ्जलि ही महाभाष्य एवं योग सूत्रों के रचयिता हैं। बौद्ध विद्वान नागसेन का दर्शन ग्रन्थ मिलिन्द पञ्ह भी इसी काल की रचना है। इस ग्रन्थ में बौद्धों के क्षणिकवाद के सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इस काल में अनेक संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में भी नाटक काव्यों की रचना हुई। महाकवि भास (कण्ववंश) अश्वघोष (कनिष्क काल) शूद्रक (सातवाहन काल), आदि के नाटक एवं काव्य संस्कृत साहित्य

---

[1] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २९७

की अद्वितीय निधि हैं। दर्शन के क्षेत्र में षड्दर्शनों के संग्रह का यही काल है। आयुर्वेद के क्षेत्र में भी चरक सुश्रुत नागार्जुन की देन महत्त्वपूर्ण है। ज्योतिष शास्त्र की प्रसिद्ध रचना गर्गसंहिता भी इसी काल की देन है। इस काल की साहित्यिक उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि 'यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था विद्रोह और अशान्ति का था, पर साहित्य, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में इस समय भी निरन्तर उन्नति हो रही थी। इस युग के विशाल साहित्य द्वारा इस समय के सामाजिक जीवन धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।'[1]

कला।

पुष्यमित्र शुङ्ग बौद्ध धर्म के प्रति प्रारम्भ में असहिष्णु था, क्योंकि बौद्धों ने उसके साथ असहयोग एवं विरुद्धाचरण किया था। पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म को दबाकर ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृत भाषा का प्रचार एवं प्रसार भी किया। इसीलिए बौद्ध भी अपने विहारों में उसके विरुद्ध षडयन्त्र करने लगे थे, उसी के परिणामस्वरूप मिनान्दर ने पुष्यमित्र पर आक्रमण भी किया था। क्रुद्ध पुष्यमित्र ने पाटलीपुत्र से लेकर जालंधर तक समस्त बौद्ध विहार जला डाले तथा यह भी घोषणा की जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसको मैं सौ दीनार दूंगा—'यो मे श्रमणशिर दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।' किन्तु उसका यह क्रोध बौद्धों के आचरण के ठीक होते ही शान्त हो गया और उसने बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई और बौद्ध कला के अभ्युत्थान में महान् योग दिया।

शुङ्ग काल की कला विश्व कला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इस काल की कला विशेष उपलब्धि की दृष्टि से मूर्ति और वास्तुकला में दर्शनीय है। इस काल में मौर्य काल के भरहुत और साँची के स्तूपों के चारों ओर पत्थर की वेष्टनी या रेलिंग दौड़ाई गई। उन रेलिंगों पर जो मूरतें उभार कर बनाई गई हैं, वे संसार की कला की आवश्यक विभूति हैं। यक्षों और यक्षिणियों की भावमयी प्रसन्न मूरतें सजीव सी उन रेलिंगों पर उतर पड़ी हैं। पशुओं पक्षियों और जीव जन्तुओं की एक से एक अभिराम मूरतें उस काल के कलाकारों ने सिरजी हैं। जीवन जैसे पत्थर में लहरा उठा है जीवन जो केवल बौद्धों का नहीं है साधारण जनता का है गृहस्थों का है। रेलिंगों के द्वारों पर ऊँचे तोरण बने हुए हैं जिनकी एक के ऊपर एक चढ़ी पट्टिकाओं और द्वार के खुंओं पर एक से एक सुन्दर शक्ल बनी हैं। जलूस, पूजा के दृश्य, मनुष्यों और जानवरों की भीड़ ऐसे लगते हैं जैसे निर्जीव पत्थर से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। बुद्ध की मूर्ति अभी नहीं बनी थी और उनकी उपस्थिति तब अनेक प्रतीकों द्वारा दिखाई जाती थी, जैसे छत्र, पद्चिह्न बोधिवृक्ष, पगड़ी आदि से।

---

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० २८६

उस काल की अनेक पत्थर की मूरतें रेलिंग आदि के टुकड़े मथुरा और कौशाम्बी में भी मिले हैं। हिंदू देवताओं की मूर्तियाँ भी तब की मिली हैं, यद्यपि उनकी संख्या बौद्ध-मूर्तियों से कम है। बलराम की एक हलधारी शेष नाग के फनों के नीचे खड़ी मूर्ति लखनऊ के अजायबघर में रखी है।[1]

शुङ्ग काल की कला में पूना के निकटवर्ती प्रसिद्ध विहार चैत्य हाल, चट्टानों को काटकर बनाए स्तूपों के समूह अजंता और नासिक के चैत्य हाल, अमरावती का स्तूप, बोध गया का सुन्दर रेलिंग और मध्य भारत बेसनगर स्थित गरुड़ स्तम्भ आदि स्मारक कला के अनुपम उदाहरण हैं।

शुङ्ग काल में मिट्टी की असंख्य मूर्तियों का भी निर्माण हुआ है। मौर्य युग में जो मिट्टी के ठीकरे पर मूर्ति चित्र आदि अंकित किये जाते थे वे इस युग में अधिक परिष्कृत रूप में बनने लगे थे। इन मृत्तिका फलकों पर नारी के चित्रों के अतिरिक्त जीवन के समस्त पक्षों—नाच गान आहार विहार, पिकनिक के दृश्य, उदयन द्वारा वासवदत्ता हरण, पशु-पक्षियों के चित्र, प्रकृति की मनोहारिता आदि के चित्र बनते थे। मिट्टी की मूर्तियाँ विशेष रूप से मथुरा और कौशाम्बी में मिली हैं। कौशाम्बी और मथुरा इस शुङ्ग कला के विशिष्ट केन्द्र थे। शुङ्ग काल की कला की विशेषतायें स्पष्ट हैं। शुङ्ग कला जन-जीवन के चित्र अंकित करती है। यथार्थ जीवन का अंकन जिस खूबी के साथ भरहुत स्तूप के अलंकरण में किया गया है, वह अनुपम है। अलंकरण चित्र नितान्त यथार्थवादी और स्पष्ट हैं। ये स्तूप स्थापत्य धार्मिक भावनाओं और विश्वासों को, वेशभूषा, परिधान तथा शिष्टाचार सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करते हैं और बड़ी ही सादगी तथा प्राणवत्ता के साथ बनाये गये हैं। हम भारत के जन साधारण के मानस और आत्मा के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं और जीवन के आनन्द तथा सुखों की भावना उन सब को परिव्याप्त किये हुए प्रतीत होती है। प्राचीन भारत अपनी स्वस्थ आशावादिता तथा जीवन के प्रति सात्विक विश्वास के साथ इन पाषाणों के द्वारा एक ऐसे स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है जो कुछ उन प्राचीन धर्म ग्रंथों के अन्धकारपूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण से एक तीव्र परन्तु मधुर विरोध प्रस्तुत करता है जो इनको दोहराते हुए कभी थकते नहीं।[2]

---

[1] सांस्कृतिक भारत पृ० १२६-२७

[2] आर० सी० मजूमदार एडवान्स हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १ पृ० २३१

The sculptures represent the religious faith and beliefs the dress customes and manners and are executed with wonderful simplicity and vigour We get an insight into the minds and habits of the common people of India and a keynote of the joys and pleasures of life seems to pervade them all Ancient India with its robust optimism and vigorous faith in life,

इसके अतिरिक्त इस काल की कला का उद्देश्य धर्म-सम्बन्धी था, किन्तु कलाकार अपने उद्देश्य को भूलकर जीवन के चित्रण मे सलग्न हो जाता है फलस्वरूप नैतिक आदर्श का उन्नयन गौण हो जाता है। प्रोफेसर कुमार स्वामी ने ठीक ही लिखा है कि "इन चित्रो का प्रधान केन्द्र बिन्दु न तो आध्यात्मिक है और न आचारवादी, बल्कि सम्पूर्णतया मानव जीवन से सम्बन्धित है, विलास एवं आनन्द का केवल मृत्यु-द्वारा जीवन का विघात आदि का प्रतिनिधित्व है। ये और कुछ नही केवल तथ्य हैं जिनको हृदय से प्लास्टिक कला द्वारा चित्रित किया गया है।'[1]

शुङ्ग काल म अनेक गुफाओ का निर्माण भी किया गया है। पहाड़ो को काट काट कर बनाई गई उडीसा की उदयगिरि, खण्डगिरि आदि के अतिरिक्त भाजा, कार्ले की गुफाएँ एव चैत्य भवन विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुङ्ग-कालीन भारत की सस्कृति अपनी विशेषताओ के द्वारा भारत के सास्कृतिक इतिहास म महत्त्वपूर्ण है। यह युग धर्म, साहित्य और कला की दृष्टि म गुप्त काल की पृष्ठभूमि का काय करता है। प्राच्य और पाश्चात्य कला का समन्वय कर राष्ट्रीय कला का सूत्रपात इसी युग मे होता है।

सातवाहन सस्कृति

भारत के सास्कृतिक इतिहास म शुङ्गो के पश्चात् आन्ध्र-सातवाहनो का युग आता है। यह आन्ध्र सातवाहन कुल भी ब्राह्मण कुल था। सातवाहनो ने कृष्णा नदी के काठे से लेकर दक्षिण समुद्र तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस युग मे ब्राह्मण धर्म का विशेष रूप से अभ्युत्थान हुआ। इस उदार और सहिष्णु राजा ने ब्राह्मण धर्म का अनुयायी होने पर भी अन्य धर्मों के साथ अत्याचार नही किया, उन्हे फलने फूलने का अवसर प्रदान किया। धनी उपासको ने बौद्ध भिक्षुओ के लिए चैत्यो और दरीगृहो का निर्माण भी कराया था। इस युग म ब्राह्मण धर्म के अनुयायी राजाओ ने अनेक यज्ञो का अनुष्ठान किया। इस युग म वैदिक कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्मों की भी बहुत अधिक उन्नति हुई। मेगस्थनीज ने वासुदेव कृष्ण की पूजा का उल्लेख किया है, यह वासुदेव पूजा शूरसेन देशवासियो म विशेष

---

speaks as it were through these stones, in a tone that offers a sharp but pleasing contrast to the dark pessimistic views of life which some of the old religious texts are never tried of repeating"

[1] कुमार स्वामी, इण्डियन एव इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० २७

"The main interest is neither spiritual nor ethical, but altogether directed to human life, luxury and pleasure are represented interrupted only by death, and these are nothing but facts, endorsed by the inherently sensual quality of the plastic language"

प्रचलित थी। श्री भाण्डारकार का कथन है कि सातवाहन युग के अभिलेखों में गोपाल विष्णुदत्त, विष्णु पालित, कृष्ण आदि नामों का जो उल्लेख मिलता है उसके द्वारा पता चलता है कि इस काल में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार था। नामों के आधार पर ही यह भी उन्होंने प्रतिपादित किया है कि दक्षिण में शैव धर्म का व्यापक प्रचार था। इसके अतिरिक्त शिव के वाहन नन्दी, स्कन्द तथा नाग-पूजा भी इस काल में होती थी। *सातवाहन-युग की धार्मिक विशेषता इस बात में निहित है कि इस काल में अनेक विदेशियों ने हिन्दू धर्म को अंगीकार किया था अनेक विदेशी जातियाँ शक, पह्लव आदि को हिन्दू समाज में स्थान मिल रहा था। इस प्रकार सातवाहन युग धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता का युग था। 'हिन्दू धर्म इतना उदार था कि उसमें यवनों या ग्रीकों तक को स्थान मिला। कार्ले की गुफा के एक लेख से विदित होता है कि दो यवन अपने नाम बदल कर हिन्दू हो गये थे। इनके नए नाम थे सिंहध्वज और धर्म। इसी प्रकार पिछले शुङ्ग काल में ग्रीक राजा अन्तलिखित का ग्रीक दूत हेलियोदोर भी भागवत यानी विष्णु का पूजक हो गया था। उसने वेसनगर में पहला विष्णु का स्तम्भ खड़ा किया। सातवाहनों के समकालीन शक उषवदात (ऋषभदत्त) ने भी हिन्दू नाम धारण किया था और वह ब्राह्मण धर्म का कट्टर भक्त था।'[1]

सातवाहन युग के समाज की कुछ अपनी विशेषताएं थीं। सातवाहन युग के समाज में स्त्रियों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था उनका सम्मान होता था आवश्यकता पड़ने पर वे शासन-सूत्र भी हाथ में ले लेती थीं। 'गौतमी पुत्र वासिष्ठीपुत्र माठरी पुत्र आदि मातृपरक उपाधियाँ इस बात का संकेत करती हैं कि समाज में स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वे अपने पतियों के साथ धार्मिक कार्यों में सहयोग भाग लेती थी।' विधवा नारी को यन्त्रणामय जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता था। 'नासिक के एक लेख से इस बात का विवरण प्राप्त होता है कि एक पवित्र विधवा किस प्रकार का जीवन व्यतीत करती थी। गौतमी बलश्री के लिए कहा गया है कि वह सत्य दान धर्य एवं जीवानुकम्पा आदि गुणों से आनन्द प्राप्त करती थी। तपश्चर्या आत्म नियन्त्रण और सुखोपभोगों से विरक्ति उसके चरित्र के उज्ज्वल गुण थे। उसके पुत्र की इस बात के लिए बहुत अधिक प्रशंसा की गई है कि वह अपनी जननी के प्रति सदैव आज्ञाकारिता प्रदर्शित करता था।"

इस युग में सामाजिक जीवन अनावश्यक नियन्त्रणों से भाराक्रान्त न था सातवाहन नरेश ब्राह्मण थे अतः वर्णाश्रम धर्म के प्रचार के लिए सचेष्ट थे। इस काल तक समाज में अनेक विदेशी जातियों का समावेश हो चुका था स्मृतिकारों की दृष्टि में समाज में 'वर्णसंकरता' फैल रही थी, किन्तु इन राजाओं ने इस वर्णसंकरता को दूर करने का प्रयास किया और सफलता प्राप्त की। समाज अनेक वर्गों में विभक्त था। इस काल में शासक तथा उनका सहयोगी वर्ग समाज का सर्वोच्च माना जाता

[1] सांस्कृतिक भारत, पृ० १२८-२६

था तदन्तर धनिक वग को महत्व प्राप्त था। इनके अतिरिक्त भी समाज म समाज की आवश्यकतानुरूप अनेक वग थे।

आर्थिक दृष्टि से समाज मे व्यापार की स्थिति अच्छी थी। प्रत्येक वग के व्यापारिया का अपना बक था, मूलनिधि को अक्षयनिधि मानकर व्याज से ही सभी व्यापार चलाये जाते थे। चादी और ताँब के सिक्के कार्षापण तथा सोने के सिक्के 'सुवण' इस काल मे चलते थे।

भाषा-साहित्य

सातवाहनो के युग म सस्कृत के स्थान पर 'प्राकृत' भाषा का अधिक प्रचार था। प्राकृत ही राजभाषा थी। सातवाहन राजा हाल के द्वारा लिखित 'गाहा सतसई' (गाथा सप्तशती), गुणाढ्य की बृहत्कथा', सववमन का 'कातन्त्र' व्याकरण ग्रन्थ आदि प्राकृत भाषा की प्रसिद्ध रचनाएँ इसी युग की है।

कला

कला की दृष्टि से इस युग म वास्तुकला की उन्नति होती है, गुफा एव गुफा मन्दिर ही विशेष रूप से इस काल म बनते हैं। नासिक, कार्ले और भाजा स्थित गुहा विहार और गुहा चत्य के सुन्दरतम भवनो के निर्माण का काल यही युग है।

आशय यह है कि सास्कृतिक दृष्टि से सातवाहन युग एक सम्पन्न युग है। इस युग की अपनी विशेषताएँ हैं।

विदेशी आक्रमण

ग्रीक—अशोक की मृत्यु के बाद मौय साम्राज्य की शक्ति शिथिल हो गई। राज्य मे अराजकता की स्थिति दृष्टिगत होने लगी, परिणामस्वरूप विदेशी आक्रमणकारियो ने भारत वसुन्धरा को पदमर्दित करने के अनेकश प्रयास किये। इन आक्रमणकारियो म ग्रीक महत्वपूण है। ग्रीको ने यहा अपना अधिकार जमाया यहा की सस्कृति, साहित्य, सभ्यता एव व्यापार को प्रभावित किया किन्तु दूसरी ओर ग्रीक लोग यहा के धम से विशेष रूप से प्रभावित हुए। आमू दरिया के काठे से पामीरा की छाया से निकल कर ग्रीक दिमित्रिय भारत पर आक्रमण पर सिन्ध, चित्तौड की ओर स स्वय, तथा मथुरा और साकेत की राह से उसका दामाद मिनान्दर पाटलीपुत्र पहुचा, सम्पूण मध्यदेश को आत्मसात् कर लेते हैं। दुर्भाग्यवश दिमित्रिय को अपने राज्य स दूर भारत म ही रहना पडा क्योकि उसके आक्रमण काल म यूक्रेतिद न उसके राज्य को आत्मसात् कर लिया था। इस प्रकार इन तीन ग्रीक राजाओ ने एक विस्तृत भू खण्ड पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। दिमित्रिय को भारत विस्तृत भूखण्ड जीत लने के कारण रोमन इतिहासकार 'भारत का राजा' कहते हैं। 'दिमित्रिय न सिन्ध और पजाब के एक भाग पर अपना अधिकार बनाए रखा और मिनान्दर ने पूर्वी पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदश पर। पश्चिमी पजाब, गान्धार सीमा प्रान्त और काबुल की घाटी पर यूक्रेतिद का अधिकार बना रहा। इस प्रकार मध्य एशिया तो

गया यूरोप के पूर्वी भाग से लेकर उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग तक ग्रीको के शासन और संस्कृति के नज म था। और किसी न किसी अश म प्राय दो सौ वष बना रहा।" इस प्रकार ये ग्रीक यहा की संस्कृति को प्रभावित करते रहे तथा यहां से प्रभाव ग्रहण करते रहे।

शक

भारत भूमि पर शको ने भी आक्रमण किया विजय प्राप्त की और शासन भी किया। 'आरम्भ मे शक एक घुमक्कड जाति थी और सीर दरिया के उत्तरी किनारे पर रहती थी। यूची नामक एक अ य घुमक्कड जाति द्वारा अपने प्रदेश से निकाले जाने पर वे बलख म जा पडे। उस प्रा त के यवन राजतन्त्र का अन्त कर दिया। तत्पश्चात वे दक्षिण और पूरब की ओर बढ़े और कई समूहो म विभिन्न मार्गों से भारत म प्रविष्ट हुए। हलमुद नदी के किनारे उनका विशाल उपनिवेश रहा होगा, क्योंकि वह प्रदेश उन्ही के नाम पर शकस्थान (सीमान्त) कहा जाता था। भारत म शको क तीन राज्य स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं। दो तो उत्तर भारत म थे जिनकी राजधानी क्रमश मथुरा और तक्षशिला थी। तीसरा राज्य पश्चिमी भारत म मालवा और काठियावाड प्रायद्वीप म था। इन शको ने मालवा विजय के उपलक्ष्य म मालव सवत को चलाया था। मालव तथा विक्रम सवत को एक मानते हुए एक विद्वान ने लिखा है मालव सवत और विक्रम सवत चलाने की तिथि एक ही है, जिससे मालूम पडता है कि दोनो सवत एक ही रहे होगे और कुछ दिनो बाद मालव सवत ही विक्रम सवत कहलाने लगा होगा। एक और सवत् शक सवत के नाम से इस देश म चलता है जो राष्ट्रीय विक्रम सवत से भी पवित्र माना जाता है और जिसका प्रयोग हमारे पत्रो पचागो और ज म-पत्रियो म होता है। उसे चलाया तो पहली सदी ई० म कुषाणो क राजा कनिष्क ने पर बहुत दिनो तक शक राजाओ ने जो उसका प्रयोग किया तो यह शक सवत के नाम से ही जाना गया।"

शक एव भारतीय संस्कृति

विदेशी आक्रमणकारियो म सर्वाधिक महत्त्वपूण एव शक्तिशाली शक ही थे। इनकी संस्कृति भी शक्तिशालिनी थी। शक संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ प्रदान किया। (चांदी के सिक्कों का प्रचलन तो शको ने किया ही था मध्य पश्चिमी और दक्षिणी भारत म उनका प्रचार शको ने किया। ज्योतिष के क्षेत्र म भी उनकी देन महान् थी। शको क कारण ही उज्जैन भारत का व्यापार केन्द्र बन गया था अब वही उज्जैन ज्योतिष का केन्द्र भी बन गया। मालवा के शासन काल म ग्रहो-नक्षत्रो का ज्योतिष विशेष रूप से विकसित हुआ और आज भी उज्जैन ज्योतिष का केन्द्र बना हुआ है। धम क क्षेत्र म शको न सूय-पूजा का प्रचलन किया। पुराणो म लिखा है कि साम्ब न जब सिंध म सूय का मन्दिर बनवाया तब उसको इस देश म ब्राह्मण पुजारी न मिले। फिर उस इस काय के लिए शक ब्राह्मण बुलाने पडे। वे ब्राह्मण आज भी शाकद्वीपी ब्राह्मण कहलाते हैं। शको को वेशभूषा म सलवार-अचकन

और घुटना तक बूट और ईरानी पगडी पहने हाथ म खजर लिये पहली सदी ई० की कुषाण कालीन सूय की एक मूर्ति मथुरा के अजायबघर म रखी हुई है, जो इस देश म उस देवता की पहली मूर्ति है।"[1] भाषा की दृष्टि स शको की भावना श्रद्धास्पद है क्योकि विदेशी होकर भी उन्होने संस्कृत को अपनाया। गिरनार स्थित रुद्रदामा का लेख संस्कृत गद्य शैली का ऐतिहासिक महत्त्व घोषित करने वाला एक स्तम्भ है। इस अभिलेख से रुद्रदामन के सम्बन्ध म पता चलता है कि प्रजा ने उस महाक्षत्रप के रूप मे शासन के लिए निर्वाचित किया था। उसका राज्य पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा, माहिष्मति प्रदेश, सौराष्ट्र, कच्छ सिन्धु घाटी के निचले भाग, पश्चिमी तथा मध्य भारत के कुछ भाग और उत्तरी कोकन म फैला हुआ था।"[2] शको का यह महत्त्व ब्राह्मण सातवाहनो की तुलना म देखने पर अधिक स्पष्ट होता है, क्योकि सातवाहन भारतीय ब्राह्मण थे किन्तु उन्होने अपने लेखो म प्राकृत का ही उपयोग किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शक भी भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग थे।

पल्हव (पार्थव)

विदेशी आक्रान्ताओ म ईरानी पल्लव (पार्थव) भी महत्त्वपूर्ण एव उल्लेखनीय हैं। इन ईरानी पल्लवो ने पर्याप्त समय तक भारत म उत्तरी पश्चिमी भाग पर राज्य किया है। इन्ही के राज्यकाल म भारत का ईसाई धर्म स भी परिचय होता है। ई० पू० प्रथम शतक का पल्लव राजा गुदफर ईसाई ही था।

कुषाण

विदेशी आक्रामको म अन्तिम कुषाण थे, किन्तु उनका महत्त्व किसी से कम नही है। वे यूची नामक घुमन्तू जाति के थे, जो मूलत उत्तरी पश्चिमी चीन के कान्सु प्रान्त म रहती थी। हिगनु (हूण) नामक एक दूसरी घुमन्तू जाति द्वारा लगभग १६५ ई० पू० म भगाये जाने पर वे पश्चिम की ओर जाने को बाध्य हुए और शको पर जा टूटे जो सीर दरिया के उत्तर वाले प्रदेश म रहते थे। इन विदेशियो के परस्पर सघर्ष म अतत शको को भारत की ओर बढ़ना पडा और वे भारत म आ बसे। किन्तु इस यूची जाति ने शको को पराजित कर वक्षु के दक्षिण बलख पर आधिपत्य जमा लिया। इसके परिणाम दो रूपो में प्रकट हुए—एक तो इस जाति ने अपना घुमक्कड जीवन त्याग कर स्थिर जीवन अपनाया, दूसरे विशाल यूची जाति की यह एकता नष्ट हो गई। फलस्वरूप हम देखते हैं कि इस जाति ने पाँच शाखाओ म विजित प्रदेशो म पाच स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। इन पाँच शाखाओ को भी कुछ दिनो बाद कुजुल कद्फिसस ने एक रूप म व्यवस्थित कर एक विशाल राज्य का जीतकर कुषाण साम्राज्य की स्थापना की। इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत हिन्दुकुश पर्वत के दोनो ओर का विशाल क्षेत्र अन्तर्भुक्त था।

---

[1] सांस्कृतिक भारत, पृ० १३६

[2] बी० जी० गोखले प्राचीन भारत, पृ० ५०

कुषाण सस्कृति

भारतवर्ष म आने वाली शक पह्लव और यवन जातियो की तरह कुषाण भी विदेशी ही थे इन आक्रमणकारी विदेशी जातियो म सर्वाधिक शक्तिशालिनी यही जाति थी। इस जाति ने भारतीय सास्कृतिक इतिहास म महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है। यह जाति पाँच भागो म विभक्त थी कुजुल कडफिसस नामक व्यक्ति ने इन पाँचो शाखाओ को एक म सगठित करके कुषाण साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य का सबस प्रतापी और शक्तिशाली सम्राट कनिष्क था। उसके समय म सर्वतोमुखी सास्कृतिक उत्थान हुआ—साहित्य कला और धर्म के क्षेत्र म नये नये तत्त्वो ने जन्म लिया तथा भारतीय सस्कृति पर अपना शाश्वत प्रभाव डाला। कला के क्षेत्र म बुद्ध प्रतिमाओ के निर्माण का प्रारम्भ व धर्म के क्षेत्र म महायान बौद्ध शाखा का उदय आदि ऐसे ही तत्त्व थे। कुषाण कालीन सभ्यता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है यह विदेशी सस्कृतियो स सम्बद्ध थी। भारतवर्ष की सस्कृति का जब-जब बाह्य सस्कृतियो से सङ्गम हुआ तब-तब यह सस्कृति एक विशिष्ट रूप लेकर प्रकट हुई। ईरानी यूनानी शक और कुषाणो न इस सस्कृति को विविधता दी। परिणामस्वरूप यह सस्कृति बहुमुखी विशेषताओ को आत्मसात् कर ससार की एक विशिष्ट सस्कृतियो म स एक है। इस सस्कृति की सबसे बडी विशेषता इसकी समन्वय भावना है इसी कारण इस युग म मध्य और पूर्वी एशिया के साथ भारत का सम्पर्क बढ गया। भारत का विदेशी व्यापार बढ गया और भारतीय व्यापारी विदेशो स धनोपार्जन करने लगे। रोमन लेखक प्लिनी न इसीलिए अपने देशवासियो की मूर्खता पर खेद प्रकट किया है कि वे भारत से विलास सामग्रिया मगाकर बदले म अपने स्वर्ण के सिक्के दिया करते थे। इसस यह स्पष्ट है कि कुषाण युग म भारत का विदेशी व्यापार बढा चढा था और विदेशी धन खिचकर पर्याप्त मात्रा मे आने लगा था। इस महत्त्वपूर्ण और इतिहास प्रसिद्ध युग की साहित्य कला और धर्म के क्षेत्र म जो उपलब्धियाँ थी उन्ह इस प्रकार देखा जा सकता है

धर्म—कुषाण कालीन शासको म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शासक कनिष्क था। इसकी ऐतिहासिक प्रसिद्धि का कारण सैन्य सफलता के साथ ही साथ बौद्ध धर्म का सरक्षण और प्रसार भी था। कनिष्क अशोक की भाँति बौद्धधर्म का अनुयायी था और उसके बौद्ध धर्मानुयायी रूप मे किये गये कार्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। एक विदेशी शासक की बौद्ध धर्म के प्रति निष्ठा और विश्वास नि स देह उसकी महत्ता का सूचक है। कनिष्क धर्म सहिष्णु था उसके विशाल साम्राज्य म विभिन्न धर्मानुयायी अपने धर्म का पालन पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ करते थे। कनिष्क-काल की जो मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, उन पर ग्रीक, ईरानी और भारतीय देवी देवताओ की मूर्तिया बनी हुई है, जोकि कनिष्क की धर्म विषयक सहिष्णु नीति की सूचक है।

यद्यपि कनिष्क धर्म सहिष्णु था, परन्तु उसने अपने व्यक्तिगत धर्म के रूप मे बौद्ध धर्म को ही स्वीकार किया था। इस धर्म की दीक्षा कनिष्क ने अश्वघोष स ली

थी। कनिष्क ने पेशावर म एक बौद्ध सघाराम की स्थापना की थी, एव चैत्य का निर्माण कराया था, जो कनिष्क की बौद्ध धम के प्रति निष्ठा के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

कनिष्क के समय म बौद्ध धम मे अनेक जटिलताए एव विवादग्रस्त प्रसङ्ग उत्पन्न हो चुके थे जोकि बौद्ध धम क सगठन को छिन्न भिन्न करने क लिए पर्याप्त थ। कनिष्क ने इस बात का अनुभव किया और सवमान्य सिद्धान्ता की स्थापना के लिए बौद्ध विद्वानो की सभा का आयोजन किया। यह सभा बौद्ध धम विषयक सिद्धान्तो के विवेचन की चौथी सभा थी। इसम लगभग ५०० बौद्ध विद्वाना न भाग लिया था। छ मास तक इन विद्वानो न विवाद कर 'महाविभाषा' नामक ग्रन्थ का सग्रह किया। कनिष्क ने इस ग्रन्थ को ताम्रपत्र पर अंकित कराकर एक पत्थर की पेटी म बन्द करवा कर उसके ऊपर स्तूप का निर्माण कराया था।

कनिष्क काल की इस बौद्ध सगीति का परिणाम महायान-सम्प्रदाय के उदय रूप मे हुआ। यह सम्प्रदाय पूवतनीन सम्प्रदाय स बहुत अधिक भिन्न था, और अनेक बातो म भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय से प्रभावित इस नवीन सम्प्रदाय का नाम महायान था, पूववर्ती सम्प्रदाय से भेद रखने के लिए उस प्राचीन सम्प्रदाय का नाम हीनयान रखा गया।

महायान सम्प्रदाय म बोधिसत्व के स्वरूप को स्वीकार किया गया था। बोधिसत्व का शाब्दिक अथ है बोधि ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखन वाला व्यक्ति बोधोज्ञाने सत्व अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्व।[1] बोधिसत्व ससार के समस्त प्राणियो के समस्त दुःखो का नाश कर उन्हे निर्वाण प्राप्त करा देना अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। ससार का एक एक प्राणी जब तक मुक्त नही हो जाता, तब तक वह स्वय निर्वाण सुख भोगने के लिए उद्यत नही होता।[2]

उसके जीवन का ध्येय स्वाथ सिद्धि न होकर परोपकार रहता है। वह जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही स्वरूप समझता है।[3] इस महायान मत के अनुसार परम सत्य स्वरूप बुद्ध मानव समाज के कल्याण साधन के निमित्त अनेक रूप धारण किया करते हैं। बुद्धदेव भी उन्ही के एक अवतार मात्र हैं। उनकी भक्ति-पूवक उपासना करन स मनुष्य अपन लक्ष्य तक पहुच सकता है। महायान ग्रन्थ 'सद्धर्म पुण्डरीक' का कहना है कि सच्चे प्रेम से भगवान् बुद्ध की एक पुष्प के अपण द्वारा पूजा करने से साधक को अनन्त सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार महायान धम ने निरीश्वरवादी शुष्क निवृत्ति प्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे ईश्वरवादी तथा प्रवृत्ति प्रधान

[1] बोधि पंजिका पृ० ४२२

[2] शिक्षा समुच्चय, पृष्ठ २ यदा ममपरेषा च भय दुःख चन प्रियम।
तदात्मन को विशेषो यद रक्षामि नेतरम।।

[3] बोधि चर्या तृतीय परिवत्त, पृ० ७७

मनोरम रूप म उपस्थित किया ।[1] केवल बोधिसत्ववाद पर ही भागवत धम का प्रभाव नही पडा, उसका प्रभाव सम्पूण महायान सम्प्रदाय पर पडा । फलत वह ईश्वरवादी प्रवृत्ति प्रधान बना, उस सम्प्रदाय के ग्र थ सद्धम पुण्डरीक' पर गीता का पूण प्रभाव परिलक्षित होता है। सनाट एव पूपट की मान्यता यह है कि बौद्ध धम क निर्माण म नारायण धम का महत्त्वपूर्ण योगदान है। बुद्ध क पदा की पूजा बौद्ध धम म होती है। इसे बौद्धो ने विष्णु के पद पूजा स ग्रहण किया है ।[2] महायान-सम्प्रदाय अवतारवाद ईश्वरवाद देववाद को भागवत धम से ग्रहण करता है । यही नही, उनम प्राय सभी हि दू देवी देवताओ के समान पद्मपाणि अवलोकितेश्वर अमिताभ आदि देवताओ की अचना कर कल्पना की जाने लगी ।[3] बौद्ध धम म बुद्ध की भक्ति की धारा बडे जोर शोर से चल पडी और बुद्ध की पूजा उपासना की जाने लगी । उनकी मूर्तियाँ यत्र-तत्र स्थापित की गई । इस भक्ति भावना का मूल आधार भागवत धम ही था । क्योकि भागवत धम भक्ति प्रधान धम था अत महायान म भक्ति का जो प्रबल प्रवाह आया उसका उद्गम स्थान भागवत धम ही था ।[4] कि तु बौद्ध धम ने अपनी मौलिकता की स्थापना के लिए भागवत धम स प्रभावित होकर ही बोधि सत्ववाद जसे सिद्धा तो की उद्भावना की है । गाकुलदास डे ने बौद्ध-साहित्य म प्राप्त भागवत तत्त्वो की जातको क आधार पर समीक्षा कर यह निष्कष निकाला है कि बौद्ध धम भागवत धम स प्रभावित रहा है ।[5] तृतीय शतक ईसा पूव जातक साहित्य तथा बौद्ध ग्र थो म राम और कृष्ण का बौद्धीकरण प्राप्त होता है ।[6] इस प्रकार अनक भक्तिवादी तत्त्वो को लेकर महायान सम्प्रदाय चतुथ शतक तक भारतवष म लोक प्रिय हो चुका था । इसकी लोकप्रियता का सर्वाधिक महत्त्वपूण तथ्य तो यह था कि यह महायान शाखा भारतीय भावना भारतीय भक्ति सिद्धा त स अनुप्राणित थी । इस शाखा का चलान वाला नागाजुन पहले ब्राह्मण था इसलिए उसके द्वारा उपदिष्ट महायान सम्प्रदाय यहाँ की जनता के अधिक अनुकूल था । कि तु हीनयान म किसी देवता की सत्ता न थी । जो जनता क सुख दु ख म भाग ले सक । "जब साधारण हि दू-जनता ने बौद्ध धम को अपनाया तब भक्ति माग मे परचे होने क कारण उसे उस बडी कमी का बोध हुआ । महायान इस प्रकार हि दुओ के भक्ति माग से प्रभा वित होकर चला । हि दुओं की ही भाति उसम भी अनेक विधि क्रियायें होने लगीं,

---

[1] बलदेव उपाध्याय धम और दशन, प० ११७
[2] दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ४५०
[3] विश्व धम दशन—बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, पृ० ११६
[4] तिलक गीता रहस्य भूमिका
[5] सिगनीफिकेंस एण्ड इम्पोर्टेंस आफ जातकाज, प० १५६ ५९
[6] डा० राजकिशोरसिंह अवतारवाद का उद्भव एव विकास, पृ० २०५ २०६

बुद्ध और बोधिसत्वो की अनन्त मूर्तिया बन चली और हिन्दू देवताओ से भरा बुद्ध को केन्द्र बनाकर बौद्ध पुराण प्रस्तुत हो गया।[1]

एक ओर इस युग म जहा कनिष्क ने बौद्ध धम अपनाया, दूसरी ओर अनेक विदेशी शक्तियो के आक्रमण के कारण अन्य अनेक देशो और सस्कृतियो स भी इस देश का परिचय हुआ, घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। इस दृष्टि से कुषाण-युग भारतीय सस्कृति के इतिहास म अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस युग म उदीयमान ईसाई धम पूर्ण विकसित बौद्धधम के साथ एशिया के अनेक देशो म फला। फारस के प्राचीन धम ने मानव विचार के उबाल के लिए अपना योगदान दिया। स्वय बौद्ध धम भी नितान्त नवीन जीवन दशन को लेकर विश्व धम म परिणत हो गया, और खोतान के माग से मध्यएशिया के व्यापार मार्गो से दूर-दूर तक फैल गया। कुषाण युगीन सास्कृतिक उपलब्धियो का विवेचन करते हुए डा० राय चौधरी ने लिखा है—कुषाण युग महान् साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था, इस बात का प्रमाण हम अश्वघोष, नागार्जुन तथा अन्य विद्वानो की कृतियो म मिलता है। यह युग धार्मिक उत्तेजना, धम प्रचार सम्बन्धी कार्यों का भी था। इसी युग मे शव धम, इसी का सहयोगी कार्त्तिकेय सम्प्रदाय, महायान बौद्ध धम और मिहिर तथा वासुदेव कृष्ण के सम्प्रदायो का विकास हुआ और इस युग ने काश्यप मातग (६१ ६७ सन् ई०) द्वारा चीन म बौद्ध धम का प्रवेश करते देखा। कनिष्क के वश ने भारतीय सभ्यता के लिए मध्य और पूर्वीय एशिया का द्वार उन्मुक्त किया था।"[2]

साहित्य—ऊपर उद्धृत अश म जहा कुषाण-युगीन धार्मिक विकास की ओर उल्लेख किया गया है वहा इस युग को साहित्यिक क्रियाशीलता का युग भी स्वीकार किया है। वास्तव म यह युग साहित्यिक चेतना का युग था, इस युग म विशुद्ध साहित्यिक ग्रन्थो के सृजन के अतिरिक्त दशन तथा चिकित्सा ग्रन्थो की प्रभूत मात्रा मे रचना हुई थी। कनिष्क के शासन काल म अनेक विद्वान उसके आश्रय म रह कर

---

[1] सास्कृतिक भारत, पृ० १४२

[2] पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० ४७८

'That the Kushan age was a period of great literary activity is proved by the works of Asvaghosh, Nagarjuna and others It was also a period of religious ferment and missionary activity It witnessed the development of Saivism and the allied cult of Karttikeya of the Mahayan form of Buddhism and the cults of Mihir and Vasudeo Krishna and it saw the introduction of Buddhism into China by Kashyapa Matanga (c 61 67 A D) The dynasty of Kanishka opened the way for Indian civilization to Central and Eastern Asia"

साहित्य का सृजन कर रहे थे। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र, चरक आदि विद्वान् कनिष्क के राज दरबार को देदीप्यमान कर रहे थे। इन विद्वानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश्वघोष थे उनकी प्रतिभा दर्शन साहित्य नाट्य एवं धर्म के क्षेत्र में एकाधिकार रखती थी। उनकी रचनाओं में बुद्धचरित, सौंदर्यानन्द, तथा सारिपुत्रप्रकरण है। कुषाण युगीन साहित्यिक विभूतियों में दार्शनिक नागार्जुन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनकी रचनाओं में माध्यमिक कारिका, सुहल्लेखा और प्रज्ञापारमिता सूत्र हैं। महायान बौद्ध सम्प्रदाय पर इस विद्वान का कार्य प्रामाणिक माना जाता है। विद्वानों ने इसकी तुलना यूरोपीय दार्शनिक हीगेल तथा ब्रेडले से की है। नागार्जुन को ही शून्यवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है। इस युग का दूसरा दार्शनिक वसुमित्र था। चिकित्सा शास्त्री तथा चिकित्सा शास्त्र का प्रकाण्ड ऋषि 'चरक' भी इसी युग की दिव्य विभूति है। कनिष्क के इस राजवैद्य ने आयुर्वेद का प्रामाणिक ग्रन्थ 'चरकसंहिता' लिखा था जो कि आज भी आयुर्वेद महाविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। इस युग में संस्कृत का भी अभ्युदय हुआ और प्रायः सभी साहित्यिक कृतियाँ संस्कृत में ही लिखी गईं।

विदेशी संस्कृतियों ने साहित्य के क्षेत्र में इस युग में भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ प्रदान किया। ग्रीकों ने भारतीय रंगमंच को प्रभावित किया, यवनिका शब्द' प्रदान किया और सम्भवतः शूद्रक का मृच्छकटिक' नाटक भी प्रभावित हुआ है। ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रीकों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए श्री भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—

गार्गी-संहिता में लिखा है कि यद्यपि यवन म्लेच्छ हैं पर ज्योतिष के आचार्य होने के कारण वे ऋषियों की भाँति पूज्य हैं। ग्रीक ज्योतिष के अनेक शब्द संस्कृत में आये हैं। हमारी संस्कृत में जन्मपत्री के लिए कोई अपना शब्द नहीं है। ग्रीक शब्द होरा का ही संस्कृत होरा चक्र में व्यवहार होता है। जो ज्यामित्र लग्न-विवाह के लिए इतना शुभ माना जाता है, उसका मूल ग्रीक दायामित्रान है। इसी प्रकार उस विधान में ग्रीकों का राशि चक्र ज्यों का त्यों ले लिया गया। वराहमिहिर' ने बाद में चलकर जिन पाँच सिद्धान्तों का वर्णन किया उनमें से कम से कम सबसे दो ग्रीक हैं। उनके नाम हैं—रोमक और पालिश सिद्धान्त।'

कला

कुषाण कालीन कला भारतीय-संस्कृति के लिए महत्त्वपूर्ण है इस युग की कला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। सम्पूर्ण विशेषताएं धार्मिक परिवेश में देखी जा सकती हैं। भारतीय कला धर्म प्रधान है धार्मिक भावना सदा से यहाँ की कला को प्रभावित करती रही है। कुषाण काल में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के उदय ने, जिसने बुद्ध एक देवता अथवा भगवान के अवतार के रूप में बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण का द्वार प्रशस्त किया। बुद्ध-मूर्तियों का निर्माण इस काल की कला की विशेषता है।

इससे पूर्व बुद्ध की उपस्थिति संकेतों और प्रतीकों—धर्म चक्र, बोधिवृक्ष, पादुका आदि—से व्यक्त की जाती थी, किन्तु कुषाण काल में भक्ति भावना के कारण बुद्ध की सर्वाङ्गपूर्ण खड़ी प्रतिमा भी बनने लगी थी। एक लेखक ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "कला के ऊपर प्रभाव गम्भीर था क्योंकि पूजा की भावना ने उन उच्चतर भावों को अभिव्यक्ति प्रदान की, जिसमें समस्त महती कला के मूल पाये जाते हैं।"[1]

विद्वानों का कहना है कि इस क्षेत्र में भी ग्रीकों के प्रभाव का मूल्यांकन अपेक्षित है। उनके अनुसार इस युग में अफगानिस्तान और पश्चिमी सीमा प्रान्त पंजाब में मूर्तिकला तथा भवन निर्माण कला पर ग्रीकों का विशेष प्रभाव पड़ा था। यह ग्रीक प्रभावित कला 'गान्धार कला' कहलाई। यद्यपि इस शैली का उदय ग्रीकों के कारण हुआ किन्तु इसका चरम विकास कुषाण काल में भारतीयता से सराबोर होने पर हुआ। इस काल की अन्य कला-शैलियों में मथुरा व अमरावती शैली भी हैं जिनका विस्तार से पीछे विवेचन किया जा चुका है।

कुषाण सम्राटों का युग भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक दृष्टि से महान् है। इस काल में भारतीय साम्राज्य की सीमायें सुदूर रोमन साम्राज्य तक विस्तृत थीं। सांस्कृतिक दृष्टि से इनका काल चार संस्कृतियों—भारतीय, ईरानी, रोमन तथा चीनी का संगम काल था। कनिष्क के सम्बन्ध में श्री वी०जी० गोखले ने लिखा है "कनिष्क के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह बहुत बड़ा निर्माता और कला का पुजारी था। यद्यपि वह स्वयं बौद्ध था पर उसकी प्रजा जिन यूनानी, सुमिरियाई, जरथुस्त्र के अनुयायियों के एलामी और हिन्दू देवताओं की पूजा करती थी, उन सबका वह सम्मान करता था।" आशय यह है कि कुषाण संस्कृति भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में समन्वयवादिनी संस्कृति है और उसकी सांस्कृतिक देन भी महान है।

---

[1] क्रिष्टमस हम्फ्री बुद्धिज्म, पृ० २०६
The effect on art was tremendous for the spirit of worship released and gave expression to the higher emotions in which the roots of all great art are found '

तत्पश्चात गुप्त युग का सर्वाधिक महत्त्वपूण शासक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सिंहासनासीन हुआ, जिसने एक ओर अपने असाधारण बल, विक्रम और नेतृत्व शक्ति के द्वारा साम्राज्य विस्तार किया, तो दूसरी ओर कुशल प्रशासन और धार्मिक सहिष्णुता के द्वारा जनता म लोकप्रियता प्राप्त की। स्कन्दगुप्त इस स्वण युग का अन्तिम प्रतापी नरेश था, जिसके प्रताप का सूय समस्त उत्तरी भारत पर चमकता रहा। इन विविध शासको ने अपने शासन-काल म कला और साहित्य को सरक्षण प्रदान किया था और सामाजिक, आर्थिक, प्रशासकीय सभी क्षेत्रो को उन्नति के चरम शिखर पर पहुंचाया था। अब हम गुप्त युग के सवतोमुखी विकास का पृथक् पृथक् अध्ययन करेंगे।

सामाजिक दशा

गुप्त युगीन सामाजिक दशा का परिज्ञान हम चीनी यात्री फाहियान के विवरणो से तथा तत्कालीन साहित्यिक कृतियो स प्राप्त होता है। फाहियान ने सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल म भारत भ्रमण किया था। बौद्ध धम के प्रामाणिक ग्रन्थो की खोज म वह भारत आया था। उसन अपने यात्रा विवरण मे कुछ ऐसे प्रसग भी लिखे हैं जिनम हम तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बोध होता है।

वण व्यवस्था

वण-व्यवस्था भारतीयो के सामाजिक जीवन की एक सवप्रमुख विशेषता है। *वदिक युगीन समाज म जिस वण व्यवस्था की नीव पडी थी,* उसे जन और बौद्ध धर्मों के उदय काल मे पर्याप्त आघात भी सहन करने पडे थे। परन्तु उसकी नीव हिन्दू जन-जीवन म इतनी गहरी जमी हुई थी कि आघातो क उपरान्त भी उसका अस्तित्व समाप्त न हुआ। यही नही हिन्दू धम के पुनरुत्थान के साथ ही उसका पुनरुत्थान भी प्रारम्भ हुआ। हिन्दू धर्मावलम्बी गुप्त शासको के समय मे समाज के विभाजन का आधार यही वण-व्यवस्था थी। चारो वर्णों म सबसे अधिक महत्त्वपूण ब्राह्मण होते थे। उनके छ कर्त्तव्य थे—पढना पढाना, यज्ञ करना यज्ञ कराना, दान देना एव दान लेना। यह वण राजनीति की ओर स सवथा उदासीन नही रहा करता था। *राजा का पुरोहित ब्राह्मण होता था और यह पुरोहित राजा के धार्मिक विषयो* म परामश दने के साथ-साथ विविध देवी देवताओ की स्तुति करके राष्ट्र के मगल की कामना करता था। युद्ध क्षेत्र म भी वह राजा के साथ रहता था। इस प्रकार ब्राह्मणो का गुप्त युगीन समाज म सबस अधिक आदर और प्रतिष्ठा थी।

गुप्त-काल के समाज म दूसरा स्थान क्षत्रियों का था। ये लोग ब्राह्मणो के कार्यों म स तीन पढ़ना, दान देना यज्ञ करना तो कर सकते थ पर तु शेप तीन कार्यों का करने का अधिकार इन्ह नही था। तीसरा वण वश्यो का था जिनका प्रधान कम व्यापार करना था। य लोग प्राय धनी होते थे और सदावत क्षेत्र तथा औषधालय *आदि खुलवाते। वश्यों का समाज म अधिक ऊचा स्थान न था।* मनु तथा वशिष्ठ ने अतिथि वश्य को नौकरो के साथ भोजन कराने का विधान किया है। अन्तिम वण

मे शूद्र आते थे और उनका काय उपयुक्त तीनो वर्णों की सेवा करना था। चाण्डाल नामक एक अ य जाति भी उस समय थी तथा इसका स्थान चारो वर्णों से नीचा था। चाण्डालो के विषय म फाहियान लिखता है कि वे नगर के बाहर रहते है और नगर म जब आते हैं तो सूचना के लिए लकडी बजाते चलते हैं कि लोग जान जायें और बचकर चलें कही उनसे छू न जायें।' मछली मारने, शिकार करने और मास बेचने के काय को केवल यही लोग किया करते थे। ये श्मशानो की रखवाली करते और कफन आदि लेते थे। समाज मे इनका स्थान बहुत नीचा था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्तकालीन सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार वण व्यवस्था थी। कि तु वण व्यवस्था के ब धन इस युग मे जटिल नही हुए थे। हमारे पास ऐसे दृष्टा तो की कमी नही है जिनम एक वण म ज म लेने वाले व्यक्ति ने दूसरे वण के काय को अपनाया था। फाहियान ने अनेक ब्राह्मण राजाओ का वणन किया है। आपत्तिकाल म ब्राह्मण ने वश्य वृत्ति के द्वारा अपनी जीविका चलाई इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है। नाटककार शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक मे स्पष्ट है कि चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए भी वणिक का काय करता था। यही नही, अ य वर्णों क यक्तियो के भी दूसरे वर्णो वे समान जीविका यापन करने के उदाहरण मिलते हैं। कही कही शूद्र राजाओ के भी उल्लेख मिलते हैं।

गुप्त-युग म अ तर्जातीय विवाह भी बहुत होते थे। उच्च-वण के पुरुष का निम्न वण की स्त्री से विवाह कर लेना अनुलोम विवाह कहलाता है और उच्च वण की स्त्री का निम्न-वण के पुरुष से विवाह कर लेना प्रतिलोम विवाह कहलाता है। गुप्त युगीन समाज मे ये दानो प्रकार के विवाह प्रचलित थे। शूद्रक क मृच्छकटिक म ब्राह्मण चारदत्त ने वस तसेना नामक वेश्या स विवाह किया है। इसी प्रकार वाका टक नरेश रुद्रसेन जो कि ब्राह्मण था उसन गुप्त वश की राजकुमारी प्रभावती स विवाह किया था। कदम्ब शासको ने ब्राह्मण होते हुए भी अपनी पुत्रियो का विवाह गुप्त वश म किया था। इस प्रकार अनुलाम और प्रतिलोम दोनो ही प्रकार के विवाह उस समय प्रचलित थ।

दास प्रथा

गुप्त-काल म दास प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा भारतीय समाज म गुप्तो क पूव स ही चली आ रही थी। मनु ने सात प्रकार क दासा का उल्लेख किया है—(१) युद्ध म जीता गया (२) आत्मदान द्वारा बना दास (३) दासी का पुत्र (४) खरीदा गया (५) दूसर स्वामी का दिया हुआ (६) दास का वशज तथा (७) दण्ड रूप म जिसे दास बनाया गया है। समाज म दासा क साथ दुव्यवहार नही किया जाता था। उ ह भी घर का एक व्यक्ति समझा जाता था और उनका समुचित ध्यान रखा जाता था। यदि कोई दास अपन स्वामी क प्रतिब ध को पूण कर देता था तो उस आजाद कर दिया जाता था। सकट क समय यदि दास स्वामी क प्राणों की रक्षा करता था तो भी उस दासता स मुक्ति द दी जाती थी।

स्त्रियो की दशा

गुप्तकालीन समाज म स्त्रिया की दशा वदिक-युग की भाँति उच्च एव प्रतिष्ठा पूण तो न रही थी, फिर भी उन्ह समाज म महत्त्वपूण स्थान प्राप्त था। स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी समझी जाती थी और प्रत्येक धार्मिक कृत्य मे पति के साथ उसकी उपस्थिति भी अनिवाय रहती थी। कालिदास ने लिखा है कि सीता को परित्यक्त करने क बाद जब रामचद्र जी ने यज्ञ करना प्रारम्भ किया तब उन्हें सीताजी की स्वण प्रतिमा बनवानी पडी थी। वात्स्यायन न अपने 'कामसूत्र' म स्त्रियो के कुछ कत्तव्य बताये हैं। गृहस्थी के कार्यों को सुचारु रूप स सम्पादित करना, पति क आगमन पर सुदर वेष धारण करक उसका स्वागत करना तथा पति की आज्ञानुसार सामाजिक उत्सवो म भाग लेना इनके अन्तगत हैं।

गुप्तकाल म स्त्री शिक्षा का भी प्रचलन दिखाई दता है। यद्यपि स्मृतियो ने स्त्रियो को शिक्षा देने क पक्ष मे निणय नही दिया था, फिर भी समाज म प्राय स्त्रियाँ पढी-लिखी होती थी। 'अमरकोष' म वदिक मत्रो का शिक्षा प्रदान करने वाली स्त्रियो का वणन आया है। आश्रम म रहने वाली स्त्रियाँ विभिन्न विषयो का अध्ययन करती थी। शीलभट्टारिका एक विद्वान तथा योग्य महिला थी। 'मृच्छकटिक' मे बहुत सी पढी लिखी स्त्रिया का उल्लेख मिलता है। चद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती एक यथेष्ट शिक्षित महिला ज्ञात होती है। स्त्रिया द्वारा पति के पास पत्र भेजने के वणन मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि सामान्य स्त्रियाँ भी शिक्षित हुआ करती थी। वात्स्यायन ने इस प्रकार का वणन किया है। कालिदास ने भी शकुन्तला के द्वारा प्रेमपत्र क लिखने का उल्लेख किया है।

गुप्तकालीन समाज म पर्दे की प्रथा नही थी। उस समय क चित्रो को देखने स यह बात स्पष्ट हो जाती है। तत्कालीन साहित्यिक वणनो से पर्दा प्रथा के अभाव की पुष्टि होती है। स्त्रिया घर की चहार दीवारी म बन्द न रहकर बाहर निकलती थी। साधारण स्त्रिया सावजनिक कार्यों म भाग लिया करती थी। कालिदास ने 'रघुवश' मे समस्त राजाओ के सामने पति का वरण करने के लिए इन्दुमती के आने का उल्लेख किया है। इन सब बातो स प्रकट है कि उस युग म पर्दे का प्रचलन न था।

जहा तक विवाह की पद्धतिया का प्रश्न है, गुप्तकालीन समाज म ब्राह्म, दव, आष एव प्राजापत्य प्रणालियाँ उत्तम समझी जाती थी तथा आसुर गान्धव राक्षस तथा पशाच निम्न कोटि की मानी जाती थी। वसे विवाह के ये आठो प्रकार उस समय प्रचलित थे। कालिदास ने दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धव विवाह का वणन किया है। वात्स्यायन ने भी इस प्रकार के विवाह का समथन किया है। इस समय स्वयवर की प्रथा भी विद्यमान थी। कालिदास द्वारा वर्णित इन्दुमती के स्वयवर का प्रसङ्ग अत्यन्त रोचक व रमणीय है। विवाह के समय उस समय सभवत दहेज नही दिया जाता था क्योंकि हमे कहीं भी इसका वणन नही मिलता है। बाल विवाह की प्रथा भी गुप्तकाल म नही दिखाई पडती है। पुरुष एक से अधिक स्त्रियो से भी

विवाह कर लेते थे। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कुबेरनागा और ध्रुवदेवी के साथ विवाह किये थे।

गुप्तकाल में विधवा विवाह का प्रचलन था, परन्तु अनेक स्थानों पर उसके विरोध में भी वर्णन मिलते हैं। जो भी हो, हम विधवा विवाह के अनेक प्रसंग उस समय के सामाजिक जीवन में प्राप्त होते हैं। (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने भाई रामगुप्त की मृत्यु के बाद उसकी विधवा स्त्री ध्रुवदेवी के साथ विवाह कर लिया था। नारद तथा पाराशर स्मृतियाँ भी विधवा विवाह को उचित बताती हैं। परन्तु अन्य स्मृतियाँ इसके पूर्ण विरोध में हैं। बृहस्पति के अनुसार विधवा स्त्री को अपने पति के साथ जल जाना चाहिये। इस वर्णन से प्रकट है कि सती प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। एरण के लेख में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के बाद उसकी स्त्री के सती होने का उल्लेख मिलता है।

गुप्तकालीन समाज में गणिकाएँ भी विद्यमान थीं। ये सार्वजनिक स्त्रियाँ होती थीं। ये स्त्रियाँ नृत्य और गायन आदि कलाओं में पारंगत होती थीं तथा कामशास्त्र में भी निपुण हुआ करती थीं। समाज में इन्हें ऊँची दृष्टि से नहीं देखा जाता था। जिस गन्धशाला में गणिकाओं की कन्याएं शिक्षा ग्रहण करती थीं उनमें नागरिकगण अपनी लड़कियों को नहीं भेजते थे। परन्तु शूद्रक ने अपने 'मृच्छकटिक' में गणिका को विशेष स्थान दिया है। उसमें उसने आर्य चारुदत्त जैसे श्रेष्ठ पुरुष को भी गणिका वसन्तसेना के प्रति अच्छे विचार रखते हुए दिखाया है।

वस्त्र तथा आभूषण

गुप्तयुगीन साहित्यिक विवरणों एवं प्राप्त कलाकृतियों से उस युग के समाज के वस्त्रों एवं आभूषणों के सम्बन्ध में यथेष्ट परिचय मिलता है। पुरुष उत्तरीय तथा अधोवस्त्र (धोती) का व्यवहार करते थे। वे अपने सिर पर उष्णीष (पगड़ी) भी धारण करते थे। साधारण मनुष्यों के सिर पर तो उष्णीष रहती थी परन्तु राजा लोग अपने सिर पर मुकुट धारण करते थे। स्त्रियों का परिधान साड़ी था। साड़ी के नीचे वे पेटीकोट भी पहनती थीं। सीथियन स्त्रियाँ ब्लाउज पहनती थीं। भारतीय स्त्रियाँ मुख्य रूप से चोली पहनती थीं। अजन्ता एवं बाघ गुफाओं के चित्रों में स्त्रियों को चोली पहने हुए दिखाया गया है। अजन्ता के चित्रों में एक स्त्री छींट की अंगिया पहने दिखाई गई है इससे स्त्रियों द्वारा छींट के प्रयोग का पता चलता है।

फाहियान के वर्णनों से ज्ञात होता है कि गुप्तयुगीन समाज में प्रधानतः ऊनी और रेशमी वस्त्रों का व्यवहार होता था। रेशम का कपड़ा चीन से आता था और उसे चीनांशुक कहते थे। कालिदास ने अपने नाटकों में इसका उल्लेख किया है। मन्दसौर के अभिलेखों में भी रेशम के वस्त्रों की लोकप्रियता का वर्णन मिलता है।

गुप्तकाल में स्त्री पुरुष दोनों ही आभूषणों के प्रेमी थे। इस विषय में श्री रतिभानुसिंह नाहर लिखते हैं "स्त्रियों के आभूषण विविध प्रकार के तथा नेत्रों को भले लगने वाले होते थे। मानों तथा मणियों के हारों का सौन्दर्य अद्भुत होता था।

मृच्छकटिक म चारुदत्त की स्त्री वसन्तसेना के लिए मोतियो के जो हार भेजती है उनके वणन से पता चलता है कि इस समय के स्वणकार निपुण और कलात्मक अभि रुचि सम्पन्न होते थे। कम से कम छ प्रकार की करधनिया (मेखला) का उल्लेख मिलता है। कडो, अगूठियो और केयरा (बाजूबदा) का प्रयोग बहुलता से किया जाता था। परो म काफी सख्या म कडे पहने जाते थे।" वात्स्यायन ने स्त्रियो के लिए आभूपण पहनना अत्यत आवश्यक बताया है और लिखा है कि स्त्री सदव सुन्दर वस्त्राभूपणो से अलकृत होकर ही पति के समक्ष जाया करे। केवल स्त्रियाँ ही नहीं, पुरप भी अगूठी, कुण्डल और हार आदि आभूपणा को धारण करते थे। कालिदास ने इन्दुमती के स्वयवर म आने वाले राजाओ को आभूपणो से सज्जित दिखाया है। श्री लूनिया ने लिखा है, "गुप्तयुग म सुन्दरतापूवक बनाई हुई आकषक कानो की बालियाँ, विविध प्रकार के मोतियो की मालाएँ, लगभग एक दजन प्रकार की मेखलाएँ (कदौरे), वक्षस्थल और जघाओ के मोतिया क जालीदार आभूपण और रत्नजटित चूडियाँ व्यवहार म थी। अगूठियो का प्रयोग अधिक था परन्तु नथ सवथा अज्ञात थी। अजन्ता के भित्तिचित्र यह प्रकट करते हैं कि केश सवारने की कलाएँ उतनी ही आकपक, सुन्दर और विविध थी, जितने कि वेश। मुख और ओठो की सौंदय वृद्धि के लिए रग तथा लेप अज्ञात नहीं थे।"[1]

गुप्तकाल मे स्त्रियाँ अपनी वेश सज्जा के प्रति उदासीन न थी। वे सुगन्धित द्रव्यो को जलाकर उनकी उष्णता से अपने गीले केशो को सुखाती और सुगन्धित करती थी। कालिदास ने इसका बडा सुन्दर वणन किया है। उन्होंने अपने 'मेघदूत' म स्त्रियो को मन्दार के फूलो से अपने केशो को सजाते हुए भी वर्णित किया है। उस समय की मूर्तियो तथा चित्रो म केश विन्यास की विभिन्न पद्धतियाँ दिखाई देती हैं।

खान पान

गुप्तयुगीन खान पान के विपय म चीनी यात्री फाहियान लिखता है, "बाजारो मे मास और मदिरा की दुकानें नही हैं। लोग सुअर तथा मुर्गियाँ नही पालते, प्याज तथा लहसुन तक नही खाते, शराब नही पीते, केवल चाण्डाल जो समाज से बहिष्कृत हैं शिकार खलते हैं और मास का विक्रय करते हैं।' परन्तु फाहियान के इस वणन को इतिहासकारो ने स्वीकार नही किया है क्योकि तत्कालीन साहित्य म स्थान स्थान पर मास एव मदिरा के प्रयोग का उल्लेख आया है। कालिदास द्वारा रचित शकुन्तला नाटक म माढव्य को सुअर का मास खाते दिखाया गया है। रघुवश म एक स्थान पर सहभाज के अवसर पर मदिरा परोसने का उल्लेख आया है। अत फाहियान के विवरण को हम केवल बौद्ध और जनो के लिए लिखा हुआ तो मान सकते हैं परन्तु समस्त नागरिको के लिए स्वीकार नही कर सकते।

---

[1] भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास, पृ० १६७

उस समय के नागरिकों का साधारण भोजन मांस, चावल, रोटी, बाजरा, मिठाई, घी और शक्कर था। शूद्रक ने मृच्छकटिक में नाना प्रकार के भोजन का वर्णन किया है। भोजन दिन में दो बार पूर्वाह्न और अपराह्न में किया जाता था। गृहस्थ एवं सम्राट साधुओं को श्रद्धापूर्वक अपने घर में भोजन भी कराते थे। फाहियान लिखता है कि 'भिक्षुसंघ को भिक्षा देते समय राजा लोग अपना मुकुट उतार लेते हैं। अपने ये पुत्रों और अमात्यों सहित अपने हाथ से भोजन परोसते थे।' चन्द्रगुप्त द्वितीय के गढ़वा के लेख में एक ब्राह्मण को भोजन के लिए १२ दीनार दिये जाने का वर्णन मिलता है। इससे प्रकट है कि उस समय खाद्य सामग्री अत्यन्त सस्ती थी।

आमोद प्रमोद

गुप्तकाल के नागरिक आमोद प्रमोद के लिए समय समय पर विविध उत्सव मनाते थे। फाहियान ने पाटलिपुत्र के वर्णन में लिखा है कि प्रतिवर्ष दूसरे मास की आठवीं तिथि को रथयात्रा होती थी। चार पहिए के रथ बनते थे। उन्हें सजाया जाता था बीच में बुद्धदेव की मूर्ति और पास में बोधिसत्व खड़ा किया जाता था गाना बजाना और पूजा आदि की जाती थी। रथयात्रा के अतिरिक्त उस समय मनोरंजन के और भी अनेक साधन प्रचलित थे। राजाओं और क्षत्रिय वर्ग में आखेट को बहुत पसन्द किया जाता था। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसे बाघ का शिकार करते हुए अंकित किया गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुमारगुप्त प्रथम भी सिंह का आखेट करते हुए दिखाये गये हैं। मृच्छकटिक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भेड़ों भैंसों तथा हाथियों की लड़ाई उस समय के आमोद प्रमोद का एक विशेष साधन थी। मृच्छकटिक' तथा रघुवंश में जुआ खेलने का भी उल्लेख आया है। मृच्छकटिक में एक वर्णन है जिसमें दो जुआरी खेल रहे हैं और उनमें से एक कह रहा है कि जुआ खेलना मनुष्यों के लिए सिंहासन रहित राज्य को प्राप्त करना है।' रघुवंश में चौपड़ खेलने का वर्णन है। इन सब बातों से प्रकट है कि गुप्तयुग में जुआ और चौपड़ आमोद प्रमोद के साधन के रूप में यथेष्ट प्रचलित थे। श्री लूनिया लिखते हैं कि "चौपड़ और शतरंज घर के भीतर लोकप्रिय आमोद प्रमोद के साधन थे और आखेट तथा मेढ़े और मुर्गों की लड़ाई बाहर के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। बालकों और महिलाओं में कन्दुक क्रीड़ा लोकप्रिय थी। उत्सव के अवसर पर महिलाएं एकत्रित होकर अनेक प्रकार के शारीरिक खेल खेलती थीं। नाटक प्रहसन तमाशे मेले आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम की सामग्री उपस्थित करते थे।"[1]

जन साधारण का नैतिक स्तर

गुप्तकाल में जनता का नैतिक स्तर अत्यन्त उच्च था। फाहियान ने उनके अतिथि सत्कार आदि गुणों की बहुत प्रशंसा की है। उस समय के लोगों की कुलीनता

---

[1] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास पृ० १९७-९८

और सज्जनता के सैंकडो प्रमाण गुप्त-कालीन लेखो और फाहियान के यात्रा विवरणो म उपलब्ध होते हैं । शूद्रक ने अपने 'मृच्छकटिक' म आय चारुदत्त, उसकी पत्नी धूता तथा गणिका वसन्तसेना क आदश चरित्रो का चित्र खीचा है । इस युग का जीवनादश भी महान् था । सामाजिक तथा वयक्तिक जीवन सवथा स तुलित था । धम, अथ, काम और मोक्ष नामक पुरुषाथ चतुष्टय इस युग क जीवन का आदश था । परवर्ती, काल म सामाजिक जीवन म धम के प्राधा य ग्रहण कर लने पर "परलोक के लिए इहलोक की उपेक्षा की जाने लगी, अधिकाश समय व्रत तथा पूजा पाठ को दिया जाने लगा, स यास को उच्च और काम को हेय दृष्टि स दखा जान लगा, किन्तु गुप्त युग तक ऐसा नही था । अथ और काम की, धम और मोक्ष क समान महत्ता थी । समाज चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए तुल्य रूप स यत्न करता था।" गुप्तयुग की चतुमुखी उन्नति का मूलाधार उनका समन्वित जीवनादश ही था ।

निष्कष रूप म यह कहा जा सकता है कि गुप्तकाल का सामाजिक जीवन अत्यन्त उच्चकोटि का था । समाज मे लोग सुखी तथा सम्पन्न थे, एव उनकी दशा सुखमय और समृद्ध थी ।

धम

गुप्तकाल सस्कृति एव धम की दृष्टि से सक्रमण काल था, इस काल म प्राचीन मा यतायें टूट रही थी और उनके स्थान पर नवीन मा यताये, आस्थाएँ और विश्वास पल्लवित हो रह थे । धम और समाज के क्षेत्र म हिन्दू समाज आज जिस स्थिति म है, वह सस्कृति गुप्त-युग की देन है । गुप्तकाल म बौद्ध जन धम की अपेक्षा हिन्दू धम विशष रूप म प्रचार प्राप्त कर रहा था ।

गुप्तयुग हिन्दू धम के विकास का युग था, जसा कि आर० सी० मजूमदार महोदय ने लिखा है कि—हिन्दू धम विभिन्न शाखाओ और प्रशाखाओ में विकसित हो गया था, उसम हम प्राचीन और नवीन ऊचे और नीचे धार्मिक और आध्यात्मिक विचारो का सम वय मिलता है, उसने समाज मे निर तर नये तत्वो के प्रवेश से खोया कुछ नही था, वह नय तत्वो स कुछ न कुछ ग्रहण ही कर रहा था ।"[1]

इस प्रकार यह प्रकट है कि गुप्तकाल मे हिन्दू धम का फलने फूलने का यथेष्ट अवसर मिला था । पर तु इसका यह अभिप्राय नही है कि अ य धर्मों की कोई उन्नति ही नही हुइ । वास्तव म यदि देखा जाये, तो पता चलता है कि गुप्त सम्राटो ने वष्णव धम क अनुयायी होन पर भी अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण

---

[1] क्लासीकल एज, पृ० ३६७

"Hinduism has already grown into that mosaic of various patterns combining the religious and spiritual ideas, both old and new high and low, losing nothing, and eternally adding more and more from new elements introduced into society "

सभी धर्मों को उनके समुचित विकास का अवसर प्रदान किया था। गुप्त युग मे मात्र वैष्णव धर्म की ही नही—शैव, जैन और बौद्ध आदि अन्यान्य धर्मों की भी उन्नति हुई थी।

हिन्दू धर्म

गुप्त नरेशो ने हिन्दू धर्म की वैष्णव शाखा को अपने राजधर्म के रूप में स्वीकार किया था। वे वैष्णव धर्मानुयायी थे। उनके लेखो मे उन्हे 'परम भागवत' कहा गया है। उनके सिक्को पर विष्णु के वाहन गरुड तथा विष्णु की स्त्री लक्ष्मी का चित्र अङ्कित मिलता है। स्कन्दगुप्त का जूनागढ वाला लेख विष्णु की प्रार्थना के साथ प्रारम्भ होता है। बुधगुप्त के एरण वाले स्तम्भ लेख मे भी विष्णु की स्तुति वर्णित है। इन उल्लेखो से प्रकट है कि गुप्त सम्राट विष्णु की पूजा करते थे तथा इस काल का सर्वप्रधान धर्म वैष्णव ही था। दाण्डेकर महोदय ने लिखा है कि—गुप्त युग मे हिन्दू धर्म की लोक प्रिय शाखा वैष्णव धर्म है गुप्त-युग के अनेक शिलालेख वैष्णव मान्यताओ और आदर्शों के सूचक हैं।

"The most popular sect of the Hindu religion patronized in the Gupta period, seems to have been Vaishnavism A large number of Gupta inscriptions are distinctly representative of Vaishnava tendencies"[1]

गुप्तकाल मे वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ साथ वैष्णव मन्दिरो का निर्माण भी प्रचुर मात्रा मे हुआ। स्कन्दगुप्त के जूनागढ वाले लेख मे सौराष्ट्र के गवर्नर के पुत्र द्वारा विष्णु मन्दिर के बनवाये जाने का उल्लेख है। बुधगुप्त के एरण वाले लेख मे उसके मातृविष्णु एव धन्यविष्णु नामक सामन्तो द्वारा विष्णु के ध्वज स्तम्भ के निर्माण का वर्णन है। दक्षिण भारत मे भी विष्णु पूजा का प्रचलन था और इसका श्रेय अलावार सन्तो को है जिन्होने अपने भावपूर्ण गीतो के द्वारा लोगो को इस ओर आकर्षित किया।

गुप्तयुग मे विष्णु के अनेक अवतारो को स्वीकार किया गया। वाराह, कृष्ण, मत्स्य तथा वामन आदि इनमे प्रमुख थे। कृष्ण की बाल लीला से सम्बन्धित अनेक चित्र भी प्राप्त हुए हैं। विष्णु का वाराहावतार सबसे अधिक लोकप्रिय था। राम को विष्णु का अवतार स्वीकार किया गया था या नही इस पर विद्वानो मे मतभेद है। अस्तु कालिदास के रघुवश मे एक स्थान पर राम को विष्णु का अवतार माना गया है। यह प्रकट है कि राम की पूजा का भी उस समय प्रचलन था।

विष्णु के अवतारो के अतिरिक्त शिव, कार्त्तिकेय सूर्य लक्ष्मी दुर्गा पार्वती देवी-देवता थे। गगा और यमुना की मूर्तियाँ भी बनने लगी थी। गंगा का माहात्म्य भी बढ गया था।

---

[1] ए हिस्ट्री ऑफ गुप्ताज पृ० १२०

वैष्णव धर्म के साथ साथ शैव धर्म भी गुप्त युग में पर्याप्त प्रचलित था। इस काल में बहुत से शिव मंदिर बने। गुप्त सम्राटों के अनेक उच्च पदाधिकारी शैव-धर्म के अनुयायी थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मन्त्री वीरसेन शिव का पूजक था और उसने उदयपुर पर्वत पर एक शिव मंदिर का निर्माण भी कराया था। गुप्त कालीन बहुत सी शिव मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो कि इस काल में शैव धर्म के प्रचलन का प्रमाण हैं।

विष्णु तथा शिव की पूजा के अनन्तर गुप्त युग में सूर्य की पूजा का स्थान था। कुमारगुप्त के मन्दसोर वाले शिलालेख के प्रारम्भ में सूर्य भगवान् की अत्यन्त सुन्दर स्तुति उपलब्ध होती है। भूमरा में एक सुन्दर सूर्य प्रतिमा भी मिली है। इसके साथ साथ गुप्त युग में शक्ति पूजा के भी संकेत यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। उदयगिरि की गुहा में शक्ति के महिषमर्दिनी स्वरूप की एक मूर्ति मिली है। इनके अतिरिक्त गुप्त लेखों में भी यत्र तत्र शक्ति-पूजा के उल्लेख हैं इन वर्णनों से प्रकट है कि गुप्त सम्राटों ने अपनी छत्र छाया में हिन्दू धर्म को विकसित होने की समस्त सुविधाएँ प्रदान की थी और इसीलिए वह इस युग का एक प्रचलित धर्म बन गया था।

बौद्ध-धर्म

वैष्णव और शैव धर्म का प्रसार होने के साथ साथ गुप्त युग में बौद्ध धर्म को भी फलने फूलने का अवसर प्राप्त हुआ, यद्यपि बौद्ध धर्म उस समय राज धर्म न रहा था परन्तु गुप्त सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने इसे बढ़ने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में भारत भ्रमण करने वाले चीनी यात्री फाहियान ने इस धर्म के प्रचलन पर प्रकाश डाला है। काश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब के प्रदेशों में बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या कम न थी। फाहियान को इन प्रदेशों में हजारों बौद्ध विहार दिखाई दिए थे जिनमें बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। फाहियान ने वर्तमान उत्तर प्रदेश बिहार बंगाल और मध्य-भारत में भी बौद्ध धर्म को विकसित अवस्था में पाया था। मथुरा, कौशाम्बी, कुशीनगर और सारनाथ अब भी बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र थे। नालन्दा का प्रसिद्ध बौद्ध विहार गुप्त युग में ही अपने गौरव और प्रतिष्ठित स्वरूप की प्राप्ति में समर्थ हुआ था। गुप्त युग में बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र आंध्र प्रदेश था। वहां नागार्जुनीकोण्डा नामक एक अति समृद्ध विहार था और उसमें बहुत से बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। इस प्रकार गुप्त युग में बौद्ध धर्म की दशा पर्याप्त उन्नत और गौरवपूर्ण थी।

गुप्त-युग में भगवान् बुद्ध की जितनी मूर्तियाँ बनीं, उतनी सम्भवतः किसी काल में निर्मित नहीं होंगी। इस प्रकार अनेक स्तूप चैत्य तथा विहारों का निर्माण भी गुप्तकाल में ही हुआ। वसुबन्धु तथा उसके छोटे भाई असंग का प्रादुर्भाव भी गुप्त युग में ही हुआ था जिन्होंने अपनी रचनाओं और ग्रन्थों के द्वारा बौद्ध-दर्शन के भण्डार को श्रीसंपन्न बनाया है। दिङ्नाग जैसे बौद्ध-पण्डित भी इसी युग

मे हुए हैं। बोधिसत्व की पूजा का भी प्रचार हुआ और अवलोकितेश्वर की अनेक मूर्तियाँ बनाई गई। बौद्धो के बुद्धि के देवता मजुश्री की मूर्तियाँ भी गुप्त युग म बनी थी। बौद्ध धम के अनेक ग्रथ भी इसी काल मे लिखे गये। दिव्यावदान' और जातकमूल' नामक ग्रथो की रचना इसी युग म हुई। विशुद्धि मग्ग, अभिधम्म कोष', प्रमाण समुच्चय' तथा न्याय प्रवेश' नामक ग्रन्थ इसी काल म लिखे गये।

जैन-धम

गुप्तयुग मे जन धम को भी अपनी उन्नति और विकास का अवसर प्राप्त हुआ था। इस समय तक जनो के दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो सम्प्रदाय थे। श्वेताम्बर सप्रदाय मुख्य रूप से पश्चिमी भारत म प्रचलित था तथा इसके प्रधान केन्द्र वल्लभी और मथुरा थे। इस सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध सगीतियाँ गुप्त युग में हुई। पहली सभा वल्लभी मे ३१३ ई० म नागार्जुन नामक जन आचाय के सभापतित्व म हुई। दूसरी सभा भी वल्लभी म ही ४५३ ई० म हुइ। इसके सभापति आचाय क्षमाश्रवण थे। इन सभाओ म श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तो को लिपिबद्ध किया गया।

जनो के दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार प्रधान रूप से पूर्वी भारत म था और बगाल की पुण्ड्रवधन नगरी उसका मुख्य केन्द्र थी। दक्षिण भारत म भी इसका प्रचार पर्याप्त मात्रा म था। मसूर और कर्नाटक म जन धर्मानुयायी काफी सख्या म थे। ४७० ई० म जन लोगो ने मदुरा म एक सगम आयोजित किया जिसके अध्यक्ष आचाय वज्रनन्दी थे। इस सगम ने जन धम के तामिल ग्रन्थो के निर्माण म महत्त्व पूर्ण काय किया। गुप्त युग म जन दशन का भी विकास हुआ। क्षपणक तथा सिद्ध दिवाकर नामक दो विद्वानो ने कई दाशनिक ग्रथो की रचना की।

गुप्त लेखो म भी जन धम के प्रचार के अनेक वणन मिलते हैं। गु० सं० ११३ के मथुरा वाले लेख म एक जन मूर्ति के दान का उल्लेख मिलता है जिसे हरि स्वामिनी नामक स्त्री ने किया था। पहाडपुर के एक लेख मे एक ब्राह्मण द्वारा जन विहार की मूर्ति की पूजा के लिए भूमिदान का उल्लेख है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्त युग म जन धम की पर्याप्त उन्नति हुई थी।

धार्मिक सहिष्णुता

गुप्त युग धार्मिक सकीर्णता का युग न था। इतिहास के पृष्ठो का अध्ययन इस सत्य को घोषित करता है कि प्राय एक धर्मानुयायी दूसरे धर्मानुयायियो के प्रति असहिष्णु हुआ करते हैं। परन्तु गुप्त-सम्राट इस नीति के अनुगामी न थे। धार्मिक क्षेत्र म उन्होने कभी असहिष्णुता का परिचय न दिया। अधिकाश गुप्त सम्राट स्वय वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, पर उन्होने कभी अन्य धर्मों को दबाने की चेष्टा नहीं की। यही कारण है कि उनके राजत्व काल म विभिन्न धर्मों की विभिन्न शाखाएँ फलती फूलती रही। ब्राह्मण, जन और बौद्ध धम साथ साथ बढते और फलते रहे।

"गुप्त सम्राट स्वयं वैष्णव थे और अपने को परम भागवत कहते थे। पर उन्होंने कभी वैष्णवों और शैवों के साथ पक्षपात कर बौद्धों और जैनों का विरोध न किया और न उनके देवताओं की किसी अंश में नाकदरी की।"

सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णव धर्मानुयायी था। किन्तु उसने अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिए आचार्य वसुबन्धु को नियत किया था, जो कि ख्याति लब्ध बौद्ध विद्वान् था। सम्राट् का मंत्री वीरसेन शिव का परम भक्त था और उसने उदयगिरि में शिव के एक मन्दिर का निर्माण करवाया था। इससे प्रकट है कि उस समय धार्मिक संकीर्णता के कारण दूसरे धर्मानुयायियों को पददलित करने की चेष्टा नहीं की जाती थी अपितु उन्हें योग्यतानुसार आगे बढ़ने का अवसर दिया जाता था और उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त भी किया जाता था। साँची के शिलालेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ अम्रकार्दव नामक एक उच्च सैनिक पदाधिकारी था, जो कि बौद्ध धर्म का अनुयायी था और जिसने साँची के महाविहार को पर्याप्त दान दिया था। इससे सम्राट चन्द्रगुप्त की धर्म सहिष्णुता व्यक्त होती है और उसकी उदार धार्मिक नीति पता चलती है।

गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम भी वैष्णव धर्म का अनुयायी था। परन्तु उसका हृदय भी विभिन्न धर्मों के प्रति आदर और सम्मान की भावना से भरा हुआ था। उसका बड़ा लड़का पुरुगुप्त बौद्ध था और छोटा लड़का स्कन्दगुप्त परम भागवत था। धर्म सहिष्णुता की नीति का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है। सातवीं शताब्दी में भारत भ्रमण करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि *गुप्त नरेश शक्रादित्य ने नालन्दा के बौद्ध विहार की स्थापना की थी।* विद्वानों ने इस शक्रादित्य को कुमारगुप्त प्रथम माना है क्योंकि शक्र का एक पर्यायवाची शब्द महेन्द्र भी है और महेन्द्रादित्य कुमारगुप्त प्रथम की उपाधि था। जब महेन्द्रादित्य उसकी उपाधि थी तो उसका पर्यायवाची शक्रादित्य भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में ह्वेनसांग द्वारा वर्णित शक्रादित्य कुमारगुप्त प्रथम ही ठहरता है। इस उदाहरण से सम्राट की धर्म सहिष्णुता प्रकट है। दूसरे धर्मों को प्रोत्साहित करने का इससे अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है।

कुमारगुप्त प्रथम की धर्म-सहिष्णुता केवल बौद्ध धर्म के प्रति ही न होकर सभी धर्मों के प्रति थी। उसने करमदण्डा प्रदेश का शासक पृथ्वीषेण को नियुक्त किया था जो कि शैव मत का अनुयायी था। सम्राट का सामन्त बन्धुवर्मा सूर्य का उपासक था और उसने दशपुर में एक सूर्य मन्दिर निर्मित करवाया था। इन तथ्यों से कुमारगुप्त की धर्म सहिष्णुता प्रकट है। उसके शासन काल में विष्णु के साथ साथ बुद्ध, शिव तथा सूर्य की पूजा का पर्याप्त प्रचलन था।

स्कन्दगुप्त भी गुप्त युग का एक वैष्णव धर्मानुयायी और धर्म सहिष्णु सम्राट था। उसके शासन काल में भी विष्णु के साथ साथ सूर्य तथा जैन तीर्थंकरों की पूजा के प्रमाण मिलते हैं। कुमारगुप्त द्वितीय के समय में रेशम के जुलाहों की श्रेणी ने

दशपुर के सूर्य मन्दिर का पुनरुद्धार कराया था। इन्द्रपुर का ताम्र पत्र इस बात को सूचित करता है कि बुधगुप्त के शासन काल में एक ब्राह्मण शर्मा द्वारा एक विहार को भूमि दान दिया गया था। इस प्रकार यह प्रकट है कि सभी गुप्त सम्राटों। धर्म के क्षेत्र में सहिष्णुता और उदारता की नीति को अपनाया था। विभिन्न धर्मों की शाखाएँ उनके संरक्षण में उन्नति को प्राप्त हो रही थीं और किसी भी धर्म अथवा धर्मानुयायी के प्रति दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था। इस प्रकार गुप्तयुग धार्मिक सहिष्णुता का युग था।

आर्थिक दशा

गुप्त काल में भारतवर्ष की आर्थिक दशा पर्याप्त समुन्नत थी। कृषि, उद्योग एवं व्यापार ने इस समय अपूर्व उन्नति की थी। देश धन धान्य से पूर्ण था और जनता सुखी व समृद्ध थी। आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था।

कृषि

भारत का प्रमुख व्यवसाय सदैव से ही कृषि रहा है। गुप्त काल में भी कृषि जनता का जीविकोपार्जन का प्रधान साधन था। इस समय गेहूँ, जौ, चावल, ज्वार बाजरा, दालें, तिलहन आदि की फसलें उत्पन्न की जाती थी। महाकवि कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस काल में धान और ईख की खेती प्रचुर मात्रा में होती थी। वन सम्पत्ति का मूल्य समझा जाता था तथा चन्दन के वन विशाल संख्या में लगाये जाते थे। 'अमरकोष' के एक अध्याय में विभिन्न प्रकार के वनों का वर्णन हुआ है।

गुप्त काल में कृषि की सिंचाई की व्यवस्था की ओर समुचित ध्यान दिया जाता था। नहरों, तालाबों और कुओं द्वारा सिंचाई की जाती थी। स्कन्दगुप्त के शासन काल में सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया गया था। इससे प्रकट है कि राज्य की ओर से फसलों की सिंचाई पर समुचित ध्यान दिया जाता था। कृषि की दशा अच्छी थी। देश में खाद्य पदार्थों की बहुलता थी।

उद्योग तथा व्यवसाय

गुप्त-युग में कृषि के साथ साथ विविध प्रकार के उद्योग एवं व्यवसाय भी प्रचलित थे। वस्त्र व्यवसाय बहुत उन्नति पर था। ऊनी, सूती तथा रेशमी तीनों प्रकार के वस्त्र बहुत महीन बुने जाते थे। गुजरात, बंगाल तथा तामिल देश में वस्त्र व्यवसाय अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था। 'अमरकोष' में चार प्रकार के वस्त्रों का वर्णन मिलता है। फाहियान ने लिखा है कि कपड़ा रंगने की कला भी उस समय उच्च अवस्था को प्राप्त थी।

वैसे तो आभूषण आदि बनाने का व्यवसाय मौर्य युग में ही काफी विकसित अवस्था में था, किन्तु गुप्तयुग में वह और अधिक कलापूर्णता को प्राप्त हुआ। आभूषण प्रेमी स्त्री-पुरुषों के लिए स्वर्णकार विविध प्रकार के कलात्मक आभूषणों का निर्माण

करते थे। वृहत्संहिता' में चौबीस प्रकार के आभूषणों का उल्लेख हुआ है। इस काल के जौहरी रत्न परीक्षा में विशेष निपुण हुआ करते थे। दिव्यावदान में लिखा है कि उनके पुत्रों को इसकी विशेष शिक्षा दी जाती थी। आभूषणों के निर्माण के साथ साथ हाथीदांत का काम भी उस समय अत्यन्त निपुणता के साथ किया जाता था। श्री कुमार स्वामी ने इस विषय में लिखा है कि भारतवर्ष में जहाज बनाने की कला का गुप्त एवं हर्षवर्धन का काल विशिष्ट रहा होगा जबकि भारतवासियों ने पेगु कम्बोडिया जावा, सुमात्रा और बोर्नियो आदि में अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी तथा चीन, अरब और फारस में व्यापारिक संस्थानों की स्थापना कर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।[1]

गुप्त-युग में पोत निर्माण कला ने भी अपूर्व प्रगति की। इस युग में व्यापार की दशा बहुत अच्छी थी और स्थल तथा जल दोनों मार्गों द्वारा व्यापार किया जाता था। जलमार्ग द्वारा व्यापार करने के लिए बड़ी बड़ी नावें तथा सामुद्रिक जहाज आवश्यक थे। इसीलिए इस युग में पोत निर्माण के व्यवसाय ने बहुत उन्नति की। चीनी यात्री फाहियान ने जलमार्ग द्वारा काफी यात्रा की थी। समुद्र यात्रा सम्बन्धी अनेक चित्र भी प्राप्त होते हैं। जावा के बोरोबुदुर नामक बौद्ध-मन्दिर में जहाज के अनेक चित्र अंकित हैं। इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय पोत निर्माण कला प्रगति को पहुंची हुई थी। वराहमिहिर' ने उल्लेख किया है कि भारत में समुद्र से मोती निकालना भी एक राष्ट्रीय व्यवसाय था।

उस समय लौह व्यवसाय की भी अच्छी व्यवस्था थी। उस व्यवसाय के उत्कर्ष का ज्वलन्त प्रमाण है सम्राट चन्द्रगुप्त का महरोली का लौहस्तम्भ जिसे विद्वानों ने गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का माना है। यह स्तम्भ २३ फीट ८ इंच लम्बा है तथा तौल में लगभग ८ टन है। पन्द्रह शताब्दियों से ग्रीष्म वर्षा तथा शीत के प्रहारों को सहन करता हुआ यह आज भी खुले आकाश के नीचे मस्तक उठाये खड़ा है। आश्चर्य तो यह है कि इतनी लम्बी अवधि के व्यतीत हो जाने पर भी यह ज्यों का त्यों है इसमें जरा सा भी जंग नहीं लगा है। इसी एक उदाहरण से गुप्त युगीन लौह व्यवसाय के उत्कर्ष को समझा जा सकता है।

गुप्त-युग में व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे। उस समय की मुहरों और शिलालेखों से पता चलता है कि जुलाहे तेली आदि विविध व्यवसायी अपनी-अपनी

---

[1] आर्ट एण्ड क्राफ्ट इन इण्डिया पृ० १६६

The greatest period of Indian ship building, however, must have been the Imperial age of Gupta and Harshavardhana, when Indians possessed great colonies in Pegu Combodia, Java Sumatra, Borneo and trading settlements in China, Arabia and Persia '

श्रेणियों में संगठित थे। कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर के लेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणी का उल्लेख है जो लाट से आकर दशपुर में बस गई थी। स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में भी तैलकों की एक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कुम्हार, शिल्पकार, वणिक आदि की भी श्रेणियों के उल्लेख इस युग के लेखों में अनेक स्थान पर मिलते हैं। उस समय वैशाली में सालेकार, व्यापारी और शिल्पियों की श्रेणी का एक सम्मिलित शक्तिशाली निगम था। वर्तमान समय में जो कार्य बैंक करते हैं, वे ही गुप्त युग में ये 'श्रेणी' और 'निगम' करते थे। उनकी अपनी एक समिति तथा समिति का एक अध्यक्ष रहता था। इनके पास रुपया रहता था और उस पर ये सूद लिया करते थे। गुप्त काल के आर्थिक जीवन में इन श्रेणियों और निगमों का विशेष महत्त्व था। इन श्रेणी संस्थाओं के सम्बन्ध में आर० सी० मजूमदार महोदय ने सत्य ही कहा है कि देश के कानूनों के द्वारा स्वाधीनता प्राप्त होने के कारण यही संस्थान शक्ति के केन्द्र तथा संस्कृति और प्रगति के निवास स्थान बन गये थे जिनके कारण वे समाज की शक्ति और गौरव बन गये थे।[1]

व्यापार

गुप्त-काल व्यापार की दृष्टि से भी उन्नत था। इस काल के प्रमुख व्यापारिक नगर वैशाली, उज्जयनी, दशपुर तथा भड़ौंच आदि थे। व्यापार जल एवं स्थल दोनों मार्गों से होता था तथा व्यापारी लोग अपनी सामग्री को दूर दूर तक बेचने के लिए ले जाते थे। अरब, फारस, मिश्र तथा रोम आदि देशों से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। स्थलमार्गीय व्यापार की सुविधा के लिए बड़ी-बड़ी सड़कें बनाई गई थीं और जलमार्गीय व्यापार बड़ी-बड़ी नावों तथा सामुद्रिक जहाजों से होता था। गुप्त युग के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में श्री के० एम० पणिक्कर लिखते हैं—'गुप्त साम्राज्य में सौराष्ट्र प्रान्त के प्रदेशानुबन्ध से अरब सागर के बन्दरगाहों के द्वार जनता के लिए खुल गये जिनमें होकर रोमन साम्राज्य का धन पहली बार उत्तर भारत में आना प्रारम्भ हुआ। ... गुप्तवंशी राजाओं ने पश्चिम के साथ व्यापार का द्वार खोल दिया जिसके कारण भारत में अभूतपूर्व समृद्धि की वर्षा होने लगी।' भारत तथा रोम के व्यापार की सुविधा के लिए गुप्त सम्राटों ने अपने सिक्कों को रोमन तौल पर तैयार कराया था। रोमन सिक्के दिनेरियस की भाँति ही गुप्तों का भी सिक्का था और वह दीनार के नाम से प्रसिद्ध था।'

जावा, कम्बोडिया व स्याम आदि पूर्वी देशों से भी गुप्त युगीन भारत के

---

[1] कौरपोरेट लाइफ इन एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० ६८

Through the autonomy and freedom accorded to them by the laws of the land they became a centre of strength and an abode of liberal cult re and progress which made them a power and ornament of the society'

व्यापारिक सम्बन्ध थे। कालिदास ने भी इसका वर्णन किया है तथा उनके वर्णन से प्रकट है कि चीन देश के रेशमी कपड़े का भारत में प्रचार था। भारत से विदेशों को हीरे, मोती, मूल्यवान पत्थर, वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, नील, मसाले, औषधियाँ तथा हाथीदांत की वस्तुएँ प्रमुख रूप से भेजी जाती थीं। बाहर से आने वाली वस्तुओं में घोड़े, सोना, चाँदी, खजूर, टीन तथा कपूर प्रमुख थे। इन वर्णनों से प्रकट है कि गुप्त युग व्यापार की दृष्टि से उन्नति का युग था और इस काल में देश की आर्थिक दशा पर्याप्त समुन्नत थी।

शासन-प्रबन्ध

जिस प्रकार कौटिल्य और मेगस्थनीज के विवरण हमें मौर्य शासन प्रणाली से अवगत कराते हैं उसी प्रकार से गुप्त शासन-व्यवस्था के परिचायक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हमारे समक्ष नहीं है। यद्यपि चीनी यात्री फाहियान चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में भारत आया था, परन्तु उसका प्रधान उद्देश्य बौद्ध धर्म से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करना था। इस प्रकार गुप्त शासन प्रणाली से परिचित कराने वाला कोई महत्त्वपूर्ण सूत्र तो हमारे सामने नहीं है, फिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाले विवरणों के आधार पर हम गुप्त शासन-व्यवस्था के स्वरूप को समझ सकते हैं। डा० अल्टेकर इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि हमारे पास विस्तृत सूचनायें हैं जिनसे हम गुप्तयुगीन सरकार और उसकी उपलब्धियों के निष्कर्ष निकाल सकते हैं, गुप्त शासन केन्द्र एवं प्रान्तों में सुव्यवस्थित था।[1]

केन्द्रीय शासन—गुप्त सम्राटों के शासन प्रबन्ध का अध्ययन करने पर प्रकट होता है कि उनकी शासन प्रणाली राजतन्त्रात्मक थी। साम्राज्य का प्रधान अधिकारी राजा होता था और उसकी शक्तियाँ तथा अधिकार अत्यन्त विस्तृत होते थे। वह उच्च सरकारी पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति करता था तथा उसे उनको पद से हटाने का भी अधिकार था। गुप्त नरेश महाराजाधिराज परमेश्वर, सम्राट, परम दैवत तथा चक्रवर्तिन आदि उपाधियाँ धारण करते थे। राजा देव-तुल्य माना जाता था। हरिषेण ने प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को कुबेर, वरुण, इन्द्र के सदृश बताया है। यद्यपि राजा को प्रशासन-व्यवस्था में सहायता देने के लिए मन्त्री होते थे, फिर भी शासन की सम्पूर्ण बागडोर सम्राट अपने हाथ में रखता था। वह राज्य के समस्त कार्य कलापों पर अपनी दृष्टि रखता था। सेना, आय-व्यय, न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि पर राजा अपना ध्यान रखता था।

---

[1] वाकाटक गुप्ता एज, पृ० २६२

"We possess fairly detailed information about the Gupta government and its achievements and can well conclude that it was very well organised both at the centre and in provinces."

गुप्त सम्राट् शासन कार्यों के अतिरिक्त कला और साहित्य का संरक्षण भी करते थे। याज्ञवल्क्य-स्मृति' में पुत्र तथा मित्र गुप्तचर भी राजा का निश्चय का एक अंग बताया गया है। इस स्मृति में राजा के कर्तव्यों पर भी विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है, और उन सावधानियों का वर्णन किया गया है जो कि सम्राट को अपने दैनिक जीवन में रखनी चाहिए। इसमें लिखा है कि राजा को अन्न भोजन आदि के सम्बन्ध में सचेष्ट रहना चाहिए और सहसा किसी पर विश्वास न करना चाहिए। इस काल के स्मृति ग्रन्थों में लोक-कल्याण को राजा का प्रधान कर्तव्य बताया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि राजा लोक-कल्याण का ध्यान रखकर ही प्रशासन व्यवस्था का संचालित करे।

मन्त्रिमण्डल—राजा को राजकीय कार्यों में सहायता देने के लिए मन्त्रिमण्डल था। इसके मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं था। शासन का प्रत्येक विभाग एक-एक मन्त्री के अधीन था। कभी-कभी एक मन्त्री को एक से अधिक विभाग भी सौंप दिये जाते थे। प्रयाग की प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण समुद्रगुप्त के शासन काल में तीन मन्त्रिपदों पर एक साथ आसीन था। स्मृति-ग्रन्थों में मन्त्रियों के लिए कुछ विशेष गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है। ये गुण पवित्रता, विद्वत्ता, सत्यवादिता, न्यायप्रियता, वीरता एवं कुलीनता आदि हैं। मन्त्री प्राय वंशानुगत रूप से पद पर नियुक्त किये जाते थे। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अन्य योग्य व्यक्तियों के लिए इस पद की प्राप्ति असम्भव हो थी। राजा यदि किसी अन्य व्यक्ति को इस महत्त्वपूर्ण पद के योग्य समझता था तो उसे नियुक्त कर देता था। मन्त्रिमण्डल के अधिवेशन में प्रधान का आसन राजा ग्रहण करता था। मन्त्री राजा को विभिन्न राजकीय मामलों में अपना परामर्श ही दे सकते थे। राजा उनकी सलाह को मानने के लिए बाध्य न था।

अन्य पदाधिकारी—शासन प्रबन्ध की सुविधा के लिए गुप्त साम्राज्य में अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति भी की जाती थी। गुप्तकालीन लेखों तथा सिक्कों से निम्न अधिकारियों की सूचना प्राप्त होती है—

१ सर्वाध्यक्ष—यह कर्मचारी सब विभागों का निरीक्षक होता था। इस पद पर उच्चवंशीय लोग ही नियुक्त किये जाते थे।
२ भाण्डागाराधिकृत—यह कोषाध्यक्ष होता था।
३ महासेनापति—यह सेना का सबसे बड़ा पदाधिकारी होता था।
४ महादण्डनायक—महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे जो कि सैन्य संचालन करते थे।
५ रणभाण्डागारिक—सेना के लिए अस्त्र शस्त्र भोजन तथा अन्य आवश्यक सामग्री जुटाने का भार जिस विभाग के अधीन होता था, उसका प्रधान रणभाण्डागारिक था।

६ महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूह रचना के विभाग का अध्यक्ष होता था।
७ दण्डपाशाधिकरण—पुलिस विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी होता था।
८ महासन्धिविग्रहिक—अन्तर्राष्ट्रीय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था।
९ विनयस्थितिस्थापक—वंशाली की एक मुहर पर यह नाम अंकित है। इससे प्रकट है कि यह अधिकारी धर्म तथा आचरण आदि के सम्बन्ध में देखभाल करता था।
१० दूत—यह कर्मचारी अन्य राज्यों में राजदूत का कार्य सम्पादित करता था।
११ ध्रुवाधिकरण—यह भूमिकर वसूल करता था।
१२ शौल्किक—यह कर लेने वाला कर्मचारी था।
१३ गौल्मिक—यह वनों का अध्यक्ष था।
१४ महाक्षपटलिक—यह राजकीय आदेशों तथा राजकीय आय व्यय का लेखा रखने वाला कर्मचारी था।

प्रान्तीय शासन—शासन प्रबन्ध को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए विशाल गुप्त साम्राज्य राष्ट्र, भुक्ति, विषय, नगर व ग्राम में विभक्त था। भुक्ति वर्तमान युग की कमिश्नरी के सदृश था। विषय वर्तमान जिलों के समान थे। राष्ट्र के शासक प्रायः राजकुल के व्यक्ति होते थे। ये युवराज कुमारामात्य' कहलाते थे। ये अपनी आन्तरिक नीति के सचालन में स्वतन्त्र थे। भुक्ति का शासक 'उपरिक' होता और इसकी नियुक्ति सीधे सम्राट द्वारा की जाती थी। उपरिक के अतिरिक्त इनके लिए भोगिक भोगपति और गोप्ता शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में तीर भुक्ति का शासक गोविन्दगुप्त था जो कि सम्राट का अपना पुत्र था। विषय का शासक विषयपति' कहलाता था। उस उसके कार्यों में सहायता देने के लिए एक सभा' होती थी जिसमें जिले के बड़े बड़े लोग सदस्य रहते थे। विषयपति' अपने प्रदेश की शान्ति और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी रहता था। एक विषय के अन्तर्गत अनेक ग्राम और नगर होते थे। शहरों का शासन पुरपाल" नामक कर्मचारी के अधीन होता था। नगर सभाएँ नगर में स्वास्थ्य एवं सफाई आदि पर ध्यान देती थीं। व्यापारियों और शिल्पियों के संघ भी मौजूद थे जो कि नगर शासन की सुव्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न करते थे। ग्राम के शासन चलाने का भार ग्राम पंचायत के ऊपर था। पंचायत पंचमण्डली कहलाती थी। यह संस्था गुप्त-युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गयी थी। स्थानीय झगड़ों का निपटारा करना, शिक्षा देने के लिए विद्यालय खोलना तथा चिकित्सालय आदि की स्थापना करना इसका कार्य था। दामोदरपुर ताम्रपत्र में ग्राम सभा के निम्न सदस्यों का उल्लेख आया है—१ महत्तर, २ अष्टकुलाधिकारी, ३ ग्रामिक, ४ कुटुम्बित। केन्द्र

की ओर से ग्राम पंचायत को विशेष सहायता भी कभी कभी प्रदान की जाती थी। साँची के एक शिलालेख में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सेनापति अम्रकादव के द्वारा एक ग्राम की पंचमण्डली को एक विशेष प्रयोजन के लिए २५ दीनारें दिये जाने का उल्लेख है। गुप्तकालीन लेखों आदि से यह प्रकट है कि उस युग में पंचायत प्रणाली का पूर्ण विकास हो चुका था और यह संस्था अत्यंत सुचारु रूप से ग्राम के प्रशासन को संचालित किया करती थी।

आय के साधन—गुप्त-काल में राजकीय आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था। फरीदपुर के ताम्रपत्र से इस बात का पता चलता है। भूमिकर के लिए 'भागकर' एवं 'उद्रंक' या उद्रंग नाम भी मिलते हैं। यह कर अधिकतर अनाज के रूप में वसूल किया जाता था। दूसरा कर भूतोवात प्रत्याय था। यह व्यापारिक तथा मादक वस्तुओं पर लगाई जाने वाली चुङ्गी थी। इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन लेखों में उपरिकर एवं विष्टी का भी उल्लेख मिलता है। विष्टी का अभिप्राय बेगार से था और यह बेगार कुआं तालाब, मंदिर, आदि सार्वजनिक कार्यों के निर्माण के लिए ली जाती थी।

गुप्त काल में राजकीय आय का एक अन्य साधन सामयिक कर था। गुप्त-कालीन लेखों से पता चलता है कि सेना और पुलिस के कर्मचारी जहाँ जहाँ पहुँचते थे उनका समस्त व्यय भार वहाँ के निवासी वहन करते थे। इसके अतिरिक्त जिन अपराधियों से अर्थ दण्ड वसूल किया जाता था वह धन भी राजकीय आय का साधन था। वनों खानों चरागाहों आदि पर भी कर लगता था। युद्ध के समय विशेष कर लगाया जाता था। इस प्रकार गुप्त-युग में राजकीय आय के अनेक साधन थे।

राजकीय व्यय—विविध स्रोतों के द्वारा गुप्त सम्राट जिस धन राशि का अर्जन करते थे उसे वे अपने व्यक्तिगत सुख और आराम के काम में नहीं लाते थे। राजकीय आय को जनता के हित के कार्यों में व्यय किया जाता था। आय का एक भाग राज कर्मचारियों के वेतन में व्यय होता था। सेना एवं पुलिस विभाग के ऊपर भी पर्याप्त धन व्यय किया जाता था। आकस्मिक आपत्तियों से राज्य की रक्षा करने के लिए भी धन का एक अंश सुरक्षित रखा जाता था और उसे ऐसे अवसरों पर ही काम में लाया जाता था। इसके अतिरिक्त गुप्त सम्राट लोकहित के कार्यों में भी राजकीय आय को व्यय करते थे। सड़कों का निर्माण और उनकी मरम्मत, सिंचाई के साधनों की व्यवस्था आदि राज्य की ओर से यथेष्ट मात्रा में की जाती थी। शिक्षा प्रचार में भी वे राजकीय धन के एक अंश को व्यय करते थे। उन्होंने अनेक मंदिरों का निर्माण कराया था। ये मंदिर धार्मिक महत्त्व के स्थान होने के साथ साथ प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने का कार्य भी करते थे। गुप्त-सम्राट कुमारगुप्त प्रथम ने जगत्प्रसिद्ध नालन्दा के बौद्ध विहार की स्थापना की थी। गुप्त सम्राट दोनों व

अनाथो की सहायता भी समय-समय पर किया करते थे। मंदिरो और ब्राह्मणो को अत्यधिक परिमाण मे भूमिदान भी दिया जाता था। इस प्रकार गुप्तकाल मे राजकीय आय को अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों मे व्यय किया जाता था।

सनिक सगठन—गुप्तयुग का सनिक विभाग भी पर्याप्त सुसगठित था। गुप्त सम्राट कुशल प्रशासक होने के साथ साथ महान् विजेता भी थे। अपनी विजय योजनाओ के सम्पादन के लिए इन्हे एक विशाल और सुसगठित सेना की आवश्यकता थी। अतएव उन्होने अपने सैन्य सगठन के सम्बन्ध मे विशेष जागरूकता दिखाई। उनकी सेना म पदल गजारोही तथा अश्वारोही सनिक होते थे। सेना का प्रधान अधिकारी महासेनापति होता था। हाथियो के नायक को कटुक तथा घुडसवारो के प्रधान को 'भटाश्वपति' कहते थे। गुप्त लेखों म साधारण सनिक के लिए 'चाट' शब्द का प्रयोग किया गया है। युद्ध म विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्रो का प्रयोग किया जाता था। प्रयोग की प्रशस्ति मे परशु शर, अकुश शक्ति, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच आदि हथियारो के नाम मिलते हैं। शत्रुओ से अपने आप को सुरक्षित रखने के लिए सुदृढ किलबदी भी की जाती थी। इस प्रकार गुप्त युग का सैन्य विभाग पर्याप्त रूप से सगठित और व्यवस्थित था।

न्याय व्यवस्था—गुप्त युग मे न्याय व्यवस्था अत्यन्त उत्तम थी। सम्भवत प्रधान न्यायाधीश सम्राट होता था। गुप्तकालीन लखो और मुहरो म दण्डनायक, महादण्डनायक सवदण्डनायक तथा महासवण्डनायक आदि न्याय-विभाग के पदाधिकारियो के नाम मिलते हैं। ग्रामो मे न्याय का काय ग्राम पचायते करती थी। गुप्तकाल मे दण्ड प्रणाली कठोर न थी। इसका कारण यह था कि उस समय जनता का नतिक स्तर ऊचा था और वह अपराध बहुत कम करती थी। प्राण दण्ड नही दिया जाता था। प्राय अथ दण्ड ही अधिक दिये जाते थे। चीनी यात्री फाहियान ने इस बात का उल्लेख किया है। यदि कोई व्यक्ति बार बार अपराध करता था, तो उसका दाहिना हाथ काट लिया जाता था। न्याय के उपरान्त जो कमचारी शारीरिक दण्ड देता था उसे 'दण्डिक' कहा जाता था। इस प्रकार गुप्तकालीन न्याय-व्यवस्था अत्यन्त उदार थी और न्याय का प्रबन्ध बहुत उत्तम था।

उपर्युक्त वणन के आधार पर गुप्तकालीन शासन व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस काल की प्रशासन-व्यवस्था अपने महत्त्वपूर्ण गुणो के कारण सहज ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती है। ग्राम पचायत का जसा विकसित स्वरूप गुप्त युग मे विद्यमान था उसे आज तक हम भारत के ग्रामो म आशिक रूप से अवशिष्ट पाते हैं। न्याय का उस युग म जसा उत्तम प्रबन्ध था, वह आज भी हमारे सम्मुख एक आदश के रूप म है। इस प्रकार गुप्तकालीन शासन प्रबन्ध पर्याप्त सुसगठित और सुव्यवस्थित कहा जा सकता है।

साहित्य

गुप्तकाल में न केवल समाज, धर्म और प्रशासन के क्षेत्र में उन्नति और प्रगति थी अपितु साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त जागरूकता थी। इस युग में साहित्य में जो असाधारण प्रगति हुई उसे देखकर मैक्समूलर आदि विद्वानों ने यहाँ तक कह डाला कि पिछली कई शताब्दियों से गहरी नींद में सोया हुआ संस्कृत साहित्य गुप्त-युग में एकाएक जाग उठा और इस जागृति के फलस्वरूप बहुत अधिक मात्रा में साहित्य सृजन हुआ। यद्यपि मैक्समूलर के मत को हम पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि साहित्य के अध्ययन से प्रकट है कि संस्कृत साहित्य की निरन्तर प्रवाहमयी धारा कभी पूर्ण अवरुद्ध नहीं हुई थी और कम या अधिक मात्रा में साहित्य निर्माण होता ही रहा, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि गुप्तयुग में यह धारा अत्यन्त प्रबल वेग से प्रवाहित हो उठी थी और साहित्य की विविध दिशाओं में अधिकाधिक प्रगति हुई थी। इस काल में बड़े बड़े मेधावी लेखक, नाटककार और कवि हुए, जिन्होंने अपने ज्ञान और विज्ञान से संस्कृत भाषा और साहित्य को भरपूर।

गुप्त नरेश संस्कृत-भाषा और साहित्य के प्रेमी थे। उनके राजत्व-काल में यह भाषा बहुत फली फूली। श्री के० एम० पणिक्कर के शब्दों में 'गुप्तकाल में उच्चकोटि के संस्कृत साहित्य का सृजन हुआ। इसे संस्कृत साहित्य का श्रेष्ठ युग कहा जा सकता है। पाणिनि के पश्चात् पाँच सौ वर्षों तक संस्कृत का परिमार्जन और परिष्कार होता रहा और तब यही वह कालिदास के समय अपने लावण्य और साहित्य सुषमा से अत्यन्त मनोरम बन गई।' गुप्त सम्राटों का संस्कृत भाषा के प्रति अपार अनुराग था। उनके सब शिलालेखों की भाषा संस्कृत ही है। उन्होंने सर्वसाधारण में जिन मुद्राओं को चलाया उन पर भी संस्कृत के श्लोक अङ्कित कराये थे। उनके संस्कृत प्रेम के विषय में श्री लूनिया लिखते हैं, 'गुप्त सम्राट संस्कृत के इतने उत्साही प्रशंसक थे कि ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अपने रंगमहलों और अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग करने के आदेश दिये थे।' उनके इस संस्कृत प्रेम के परिणामस्वरूप ही गुप्त काल में संस्कृत भाषा और साहित्य की असाधारण प्रगति हुई। इस युग की साहित्यिक प्रगति को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(क) ब्राह्मण साहित्य, (ख) बौद्ध साहित्य (ग) जैन साहित्य।

(क) ब्राह्मण साहित्य—गुप्तयुग की साहित्यिक विभूतियों में सबसे पहला नाम महाकवि कालिदास का है। यद्यपि इस महान् साहित्यकार का विशेष जीवनवृत्त हमें मालूम नहीं है फिर भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि कालिदास गुप्तयुग के ही अन्यतम कवि थे। डा० स्मिथ, मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें गुप्त युग का बताया है और डा० भण्डारकर तथा पं० रामावतार शर्मा आदि विद्वानों ने इसका समर्थन किया है। प्रायः सभी विद्वान् अब इस मत को मानते हैं।

कालिदास गुप्तकाल के ही कवि थे, इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए

हमारे पास अनेको तर्क हैं। पहली बात तो यह है कि कालिदास ने रघुवंश मे रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया है वह बहुत कुछ हरिषेण द्वारा वर्णित समुद्रगुप्त की दिग्विजय के वर्णन से मिलता जुलता है। दूसरी बात यह है कि कालिदास ने रघुवंश मे रघुवंशी राजाओ के उच्च चरित्र का जो वर्णन किया है वह बहुत कुछ धर्मानुयायी गुप्त शासको के आदर्श चरित्र से समता रखता है। कालिदास ने रघुवंश मे पूर्ण शान्ति का जो चित्र खीचा है वह सुशासनयुक्त गुप्त समाज मे ही सम्भव थी। मेघदूत मे उन्होने यक्ष-पत्नी के आवास एवं उद्यान का जो मनोहारी रूपचित्र खीचा है। उसे गुप्त सम्राटो के वैभवपूर्ण युग मे रहने वाला कवि ही कर सकता था। इन प्रमाणो के अतिरिक्त 'कुन्तलेश्वरदौत्यम' नामक नाटक भी कालिदास को गुप्तयुगीन सिद्ध करता है। इसमे यह उल्लिखित है कि कालिदास को सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कुन्तल प्रदेश मे, वहा की व्यवस्था को देखने के लिए अपना राजदूत बनाकर भेजा था। इन सब प्रमाणो के आधार पर हम कालिदास को गुप्तयुगीन कवि प्रमाणित कर सकते हैं।

कालिदास ने कुल सात ग्रन्थो की रचना की है—ऋतुसंहार, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, विक्रमोर्वशी मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञान शाकुन्तल। कुछ विद्वान कालिदास को कुछ अन्य ग्रन्थो का रचयिता बताते हैं। परन्तु यह बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती कि कालिदास ने ही उनकी रचना की है। जो भी हो, जो ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से कालिदास के हैं वे ही उन्हे अमर बना देने के लिए पर्याप्त हैं। 'निसंदेह यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं। ओज प्रसाद आदि गुणो और उपमा आदि अलंकारो की दृष्टि से संस्कृत का अन्य कोई भी काव्य इनका मुकाबला नही कर सकता। जब तक संस्कृत भाषा का अध्ययन जारी रहेगा, कालिदास का नाम भी संसार मे अमर रहेगा। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति नही है कि कालिदास संसार का सर्वश्रेष्ठ कवि है।" कालिदास के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए श्री वी० जी० गोखले ने लिखा है कि—

'कालिदास के समय मे पहुंचकर परिष्कृत संस्कृत साहित्य अपने गौरव के शिखर पर पहुंच जाता है और उसमे उदात्त भाषा मे महान् विचारो को व्यक्त किया जाने लगता है। कालिदास को 'कविकुलगुरु' कहा गया है और उपमा के प्रयोग मे तो वह सचमुच अद्वितीय है। कालिदास की कविता मे हम ज्ञान तथा भाव, काव्य कला तथा वस्तुनिष्ठा, निष्कलङ्क भाषा तथा उदात्त रस का एक अनोखा समन्वय मिलता है। उनकी प्रत्येक रचना एक ऐसे मेधावी पुरुष की कृति प्रतीत होती है जो अपनी शक्ति का ज्ञान होते हुए भी अपनी विनम्रता के कारण महान् है।"[1]

---

[1] एंशिएण्ट इण्डिया, पृ० १७०, १७२ ७३

'With Kalidasa classical Sanskrit reaches its zenith, expressing

गुप्तकाल का एक अन्य प्रसिद्ध नाटककार शूद्रक था। इसने 'मृच्छकटिक' नामक नाटक की रचना की थी। इस नाटक के प्रमुख पात्र पाटलिपुत्र की नर्तकी वसन्तसेना तथा कुलशीलवान् युवक चारुदत्त है। यह नाटक समाज के यथार्थ स्वरूप का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है और इसमें समाज में निम्न कहे जाने वाले लोगों के प्रति शूद्रक ने अपनी सहानुभूति प्रकट की है।

'मुद्राराक्षस' का रचयिता विशाखदत्त भी गुप्तकाल में ही हुआ था। मुद्राराक्षस में नन्दवंश के विनाश तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनासीन होने की कथा बड़े सुन्दर ढंग से वर्णित है। राजनीतिक चालों तथा कूटनीतियों का इससे अच्छा वर्णन अन्यत्र अप्राप्य है। विशाखदत्त की दूसरी कृति 'देवी चन्द्रगुप्तम्' है और इसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा ध्रुवदेवी की कथा को विशद रूप से वर्णित किया गया है।

सुबन्धु गुप्तयुग का एकमात्र गद्य लेखक था। इसकी कृति का नाम 'वासवदत्ता' है। बाण ने सत्य ही लिखा है कि 'सुबन्धु ने वासवदत्ता लिखकर कवियों के गर्व का चूर्ण कर दिया।' वास्तव में वासवदत्ता एक ऐसी कलापूर्ण कृति है जो अपनी साहित्यिक विशेषताओं के कारण गद्य में काव्य की सी ही मनोहारिता लालित्य और अलंकारिता आदि गुणों से युक्त है।"भर्तृमेण्ठ भी गुप्तयुग का साहित्यकार था, परन्तु इसका ग्रन्थ "हयग्रीव वध" दुर्भाग्यवश अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। यत्र-तत्र अन्य ग्रन्थों में इसके कुछ श्लोक ही मिलते हैं।

गुप्तकालीन कवियों में हरिषेण का नाम प्रसिद्ध है। इसकी एकमात्र रचना सम्राट समुद्रगुप्त की प्रयोग की प्रशस्ति है जिसके आरम्भिक ८ छन्दों में समुद्रगुप्त की कीर्ति तत्पश्चात् ६० पंक्तियों में समुद्रगुप्त की दिग्विजय और अन्त में लेखक का अपना परिचय दिया गया है। वीरसेन भी इस काल का कवि था और उसने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि गुहा के लेख की रचना की थी। वत्सभट्टि ने कुमारगुप्त के शासन काल में मन्दसौर की प्रशस्ति का लिखा था जिसमें ४४ श्लोक हैं। वासुल भी गुप्तयुग का एक अन्य कवि था जिसने मालवा के राजा यशोधर्मन की मन्दसौर प्रशस्ति को लिखा है।

गुप्त काल में अलंकार शास्त्र का भी विकास हुआ। आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में इस शास्त्र का विशद विवेचन किया। प्रसिद्ध कोषकार

---

as it does great subjects in noble language Kalidasa is described as the Kavi kul guru, the foremost of poets—and there is none to equal him in the use of simile In Kalidasa's poetry we find a unique combination of knowledge and sentiment artistry and sincerity faultlessness of language and nobility of effect Every work of his is a veritable testament of a genius who though conscious of his power, was great in his humility

अमरसिंह ने भी "नामलिंगानुशासन" नामक ग्रन्थ की रचना करके साहित्य भण्डार को भरने में योगदान दिया। कामन्दक का 'नीतिसार' गुप्तयुग का प्रसिद्ध नीति ग्रंथ है। महर्षि वात्स्यायन' का 'कामसूत्र' इस काल में लिखा जाने वाला काम शास्त्र का ग्रन्थ है।

दार्शनिक साहित्य—गुप्तकाल में दार्शनिक साहित्य का भी बहुत विकास हुआ। सांख्य-दर्शन के क्षेत्र में विन्ध्यवासी और ईश्वर कृष्ण नामक आचार्य हुए। ईश्वर कृष्ण ने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा है इसमें सांख्य-दर्शन को अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। न्याय दर्शन की भी बहुत उन्नति हुई। गुप्तकाल से पूर्व जो न्याय ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, उन पर इस युग में भाष्य लिखे गए। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में बौद्धों के माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खण्डन किया। उद्योतकर ने वात्स्यायन के भाष्य पर अपना वार्तिक लिखा। वैशेषिक-दर्शन के क्षेत्र में आचार्य प्रशस्तपाद ने अपना "पदार्थ धर्म संग्रह" नामक ग्रन्थ लिखा। जैमिनी के मीमांसा सूत्रों पर शबरस्वामी ने अपना भाष्य लिखा। इस भाष्य के द्वारा मीमांसा-दर्शन का बहुत अधिक विकास हुआ।

धार्मिक साहित्य—गुप्त काल के धार्मिक साहित्य में पुराणों और स्मृतियों को परिगणित किया जाता है। अठारह पुराणों में से कुछ का निर्माण तो गुप्त-युग के पूर्व ही हो चुका था और कुछ इस युग में रचे गये। भागवत, शिव, मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराण इसी युग की कृति हैं। स्मृति ग्रन्थों में मनुस्मृति, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण गुप्तकाल से पूर्व हो चुका था, इस युग में नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति और बृहस्पतिस्मृति को लिखा गया। दुर्भाग्यवश कात्यायन स्मृति अभी तक प्राप्त नहीं है। पीछे की रचनाओं में इसके ६०० श्लोक ही मिलते हैं।

(ख) बौद्ध साहित्य—गुप्तकाल में बौद्ध-साहित्य का भी पर्याप्त मात्रा में सृजन किया गया। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म हीनयान और महायान सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। बाद में इन दोनों के भी उपविभाग हो गये। हीनयान के थेरवाद तथा वैभाषिक और महायान के माध्यमिक तथा योगाचार सम्प्रदाय बने। गुप्तकाल में इन चारों सम्प्रदायों के साहित्य का विकास हुआ। योगाचार सम्प्रदाय के असंग तथा वसुबन्धु नामक ग्रन्थकार गुप्तकाल में ही हुए। असंग ने महायान सम्परिग्रह' 'प्रकरण आर्यवाचा' तथा योगाचार भूमि शास्त्र' आदि ग्रन्थों की रचना की। वसुबन्धु असंग के छोटे भाई थे और पहले बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। बाद में ये महायान शाखा के समर्थक हो गये। अतएव इनके ग्रन्थ दोनों शाखाओं पर रचे हुए हैं। इनके हीनयान सम्बन्धी ग्रन्थों में 'परमार्थ सप्तति', 'तर्क शास्त्र', 'वाद-विधि' तथा महायान सम्बन्धी ग्रन्थों में सद्धर्म पुण्डरीक' की टीका, महापरिनिर्वाण सूत्र' की टीका आदि महत्त्वपूर्ण हैं। वसुबन्धु के आचार्य स्थिरमति और दिङ्नाग नामक शिष्यों ने भी अनेक ग्रन्थ लिखे।

बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय के साहित्य की भी गुप्तकाल में प्रगति हुई। स्थविर बुद्धपालित और 'भावविवेक' नामक आचार्यों ने इस धारा में ग्रंथ लिखे। वैभाषिक सम्प्रदाय के साहित्यिक ग्रंथ 'वैभाषिक' तथा 'संघभद्र' नामक आचार्यों ने लिखे। थेरवाद सम्प्रदाय के बुद्धघोष, बुद्धदत्त तथा धम्मपाल आचार्य इस युग में हुए और उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार गुप्त युग में बौद्ध साहित्य का यथेष्ट विकास हुआ।

(ग) जैन साहित्य—गुप्तकाल जैन साहित्य के विकास की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सिद्धसेन दिवाकर नामक विद्वान इसी युग में हुए जिन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचना की। 'न्यायावतार' इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ है और जैन न्यायशास्त्र पर लिखा गया है। इस युग के अन्य विद्वानों में जिनभद्रगण, सिद्धसेनगणि, समन्तभद्र और देवनन्दि प्रमुख हैं। देवनन्दि की कीर्ति को फैलाने वाले ग्रंथ का नाम 'जैनेन्द्र व्याकरण' है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं गुप्तकाल में ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मों के साहित्य को विकास का अवसर प्राप्त हुआ था और उनके भण्डार की श्रीवृद्धि हुई थी। निःसन्देह साहित्यिक विकास की दृष्टि से गुप्त युग चरम उत्कर्ष का युग कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक प्रगति

वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भी हम गुप्तकाल को बहुत आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। इस युग में भारतीय वैज्ञानिकों ने नवीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे अन्वेषण किये जिन्हें संसार के अन्य देश नहीं जानते थे। उस युग की वैज्ञानिक प्रगति को देख हम आज भी चकित हुए बिना नहीं रहते हैं। एक विद्वान् के शब्दों में—गुप्तशासन काल में भारतीय विज्ञान की पर्याप्त प्रगति हुई। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि भारतीय ज्योतिष विद्या स्वयं अत्यधिक विकसित थी। ग्रीकों के भारत आगमन पर भारतीयों ने उनसे नवीन पद्धति का अध्ययन किया, लेकिन यह भारतीय ज्योतिष ही था जो यूरोप, अरब आदि देशों में मध्ययुग में पहुँचा।

"During the Gupta era Indian science also made great advances We know that Indian astronomy was already far advanced when the Greeks arrived and that *Indians learned from the invader* a new system But it was Indian astronomy which passed on the Europe Arab translations in the middle Ages"

इसमें सन्देह नहीं कि ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा रसायन आदि के क्षेत्र में गुप्तकाल में पर्याप्त विकास हुआ था। अब हम इस विकास का पृथक् पृथक् अध्ययन करेंगे।

ज्योतिष

गुप्त-युग म ज्योतिष शास्त्र पर सबस पहला ग्रथ 'वशिष्ठ सिद्धा त लिखा गया और इसम दिनगणना पर विचार किया गया। वराहमिहिर ने ज्योतिष के पच-सिद्धांतिका' वृहत्सहिता', वृहज्जातक तथा लघुजातक नामक ग्रथ लिखे। इस क्षेत्र म सबस महत्त्वपूण स्थान आयभट्ट का है। इस वज्ञानिक ने ही सूय ग्रहण एव चद्र-ग्रहण के सम्बध मे लोक प्रचलित अ धविश्वास का खण्डन किया और ग्रहण के वास्तविक कारण को वज्ञानिक दृष्टि से खोज कर स्पष्ट किया। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती रहती है इस सिद्धा त को प्रतिपादित करन वाला भी आय-भट्ट ही था। दिन और रात क्या छोटे बडे होते रहते हैं तथा विभिन्न नक्षत्र और ग्रह कसी गति रखत हैं, आदि पर भी उसने सत्य सिद्धान्त सामन रखे।

ब्रह्मसिद्धा त' का रचयिता ब्रह्मगुप्त भी गुप्तकाल म हुआ था और वह भी इस काल का प्रसिद्ध ज्योतिषी था। लाटदव भी इस क्षत्र म एक उल्लेखनीय व्यक्ति है। यह आयभट्ट का सबसे प्रमुख शिष्य था। इस काल का सूय सिद्धान्त' नामक एक अ य ज्योतिष ग्रथ भी प्राप्त है, कि तु उसके रचयिता का नाम ज्ञातव्य नही है। भारतीय ज्योतिषियो ने ग्रीक स भी बहुत कुछ सीखा तथा अपनाया, क्योकि वहाँ पर इस क्षेत्र म बहुत उन्नति हो रही थी। ज्योतिष के अनक शब्द ग्रीक भाषा से लिये गए।

गणित

आयभट्ट और वराहमिहिर न न केवल ज्योतिष के क्षेत्र म अपितु गणित के क्षेत्र म भी महत्त्वपूण काय किया। वे प्रसिद्ध गणितज्ञ भी थ। वराहमिहिर की गणना विक्रमादित्य के नवरत्नो के अ तगत की गई है। इसी से हम उसके महत्त्व के विषय मे अनुमान लगा सकते है। आयभट्ट ने गणित पर अपना 'आयभट्टीयम्' नामक ग्रथ लिखा। इस ग्रथ म उसने अकगणित, बीजगणित व रेखागणित के विविध सिद्धा तो का अत्यत सुदरता से वणन किया है। 'दशमलव के सिद्धान्त का भी इस ग्रथ म अत्यत स्पष्ट निरूपण है। यह सिद्धा त इससे पहले भी भारतीयों को ज्ञात था क्योकि चौथी सदी के एक ग्रथ म भी इसका उल्लेख मिलता ह। आयभट्ट का ग्रथ पाँचवी सदी का है। विश्व के अ या य देशो ने भारत स ही इस सिद्धा त को सीखा।

आयुर्वेद

गुप्तकाल मे आयुर्वेद के क्षेत्र म भी महत्त्वपूण प्रगति हुई। वाग्भट्ट नामक आयुर्वेदाचाय ने 'अष्टागहृदय की रचना की। इस ग्रथ के अनुशीलन स विदित होता है कि भारत म चिकित्सा प्रणाली किस प्रकार प्रगति पथ पर अग्रसर हो रही थी। धन्वतरि नामक वद्य भी गुप्तकालीन था। कहते हैं कि यह च द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नो म स एक था। इसे आयुर्वेद का प्रकाण्ड पण्डित व आचाय माना जाता है। "नावनीतकम" नामक एक चिकित्सा विषयक पुस्तक पूर्वी तुर्किस्तान म मिली है

जिसे गुप्तकालीन माना जाता है। हाथियों की चिकित्सा से सम्बन्धित 'हस्त्युपवेद' नामक ग्रंथ भी गुप्तकाल में ही रचा गया था। शल्य चिकित्सा से भी इस काल के चिकित्सक अवगत थे।

रसायन

गुप्तयुग सर्वतोमुखी उन्नति का युग था। ऐसा कोई भी विषय अथवा विद्या नहीं है जिसकी इस युग में उन्नति न हुई हो। रसायन विज्ञान का भी इस काल में पर्याप्त विकास हुआ। दुर्भाग्यवश इस विषय का कोई ग्रंथ आज हमारे सामने उपस्थित नहीं है, परन्तु तत्कालीन अनेक अवशेषों से हम इसकी प्रगति व विकास का अनुमान लगा सकते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रमाण है दिल्ली के समीप महरौली में प्राप्त लोह स्तम्भ। इस स्तम्भ पर चन्द्र नामक राजा की प्रशस्ति उत्कीर्ण है जिसे विद्वानों ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य माना है। इस प्रकार यह लौह स्तम्भ गुप्तकालीन प्रमाणित होता है। यह २४ फीट ऊँचा और १८० मन के लगभग वजन का है। इसे देखकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि गुप्तकाल में धातु विज्ञान ने अत्यन्त प्रगति करली थी क्योंकि इतने विशाल और भारी लौह स्तम्भ का तैयार कर लेना आसान कार्य नहीं है। १८ शताब्दियों से ग्रीष्म शीत और वर्षा के घात प्रतिघातों को सहन करने के उपरान्त भी इस पर आज तक जंग नहीं लगा है। लोह को किस प्रकार ऐसा किया गया है जिससे उस पर जंग न लगे इस रहस्य को आधुनिक वैज्ञानिक भी नहीं समझ सके हैं।

गुप्तकाल में धातुओं के द्वारा विविध प्रकार की मूर्तियाँ भी निर्मित की जाती थी। तलवारों को तेज बनाना सान के रत्नों के आभूषण तैयार करना तथा रत्नों की पहचान करना आदि पर भी गुप्तकाल में विचार किया गया था। इस प्रकार धातु विज्ञान की इस काल में बहुत प्रगति हुई थी। गुप्तकाल के इस चतुर्मुखी साहित्यिक अभ्युत्थान के सम्बन्ध में उपाध्याय जी ने लिखा है "उस काल में विज्ञान ने भी बड़ी उन्नति की और भारतीय विज्ञान के तीन महान् स्तम्भ—आर्यभट्ट वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त तभी हुए। गणित और ज्योतिष में उन्होंने अद्भुत ग्रंथ लिखे। आर्यभट्ट ने अनुमान से जो पृथ्वी की परिधि नापी वह आज भी करीब करीब सही मानी जाती है। वराहमिहिर शायद शाकद्वीपी ईरानी ब्राह्मण था जिसने ज्योतिष के अपने ग्रंथों में देशी विदेशी सभी सिद्धान्तों को एकत्र किया। ब्रह्मगुप्त महान् गणितज्ञ था और प्राचीन गणितज्ञों की उसने बड़ी छान-बीन की।"[1]

शिक्षा की दृष्टि से भी यह युग महान् था। यद्यपि उस काल में बड़े बड़े विश्वविद्यालय नहीं मिलते हैं फिर भी "जिस शिक्षा प्रणाली ने कालिदास वसुबन्धु दिङ्नाग धन्वन्तरि, वत्सभट्टि आर्यभट्ट वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के से पंडितों को शिक्षित किया वह कुछ साधारण न रही होगी। इन कवियों और पंडितों के ग्रंथों

[1] सांस्कृतिक भारत, पृ० १४६-१५०

से पता चलता है कि शिक्षा की दृष्टि से अनेक पुस्तकें वतमान थी जसे चारो वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् वेदाङ्ग दशन, कामसूत्र अथशास्त्र, रामायण, महाभारत, पुराण, सभी कुछ। आचाय और उपाध्याय शिष्या और ब्रह्मचारियो को अपने पास रखकर पढाते थे।"[1] इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी महान् थी।

गुप्तकालीन कला RAS4

भारतीय-कला के इतिहास म गुप्तकाल वैभव और विकास का काल था। इस काल म कला की समस्त शाखाओ—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एव सगीत को कला के चरम विकास की ओर अग्रसर होने का अवसर मिला। वास्तव मे किसी देश म कलात्मक विकास तभी होता है जब वहा शान्ति और सुव्यवस्था का वातावरण उपस्थित रहता है। अशान्ति और अ यवस्था के मध्य कला के विकासकारी तत्त्वो की प्राप्ति असम्भव है। जहाँ तक गुप्तकाल का प्रश्न है, हम देख चुके हैं कि यह पूण शान्ति और सु यवस्था का काल था। गुप्त नरेश महान् विजेता और कुशल प्रशासक थे और उनकी छत्र छाया म जनता सुखी और सम्पन्न थी। इस प्रकार कला की उन्नति और विकास की परिस्थितियाँ विद्यमान थी और अनुकूल परिस्थितियो म कला के विविध अङ्गो के विकसित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस विषय म श्री लूनिया लिखते है—' कलाओ के क्षेत्र म गुप्तकाल अपनी सर्वोत्कृष्टता की चरम पराकाष्ठा तक पहुच गया था। गुप्तकाल का गौरव और वभव विविध दशनीय कला कृतियो क द्वारा ही स्थायी और चिरस्मरणीय हो गया। इस युग म समस्त भारतवष म कलाओं की अतुलनीय गतिविधि रही। तक्षण-कला, वास्तुकला, चित्रकला और पकी हुई मिट्टी की मूर्तिकला ने वह परिपक्वता, सतुलन और अभि यक्ति की स्वाभाविकता प्राप्त की थी, जिसकी श्रेष्ठता को आज भी कोई प्राप्त न कर सका।" इसम स देह नही कि गुप्तकालीन कलाकारो ने उस निपुणता को प्राप्त कर लिया था कि उनकी कला जीवित और प्राणवान बन गई थी। ऐसी कला न तो इससे पहले देखने म आई थी और न इसके बाद ही देखने को मिली। श्री लूनिया गुप्तकालीन कला की विशेषताओ का सकेत करते हुए लिखते हैं कि ' गुप्त काल की कला की विशेषतायें अद्भुत भावात्मकता लालित्य शली की सरलता भाव यजना, स्वाभाविकता, गाम्भीर्य, रमणीयता, माधुर्य, अभि यक्ति की सादगी व सजीवता और आध्यात्मिक अभिप्राय का प्राधा य है।"[2] गुप्तकालीन कला को हम निम्नलिखित शीषको म विभाजित कर सकते हैं—

१ वास्तुकला
२ मूर्तिकला,

---

[1] सास्कृतिक भारत, पृ० १५०
[2] भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास, पृ० २१४।

३ चित्रकला
४ संगीत, नृत्य एवं अभिनय कला।

वास्तुकला

गुप्तकालीन वास्तुकला अपने पूर्ण रूप में आज हमें प्राप्त नहीं होती है। उस युग के विशाल प्रासाद आदि काल के थपेड़ों में भूमिसात् हो चुके हैं। तो भी जो कुछ भी कृतियाँ इन विनाशकारी आघातों से बच सकी रह गई हैं उनके आधार पर हम गुप्तकालीन वास्तुकला के विषय में अनुमान लगा सकते हैं। निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत गुप्तकालीन वास्तुकला का अध्ययन किया जा सकता है—(क) राजप्रासाद, (ख) स्तम्भ, (ग) स्तूप, विहार तथा गुफाएँ (घ) मन्दिर।

(क) राजप्रासाद—गुप्तकाल का कोई भी प्रासाद आज हमारे समक्ष उपस्थित नहीं है। ये सभी समय के साथ मिट्टी में मिल चुके हैं। साहित्यिक वर्णनों के आधार पर ही हम उनके सम्बन्ध में अनुमान लगा सकते हैं। कालिदास की कृतियाँ इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके उज्जयिनी के वर्णन में तो राजमहलों का चित्र हमारी आँखों के सामने खिंच जाता है। वत्सभट्टि ने मन्दसोर की प्रशस्ति में लिखा है कि दशपुर के महल ऊँचाई में कैलाश शिखर की भाँति थे। अजन्ता की गुफाओं में भी हमें कुछ महलों के चित्र मिलते हैं।

(ख) स्तम्भ—गुप्तकाल में अनेक प्रकार के स्तम्भ भी निर्मित किये गये। ये स्तम्भ मौर्यकालीन स्तम्भों के समान गोल तथा चिकने नहीं हैं अपितु अनेक कोणों से युक्त हैं। प्रायः ये स्तम्भ प्रस्तर द्वारा निर्मित हैं। परन्तु दिल्ली के समीप महरौली का स्तम्भ लोहे का बना है। ये स्तम्भ अनेक कारणों से बनाये जाते थे। कभी कभी इनका निर्माण सम्राट की कीर्ति को अमर बनाने के लिए किया जाता था जैसा कि समुद्रगुप्त की दिग्विजय की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हरिषेण ने अशोक द्वारा निर्मित प्रयाग-स्तम्भ पर उसकी प्रशस्ति को लिखा है। स्कन्दगुप्त का कहौम का स्तम्भ भी उसकी कीर्ति के स्मारक के रूप में है। कभी कभी धार्मिक प्रयोजन से भी स्तम्भ बनाये जाते थे। इस प्रकार का एक स्तम्भ बुधगुप्त के समय में निर्मित हुआ था। महत्त्वपूर्ण घटनाओं को चिरस्थायी रखने के लिए भी स्तम्भ बनाये जाते थे। कुमारगुप्त प्रथम ने भिलसा में स्वामी महासेन के मन्दिर के स्मारक के रूप में एक स्तम्भ बनवाया था। इसके अतिरिक्त सीमा निर्धारण के लिए भी स्तम्भों का निर्माण किया जाता था।

(ग) स्तूप, विहार तथा गुफाएँ—गुप्तकालीन वास्तुकला के अन्तर्गत स्तूप विहार एवं गुफाएँ भी परिगणित की जाती हैं। सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्तकालीन है। यह प्रस्तरों से निर्मित है और उस पर सुन्दर बेलबूटे खींचे गए हैं। गुप्तकालीन विहार सारनाथ और नालन्दा में प्राप्त होते हैं। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी लिखा है कि नालन्दा में गुप्त राजाओं ने विहार बनवाये थे। गुप्त काल की गुफाओं में

सवप्रमुख स्थान उदयगिरि गुफा का है जो भिलसा के समीप विद्यमान है। यह च द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल म निर्मित की गई थी। इसके अ दर विष्णु के वराह अवतार की प्रतिमा स्थित है। इस गुफा का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। अज ता की गुफाओ म से भी कुछ गुप्त काल की हैं। ग्वालियर के बाघ स्थान म भी गुप्त युग मे निर्मित गुफा प्राप्त हुई है। य गुफाए सु दर चित्रा से सज्जित हैं।

(घ) म दिर—गुप्तकालीन वास्तुकला के अन्तगत सबसे महत्त्वपूण स्थान म दिरो का है। अधिकाश गुप्त सम्राट वष्णव धम के अनुयायी थे। परन्तु उनके अ दर धार्मिक सहिष्णुता अत्यधिक मात्रा मे थी। यही कारण है कि गुप्त-काल मे वष्णव मदिरो के साथ साथ शिव और सूय देवता के भी मदिरों का निर्माण हुआ। गुप्त काल के निम्नलिखित म दिर प्राप्त हुए हैं—

१ देवगढ का शिव म दिर गुप्त काल का सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त कलात्मक म दिर है। यह बु देलखण्ड के झासी जिले म है। यह एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। इसके गभगृह म चार द्वार हैं। इसके अ दर शेषशायी विष्णु की प्रतिमा स्थित है। म दिर के ऊपर शिखर बना हुआ है, यह ४० फाट ऊचा है यह इसकी विशेषता है। इससे पहल के म दिरो म शिखर नही पाया जाता है कि तु बाद म इस शली का विकास हुआ है।

२ कानपुर के समीप भीतरगाँव मे भी गुप्तकाल का म दिर पाया जाता है। यह म दिर इटो का बना है। इसकी दीवार के बाहरी भाग मिट्टी के फलका से बने हैं। इसकी दीवारा पर ताखो में मिट्टी की प्रतिमाए दिखाई पडती हैं जो कि हि दू पौराणिक दवताओ की हैं। इस म दिर का स्थापत्य कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान है क्योकि इसका मेहराबें इसके महत्व की घोषणा करता है। इस युग के म दिरा की छत प्राय समतल मिलती हैं, शिखरो के निर्माण की ओर भी कलाकार प्रयत्नशील हो उठा था।

३ मध्यप्रदेश क तिगवा नामक स्थान पर भी एक गुप्तकालीन म दिर पाया गया है। यह एक ऊच टीले पर स्थित है। इस म दिर की बनावट अत्य त सु दर है। चौखटा पर बहुत सु दर कारीगरी की गइ है।

४ गुप्तकालीन भूमरा का शिव म दिर मध्यप्रदेश की नागोद रियासत में स्थित है। १६२० में राखालदास बनर्जी ने इसका पता लगाया था। यह म दिर आज अपन पूण स्वरूप में विद्यमान नही है। काल के प्रहारो न इसे खण्डहर के रूप में बदल दिया है और इसक भग्नावशेष मात्र ही अवशिष्ट रह गय है। इसका गभगृह ही अब बचा है जिसके अ दर शिव की आधी प्रतिमा है। मदिर क द्वार स्तम्भ के दाहिनी ओर गगा एव बाई ओर यमुना की मूर्ति है।

५ भूमरा के समीप अजयगढ राज्य म नचना कुथर का पावती मदिर

पाया गया है जो कि बनावट में भूमरा के मन्दिर से मिलता जुलता होने के कारण गुप्तकालीन प्रतीत होता है।

६—बीजापुर जिले के अपहोल नामक स्थान पर भी एक गुप्तकालीन मन्दिर पाया गया है। डा० कुमारस्वामी ने इसका निर्माणकाल ४५० ई० का निकटवर्ती बताया है। इस मन्दिर के मुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनी हैं। इसकी खिड़कियाँ सुन्दर नक्काशीदार पत्थर की बनी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकालीन वास्तुकला का परिचय देने वाले बहुत से मन्दिर स्थान-स्थान पर प्राप्त हुए हैं। इन मन्दिरों के आधार पर हम गुप्तकालीन वास्तुकला को उन्नति और विकास के उच्च शिखर पर आसीन सिद्ध कर सकते हैं। यदि इन मन्दिरों के निर्माण कौशल पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो कि आधारभूत रूप से सभी मन्दिरों में पाई गई है। पहली बात तो यह है कि गुप्त मन्दिरों की स्थापना एक ऊँचे चबूतरे पर होती थी और उस चबूतरे पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों का निर्माण किया जाता था। यह विशेषता गुप्तकालीन मन्दिरों को भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में निर्मित किये गये अन्य मन्दिरों से पृथक कर देती है और इसके आधार पर हम उन्हें अन्य मन्दिरों के बीच सहज पहचान लेते हैं। गुप्तकालीन मन्दिरों पर ध्यान देने से दूसरी बात यह मालूम पड़ती है कि वे अपनी बनावट के आधार पर दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—पूर्व गुप्त युग के मन्दिर तथा पिछले गुप्त युग के मन्दिर। जो मन्दिर गुप्तयुग के प्रारम्भिक भाग में निर्मित हुए उनकी छतें चिपटी थीं किन्तु बाद में बनने वाले मन्दिरों के ऊपर शिखर बनाये गये। सबसे पहला शिखर देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में मिलता है।

गुप्तकालीन मन्दिरों की एक सामान्य विशेषता यह भी है कि उनके गर्भगृह में एक द्वार रहता था और उस गृह में मूर्ति को प्रतिष्ठित किया जाता था। मन्दिर के द्वार-स्तम्भ सादे न रहकर अलंकृत रहते थे और उनके द्वारपालों के स्थान पर गङ्गा यमुना की मूर्तियाँ निर्मित की जाती थीं। गर्भगृह के चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ भी बनाया जाता था। ये सभी विशेषताएं प्रायः सभी गुप्तकालीन मन्दिरों में पाई जाती हैं। इन विशेषताओं से युक्त गुप्तकालीन मन्दिर उस युग की वास्तुकला के एक परिपुष्ट स्वरूप को हमारे सामने उपस्थित करते हैं। यद्यपि गुप्तकालीन वास्तुकला के अन्य नमूने आज हमारे समक्ष नहीं हैं और इन मन्दिरों में से भी कुछ भग्न-अवस्था में हैं परन्तु जो कुछ भी विद्यमान है वह उस युग की वास्तुकला की श्रेष्ठता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

मूर्तिकला

मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्तयुग की देन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उस काल में मूर्तिकला अपने चरम वैभव पर पहुँच गई थी। गुप्तकाल में जिन मूर्तियों का निर्माण

हुआ वे अपने आकार-प्रकार और अग सौष्ठव की दृष्टि से बिल्कुल सजीव जसी प्रतीत होती हैं उनम शारीरिक सौंदय तो है ही, साथ ही भावनाओं को भी अत्य त कौशल के साथ अभि यक्त किया गया है। कलाकार के हाथो म आकर मिट्टी और धातुओ ने ऐसा आकार प्राप्त किया है कि मूर्तियां सजीव एव प्राणवान हो उठी हैं। वष्णव धर्म के राजधम होने के कारण भगवान विष्णु की तो एक से एक सुन्दर मूर्तियाँ बनी ही हैं साथ ही गुप्त सम्राटो की धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्ध एव जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ भी कम परिमाण म निर्मित नही हुई। इस युग की मूर्तिकला के चरम सीमा पर पहुचे हुए वभव को देख डा० आर० सी० मजूमदार ने सत्य ही लिखा है कि गुप्त युग के साथ ही भारतीय मूर्तिकला परिष्कृत युग म प्रविष्ट होती है। शताब्दियो के प्रयत्न स कला पूणता को प्राप्त होती है। कला के निश्चित रूपो का विकास होता है, अनुभव के द्वारा सौ दय के आदर्शों की स्थापना की गई।[1]

डा० मजूमदार का यह कथन गुप्तकालीन मूर्तिकला क चरम उत्कष का परिचायक है। इस काल मे मूर्तिकला के तीन प्रधान के द्र थे—मथुरा सारनाथ और पाटलिपुत्र। इनम सबसे प्रधान के द्र सारनाथ था। इन के द्रो से जो मूर्तिया प्राप्त हुई हैं वे पाषाण, धातुओ एव पकी हुई मिट्टी से निर्मित हैं। इन मूर्तियो को हम तीन भागो म विभाजित कर सकते हैं—(क) पौराणिक मूर्तिया, (ख) बौद्ध मूर्तियाँ, (ग) जन मूर्तियाँ।

पौराणिक-मूर्तियाँ

गुप्तकाल म पौराणिक हिन्दू दवी-दवताओ की जो मूर्तिया बनी उनम प्राप्त होने वाली मूर्तियो म कुछ प्रमुख हैं। सवप्रथम है झाँसी जिले म देवगढ़ नामक स्थान पर प्राप्त मन्दिर की विष्णु मूर्ति। यह विष्णु प्रतिमा आदिशेष पर शयन करती हुई दिखाई गई है। भगवान् विष्णु विभिन्न आभूषणो स सुसज्जित हैं। किरीट, कुण्डल, हार, केयूर, वनमाल, तथा कगन आदि आभूषण वे धारण किये हुए हैं। उनके चरणो की ओर लक्ष्मी बठी हुई हैं। विष्णु की नाभि से निकल हुए कमल पर तीन सिर वाले ब्रह्मा की मूर्ति है। विष्णु की प्रतिमा के ऊपर की आर शिव, इन्द्र आदि देवताओ की मूर्तियाँ बनी हैं। इस प्रकार यह मूर्ति अत्यन्त कलापूण ढग स निर्मित है और इसका सौ दय सहज ही अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है।

भलसा के समीप उदयगिरि गुहा म विष्णु की वराहवतार के रूप म

---

[1] एन एडवास्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० २४०

'With the Gupta period, we enter upon the classical phase of Indian sculpture By the efforts of centuries of techniques of art were perfected definite types were evolved and ideals of beauty were formulated with percision"

एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जो कि गुप्तकालीन है। डा० राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार उदयगिरि की एक पहाड़ी गुफा म वराहवतार की मूर्ति मिली है, इस पर ४०१ ए० डी० अङ्कित है। यहाँ पर विष्णु क वराहवतार की, देवी, गगा एव यमुना की जो कि क्रमश मकर एव कच्छप पर स्थित हे, सुन्दर मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। यह इस युग की एक श्रेष्ठतम कलाकृति है। पृथ्वी के उद्धार की कहानी कहने म यह मूर्ति पूर्णत समर्थ है।[1]

इस मूर्ति मे शरीर तो मनुष्य का दिखाया गया है और मुख वाराह का है। उदयगिरि गुहा म विष्णु की वाराह मूर्ति के अतिरिक्त एक अ य शेषशायी मूर्ति भी पाई गई है। वह मूर्ति भी आभूषण तथा वनमाला धारण किय हुए है। दवताओ की आकृतियाँ भी दृष्टिगत होती हैं कि तु लक्ष्मी एव ब्रह्मा का अभाव है।

पहाड़पुर म गुप्तकालीन हिन्दू मूर्तियाँ पर्याप्त सख्या मे प्राप्त हुई हैं। यहाँ पर मन्दिरो की दीवारो पर कृष्ण चरित्र को मूर्तियो के माध्यम से अंकित किया गया है। पहाड़पुर म राधा कृष्ण की जसी सुदर मूर्ति मिली है, वसी अ यत्र कही नही प्राप्त हुई है। गुप्तकाल की एक कार्तिकेय की मूर्ति भी मिली है। यह मूर्ति मोर पर आसीन है और कार्तिकेय के दोनो पर मोर के गले म पडे है। चेहरे स गाम्भीय प्रकट हो रहा है। मूर्ति मुकुट, कङ्कण, कुण्डल हार आदि अनेक आभूषणों स सज्जित है। यह मूर्ति काशी के कला भवन म सुरक्षित है।

भारत कला भवन मे सूय की एक प्रतिमा मौजूद है जिस गुप्तकालीन बताया जाता है। यह मूर्तिकला की दृष्टि से अत्य त भ य एव श्रेष्ठ है। सूयदेव हार धारण किय हुए हैं। उनके दोनो ओर उषा एव सन्ध्या को दो स्त्री आकृतियो द्वारा दिखाया गया है। साथ म दो पुरुषा की आकृतियाँ भी हैं जो कि सम्भवत परिचारक हैं।

उदयगिरि गुहा की दीवार पर दुर्गा की आकृति बनी हुई है। यह आकृति इस बात को प्रकट करती है कि उस समय शक्ति देवी की मूर्तियो का सवथा अभाव न था।

उक्त पौराणिक मूर्तियो के अतिरिक्त गुप्तकाल म शिव की मूर्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा म निर्मित हुइ। झाँसी जिल के देवगढ़ क मन्दिर म शिव की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुइ हैं। इनम से एक म शिव को योगी के रूप म प्रस्तुत किया गया है और इसकी स्मिथ महोदय न बडी प्रशसा की है। गुप्तकालीन शिव मूर्तियाँ दो भागो म

[1] डा० राधाकुमुद मुकर्जी

One of the cave temples in the Udayagiri Hills bearing an inscription of A D 401 has some fine sculptures representing the incarnation of Vishnu as Varaha and also the goddess Ganga and Yamuna standing respectively on Makara and Kachchhapa '

विभाजित की जा सकती हैं—करमदण्डा (फैजाबाद) में प्राप्त शिवलिंग की प्रतिमाएँ, तथा नागोद राज्य के खोह नामक स्थान में प्राप्त एकमुख शिवलिंग की प्रतिमाएँ। खोह की शिव-मूर्तियों की कलात्मकता को देखकर डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने उन्हें 'Masterpiece of art" कहा है।

बौद्ध मूर्तियाँ

गुप्तकाल में बौद्ध मूर्तियाँ भी बहुत बड़ी संख्या में निर्मित की गई। डा० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार 'Buddhism has inspired some of the best examples of Gupta Art in the form of images' गुप्तकाल की बौद्ध मूर्तियाँ अनेक प्रकार की प्राप्त हुई हैं। उनमें से कुछ खड़ी हैं और कुछ बैठी हुई हैं। कोई मूर्ति अभयमुद्रा में है तो कोई वरमुद्रा में है। सारनाथ में बुद्ध की धर्मचक्र मुद्रा में एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें वे पद्मासन लगाये हुये बैठे हैं। जिस आसन पर वे बैठे हैं उसके मध्यभाग में एक चक्र तथा उसके दोनों ओर दो मृगों की आकृतियाँ दिखाई गई हैं। इसी को धर्मचक्र कहते हैं। धर्मचक्र के दाहिनी ओर तीन तथा बाईं ओर दो मनुष्यों की मूर्तियाँ हैं। इस मूर्ति के विषय में श्री सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं—"मूर्ति के मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, प्रभा, कोमलता और गम्भीरता है। अंग प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौन्दर्य होते हुए भी इहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिये अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिए ही इहलोक व्यवहार में तत्पर हैं।" हैवल महोदय ने भी इस मूर्ति की भूरि भूरि सराहना करते हुए लिखा है कि यह भगवान् बुद्ध के नैतिक एवं आध्यात्मिक भावों को लेकर निर्मित की गई है और गुप्तकालीन शिल्पकारों की कला का सबसे उत्कृष्ट नमूना है।

गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों में मथुरा की बुद्ध की खड़ी मूर्ति का भी विशिष्ट महत्त्व है। यह मूर्ति ७ फुट २½ इंच लम्बी है। इसके वस्त्र बड़े ही महीन तथा पारदर्शक हैं। बुद्ध का मुखमण्डल शान्त, गौरवमय एवं करुणा भाव से आपूर्ण है।

'मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित एक सजीवाकृति बुद्ध प्रतिमा गुप्तकाल की आध्यात्मिक कलामयी मूर्तिकला का भव्य नमूना प्रस्तुत करती है। इस मूर्ति में जिस मानसिक संतुलन और आध्यात्मिक संतुष्टि की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है, वह यह सिद्ध करती है कि इसके निर्माता का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था और वह शरीर पर आत्मा की विजय प्रदर्शित करना चाहता था। मथुरा की मूर्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तयुग की मूर्तिकला विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।'

भागलपुर जिले के सुल्तानगंज से बुद्ध की एक ताम्रमूर्ति प्राप्त हुई है[1] जो कि आजकल इंगलैण्ड के बर्मिंघम अजायबघर में रखी हुई है। ७½ फुट ऊँची बुद्ध की

---

[1] देखिए चित्रफलक सं० २२

यह ताम्रमूर्ति अभय मुद्रा में है। मूर्ति के मुखमण्डल पर करुणा की एक ऐसी भावना व्याप्त है जिसने इस मूर्ति को असाधारण सौंदर्य प्रदान किया है।

गुप्तयुग की बौद्ध मूर्तियों के अन्तर्गत बोधिसत्वों की मूर्तियाँ भी आती हैं। इस युग में कलाकारों को बोधिसत्व की प्रतिमा को अङ्कित करने के लिए उपयोगी सामग्री प्राप्त थी, बौद्ध संस्कृति ने गुप्त-कला को इतना प्रभावित किया कि इस युग की प्रतिमूर्तियाँ बोधिसत्व से ही सम्बद्ध हैं। इसी तथ्य को डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने इन शब्दों में प्रकट किया है—"Another marked feature of the Gupta Buddhist sculpture is that it is dominated by the cult of the Budhisattvas, which is now very pronounced"[1] बोधिसत्वों की खड़ी मूर्तियों में अवलोकितेश्वर, मत्रेय, तथा मंजुश्री की मूर्तियाँ पाई गई हैं। अवलोकितेश्वर के कमलासन के नीचे प्रेताकृतियाँ दृष्टिगत होती हैं।[2] मत्रेय की मूर्ति किसी भी प्रकार के आभूषण नहीं धारण किये हैं।[3] मंजुश्री बुद्धि का देवता है और वह कमल पर खड़ा दिखाया गया है। बोधिसत्व की अनेक बैठी हुई मूर्तियाँ भी पाई गई हैं। ये सभी मूर्तियाँ अत्यन्त सधे हुए हाथों से निर्मित हैं और अपने कलात्मक सौंदर्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं।

जैन मूर्तियाँ

हिन्दू तथा बौद्ध मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्तकाल की अनेक जैन-मूर्तियाँ भी पाई गई हैं। मथुरा में वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कि कुमारगुप्त के समय की है। महावीर पद्मासन लगाये ध्यान मुद्रा में दिखाये गये हैं। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में कहोम नामक स्थान पर भी एक तीर्थंकर की मूर्ति बनाई गई थी। कुछ जैन मूर्तियाँ गोरखपुर जिले में भी प्राप्त हुई हैं।

मृण्मयी मूर्तियाँ

गुप्तकाल में पत्थरों और धातुओं के अतिरिक्त मृण्मयी अर्थात् मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। ये मूर्तियाँ पाषाण मूर्तियों के सदृश ही सुन्दर एवं आकर्षक हैं। सारनाथ में बुद्ध तथा उनके जीवन सम्बन्धी घटनाओं को प्रदर्शित करने वाली अनेक मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ बौद्ध धर्म के साथ साथ पौराणिक हिन्दू धर्म से सम्बन्धित भी हैं। देवताओं के अतिरिक्त मनुष्यों की भी मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ केवल मिट्टी की नहीं अपितु मिट्टी और चूने की हैं और आसाम के दहपर्वतिया नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं। अन्य स्थानों पर भी ये मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

---

[1] भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ३५६

[2] चित्रफलक २३

[3] चित्रफलक २४

गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषताएँ

गुप्तकालीन मूर्तिकला के स्वरूप का अवलोकन करने पर हमारे सम्मुख उसकी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती है। इन विशेषताओं के कारण ही गुप्तकालीन मूर्तिकला अपने पूर्ववर्ती एव परवर्ती कालो की मूर्तिकला स पृथक् अस्तित्व रखती है और कला के इतिहास म महत्त्वपूर्ण स्थान की प्राप्ति मे समर्थ हुई है। गुप्तकालीन मूर्तिकला की पहली विशेषता यह है कि वह विदेशी प्रभाव से पूर्णत मुक्त है। वह किसी विदेशी आधार को लेकर विकसित नही हुई है और न उसमे किसी विदेशी कला के तत्त्वो को आत्मसात् ही किया गया है। इससे पहले कुषाण काल मे जिस गान्धार कला का प्रादुर्भाव हुआ था उस पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु गुप्तकालीन मूर्तिकला भारतीय तत्त्वों से ओत प्रोत है, उसकी आत्मा भारतीय ही है। कहीं भी विदेशी प्रभाव दिखाई नहीं देता है।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की दूसरी विशेषता यह है कि उसम शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक एव आध्यात्मिक भावो का सौन्दर्य अधिक सूक्ष्मता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। कलाकारो ने केवल बाह्य सौन्दर्य के अकन को ही अपनी कला का आदर्श निर्धारित नही किया है, अपितु उसम आन्तरिक शान्ति और आध्यात्मिक आनन्द की झलक है। गान्धार कला म शारीरिक सौन्दर्य और अग सौष्ठव पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था, पर गुप्तकाल की मूर्तिकला मे ऐसा नही है। उसम आध्यात्मिक भावो का प्रदर्शन ही मुख्य है।

गुप्तकाल मे जिन बुद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण किया गया है वे भी अपनी निजी विशेषता रखती हैं। ये मूर्तियाँ कुषाण कालीन मूर्तियो स सर्वथा भिन्न हैं। कुषाण कालीन बुद्ध-मूर्तियों का प्रभामण्डल सादा रहता था, पर गुप्त काल मे अलकरण युक्त प्रभामण्डल तैयार किया जाने लगा। इसम कमल एव अन्य विभिन्न आकृतियो से उसे सजाया जाने लगा। कुषाण कालीन बुद्ध मूर्तियों म सघाटी (ऊपर ओढने का वस्त्र) दाहिने कन्धे पर नही दिखाई पडती है, परन्तु गुप्तकाल म दोनो कन्धे ढके रहते थे। इसके साथ-साथ गान्धार-कला म बुद्ध का सिर घुटा हुआ दिखाया जाता था जबकि गुप्तकाल म बालो का मुटाव और उष्णीष (पगडी) स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इस प्रकार गुप्तकाल की बुद्ध-मूर्तियाँ अपनी विशेषताओं के कारण पूर्ववर्ती गान्धार-कला की बुद्ध मूर्तियो से सर्वथा भिन्न हैं। इससे पहले की बुद्ध मूर्तियो म दोनो भौंहो के मध्य एक प्रकार का तिलक पाया जाता था जो कि गुप्त युग में बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। मूर्तियो की भौंहे तिरछी नही, बल्कि सीधी दिखाई जाने लगी और वक्षस्थल पूर्ण विकसित दिखाया जाने लगा।

गुप्त युग से पहले गान्धार म जिन मूर्तियो का निर्माण हुआ था वे भूरे पत्थर स बनाई गई थीं और मथुरा म लाल पत्थर से निर्मित की गई थी, परन्तु गुप्तकाल मे मूर्ति निर्माण के लिए चुनार क सफेद बालूदार पत्थर को काम म लाया गया। इस प्रकार प्रस्तर की दृष्टि से भी ये मूर्तियाँ अपनी पूर्ववर्ती मूर्तियो से भिन्न हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला की अन्तिम विशेषता यह है कि वह स्वाभाविकता के गुण से आपूर्ण है। गुप्तयुगीन कलाकारों ने अत्यन्त स्वाभाविक मूर्तियों का निर्माण किया। उनकी कला में कृत्रिमता नाम मात्र को भी न थी। कहीं पर भी अस्वाभाविकता या अवास्तविकता दृष्टिगत नहीं होती है। स्वाभाविकता के साथ साथ सजीवता और सौन्दर्य का अपूर्व समन्वय इस काल की मूर्तिकला की महान् उपलब्धि है। इस काल की कला में अश्लीलता का प्रायः अभाव है। मूर्तियाँ नग्न नहीं हैं उन पर महीन वस्त्र का आवरण है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन मूर्तिकला उन्नति की चरम सीमा पर पहुँची हुई कला है। इस कला ने भारतीय कला पर अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालने के अतिरिक्त मलाया, सुमात्रा, जावा, अनाम, कम्बोडिया तथा पूर्वी देशों की कला पर अपरिवर्तनीय भारतीय प्रतिभा की छाप अंकित की है इस काल की कला भारतीय कला का आदर्श थी।[1]

चित्रकला

गुप्तकाल कला के सर्वांगीण विकास का काल था। इस काल में वास्तुकला और मूर्तिकला के साथ-साथ चित्रकला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने अजन्ता एवं बाघ की गुफाओं में सुरक्षित हैं। इनको देखने से पता चलता है कि गुप्तकाल में चित्रकला कितनी उत्कर्षपूर्ण स्थिति को प्राप्त हो गई थी और उसने किस प्रकार असाधारण प्रगति की थी।

गुप्तकालीन चित्रकला अजन्ता की गुफाओं में अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ विद्यमान है। श्रीमती ग्रेवोस्की के शब्दों में अजन्ता की चित्रकला भारत की परिष्कृत युग की कला है यहाँ की चित्रकारी का सौन्दर्य अनुपम है। ये चित्र भारतीय चित्रकला के चरम उत्कर्ष के प्रतीक हैं।

The art of Ajanta is the classical art of India The beauty of the paintings is marvellous and they are the high water mark of Indian painting'

अजन्ता की गुफाएँ निज़ाम हैदराबाद के राज्य में पूर्वी खान देश जिले में स्थित हैं। सन् १८१९ में एक अंग्रेजी फौज की टुकड़ी को इनका पता लगा और इस प्रकार सभ्य संसार इनके सम्पर्क में आया। अजन्ता की गुफाएँ संख्या में २९ हैं और इनमें से अधिकांश गुप्तकाल की हैं। पहले एक अर्द्ध गोलाकार पहाड़ी को काटकर

---

[1] एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० २८०

'The Gupta sculptures not only remind models of Indian art in all times to come but they also served as such in the Indian colonies in the Far East The sculptures of the Malaya Peninsula Sumatra, Java, Annam Combodia and even celebes bear the indeclinable stamp to Gupta art"

गुफा निर्मित की गई है और फिर उसकी दीवारो पर एक प्रकार का प्लास्टर तथा सफेदी करके चित्र बनाये गये है। चित्रकला का मुख्य विषय भगवान् बुद्ध की जीवन घटनाओ का अकन है। इसके साथ साथ जन जीवन के अन्य अगामो को भी अत्यन्त निपुणता के साथ चित्रित किया गया है। चेतन मनुष्य ही नही, जड प्रकृति के साथ भी इन चित्रकारो ने अपनी अनुराग भावना को प्रकट किया है। लहलहाते हुए वृक्ष एव मन्द गति से प्रवाहित होते हुए निर्भर भी उनकी कला का विषय बने हैं। अजन्ता के चित्रो एव उनके निर्माता चित्रकारो के विषय मे श्री बी० जी० गोखले का अभिमत है—

'जिन चित्रकारो ने ये दृश्य अकित किये थे उनके पीछे परिपक्व कला की एक लम्बी परम्परा थी। ये चित्र रचनाएँ अत्यन्त विशाल तथा इनकी कल्पना अत्यन्त प्रतिभाशाली है। चित्रो के मुख्य पात्रो को वीरोचित अनुपात में अकित किया गया है। चित्रो के एक एक अग मे उदात्त भावनाओ तथा भव्यता की झलक दिखाई देती है और सरल रेखाओ का प्रयोग इस ढग से किया गया है कि उनके द्वारा विपुल उल्लास से लेकर गहरी व्यथा तक सभी भावनाएं व्यक्त होती है।'[1]

यो तो अजन्ता की गुफाओ के सभी चित्र एक से एक सुन्दर और आकर्षक हैं परन्तु उनमे से कुछ अधिक प्रभावपूर्ण एव कलात्मक हैं। गुफा १६ एव १७ के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। १६वी गुफा का एक चित्र सिद्धार्थ के गृह त्याग का है। यशोधरा और राहुल निद्रावस्था मे दिखाये गये है। सिद्धार्थ के मुख मण्डल से वैराग्य भावना झलकती दिखाई गई है। इसी गुफा का एक अन्य हृदयस्पर्शी चित्र मरणासन्न राजकुमारी का है। कलाविदो ने इस चित्र की मुक्तकण्ठ से सराहना की है। इसमे राजकुमारी की दशा एव उसके समीप बैठे हुए लोगो की विकलता अत्यत सूक्ष्मता के साथ साकार की गई है। व्याकुलता एव करुणा के भाव इतनी कुशलता से अकित किये गये हैं जो कला के इतिहास मे अभूतपूर्व हैं। इसी प्रकार १७वी गुफा का माता और पुत्र का चित्र भी अत्यधिक प्रभावशाली है। इसमे यशोधरा अपने पुत्र राहुल को भगवान् बुद्ध को भेंट कर रही है। इन दोनो की अधखुली आँखें तथा मुख का व्यग्य हमारे हृदय को स्पर्श किये बिना नही रहता है।

अजन्ता के चित्रो मे एक महत्त्वपूर्ण चित्र राजकीय जलूस का है जिसमे बहुत

---

[1] एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० १८७ ८८

"The artists who painted these scenes had a long tradition of maturity behind them The compositions are large and brilliantly visualized with the principal characters set out in heroic proportions Everywhere there is an air of nobility and dignity, and the simple line is so used as to reveal the entire range of expression from exalted joy to profound sorrow"

से स्त्री पुरुष गजध्वज कर जा रहे हैं। पुरुषों में कुछ अपने हाथों में छाता लिये हैं, कुछ बजाने का शृंगी बाजा लिये हुए हैं। स्त्रियाँ हार, कङ्कण आदि आभूषणों से सुसज्जित हैं। यह चित्र जिस सफाई के साथ बनाया गया है वह प्रशंसनीय है। इसी प्रकार का एक अन्य आकर्षक चित्र हाथियों के जलूस का है जिसमें बहुत से हाथी और उन पर बैठे हुए स्त्री पुरुषों को दिखाया गया है। हाथी के ऊपर सुन्दर झूल पड़ी हुई है। स्त्रियाँ हाथ कान और गले में आभूषण धारण किये हुए हैं।

अजन्ता की गुफाओं में बुद्ध के जीवन सम्बन्धी चित्र भी प्राप्त होते हैं। इनमें महाभिनिष्क्रमण का चित्र बड़ा सुन्दर है। इसमें सिद्धार्थ को पुष्ट एवं सुडौल युवक के रूप में दिखाया गया है जिनकी अधखुली आँखों से अहिंसा, शान्ति एवं वैराग्य प्रदर्शित होता दिखाया गया है।

इन गुफाओं में बोधिसत्व के भी बड़े सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं जो कि कला की मूल्यवान सम्पत्ति हैं। जातक ग्रन्थों के कथानकों को दृष्टि में रखकर भी चित्रकारों ने चित्र बनाये हैं। 'वेस्सन्तर जातक' के कथानक के आधार पर बनाये गये एक चित्र में एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके अल्पायु के एकमात्र पुत्र को माँग लेता है। चित्र में याचक ब्राह्मण को अत्यन्त कृश एवं क्षीणकाय दिखाया गया है। बालक अत्यन्त स्वस्थ है। उसका पिता उसे बिना किसी दुख व क्षोभ के अत्यन्त हर्षपूर्वक देने के लिए तत्पर है। इस प्रकार यह चित्र अतीव सुन्दर बना है।

अजन्ता की गुफाओं में प्राप्त चित्रों के स्वरूप को देखने से पता चलता है कि उनमें स्वाभाविकता सजीवता एवं सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में निहित है। इन विशेषताओं की दृष्टि से इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाये थोड़ी है। राय कृष्णदास ने इन चित्रों के सम्बन्ध में लिखा है—

'यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है जो भगवान् बुद्ध की भावना की मूर्तिरूप है फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं सारे चराचर जगत् से यहाँ के कलाकार की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है।'

गुप्तकालीन चित्रकला के नमूने अजन्ता के अतिरिक्त बाघ की गुफाओं से भी प्राप्त हुए हैं। बाघ मध्यभारत के ग्वालियर राज्य में स्थित अमझेरा जिले में एक छोटा सा गाँव है। बाघ की गुफाएँ संख्या में ९ हैं। इनमें से अधिकांश गुफाएँ तथा उनके अधिकांश चित्र नष्ट हो चुके हैं। कुल मिलाकर छः सुरक्षित चित्र पाये गये हैं। पहला चित्र दो स्त्रियों का है जिनमें से एक बहुत दुखी है और दूसरी या तो उसे आश्वासन दे रही है या उसकी करुण कथा को सुन रही है। दूसरे चित्र में चार मनुष्य नीले और सफेद गद्दार आसन पर बैठे हुए गम्भीर शास्त्रार्थ में लीन हैं। तीसरे

चित्र म छ पुरुष बादल से निकल रहे हैं और उडते हुए दिखाये गये हैं तथा नीचे पाँच सिर दिखाये गये हैं जो कि सभवत नर्तकिया के है। चौथा चित्र स्त्री गायिकाओ के दो समूहो का है। यह चित्र सबसे अधिक सुन्दर व आकर्षक है। बाई ओर वाले समूह म सात स्त्रियाँ एक नर्तक को घेरे खडी हैं और दाहिनी ओर वाले समूह मे छ स्त्रिया एक नर्तक को घेरे खडी हैं। स्त्रियाँ विविध वाद्य बजा रही हैं और नर्तक कुछ हरे रंग का चोगा, आभूषण आदि धारण किये है। पाँचवाँ चित्र घोडो के जलूस का तथा छठा हाथियो के जलूस का है। बाघ के ये चित्र अजन्ता के चित्रो से किसी प्रकार भी कम नही है। सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञो ने इनकी भूरि भूरि सराहना की है।

गुप्तकालीन चित्रकला के उपयुक्त नमूनो का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि अजन्ता एव बाघ के चित्रो मे गुप्तकालीन चित्रकला का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्वरूप विद्यमान है। वे चित्र उत्कृष्टता की दृष्टि से अपनी समानता नही रखते हैं। कलाकारो ने इन्हे जिस कौशल और निपुणता से बनाया है वह प्रशसा का विषय है।

अजन्ता और बाघ की गुफाओ के चित्र तो गुप्तकालीन चित्रकला के विकसित स्वरूप का परिचय देते ही हैं। साथ ही तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थो मे भी चित्रकला का अनेक स्थानो पर उल्लेख आया है। अभिज्ञान शाकुन्तल में चित्रकला का विशद वर्णन पाया जाता है। मेघदूत' म भी कालिदास ने यक्षपत्नी द्वारा यक्ष के चित्र निर्माण का वर्णन किया है। उस समय चित्रशालाएँ तीन प्रकार की होती थी—राजकीय, सार्वजनिक एव व्यक्तिगत। इस प्रकार गुप्तकाल मे चित्रकला अपनी उत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँची हुई थी।

(घ) सगीत, नृत्य एव अभिनय कला

गुप्तकाल म सगीत, नृत्य एवं अभिनय कलाएँ भी विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई कलाएँ थी। गुप्त सम्राट नृत्य एव सगीत के प्रेमी थे। राजाओ के लडके लडकियो को गायन-वादन एव नृत्य की शिक्षा देने के लिए सगीताचार्य नियुक्त किये जाते थे। मालविकाग्निमित्र म ऐसे ही एक सगीताचार्य का उल्लेख मिलता है जिसका नाम हरिदत्त था और जो मालविका को सगीत शिक्षा देता था। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति मे लिखा है कि सम्राट सगीत का परम उपासक था और उसने इस कला मे तुम्बुरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था। समुद्रगुप्त के सिक्को पर भी उसे वीणा बजाते हुए प्रदर्शित किया गया है।

सगीत और नृत्य दोनो एक दूसरे के साथ अन्योन्याश्रित रूप से सम्बन्धित हैं। जहाँ पर सगीत का विकास होता है, वहाँ नृत्य का विकास अवश्यम्भावी है। गुप्तयुग म भी सगीत के साथ साथ नृत्यकला की उन्नति हुई। उस समय विविध सामाजिक उत्सवो एव हर्ष आदि के अवसरो पर नृत्य की आयोजना की जाती थी। कालिदास ने रघुवश म रघु के जन्मोत्सव पर वेश्याओ के नृत्य का वर्णन किया है। शूद्रक ने अपने मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना को बनाया था जो कि एक वेश्या थी और जिसका कार्य नाचना एव गाना था। बाघ की गुफाओ म एक चित्र दो नृत्य करने

वाली मण्डलियो का दिखाया गया है जिनमे एक मे सात स्त्रियाँ एक नर्तक को घेरे खडी है और दूसरे मे छ स्त्रियाँ एक नर्तक को घेरे खडी हैं। इन आधारो से प्रकट होता है कि गुप्त काल मे नृत्य कला का भी पर्याप्त प्रचार था। अभिनय कला भी उस समय यथेष्ट विकास प्राप्त कला थी। कालिदास के शाकुन्तलम्' एव मालविकाग्निमित्र नाटको के आरम्भ मे सूत्रधार नाटक खेलने की बात कहता है। इससे प्रकट है कि उस समय नाटको का अभिनय प्रचुरता से होता था।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि गुप्तकाल कलाओ के सर्वांगीण विकास का काल था। इस काल मे कला के अङ्ग प्रत्यङ्गो का चरम विकास हुआ और वे सभी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुच गई। इस प्रकार कला के विकास की दृष्टि से हम गुप्तकाल के महत्त्व को विस्मृत नही कर सकते।

गुप्तकाल-स्वणयुग

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वणयुग' कहा गया है। जिस प्रकार स्वण सब धातुओ से मूल्यवान समझा जाता है, उसी प्रकार गुप्तकाल भी भारतीय इतिहास के विभिन्न युगो मे सर्वाधिक महत्त्वपूण स्थान रखता है। यह काल सभ्यता और संस्कृति की पराकाष्ठा का काल है। राजनीति, समाज, धम, साहित्य और कला आदि विभिन्न क्षेत्रो मे गुप्तयुग मे अभूतपूव उन्नति हुई थी। विद्वानो ने इसकी तुलना ग्रीस में पेरिक्लीज रोम में मार्क्स एरीलियस और इगलण्ड में एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल से की है और इस उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ और महत्त्वपूण प्रमाणित किया है। गुप्तकालीन इतिहास के स्वरूप पर एक विहगम दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस युग मे ऐसे महान विजेता, कुशल प्रशासक, धम सहिष्णु एव कला साहित्य के प्रेमी सम्राट हुए ये जसे भारतीय इतिहास मे अन्यत्र कही भी नहीं दृष्टिगत होते हैं। इन महान सम्राटो का युग निर्विवाद रूप मे स्वणयुग कहलाने का अधिकारी है। श्री बी० जी० गोखले ने इस युग के सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है—कि गुप्तकाल शान्ति तथा समृद्धि, नागर संस्कृति तथा परिमाजन, धार्मिक पुनरुत्थान तथा बौद्धिक प्रयास उत्कृष्ट साहित्य तथा कला की उन्नति का युग था और इस प्राचीन भारत का स्वण-युग ठीक ही कहा गया है।[1]

जिन आधारो पर हम गुप्तकाल को स्वणयुग के नाम से अभिहित कर सकते हैं वे निम्न हैं

(१) राष्ट्रीय एकता का युग—गुप्तयुग मे भारतवष ने राष्ट्रीय एकता के

---

[1] एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० ७५

The Gupta age was thus an age of peace and prosperity, urbanity and refinement religious revival and intellectual effort, classical literature and artistic eminence and is aptly described as the Golden or classical age of ancient India'

महत्त्व की उपलब्धि कर ली थी। यह युग राष्ट्रीय एकता का युग था। भारतीय इतिहास के पृष्ठों का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि सर्वप्रथम राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि मौर्य-युग में हुई थी और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपनी महान् विजयों के द्वारा देश को अपने आधीन करने में सफलता प्राप्त की थी। यह राष्ट्रीय एकता मौर्य सम्राट अशोक के शासनकाल तक तो अक्षुण्ण बनी रही, किन्तु उसके पश्चात् मौर्य उत्तराधिकारियों के हाथ में पड़कर उसका विनाश हो गया। देश पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। विदेशी शक तथा कुषाण राजाओं ने भारत को अपदस्थ कर उसके अनेक भागों पर अधिकार जमा लिया। ऐसे समय में ही गुप्तयुग का प्रादुर्भाव हुआ और शक्तिशाली गुप्त शासकों ने विदेशी शक्ति को पददलित कर व छोटे छोटे राज्यों को परास्त कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। महान् विजेता समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के द्वारा उत्तर भारत को ही नहीं, अपितु दक्षिण-भारत भी विजित किया। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे शक्ति-सम्पन्न शासक ने देश को राजनीतिक एकता में बाँध दिया। इस प्रकार इस युग में राष्ट्रीय एकता का सूत्रपात हुआ और सारे देश को एक संगठित सूत्र में बाँधने का सफल प्रयास किया गया।

(२) सुव्यवस्थित प्रशासन—सुव्यवस्थित प्रशासन व्यवस्था की दृष्टि से भी गुप्तयुग 'स्वर्ण युग' कहे जाने का अधिकारी है। वस्तुतः जब तक देश के शासन सूत्र को भली भाँति परिचालित नहीं किया जाता है तब तक न तो देश की उन्नति हो सकती है और न जनता ही सुखी और सम्पन्न रह सकती है। सम्राट का कुशल प्रशासक होना उसकी लोकप्रियता का मूल आधार है और इसी पर उसके राजनीतिक जीवन की सफलता अवलम्बित है। इस दृष्टि से गुप्त शासकों ने महान् सफलता प्राप्त की थी। उनकी शासन प्रणाली विविध विशेषताओं से युक्त थी। शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक होते हुए भी निरंकुश न थी। सैनिक प्रशासन, नगर प्रशासन आदि की भी व्यवस्था उत्तमोत्तम थी। चीनी यात्री फाहियान ने जिसने कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में भारत भ्रमण किया था, सम्राट के शासन प्रबन्ध की प्रशंसा की है।

(३) लोककल्याणकारी राज्य—गुप्त सम्राट लोकहित के आकांक्षी थे। उन्होंने जिस नीति का अनुगमन किया था उसका उद्देश्य प्रजा को सुख एवं समृद्धि प्रदान करना था। उन्होंने प्रजा के कल्याण के लिए विविध व्यवस्थाएँ कीं। व्यापारियों को थल मार्ग द्वारा व्यापार करने में सुविधा हो, इसके लिए सड़कों का निर्माण किया गया। कृषि के विकास के लिए भी राज्य की ओर से झीलों व तालाबों की खुदाई होती थी। स्कन्दगुप्त के शासन काल में सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया गया था। दीन-दुखियों की सहायता का भी राज्य की ओर से प्रबन्ध रहता था। इस प्रकार गुप्त सम्राटों का शासन तन्त्र लोक-कल्याण की भित्ति पर आधारित था।

(४) धार्मिक सहिष्णुता—गुप्तकाल की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि गुप्त सम्राटों में धार्मिक सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। इतिहास का

अध्ययन बताता है कि राजा जिस धर्म का अनुयायी होता है। प्राय वह उसी धर्म की प्रगति की चेष्टा करता है और अन्याय धर्मों की उन्नति और विकास को कदापि सहन नहीं करता। परन्तु गुप्त सम्राट इस संकीर्ण विचारधारा के न थे। उनमें से अधिकांश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। परन्तु उन्होंने कभी किसी धर्म के प्रगति पथ में रोड़े नहीं अटकाये। उनके राजत्व-काल में वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव, बौद्ध और जैन आदि विविध धर्मों की असाधारण प्रगति हुई। उन्होंने धार्मिक भेदभाव के आधार पर राजकीय पदों पर किसी योग्य व्यक्ति की नियुक्ति को स्वीकृत नहीं किया। उनके शासनकाल में विविध धर्मों के अनुयायी ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त थे और अपने धर्म-पालन में पूर्ण स्वतन्त्र थे। धार्मिक सहिष्णुता का जो आदर्श रूप गुप्तयुग में पाया जाता है हम उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। धर्म-सहिष्णुता का इससे उत्तम उदाहरण और क्या मिलेगा कि कुमारगुप्त प्रथम ने वैष्णव होते हुए भी नालन्दा के संसार प्रसिद्ध बौद्ध विहार की स्थापना की थी।

(५) साहित्य की प्रगति—साहित्यिक जागृति की दृष्टि से भी गुप्तयुग का महत्त्व कम नहीं है। इस युग में संस्कृत भाषा और साहित्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गये। संस्कृत साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र कवि-कुल गुरु कालिदास गुप्त युग की ही विभूति थे। उनकी रचनाएँ संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि हैं। उनके रघुवंश कुमारसम्भव मेघदूत और अभिज्ञानशाकुन्तलम् जैसे कृतित्व ने उनके नाम को अमर बना दिया है। शूद्रक, भर्तृमेण्ठ, विशाखदत्त और सुबन्धु आदि गुप्त युग के अन्य प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं जिनकी कृतियाँ गुप्तयुगीन साहित्यिक समृद्धि की सूचक हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक व नैतिक साहित्य भी उस समय पर्याप्त मात्रा में लिखा गया। बौद्ध एवं जैन साहित्य की भी यथेष्ट अभिवृद्धि हुई। साहित्य के विविध अङ्गों का गुप्त-युग में जैसा विकास हुआ उसे देखकर हम आज भी चकित हुए बिना नहीं रहते हैं। इसी युग में भामह ने अलंकार शास्त्र पर अपना काव्यालंकार नामक ग्रन्थ लिखा। अमरसिंह ने "नामलिंगानुशासन" नामक कोष की रचना की। अनेक पुराणों व स्मृतियों की भी रचना गया। सांख्य दर्शन न्याय दर्शन वैशेषिक दर्शन और मीमांसा दर्शन आदि पर भी ग्रन्थ एवं टीकाएँ आदि लिखी गयी। इस प्रकार साहित्यिक विकास की दृष्टि से गुप्त काल का महत्त्व बहुत अधिक है।

(६) कलाओं का विकास—गुप्तकालीन कलात्मक विकास का अध्ययन इस तथ्य का परिचायक है कि इस युग में सभी कलाओं की जैसी उन्नति व प्रगति हुई वैसी भारतीय इतिहास के अन्य किसी युग में नहीं हुई। वास्तुकला मूर्तिकला चित्रकला तथा संगीत व नृत्यकला आदि सभी गुप्त-युग में पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। इस काल की वास्तुकला की श्रेष्ठता के परिचायक भूमरा का शिव मन्दिर देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, कानपुर का भितरगाँव का मन्दिर एवं तिगवा का विष्णु मन्दिर आदि हैं। विद्वानों के अनुसार मन्दिर निर्माण-कला का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ

था। मूर्तिकला के क्षेत्र में भी गुप्तकालीन कलाकारों की देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। उन्होंने पत्थर, धातु व मिट्टी की प्रतिमाओं का निर्माण करके उनमें जान डाल दी थी। ये प्रतिमाएँ निर्जीव नहीं, अपितु सजीव और प्राणवान प्रतीत होती हैं। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों के अतिरिक्त शैव, बौद्ध और जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में निर्मित की गईं। इस युग में मूर्तिकला किसी विदेशी प्रभाव से प्रभावित नहीं रही। सभी मूर्तियाँ शारीरिक सौन्दर्य के साथ-साथ आन्तरिक व आध्यात्मिक भावों के सौन्दर्य से भी मण्डित थीं। चित्रकला के क्षेत्र में भी गुप्तयुग का महत्त्व असाधारण है। इस युग की चित्रकला के श्रेष्ठतम नमूने अजन्ता और बाघ की गुफाओं में सन्निहित हैं। गुप्त कालीन चित्रकला का वैभव दर्शनीय है। इन चित्रों का विषय भगवान् बुद्ध का जीवन और उनसे सम्बन्धित घटनाएँ तो हैं ही, साथ ही भारतीय जन-जीवन के अन्य सभी अङ्ग भी उनका विषय बने हैं। जड़ प्रकृति भी उनके हाथों से अंकित होने से बच नहीं सकी है और नदी, वृक्ष आदि के अनेक मनोहारी चित्र हमें देखने को मिलते हैं। संगीतकला और नृत्यकला भी गुप्तकाल में उन्नति की ओर अग्रसर थी। गुप्त सम्राट इन सभी कलाओं के प्रेमी और संरक्षक थे। उनके शासन काल में कला का जैसा सर्वाङ्गीण और समुचित विकास हुआ वैसा भारतीय इतिहास में न भूतो न भावी है। अतः विविध कलाओं के चरम विकास की दृष्टि से भी गुप्त काल स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

(७) **विज्ञान की प्रगति**— गुप्तकाल में विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् आर्यभट्ट इसी युग में हुए। इनकी खोजें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थीं। आर्यभट्ट ने ही इस सिद्धान्त की खोज की थी कि पृथ्वी गोल है और सदैव सूर्य के चारों ओर घूमा करती है। ग्रहण के सम्बन्ध में लोक प्रचलित अन्धविश्वास को इन्होंने निर्मूल ठहराया और ग्रहण के वास्तविक कारण को प्रस्तुत किया। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का नाम "आर्यभट्टीय" है। दूसरे प्रमुख विद्वान् वराहमिहिर थे। गणित एवं ज्योतिष के क्षेत्र में इनकी देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनके ग्रन्थों में 'पंचसिद्धान्तिका' और "वृहत्संहिता" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आयुर्वेद एवं रसायन ने भी गुप्त युग में अपूर्व प्रगति की। दिल्ली के समीप मेहरौली नामक स्थान पर प्राप्त लौह स्तम्भ गुप्तकालीन रसायन विद्या के उन्नत स्वरूप का प्रमाण है। यह लौह स्तम्भ लगभग १५० वर्षों से खुले आकाश के नीचे खड़ा धूप, सर्दी और पानी को सहन कर रहा है, किन्तु इसमें जरा सा भी जंग नहीं लगा है। लोहे में इतनी शताब्दियों के अनन्तर भी जंग क्यों नहीं लगा, यह समस्या आधुनिक वैज्ञानिकों के समक्ष प्रश्न चिह्न के रूप में है। आज का वैज्ञानिक भी उस युग की वैज्ञानिक प्रगति को देख आश्चर्यचकित है।

(८) **व्यापारिक व औद्योगिक प्रगति**—गुप्तकाल में देश की आर्थिक दशा भी कम सम्पन्न न थी। कृषि, व्यापार व उद्योग धन्धों की इस युग में बहुत अधिक उन्नति

हुई। गुप्त सम्राटों ने कृषि की सिंचाई के लिए झील आदि खुदवाई। उनके समय वैदेशिक व्यापार भी उन्नति पर पहुँच गया। स्थल मार्ग द्वारा चीन, तिब्बत ईरान, व अरब से व्यापार होता था। जल मार्ग द्वारा लंका, जावा, सुमात्रा आदि देशों के साथ व्यापार किया जाता था। वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, भड़ौच व पाटलिपुत्र उस युग के प्रधान व्यापारिक केन्द्र थे। उद्योग धन्धों के विकास की दृष्टि से भी तत्कालीन भारत पिछड़ा हुआ न था। मौर्यकाल में जो उद्योग धन्धे प्रचलित थे, गुप्तयुग में आकर वे और अधिक विकसित अवस्था में हो गये थे। वस्त्र उद्योग उस समय का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग था। आभूषण बनाने का व्यवसाय लौह व्यवसाय आदि भी उस समय बहुत अच्छी अवस्था में थे।

(६) विदेशों से सम्बन्ध—गुप्तकाल में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति विदेशों में भी फैली। यह युग विदेशों के साथ आदान प्रदान का युग था। अनेक भारतीय प्रभाव विदेशों पर डाले गये और अनेकों विदेशी प्रभाव भारत पर पड़े। इस सम्बन्ध में चीनी यात्री फाहियान के विवरण महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें हमें गुप्तकालीन वृहत्तर भारत का वर्णन प्राप्त होता है।

गुप्तकाल में भारतीयों ने ज्योतिष के क्षेत्र में यूनानियों से अनेक बातें सीखीं, क्योंकि यूनान में ज्योतिष शास्त्र बहुत उन्नत अवस्था में था। विदेशों को भारतीयों ने बहुत कुछ प्रदान भी किया। पूर्वी एशिया भारतीय कला शैली से प्रभावित हुआ। पूर्वी द्वीप समूह गुप्तकालीन वास्तुकला और मूर्तिकला की शैलियों से प्रभावित हुआ। संस्कृत भाषा भी विदेशों में ग्रहण की गई। इस प्रकार गुप्त-युग में भारत और विदेशों के मध्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि गुप्तकाल में प्रशासन धर्म, कला साहित्य तथा अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई थी। ऐसी सर्वतोमुखी उन्नति भारतीय इतिहास के अन्य किसी युग में परिलक्षित नहीं होती है। अतएव इन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के आधार पर यदि हम गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्णयुग' कह तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। श्री मजूमदार ने लिखा है कि गुप्तशासकों का काल, जो दो शताब्दियों से अधिक का है सर्वसम्मति से भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग समझा जाता है। इस युग में कला विज्ञान साहित्य और अन्य बौद्धिक कार्यों का जो अद्भुत प्रस्फुटन हुआ और जिसे न केवल हम इसी काल में देखते हैं वरन् एक शताब्दी तक और भी पाते हैं वह 'गुप्तयुग' नाम को पूर्णतया चरितार्थ करता है।[1]

८

प्रकीर्णक

- भारतीय धम
- भारतीय दशन
- भारतीय साहित्य
- भारतीय शिक्षा सस्थाए
- षोडश-सस्कार
- विवाह सस्कार
- वण-व्यवस्था
- आश्रम व्यवस्था
- पचमहायज्ञ

भारतीय-धम

भारतीय सस्कृति धम प्रधान है। धम भारतीय जीवन का मूलाधार है। धम शब्द से एक ओर जहाँ दर्नादन जीवन के उपयोगी कत्तव्यो को ग्रहण किया जाता है, वहाँ धम शब्द विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो सिद्धान्तो का भी सूचक है। इस देश में अनेक धर्मों सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ है। हिन्दू धम की ही वदिक पौराणिक तथा शाक्त, जन, बौद्ध आदि धारायें सास्कृतिक भारत क निर्माण म योगदान करती रही हैं।

भारतीय धार्मिक विचारधारा तथा धार्मिक विश्वासो का उन्मेष सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल स होता है। मोहनजोदडो तथा हडप्पा की खुदाई से जो पुरातत्व सम्बन्धी अवशेष उपलब्ध हुए हैं उनके द्वारा तत्कालीन धार्मिक विश्वासो का सकेत

मिलता है । सि धु घाटी के भारतीय जीवन म एक एस देव की पूजा होती थी जो शिव का प्रतिरूप था व एक देवी की पूजा उपासना करते थे जिस आज हम देवी माता वह सकते हैं । इसके अतिरिक्त व वृक्षो, पशुओ तथा नदियो और पवतो की भी पूजा करते थे । श्री वी० जी० गोखल सिंधुघाटी क धार्मिक विश्वासो का सप्रमाण इस प्रकार निर्देश करते हैं—

'सि धु घाटी के निवासियो क धार्मिक विचारो क बारे म अत्यन्त मार्मिक प्रमाण मिलते हैं । वहाँ की एक मूर्ति है जिसको सर जान मार्शल न अत्यन्त उचित शब्दो मे आद्य एतिहासिक शिव कहा है । इस मूर्ति म देवता के तीन मुख हैं और उन्हे योगी की मुद्रा म एक नीचे स सिंहासन पर पर मोडकर इस तरह बठा हुआ दिखाया गया है कि उनकी एडियाँ मिली हुई हैं और पर की उगलियाँ आगे की ओर हैं और घुटनो पर रखी हुई हैं । कलाई स कध तक उनकी बाँहा पर चूडियाँ हैं, जिनम आठ छोटी और तीन बडी हैं । उनके सीने पर एक त्रिभुजाकार कवच है या यह भी सम्भव है कि यह बड लडियो का हार हो और उनकी कमर म एक दोहरी करधनी है ।' उनके चारो ओर जगली पशु दिखाये गय हैं जिसके कारण शिव का सुविख्यात नाम पशुपति इस चित्र पर पूरी तरह चरितार्थ होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय लिङ्ग पूजा का भी प्रचलन था । [1]

इस काल म देवी की उपासना उनके धम का एक और भी महत्वपूण अग था, सि धुघाटी के निवासी देवी की पूजा 'उवरता की देवी' के रूप मे करते थे, सम्भवत इस देवी को वे घर और गाव की रक्षा करने वाली' देवी भी मानते रहे हो । इस काल के व्यक्ति देवी क उदार रूप से भी परिचित थ । 'यहाँ यह भी बता देना अनुचित न होगा कि शक्ति की उपासना की उत्पत्ति भी भारतीय इतिहास के आयपूव सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल म हुई ।

इस काल मे शिव एव देवी माता के अतिरिक्त कुछ पशुओ, वृक्षो प्राकृतिक तत्वो को भी पूजा की जाती था । जिन पशुओ की उपासना की जाती थी वे कल्पित अधमानव अधश्वान आकृति वाले होते थे । कभी कभी उनकी मूर्ति वास्तविक भी होती थी प्राकृतिक तत्वो म अग्नि एव जल की पूजा होती थी । जिन वृक्षो की पूजा होती थी उनमे से पवित्र अश्वत्थ' ता आज भी पूजा जाता है । देवताओ के आगे बलि चढाने की परम्परा थी ।

दाह सस्कार के सम्बन्ध म भी कुछ सकेत मिले हैं । इस काल म शव जलाने के अतिरिक्त शव दफनाये जाते थ शव को आशिक रूप से दफन किया जाता था शव को जलाने के पश्चात दफन किया जाता था । शव को जलान क बाद दफन करन की विधि म पहले शव को पशुओ और चिडिया क खाने के लिए खुला छोड दिया जाता था और बाद म कवल कुछ अस्थिया बटोर कर दफन कर दी जाती थी ।

---

[1] प्राचीन भारत, पृ० १७ १८

शव को जलाने के बाद दफन करने की विधि म शव को जलाने के वाद जो अवशेष रह जाते थे, उन्हे विशेष प्रकार के बरतनो म रखकर दफन कर दिया जाता था। परन्तु एसा प्रतीत होता है कि दाह सस्कार म शव को जलाने की विधि ही सबसे अधिक प्रचलित थी।"[1]

सिन्धु घाटी के इन धार्मिक विश्वासो ने भारतीय सस्कृति को सदा ही प्राणान्वित किया है। आज भी सिन्धु घाटी की सस्कृति एव धार्मिक विश्वासो की छाप हिन्दू धर्म मे विद्यमान है। शिव और देवी की उपासना पशुजा, वृक्षो और नदियो की पूजा सर्वथा सिन्धु घाटी के धर्म और विश्वासो की देन है। इस सस्कृति की छाप हिन्दू धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों पर भी प्रतिविम्बित होती है।

हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म वैदिक धारा के अध्ययन के लिए हम इसे तीन विभागो म बाट कर अध्ययन करेंगे।

देवता

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म के प्रारम्भ म वैदिक ऋषि बहुदेववाद पर विश्वास करते थ। इसलिए इस काल म अनेक प्राकृतिक तत्त्वो को देवो के रूप म मान्यता प्रदान की गई थी। इस काल के अनेक देव प्रकृति के अलौकिक एव नियामक शक्तियो के मानवीकृत रूप थे, जिनमे व्यक्तित्व आरोप किया गया था। किन्तु समस्त देवताओ म लगभग विशेषतायें समान थी। यास्क ने समस्त वैदिक देवताओ को तीन भागो म बाटकर उनका अध्ययन किया है—पहले पृथिवी स्थानीय, अग्नि सोम आदि। दूसरे अन्तरिक्ष स्थानीय—वायु, इन्द्र, पर्जन्यादि। तीसरे द्युस्थानीय—सूर्य सविता पूषा आदि।[2]

ऋग्वेद म इन देवताओ को ग्यारह ग्यारह देवताओ के वर्गों म इन्ही तीन स्थानो के आधार पर विभक्त किया है।[3]

आचार्य यास्क ने उपर्युक्त वैदिक देवताओ का पुन एक वर्गीकरण किया है—

१ प्राकृतिक शक्ति रूप देवता—इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि।
२ गृह देवता—अग्नि सोम आदि।
३ भावजन्य—मन्यु श्रद्धा प्रजापति आदि।
४ गौण देवता—गन्धर्व, अप्सरा आदि।

---

[1] प्राचीन भारत पृ० १८

[2] निरुक्त ७/२/१
तिस्र एव देवता इति नरुक्ता अग्नि पृथिवीस्थान।
वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थान सूर्योद्युस्थान ॥

[3] ऋग्वेद, १/१३९/११
ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासोयज्ञमिमं जुषध्वम ॥

ऋग्वेद के इन देवताओ मे देवियो की भी कल्पना विद्यमान है, किन्तु उन्हे अधिक महत्त्व नही दिया गया है। देवियो म केवल अदितिदेवी महत्त्वपूर्ण है।

वेदो म बहुदेववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद तीनो ही धारणायें विद्यमान हैं। अनेक वैदिक मन्त्रो मे नाम का अन्तर ही अधिक है अन्यथा इन देवताओ के गुण एव आत्यन्तिक सत्ता एक ही है—

"वह एक देव ही अनेक रूपो मे व्यक्त होता है, मेधावी लोग इन आदित्य देव को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। ये स्वर्णिम पक्ष वाले (गरुड) और सुन्दर गमन वाले हैं। ये एक है तथापि इन्हे अनेक कहा गया है। इन्हे अग्नि, यम और मातरिश्वा कहा जाता है।[1] हे अग्नि! तुम उत्पन्न होते ही वरुण हो, समिद्ध होकर मित्र हो, समस्त देवगण तुम्हारा अनुवर्तन करते है। हे बल पुत्र तुम हव्यदाता यजमान के इन्द्र हो। हे अग्नि! तुम अर्यमा वैश्वानर भी हो।[2] वहाँ वह परमतत्त्व अग्नि, वायु आदि के रूप मे व्यक्त होता है। एक होकर भी अनेक रूपो म उस स्वीकार किया गया है।[3] यास्क भी परमतत्त्व को एक ही स्वीकार करते है।[4] अन्यान्य देव उसी के प्रत्यङ्ग हैं। वृहद्देवता भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है।[5] ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।[6] इस प्रकार जब एक ही देव अनेक रूपो म व्यक्त होता है तो वह देव निश्चय ही मूलत एक ही है।'

ऊपर हमने अभी कहा है कि वैदिक देवो का रूप सदा परिवर्तनशील रहा है वैदिक देवतावाद बहुदेववाद की ओर उन्मुख था, कालान्तर म एकदेववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप म उसकी चरम परिणति होती है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त सर्वेश्वरवाद का पूर्ण परिपक्व स्वरूप प्रस्तुत करता है। उस पुरुष के सहस्र सिर हैं सहस्र नेत्र तथा सहस्रपाद हैं अर्थात उसके सिर नेत्र तथा पैरो की संख्या की इयत्ता नही है। वह इस विश्व परिमाण से अधिक है। वह विश्व को चारो ओर से घेर कर दश अंगुल अधिक बढ़कर है "अत्यतिष्ठत दशाङ्गुलम्' म दशागुल शब्द परिमाणाधिक्य का उपलक्षण मात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उसके केवल एक

---

[1] ऋग्वेद १/१६४/४६

[2] वही ५/३/१२

[3] कठोपनिषद २/२/९ १२

[4] निरुक्त ७/४/८ ९

महाभाग्यात देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मन अन्य देवा प्रत्यगानि भवन्ति॥

[5] वृहद्देवता १/६१ ६५

[6] ऋग्वेद ३/५५/१ २२

[7] अवतारवाद की विचारधारा का उद्भव, विकास तथा भारतीय वाङ्मय और कलाओं पर उसका प्रभाव, पृ० १०९ १०८

चतुर्थ अंश मात्र हैं। इसका अमृत त्रिपाद आकाश में है। वह अमरणधर्मा प्राणियों का शासक है तथा जो मरणधर्मा ... भोजन करने से बढते है। पुरुष के विषय में विलक्षण तथ्य यह है—'पुरुष एवेद सर्व यद भूत यच्च भाव्यम्' (ऋ० १०/९०/२) अकेला पुरुष ही यह समस्त विश्व है, जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ तथा जो आगे भविष्य में उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्वर वाद (पैनथीज्म) का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में आर्यों के प्रौढ धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है। पश्चिमी विद्वानों की आलोचना में 'पुरुष एवेद सर्वम्' की भावना बहुदेवतावाद (पालीथीज्म) तथा एक देवतावाद (मोनोथीज्म) के अनन्तर जायमान धार्मिक विकास की सूचना देती है।[1]

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस प्रकार मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढमूल होगई थी, यही मुख्य देव कहीं प्रधान देव, कहीं हिरण्यगर्भ—"हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्यजात पतिरेक आसीत तो कहीं पुरुष—'पुरुष एवेद सर्व यद्भूत यच्चभाव्यम्' कहीं प्रजापति के नाम से विख्यात हुआ था और परवर्तीकाल में यही 'सर्वमिदं खलु ब्रह्म' की भावना का प्रेरक तत्त्व हुआ।

वैदिक देवता तेज प्रकाश तथा शक्ति—तत्त्व के प्रतीक हैं अपार शक्ति युक्त उदार सर्वज्ञ दयालु, निश्छल, और अमरत्व आदि उनके गुण हैं। वे पापियों अपराधियों को दण्ड देते हैं। सदाचारी एवं पुण्यात्माओं को वैभव प्रदान करते हैं। वैदिक देव ऋत एवं सत्य के नियामक हैं।

आर्यों का विश्वास था कि प्राकृतिक देवी देवताओं की उपासना के माध्यम से उस अनन्त शक्ति की उपासना होती है और वह अनन्तशक्ति ही कामनाओं की पूर्ति करती है। वेद में पौराणिकता के मौलिक तत्त्वों का उदय यहीं से होता है। डाक्टर पाण्डेय एवं जोशी लिखते है—

ऋग्वेद के ये सूक्त हमारे लिए केवल इसीलिए बहुमूल्य हैं कि इन सूक्तों में हम पुराण का और इतिहास का प्रारम्भिक सूत्रपात देखते हैं। हम देवताओं को अपने चर्म चक्षुओं के सामने प्रकट होते हुए देखते हैं। अनेक सूक्त सूर्यदेव, चन्द्रदेव, अग्निदेव, प्रभंजन, जलदेव, उषाकाल की देवियों तथा पृथ्वी की देवियों के प्रति नहीं कहे गये हैं अपितु स्वयं भास्कर नक्षत्र में प्रस्फुटित सुधांशु अग्निकुण्ड तथा वेदी पर देदीप्यमान वैश्वानर मेघमण्डल में चमकती हुई सौदामिनी, निशीथिका में ताराङ्कित व्योम, गर्जना करते प्रभंजन, मेघों तथा तरङ्गिणियों में बहते हुए जल, अरुण उषा तथा फलयुक्त मही इन समस्त प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रशंसा, पूजा और आवाहन के रूप में कहे गए हैं।[2]

---

[1] वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १७८ १७९
[2] वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० ५६ ५७

वदिक देवो की एक विशेषता यह भी है कि उनकी शारीरिक रचना मनुष्यों के समान है उनके भी सिर, आँख, भुजा हाथ पैर आदि होते हैं। इस विषय म डा० सूयकान्त 'वदिक देवशास्त्र' की भूमिका म लिखते हैं—'अनेक स्थानो पर तो इस मानवीय रूप रचना का प्रारम्भिक रूप तक हमारे सामने आ जाता है। उदाहरण के लिए उषा को लीजिए—यह एक ऐसा देवता है जिसका मानवीकरण रूप-परिधान अभी तक ढीला ढाला झीना है। और जब अग्नि शब्द से देवता का बोध होता है तब अग्नि देवता का व्यक्तित्व चहु ओर के प्राकृतिक तत्वो से सुतरां घुला मिला रहता है।"

वदिक धम की एक अय विशेषता कमकाण्ड भी है। कमकाण्ड म यज्ञ की प्रधानता होती है। यज्ञ का प्रमुख उद्देश्य यह था कि मनुष्य को सवश प्रकृति के उन जलादि तत्वो के अभाव की पूर्ति करते रहना चाहिए जिसम उसके शरीर का निर्माण हुआ है। इसके अतिरिक्त यज्ञ के मूल म सावजनिक कल्याण कामना भी होती है। प्रो० शिवदत्त ज्ञानी यज्ञ के सम्बध म लिखते हैं—

यज्ञ वैदिक काल के धार्मिक जीवन का मुख्य अंग था। अग्नि को प्रज्वलित कर उसम सुगंधित द्रव्य घृत आदि डाले जाते थे जबकि विभिन्न देवताओ का आह्वान किया जाता था। यज्ञ से सम्बंधित कमकाण्ड का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। होता, अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा आदि की सहायता से यज्ञ सम्यक रूप से सम्पादित किया जाता था। वदिक काल मे राज पुरोहित का स्थान बहुत ऊँचा था। वह राजा के लिए यज्ञादि की व्यवस्था करता था। ऋग्वेद (१/१/१) म अग्नि को यज्ञ का पुरोहित देव व ऋत्विज कहा गया है। इन शब्दो से यज्ञ का महत्त्व भली भाँति समझ म आ जाता है।"[1]

वदिक साहित्य म उत्तरोत्तर यज्ञ का विकास होता रहा उसे महत्व प्राप्त होता रहा यजुर्वेद मे यज्ञ की प्रशसा म उसके विधान मे अनेक मन्त्र लिखे गये हैं। ब्राह्मण साहित्य म यज्ञ तत्व को और भी अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। एक प्रकार से ब्राह्मण का जीवन ही यज्ञमय हो गया था। प्रत्येक गृहस्थ को दनिक जीवन मे यज्ञ करने होते थे। अमावास्या पूर्णिमा आदि विशिष्ट यज्ञो को करने का विधान था। किसी भी शुभ काय से पूव यज्ञ करना आवश्यक था ये यज्ञ द्विज मात्र के लिए थे, क्षत्रियो के लिए—राजसूय वाजपेय अश्वमध आदि विशिष्ट यज्ञो का विधान किया गया था। इस काल म यज्ञो के लिए उनके महत्व स्थापन के लिए एक विशाल साहित्य (श्रौत गृह्य धम सूत्र) का सजन किया गया था।

वदिक धम की एक अय विशेषता उसके ज्ञान माग के प्रतिपादन म है। ब्राह्मण-साहित्य म जहा कमकाण्ड का प्राधाय है, वहाँ उपनिषद् साहित्य म ज्ञान माग

---

[1] भारतीय संस्कृति, पृ० २०८ २०९

को महत्त्व प्रदान किया गया था, और उपनिषदो मे आत्मा तथा ब्रह्म एकत्व, आत्मा का आवागमन सिद्धान्त, कर्म एवं ज्ञान के अनुरूप विभिन्न योनियो मे जन्म तथा विश्व के क्षणिकत्व और मोक्ष आदि का निरूपण किया गया है। इस प्रकार आर्यों की अन्तर्दृष्टि ने उन्हें तत्व ज्ञान की ओर भी प्रेरित किया था।

वैदिक धर्म में मानव के लिए सस्कारो का भी विधान किया गया है। सस्कार तत्कालीन भारतीय जीवन मे आवश्यक तत्व के रूप मे मान्य थे। सोलह सस्कारो के अन्तर्गत व्यक्ति की उन्नति एवं मंगल की भावना निहित रहती थी। इन सस्कारो के द्वारा मनुष्य को राष्ट्रीय कर्तव्यो का भी ज्ञान प्राप्त होता था।

भक्ति-मार्ग का प्रादुर्भाव

वैदिक काल मे वेद-मन्त्रो मे ही भक्ति भाव के अनेक तत्व मिलने लगे थे। विष्णु शिव, ब्रह्मा आदि विभिन्न देवताओ को आराध्य और उपास्य मानकर विभिन्न सम्प्रदायो ने भारतीय धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। इन देवताओ के आधार पर धार्मिक-सम्प्रदायो मे भक्ति मार्ग ने वैदिक काल के पश्चात् भारतीय जन जीवन में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। वैदिक विष्णु मे भक्ति मार्ग के अनेक तत्त्व सहज ही उपलब्ध होते हैं। इसी विष्णु देवता के नाम से 'भागवत धर्म व वैष्णव धर्म सैकडो वर्ष तक जन जीवन को प्रभावित करते है।" ऋग्वेद के विष्णु में पुराणो का विष्णु बीज रूप से दृष्टिगोचर होता है। विष्णु के तीन पदो मे ही वामनावतार का भाव निहित है। इसी प्रकार वेदो मे अन्य अवतारो[1] के सकेत मिलते हैं।"

वैष्णव धर्म के आचार तथा उसका बहिरंग

वैष्णव धर्म मे मूर्तिपूजा और मन्दिरो का महत्त्वपूर्ण स्थान है, मूर्ति को श्री विग्रह अथवा अर्चा अवतार कहते हैं। मूर्ति को भगवान् का प्रत्यक्ष रूप तथा उसका प्रतीक मानते हैं। मन्दिरो मे भक्ति भाव से सम्प्रत भक्त अपनी भावसुमनाजलि समर्पित करता है। वैष्णव भक्त अपने अपने सम्प्रदाय के सूचक तिलक आदि चिह्नो को भी धारण करते है। अनेक धार्मिक उत्सवो पर सोत्साह भजन पूजन कीर्तन आदि किए जाते है। तीर्थयात्रा का इस धर्म मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैष्णव धर्म के सिद्धान्त

वैष्णव धर्म मे ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का समन्वय है। वासुदेव की भक्ति प्रधान है। चतुर्व्यूह सिद्धान्त भी इनका मुख्य सिद्धान्त है। व्यूहवाद मे "वासुदेव को परमात्मा या आत्मा अथवा परमात्मा कहा गया है और उन्हें सब किसी का स्रष्टा भी माना गया है। सकर्षण उन्हीं के एक-दूसरे रूप हैं और वे सभी प्राणियो के प्रतिनिधि स्वरूप भी हैं। सकर्षण से प्रद्युम्न या मन की उत्पत्ति होती है और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध या अहकार उत्पन्न होता है। ये चारो ही नारायण या वासुदेव की मूर्तियाँ

---

[1] द्रष्टव्य—लेखक का शोध प्रबन्ध अवतारवाद का उद्भव तथा विकास।

हैं। देवता एवं सारे प्राणी वर्ग भी नारायण से उत्पन्न होकर नारायण में ही विलीन हो जाते हैं।[1] इस व्यूह में वासुदेव के अतिरिक्त तीनों देवों को जीव, अहंकार और मन या बुद्धि माना गया है। इस व्यूहवाद का प्रारम्भिक रूप महाभारत के नारायणीय अध्याय में द्रष्टव्य है।

अवतारवाद का सिद्धान्त वैष्णव धर्म का आधारभूत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् विष्णु समय समय पर लोक में अवतार लेते हैं और वे अपने भक्तों के संकट दूर करते हैं, धर्म की रक्षा करते हैं और लोक-कल्याण करते हैं। गीता में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की घोषणा की गई है जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती तब मैं आत्म सृजन करता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश तथा धर्म की स्थापना के लिए युग युग में उत्पन्न होता हूँ।[2]

इस अवतारवाद के कारण अवतारों की पूजा और भक्ति की लोकप्रियता बढ़ी। अवतारों की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने व्यूहों को एक प्रकार से निर्वासित सा कर दिया और व्यूह के चार अंगों में से केवल वासुदेव मात्र ही शेष रह गये।

रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य ने वैष्णव धर्म की भक्ति को दार्शनिक आधार दिया। मुक्ति को केवल भक्ति द्वारा प्राप्य बताया। ज्ञान और कर्म को सहायक मात्र स्वीकार किया, और इस प्रकार अनेक भक्ति सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ।

शैवधर्म

भक्ति प्रधान शैव धर्म की उत्पत्ति भी वैदिक और अवैदिक धाराओं के समन्वय का परिणाम है। मार्शल के अनुसार सिंधु घाटी में भी 'शिव', 'पशुपति', ही प्रधान देवता थे। ऋग्वेद में वर्णित रुद्र ही परवर्ती शिव हैं। उत्तर वैदिक साहित्य में शिव का विस्तार से वर्णन है। इस मत के अनेक संकेत प्राचीन भारतीय साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में कुषाण वंशी राजा भी इस मत के मानने वाले थे। शक, हूण भी इस धर्म को स्वीकार करते हैं। शैव धर्म उत्तरोत्तर समस्त भारत में फैल जाता है। दक्षिण भारत में भी इसका प्रचार व प्रभाव कम न था। 'दक्षिण में नायन्मार सन्तों के प्रभाव से और पल्लव तथा चोल सम्राटों के प्रोत्साहन द्वारा शैव धर्म की विशेष प्रगति हुई। दक्षिण में १२वीं शताब्दी में वीर शैव या लिङ्गायत धर्म का उत्थान हुआ। इसमें शिव लिङ्ग की पूजा का विधान

---

[1] परशुराम चतुर्वेदी वैष्णव धर्म, पृ० ५०

[2] महाभारत, भीष्म पर्व, २८/७ ८

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

है। अनेक शव मन्दिर छठी स बारहवी शताब्दी तक के काल म बने। ८वी से १२वी शताब्दी के बीच कश्मीर म दार्शनिक शव धम का उदय हुआ जिसमे शाक्ततान्त्रिक धर्म के तत्त्व अधिक थ।"[1]

शव सम्प्रदाय क अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक हो जाने पर इसम चार अन्य सम्प्रदाय भी हो गय—शव पाशुपत, कालामुख और कापालिक। उत्तर का सम्प्रदाय काश्मीर शव मत तथा दक्षिण का वीर शव मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन समस्त सम्प्रदायो के इष्टदेव भगवान् शङ्कर थे।

शवो के सिद्धान्त

१ भगवान् शिव ही इनके उपास्य हैं, भगवान् शिव के पाँच मुख हैं—(१) सद्योजात, (२) वामदेव (३) अघोर मुख (४) तत्पुरुष मुख, (५) ईशान मुख। इन मुखो से भक्तो के उद्धार हेतु उन्होने कायिक, योगज, सूक्ष्म, सहस्र, स्वायंभुव, अनल, विमल परमेश्वर तथा सर्वोत्तर आदि २८ आगमो का उपदेश किया था।

२ शव सिद्धान्त के अनुसार शिव के रूप म तीन पदार्थों की कल्पना की गई है—पति, पशु और पाश। पति' स शिव का अभिप्राय है जो परमतत्त्व एव परमेश्वर है। पशु' जीव के लिए प्रयुक्त है। जीव के बन्धन ही 'पाश' हैं। 'जीव (पशु), पास (बन्धन) को काटकर पति (शिव) की कृपा स 'शक्तिपात' प्राप्तकर अपनी बुद्धि तथा मन के मल को धोता है तत्पश्चात दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त करता है।[2]

पाशुपत मत

इस सम्प्रदाय क सस्थापक का नाम नकुलीश या लकुलीश था, जो भगवान् शङ्कर के अठारह अवतारा म से एक माने जाते हैं। लिङ्ग तथा वायु पुराण इनके अवतार की चर्चा करते हैं। शव सिद्धान्तानुरूप इस मत म भी पति, पशु और पाश की कल्पना है। पाशुपतो के अनुसार महेश्वर ने जीवो की मुक्ति के लिए पाच बातों का निर्देश किया है —काय कारण योग, विधि तथा दुखान्त।

१ काय स पाशुपतो का अभिप्राय परम त्र मे है।

२ कारण जो स्वतन्त्र है।

३ योग के द्वारा जीव का चित्त के माध्यम से ईश्वर क साथ सम्बन्ध जुडता है। इस योग के मन्त्र जप ध्यान तथा कर्मो से वैराग्य प्रमुख अङ्ग है।

४ विधि के द्वारा ईश्वर का सामीप्य लाभ होना है। इस विधि के शरीर पर भस्म 'मलना' मन्त्र जप प्रदक्षिणा आदि अङ्ग हैं।

५ दुखान्त से अभिप्राय दुख की मुक्ति स है। इसक दो रूप हैं—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक का अथ है दुख म पूण मुक्ति। सात्मक का अथ अलौकिक

---

[1] भारतीय सस्कृति पृ० ७२

[2] भारत का सास्कृतिक विकास, पृ० ९७

शक्तियो की प्राप्ति है। इस अवस्था म अद्भुत—ज्ञान तथा अद्भुत क्रिया शक्ति का आविर्भाव होता है। यह अद्भुत ज्ञान पाँच प्रकार का होता है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञत्व। इसके अतिरिक्त अद्भुत क्रिया शक्ति तीन प्रकार की होती है—मनोजवित्व, कामरूपित्व और विकरण धर्मित्व। इन समस्त शक्तियो द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

शैवो के सिद्धात जहाँ सुगम और मृदुल हैं, वही पाशुपतो के कुछ विचित्र। इस विचित्रता के पीछे जो सिद्धात है उन्हे मजूमदार साहब ने महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हुए लिखा है "इन पागलपने और जगली तरीको के पीछे जो दार्शनिकता, तत्त्व ज्ञान और मनोविज्ञान निहित हैं उन्हे सारी विचित्रताओ के बावजूद किसी प्रकार भी महत्त्वहीन नही कहा जा सकता।"[1]

शैवो के दो अन्य सम्प्रदाय भी हैं जो घृणित, रहस्यपूर्ण एव विचित्रताओ से भरे हुए हैं। एक कपाल और दूसरा कालामुख। इनके सभी कार्य एव सिद्धातो का उल्लेख भी सम्भव नही है। ये शैवो के उग्रमत हैं। रामानुज के अनुसार कापालिको के लिए ६ मुद्राओ का धारण करना परमावश्यक है, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। कर्णिका रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत—ये ही ६ मुद्रायें हैं। इनके अतिरिक्त पारलौकिक ससिद्धि के लिए निम्न कार्यों का भी विधान है—

१ कपाल म भोजन करना।
२ शव की राख शरीर पर लगाना।
३ भस्म खाना।
४ गदा धारण करना।
५ शराब का बर्तन रखना।
६ उसम बैठे हुए देवता की उपासना करना।

'ये भयकर क्रियायें रुद्र शिव के मूल भयकर और ज्वलंत स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं अथवा उसके मुख्य अनुयायियो के वर्ग के मानसिक एव आचारावस्था को व्यक्त करती हैं।' रुद्राक्षमाला जटाजूट, कपाल भस्म आदि इस सम्प्रदाय की पवित्र वस्तुएँ हैं। इस मत के अनुयायी भैरव के भक्त होते हैं।

काश्मीरी शैव-मत

इस मत का आविर्भाव शिव द्वारा हुआ किन्तु आचार्य वसुगुप्त ने इसकी स्थापना समारम्भ की। इस मत की दो शाखायें थीं—स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। वसुगुप्त की स्पन्दकारिका के आधार पर इस शाखा का नामकरण हुआ है तथा इसके प्रधान आचार्य वसुगुप्त के शिष्य कल्लट कहे जाते हैं। वसुगुप्त के द्वितीय शिष्य सोमानन्द ने 'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र' का प्रवर्तन किया। इस सम्प्रदाय म शिव को एक मात्र सत्य माना गया है। उन्हीं की पूजा होती है। शिव के साथ शक्ति भी उपास्य है।

---

[1] प्राचीन भारत पृ० ४२२

'यह मत जीव और ब्रह्म की एक ही सत्ता मानता है। ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं। सम्पूर्ण सृष्टि में शिव की भावना निहित है, किन्तु अज्ञानवश जीव अपने में शिव का अनुभव नहीं कर पाता, किन्तु प्रत्यभिज्ञा द्वारा जब उसे ज्ञान हो जाता है तब उसका शिव के साथ साक्षात्कार हो जाता है और वह आत्म समर्पण कर मुक्ति प्राप्त करता है।" इस मत में कापालिक और कालामुख सम्प्रदायों जैसा जंगलीपन और पागलपन से पूर्ण अनुशासना का अभाव है, इसीलिए इस धर्म को अन्य धर्मों के बीच आदर प्राप्त है। इस मत के सम्बन्ध में भाण्डारकर ने ठीक ही लिखा है, "मानव बुद्धि की इस नैतिक हीनता की भयंकर कल्पनाओं से हटकर काश्मीर के शैव सम्प्रदाय की चर्चा करना कहीं अधिक सुखद है, जोकि अधिक मानवतापूर्ण और बुद्धिवादी है।"[1]

वीर-शैव मत

दक्षिण भारत के शैव सम्प्रदायों में वीर शैव अथवा लिङ्गायत सम्प्रदाय भी महत्त्वपूर्ण है, इसके दर्शन पर शंकर और रामानुज दोनों का ही प्रभाव दृष्टव्य है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने गले में शिवलिङ्ग धारण करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसे एक प्रकार का 'विशिष्टाद्वैत' कहा जा सकता है। "शिव को परम शक्ति मानने के कारण इसमें शक्ति विशिष्टाद्वैत की भावना निहित है। इसके अन्तर्गत शिव को स्थल संज्ञा प्रदान की गई है, क्योंकि शिव से उत्पन्न सृष्टि शिव में ही लीन हो जाती है। 'स्थ' से जगत् की स्थिति के आधार से अभिप्राय है तथा 'ल' के द्वारा 'लय' अर्थ प्रकट होता है। अतः 'स्थल संज्ञक शिव ही जगत् के आश्रय और परमानंद की प्राप्ति के साधनों के परम लक्ष्य हैं।'[2]

शैव धर्म का लोकप्रिय रूप आज जनता में प्रचलित है। धार्मिक जीवन में काशी आदि शैव तीर्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, शैव मठ तथा मन्दिर भारत के प्रत्येक कोने में स्थित हैं, और शिवरात्रि का पर्व बड़े समारम्भ के साथ भारत में सभी मनाते हैं यही उस धर्म की लोकप्रियता का प्रमाण है।

शाक्त धर्म

शाक्त मत की एतिहासिक धारा प्रागैतिहासिक काल तक देखी जा सकती है। सिन्धु घाटी की संस्कृति में मातृदेवी की उपासना की जाती थी। ऋग्वेद में अदिति तथा अन्य देवियों के संकेत मिलते हैं। केनोपनिषद् में हैमवती उमा का आविर्भाव होता है। महाभारत के एक स्तोत्र में दुर्गा की वंदना है जिसमें दुर्गा को काली कपाली, चण्डी, कात्यायनी कराला तथा विजया आदि नामों से अभिहित किया गया है। मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणों में भी मातृदेवी के दुर्गा, उमा, पार्वती आदि रूप विद्यमान हैं, जो कि शिव की अर्धाङ्गिनी के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। उपर्युक्त समस्त देवियाँ एक होकर शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुई। देवी शक्ति की

---

[1] आर० सी० मजूमदार प्राचीन भारत, पृ० ४२२

[2] भारत का सांस्कृतिक विकास, पृ० ९९

अवतार है, इसी के आधार पर शाक्तमत का जन्म हुआ है। ईलियट के अनुसार शाक्त वे हैं जो कि शक्ति को इष्ट-देवी मानते हैं और तन्त्र मन्त्र के विधान द्वारा उसकी उपासना करते हैं।' शाक्त धारा का शैव धारा के साथ चिरकाल तक सम्बन्ध रहा है। शाक्त विचारधारा का पृथक धर्म के रूप में मान्यता सातवीं शताब्दी के पश्चात मिली है। शाक्त धर्म के उदय के पीछे कई शक्तियाँ थी। अवदिक धारा का प्रभाव, पुराणों का प्रभाव, बौद्ध धर्म की देवी तारा की उपासना का प्रभाव तथा सांख्य दर्शन का प्रभाव—इन सबका शाक्त-धर्म के विकास में विशेष हाथ माना जाता है। अपने व्यापक रूप में शाक्त-धारा हिन्दू एवं बौद्ध दोनों धर्मों में दृष्टिगोचर होती है। बौद्ध धर्म के तान्त्रिक रूप को शाक्त धारा के ही अन्तर्गत मानते हैं।"[1]

आजकल यह शाक्त धर्म हिन्दुओं का एक प्रमुख धर्म है, इस धर्म में शक्ति की पूजा अनेक रूपों में होती है। बंगाल एवं आसाम में यह धर्म अधिक लोकप्रिय है। आसाम में कामरूप कामरूद्धा शाक्तों का एक प्रसिद्ध देवस्थान है।

शाक्तों के सिद्धान्त

शाक्त मत में शिव और शक्ति को परम तत्त्व माना गया है, शिव शक्ति की सहायता से ही सृष्टि रचना करते हैं। शक्ति ही मूलक्रिया एवं सृजन शक्ति है जो शिव में विद्यमान है। शाक्त समस्त जीवों को त्रिपुर सुन्दरी का ही रूप मानते हैं। इस प्रकार यह मातृ देवी शक्ति ही संसार की उत्पत्ति स्थिति और संहार का कारण है। वह सर्व व्यापक है। शाक्त शक्ति के किसी एक व्यक्त रूप दुर्गा, काली या तारा की उपासना करता है।

शाक्त सिद्धान्त में मुक्ति कर्म तथा ज्ञान का समन्वय माना गया है। ज्ञान का अर्थ शाक्त दर्शन का वास्तविक ज्ञान है। इष्ट देवता की भक्ति और रहस्यमय आन्तरिक उपासना भक्ति पक्ष में है। कर्मपक्ष में मन्त्र, मन्त्र और अनेक अन्य तान्त्रिक क्रियाएँ हैं। ध्यान और भक्ति का भी समावेश इस पद्धति में है। शाक्त पद्धति में भुक्ति और मुक्ति के समन्वय का भी आदर्श मिलता है। सांसारिक भोग मुक्ति मार्ग में बाधक नहीं माने जाते हैं। उनका उपयोग इस रूप में किया जाता है कि वे मुक्ति में सहायक हो सकें। इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग के द्वारा ही साधक निवृत्ति के लक्ष्य को प्राप्त करता है।"[2]

शाक्त मत में 'कुण्डलिनी' शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है रहस्यमय शक्ति विश्व ब्रह्माण्ड में शब्दों तथा मन्त्रों में समाविष्ट है। शरीर स्थित कुण्डलिनी शक्ति को साधक साधना द्वारा जब सिद्ध कर लेता है, तब साधक को मुक्ति प्राप्त होती है।

शाक्तों की उपासना दीक्षा द्वारा होती है। यह दीक्षा तीन प्रकार की है—प्रथम दीक्षा में महापद्मवन में शिव के समीप स्थित देवी की आराधना होती है, द्वितीय

[1] भारतीय संस्कृति पृ० ७३
[2] वही, पृ० ७४

चक्ररूपा दीक्षा में देवी की उपासना श्रीचक्रों के रूप में की जाती है तृतीय दीक्षा गुरु द्वारा शाक्त मन्त्रों का अध्ययन कर उसके मर्म को समझ कर पूर्ण की जाती है। चक्र-रूपा दीक्षा में श्रीचक्र भोजपत्र, रेशमी वस्त्र, या स्वर्ण पर अंकित किया जाता है। तत्पश्चात् उपासना की जाती है। उपासना के क्षेत्र में यह सिद्धान्त 'त्रिपुरा' सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतवर्ष में शाक्तों के अनेक सम्प्रदाय हैं। यह धर्म भारतीय जीवन को अत्यधिक प्रभावित करता रहा है।

पौराणिक-धर्म

वैदिक कर्मकाण्ड एवं औपनिषदिक ज्ञान मार्ग विद्वानों के लिए था, सर्वसाधारण उसके साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध जोड़ नहीं सका। परिणामस्वरूप वेद के मन्त्रों के आधार पर ही भक्ति सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। इस भक्ति-सम्प्रदाय में वैदिक, अवैदिक तथा जन साधारण के धार्मिक विश्वासों का समन्वय था।" इस समन्वित धारा का परिणाम पौराणिक धर्म के रूप में जनता के सामने आया, इसका आकर्षण महान् था, यह सर्वसाधारण के लिए थी। इस धारा का साहित्य पुराण साहित्य है, पुराण अठारह हैं। प्रमुख पुराणों में मार्कण्डेय, विष्णु भागवत आदि हैं। पुराण साहित्य का क्रमिक विकास हुआ है और समग्र पुराण साहित्य दो समयों में जनता के समक्ष आया। तृतीय से पंचम शतक निर्मित पुराण साहित्य मनु याज्ञवल्क्य निर्दिष्ट धार्मिक विधि विधानों का प्रतिपादन करता है, तथा षष्ठ शतक से निर्मित पुराण साहित्य दान व्रत, पूजा और तीर्थों का बड़े सरम्भ के साथ प्रतिपादन करता है।

सामान्य सिद्धान्त

यह समन्वय प्रधान धर्म था, इसमें वैदिक विष्णु, शिव आदि देवताओं के साथ अनेक अवैदिक देवी देवताओं की पूजा का विधान किया गया है। कुछ नवीन देव हैं कुछ प्राचीन देवों को नया रूप दिया गया है। विष्णु के अनेक अवतारों की पूजा विशेष को महत्त्व दिया गया है। यह धर्म एकेश्वरवादी होते हुए भी अन्य देवी देवताओं पर भी विश्वास करता है। आशय यह है कि पौराणिक धर्म उदार है इसमें त्रिदेवों को महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को क्रमशः विश्व का स्रष्टा, रक्षक एवं संहर्ता मानकर उनके समन्वयात्मक रूप का प्रतिपादन किया गया है।[1]

पौराणिक धर्म भी अनुष्ठान प्रधान था, किन्तु इसमें वैदिक कर्मकाण्ड का संक्षिप्तीकरण है। यज्ञ का वह समारम्भ न होकर किसी देवता विशेष को पुष्प, धूप दीप और नैवेद्य द्वारा पूजा जाता है।

वैदिकसाहित्य में मूलरूप से विद्यमान भक्ति भावना का विकास, उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन, सिद्धान्तों की स्थापना पौराणिक साहित्य एवं पौराणिक धर्म में विशेष रूप से की गई है।

---

[1] ए० डी० पुसाल्कर स्टडीज इन एपिक्स एण्ड दि पुराणाज, पृ० ९

पुराणों में बाह्याचारों को महत्त्व देकर उस धर्म को लोकप्रियता प्रदान की गई और यही लोकप्रिय धर्म, भक्ति की माधुरी से समन्वित हो जन-सामान्य को अधिक आकृष्ट करता रहा है। 'धार्मिक उत्सव, दान, व्रत, तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मन्दिर, नक्षत्र-पूजा आदि धर्म के प्रधान अंग माने गए हैं। शरीर पर भस्म लगाने तथा तिलक धारण करने की प्रथा का प्रचलन भी पुराणों के कारण हुआ। इन सबके द्वारा भी धर्म को व्यावहारिक और सार्वप्रिय रूप मिला।'[1] पौराणिक धर्म जनता जनार्दन का धर्म था इसलिए इसमें स्त्रियों, शूद्रों एवं विदेशियों के लिए भी स्थान था।

इस समन्वयवादी पौराणिक धर्म में भी दृष्टिकोण के अन्तर से अनेक अवान्तर सम्प्रदाय थे, ये समस्त सम्प्रदाय अपनी अपनी विशेषताओं के साथ संक्षेप में नीचे देखे जा सकते है।

वैष्णव धर्म

भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म की रूपरेखा वैदिक विष्णु के रूप में दर्शन का प्रयास हो रहा था। भक्ति के विकास के साथ, भक्ति के क्षेत्र के विस्तार के साथ ही कृष्ण को महत्त्व मिला क्रमशः उन्हे इस रूप में विष्णु से भिन्न कर 'परम भागवत' का रूप प्रदान किया गया। गुप्तकाल में इस रूप का अधिक विकास हुआ। मध्ययुग में यह वैष्णव धर्म का ही अंग बन गया। यह धर्म प्रारम्भ में मथुरा के निकटवर्ती क्षेत्र में प्रचलित हुआ था इसके प्रवर्तक स्वयं कृष्ण ही थे। इस धर्म में वासुदेव कृष्ण की उपासना प्रचलित थी इसे भागवत धर्म भी कहा जाता था। जब वैदिक देवता विष्णु के साथ वासुदेव-कृष्ण का तादात्म्य स्थापित हुआ तभी यह धर्म भागवत वैष्णव धर्म कहलाया। फिर वासुदेव कृष्ण विष्णु का एकत्व नारायण के साथ हुआ। नारायण के उपासक 'पाञ्चरात्रिक' कहलाते थे। इस धर्म के दूसरे नाम पञ्चरात्र, सात्वत धर्म आदि भी थे। भगवान् कृष्ण के सात्वत जाति में आविर्भूत हो जाने पर उनकी चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर सात्वतों ने उन्हें अपना आराध्य एवं उपास्य स्वीकार किया और इस काल में एक नवीन धर्म का उदय हुआ। इस भागवत धर्म के उदय के साथ ही अवतारवाद में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा परिवर्धन होता है। श्रीकृष्ण प्रारम्भ में सात्वतों के इष्टदेव थे उनका सम्बन्ध विष्णु के साथ नहीं था। किन्तु आगे चलकर विष्णु एवं कृष्ण में तादात्म्य हो जाता है और इसके साथ ही यह धर्म अप्रतिहत वेग से समाज में प्रचलित होता है। डा० राय चौधरी का कथन है कि किस समय वासुदेव कृष्ण ने विष्णु के अवतार की मान्यता प्राप्त की इसका निश्चित निर्णय करना सम्भव नहीं है तथापि उनका अनुमान है कि सम्भवत

---

[1] डा० लल्लन जी गोपाल, डा० व्रजनाथसिंह यादव : भारतीय संस्कृति, पृ० ६६

तृतीय शतक ईसा पूर्व से वासुदेव-कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता की भावना उत्पन्न हुई थी।[1] किन्तु ई० पू० षष्ठ-सप्तम शतक में वासुदेव की भक्ति का संकेत पाणिनि ने किया है। पतंजलि ई० पू० द्वितीय शतक ने भी इस बात को स्वीकार किया है तथा सिकन्दर अपनी सेना में हेरेक्लि (कृष्ण) की मूर्ति सबसे आगे लेकर चलता था। ई० पू० चौथी शताब्दी में यूनानी दूत मेगस्थनीज ने मथुरा के समीप शूरसेनों द्वारा वासुदेव की पूजा किये जाने का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में वासुदेव के लिए हरक्लिज शब्द का प्रयोग भी किया है। विद्वान् हेरेक्लि का अर्थ हरीकृष्ण या वासुदेव मानते थे। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी के घोसुण्डी स्थित शिलालेख तथा हेलियोडोरस (Heliodorus) के स्तम्भ-लेख में भगवान् वासुदेव की पूजा का उल्लेख है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निश्चित धारणा बनती है कि कृष्ण अनेक शताब्दी ई० पू० भक्तों के आराध्य बन चुके थे। भागवत धर्म भारतवर्ष में प्राचीनतम धर्म था और निश्चित ही पाणिनि से पूर्ववर्ती क्योंकि पाणिनि ने अष्टाध्यायी (४/३/६५) तथा ६८ अन्य सूत्रों में वासुदेव की भक्ति का निर्देश किया है। इस भागवत धर्म के संस्थापक के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं।[2] किन्तु यह निश्चित है कि महाभारत में विष्णु एवं वासुदेव को अभिन्न स्वीकार किया गया है उन्हें सबका आश्रय स्थान भी कहा गया है।[3]

प्राचीनतम महाभारत के अंश में श्रीकृष्ण एक शक्तिशाली योद्धा महापुरुष तथा धर्मोपदेशक के रूप में स्वीकार किये गये हैं। किन्तु बाद में उन्हीं को भागवत धर्म के संस्थापक के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है और इस धर्म के अनुयायी भागवत कहलाते हैं।[4] भागवत धर्म के परम उपास्य-तत्त्व का प्राचीनतम नाम भागवत था किन्तु वासुदेव-युग में वह वासुदेव कृष्ण, पुरुष, नारायण, विष्णु आदि नाम ग्रहण करता है। पाणिनि के सूत्रों से पता चलता है कि वासुदेव के उपासक वासुदेवक कहलाते थे।[5]

ऊपर निर्दिष्ट विदेशियों—सिकन्दर, हेलियोडोरस, मेगस्थनीज के नामोल्लेखों के द्वारा जहाँ समय निर्णय में सहायता मिलती है वहाँ यह भी निश्चित होता है कि ये सभी वैष्णव धर्म में आस्थावान भी थे। तृतीय शतक तक वैष्णव धर्म समस्त भारत में फैल गया था। पाँचवीं छठी शताब्दी में यह जावा, अनाम, कम्बोडिया, आदि पूर्वी

---

[1] राय चौधरी अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सक्ट, पृ० ६३

[2] लेखक का शोध प्रबन्ध अवतारवाद का उद्भव तथा विकास, पृ० ६३-६४।

[3] म० भा० शा० प० ३४७/४८

सर्वेषामाश्रयो विष्णुरश्वर्य विधिमास्थित

सवभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥

[4] दि इण्डियन एण्टीक्वरी, सितम्बर १६०८, पृ० २५५।

[5] वही, पृ० २५८

द्वीप समूहों में भी फैल गया था। इस का प्रमाण वहाँ स्थापत्य एवं मन्दिरों के भग्नावशेषों पर मिल जाता है।

षष्ठ शतक से नवम शतक के मध्य दक्षिण में आलवार सन्तों ने भी भक्ति आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। भक्ति को सार्वजनिक रूप में घर घर पहुँचाने का श्रेय इन्हीं दक्षिण के आलवार सन्तों को है। भक्ति की धारा पर इसी युग में निर्मित भागवत पुराण का विशेष प्रभाव था। श्रीमद्भागवत को अपना आधार बनाकर अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ जिनमें चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—श्री वैष्णव, ब्रह्म, रुद्र, तथा सनक। इन सम्प्रदायों का उदय क्रमशः लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र, तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत के, 'ब्रह्म सम्प्रदाय' के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) द्वैत के, 'रुद्र सम्प्रदाय' के आचार्य विष्णु स्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ शुद्धाद्वैत के, सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्य सम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैताद्वैत से पृथक 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त को अपनाया है। वैष्णव पुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ तथा चैतन्य ने अपनाया है।'[1] भक्ति की ये धारायें आधुनिक युग तक अनेक रूपों में प्रचलित हैं। इनके अन्तर्गत अवान्तर भेद भी हो गये जिनका प्रभाव वैष्णव मन्दिरों तथा हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य में देखा जा सकता है।

अवतारवाद

भारतीय-साहित्य तथा विभिन्न भारतीय धर्मों का अध्ययन करते समय हम अनेक विशिष्टताओं के साथ अवतारवाद को भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की एक प्रमुख विशेषता के रूप में प्राप्त करते हैं। अवतारवाद का भारतीय जन जीवन एवं धार्मिक सम्प्रदायों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। वैदिक तथा अवैदिक प्रायः सभी सम्प्रदायों में अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ अवतारवाद को स्थान मिला है। यह सिद्धान्त इन सम्प्रदायों के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है। अवतारवाद के संकेत प्राचीनतम वैदिक साहित्य में मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय के अनन्तर बाल्मीकि रामायण, महाभारत विविध पुराणों तथा लौकिक संस्कृत की काव्यधारा में अवतारवाद क्रमशः पल्लवित होता गया है। भारतवर्ष की प्रत्येक प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी अवतारवाद अपना प्रमुख स्थान रखता है और इस विशाल भारतीय साहित्य में स्वीकार कर लिया गया है।

अवतार शब्द का अर्थ

'अवतार' शब्द की निष्पत्ति अवपूर्वक तॄ गतौ धातु में घञ् प्रत्यय के योग से होती है। अवतार शब्द का सामान्य अर्थ ऊपर से नीचे आना उतरना, पार होना, शरीर धारण करना जन्म ग्रहण करना, प्रतिकृति, नकल प्रादुर्भाव, अवतरण और

---

[1] बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ० ४८४

अंगोद्भव है।[1] किन्तु पारिभाषिक रूप में 'अवतार' शब्द भगवान् विष्णु अथवा देवताओं के अवतरण या प्रादुर्भाव का द्योतक है। 'अवतार' से हमारा आशय अव्यक्त रूप से विद्यमान परमात्मा का व्यक्त हो जाना अथवा सर्वशक्ति सम्पन्न निर्विशेष शक्ति का उद्देश्य विशेष के लिए विग्रह धारण करना है। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि से सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हैं, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न होते हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए दीखते हैं।[2]

अवतारवाद का उद्भव एवं विकास

विश्व के प्राचीनतम साहित्य में वेदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक साहित्य ने भारतीय जन जीवन, आदर्श एवं साहित्य को सर्वतोभावेन प्रभावित किया है। जहाँ तक अवतारवाद का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में विद्वानों की यह धारणा रही है कि यह महाकाव्य काल की देन है। बात बहुत कुछ उचित भी है, किन्तु रामायण एवं महाभारत में अवतारवाद का जो रूप मिलता है, वह अचानक उत्पन्न होने वाले अवतारवाद का रूप कदापि नहीं है। निश्चित ही उसके पीछे शताब्दियों का योगदान स्वीकार करना होगा, क्योंकि कोई भी विचारधारा उत्पन्न होकर ख्याति प्राप्त करने में शताब्दियों का समय ले लेती है, इसलिए हम महाभारत में उपलब्ध अवतारवादी विचारधारा का काल महाभारत से बहुत पूर्ववर्ती मानते हैं। सम्भवतः इसीलिए फर्कुहर ने वैदिक साहित्य का अवतारवादी दृष्टिकोण से पुनः अध्ययन करने का आग्रह किया था।[3]

अवतारवादी दृष्टिकोण से वैदिक साहित्य का जब हम सर्वेक्षण करते हैं, तब महाकाव्य तथा पौराणिक साहित्य में प्रचुर प्रचारलब्ध एवं उपलब्ध अनेक अवतारवादी तत्त्व इस साहित्य में हमें प्राप्त हो जाते हैं। वैदिक देवों में अवतारवादी देवों की अनेक विशेषताएँ हैं—जैसे देव स्तावकों की रक्षा, उन पर अनुग्रह तथा सुख की सामग्री प्रदान करते हैं, तदनुरूप वैदिक स्तावक पौराणिकों की भाँति उस परमतत्त्व को माता पिता भाई बन्धु आदि के रूप में वर्णन करता है।[4] निश्चय ही उन मन्त्रों में भक्तिवाद का मूल निहित है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा एवं प्रेम का योग होता है। जिस प्रकार अवतारवादी साहित्य में माया के द्वारा विष्णु अनेक रूप धारण कर लेते हैं

---

[1] हिन्दी विश्व कोष, भाग २, पृ० १७६

[2] गीता शंकरभाष्य ४/६

[3] जे० एन० फर्कुहर आ० आ० आ० द० रिलीजियस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ० ८७

[4] ऋग्वेद ३/५३/५, ४/१७/१७, ६/२१/८, १०/४८/१

वसे ही वदिक साहित्य म विष्णु एव इन्द्र को अनेक रूप धारी कहा गया है ।[1] वदिक साहित्य मे एक देव अनेक रूपो म भी आविभू त हो जाता है अथात् वह एक ईश्वर ही इन्द्र वरुण, अग्नि मित्र और अयमा है।[2] इसके अतिरिक्त वामदेव सूक्त म उत्पत्ति वादी अवतारवाद क दशन भी किए जा सकते है, जहा कि वे कहते हैं कि मै सूय था, मैं मनुष्य था।[3] इसी प्रकार इन्द्र को ऋषि भृगवृष का पौत्र माना गया है अर्थात् इन्द्र भी पृथ्वी पर मनुष्य क रूप म अवतरित हुआ था।[4] इन दोनो म न्त्रो म सूय एव इन्द्र को ज म लेने वाला कहा है। वदिक इन्द्र तथा सूय ही परवर्तीकाल के अवतार वादी विष्णु हैं। यास्क न भी प्रयोजनवश देवो का आविर्भाव स्वीकार किया है।[5] इसी प्रयोजनवश आविर्भाव म अवतारवाद का मूल निहित है। इसके अतिरिक्त वदिक साहित्य म ब्रह्म का सगुण निगु ण रूप[6] दवा का मानवीकरण ब्रह्म क विराट एव दिव्य शरीर की कल्पना देवो के पापद[7] आयुध[8] वाहन[9], धाम[10] और आभूपण[11] का कल्पना ठीक वसी ही है जसी कि परवर्ती विकसित अवतारवादी साहित्य म विद्य मान है। वदिक साहित्य मे षोडशकला सम्पन्न पुरुष की कल्पना भी दृष्टिगत होती है।[12] इसके अतिरिक्त अवतारवाद म अशावतार विभूति अवतार आवेशावतार की जो पौराणिक मा यता है उसका भी मूल आधार वदिक साहित्य मे विद्यमान है।[13] पौराणिक अवतारवादी साहित्य म भगवान् के जो लीलारूप तथा रसावतार की मा यता है उसकी पृष्ठभूमि म वदिक साहित्य की माया तथा वदिक दवियो का स्वरूप महत्वपूण योगदान करता है। इसक अतिरिक्त वदिक साहित्य मे वामन वराह, कूम, मत्स्य नृसिंह आदि अवतारो की विचारधारा प्रजापति के अवतार के रूप म उपलब्ध होती है।

---

1. ऋग्वेद ७/९९/१ ७/३६/६ ७/१००/६, श्वेताश्व० ८/६
2. वही १/१६४/४६
3. वही ८/३६/१ बृहदारण्यक १/८/४०
4. वही ८/१७/१३
5. यास्क निरुक्त ७/६ ७
6. बृहदारण्यक उप० २/३/१ ४/४/२०
7. ऋग्वेद १०/३/१२ १६ १०/९०/१
8. वही १/२२/२६ ४/१८/११ ६/२०/२ २/१७/१, ६/११४/३, २/३३/१
9. वही १०/९६/८ १०/८९/८ ६/७५ सम्पूणसूक्त, अथव ५/२० सूक्त
10. ऋग्वद १/१६४/४६ निरुक्त १२/७/६
11. वही १/२२/२० १/१५८/५-६
12. वही २/३३/९ १०
13. प्रश्नोपनिषद ६/२ ६/६ श० ब्रा० १०/४/१/६ १७ १८, १२/८/३/१३ छान्दोग्यो० १०/६/३/१, बृहदा० उप० १/५/१८
14. अश ऋग्वेद १०/९०/३ छान्दो उप० २/१२/८ केन उप० २/१, श्वेता० २/१६, विभूति ऋग्वेद १०/६/११ १२ निरुक्त ७/४/८ ९ बृहद्देवता ६१ ६८ आवेश वा० स० स० १७/९१, ऋग्वद ४/२८/२, तैति-आ० १/२३/८

वदिक साहित्य म जिन अवतारो की चर्चा मिलती है, वे प्रजापति के अवतार हैं और अवतारवाद का सम्बध पौराणिक काल म भगवान् विष्णु से है। अत हमारा विचार यह है कि वदिक साहित्य म अवतार तथा अवतारवाद के बीज स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं। किन्तु इस अवतारवादी विचारधारा का पूण विकास एव प्रतिष्ठा महाभारत काल म होती है। प्रजापति एव वदिक दवो की अवतारवादी समग्र विशेपताएँ विष्णु देवता पर रूपा तरित हो जाती हैं। विष्णु दवता ब्राह्मण काल स ही अपना चारित्रिक विशेपताओ स इन्द्र, अग्नि, प्रजापति आदि दवा का अतिक्रमण करने लग थे, और पूणत्व प्राप्त करने की ओर अग्रसर थे, क्योकि हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के मत्स्य (१/८/१/१), कूम (७/५/१/५) वराह (१४/१/२/११) के अवतार प्रजापति के ही हैं। इनके अतिरिक्त तत्तिरीय ब्राह्मण (१/१/३/५), काठक सहिता (८/२) म भी वराह अवतार क सकेत विद्यमान है। इन सब अवतारो का सम्ब ध प्रजापति से है। कि तु ब्राह्मण काल स विष्णु का भी क्रमिक विकास होने लगता है।

ब्राह्मण काल की मुख्य विचारधारा (कम काड एव यज्ञ) के साथ 'यज्ञोवै-विष्णु' के रूप म विष्णु का सम्बध जुड जाता है। परिणामस्वरूप रामायण महाभारत म मत्स्य कूम, वराह आदि अवतार विष्णु के अवतारो के रूप म मायता प्राप्त करते हैं। इसक अतिरिक्त वामनावतार का सम्बध सदा विष्णु के साथ ही रहा है। शतपथ ब्राह्मण (१/२/५/५) म प्राप्त विष्णु की कथा का मूलस्रोत ऋग्वद (१/२२/१७) तथा (१/१५४/४) मत्रा मे निहित है। तत्तिरीय आरण्यक परिशिष्ट (१०/१/६) में वणित नृसिहावतार भी विष्णु का ही अवतार है। उपयु क्त समस्त विवचन के आधार पर हमारी अपनी मायता है कि ब्राह्मण-साहित्य के काल में अवतारवाद की भावना काफी स्पष्टतर हो चुकी थी। ऋग्वद उसक लिए पृष्ठ भूमि का काम कर रहा था, किन्तु विष्णु इस काल तक पूण प्रतिष्ठा प्राप्त नही थे। उनकी अभी तक पूजा प्रारम्भ नही हुइ थी। श्रीकृष्ण के सात्वत जाति में आविभू त हो जान पर उनकी चारित्रिक विशेपताओ क आधार पर सात्वतो न उन्ह अपना आराध्य एव उपास्य स्वीकार किया और इस काल में एक नवीन धम का उदय हुआ। इस भागवत धम के उदय क साथ ही अवतारवाद मे महत्त्वपूण परिवत्तन तथा परिवद्ध न होता है। श्रीकृष्ण प्रारम्भ में सात्वतो क इष्टदेव थ उनका सम्बध विष्णु क साथ नही था, किन्तु आग चल कर विष्णु एव कृष्ण में तादात्म्य हो जाता है और उसक साथ ही यह धम अप्रतिहत वग से समाज में प्रचलित होता है। डा० राय चौधरी का कथन है कि किस समय वासुदेव कृष्ण ने विष्णु क अवतार की मायता प्राप्त की इसका निश्चित निणय करना सम्भव नही है तथापि उनका अनुमान है कि सम्भवत तृतीय शतक इसापूव वासुदेव कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता की भावना उत्पन्न हुई थी।[1] किन्तु इ० पू० पष्ठ-सप्तम शतक में वासुदेव की भक्ति का सकेत पाणिनि ने किया है। पतजलि (ई० पू० द्वितीय

[1] एच० राय चौधरी अर्ली हिस्ट्री आफ वष्णव सक्ट, पृ० ६३

शतक) ने भी इस बात का स्वीकार किया है तथा सिकन्दर अपनी सेना में 'हेरिक्लि' (हरे कृष्ण) की मूर्ति सब से आगे लेकर चलता था। ई० पू० चौथी शताब्दी में यूनानी दूत मेगस्थनीज ने मथुरा के समीप शूरसेनों द्वारा वासुदेव की पूजा किये जाने का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में वासुदेव के लिए 'हरेकिल' शब्द का उपयोग भी किया है। ई० पू० तीसरी शताब्दी के घासुण्डी स्थित शिलालेख तथा हेलियोडोरस के स्तम्भ लेख में भगवान् वासुदेव की पूजा का वर्णन है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निश्चित धारणा बनती है कि कृष्ण अनेक शताब्दी ई० पू० भक्तों के आराध्य बन चुके थे। भागवत धर्म भारतवर्ष में प्राचीनतम धर्म था और निश्चित ही पाणिनि से पूर्ववर्ती, क्योंकि पाणिनि ने अष्टाध्यायी (सूत्र ४/३/९५ तथा ९८) में वासुदेव की भक्ति का निर्देश किया है। इस भागवत धर्म के संस्थापक के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। विशेषकर घोर आंगिरस कृष्ण एतिहासिक वासुदेव कृष्ण से भिन्न हैं, किन्तु परवर्ती काल में वासुदेव कृष्ण और आंगिरस कृष्ण का एकात्म्य कर दिया गया है ऐसा विद्वानों का मत है। वस्तुस्थिति तो यह है कि दोनों कृष्णों को भिन्न बताने वाली विद्वानों की परम्परा विदेशी है अथवा उनसे प्रभावित। किन्तु श्री तिलक 'गीता रहस्य' (पृ० ५४८) तथा श्री राय चौधरी 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट' (पृ० ३६) में कृष्ण और वासुदेव को एक तथा अभिन्न बताते हैं। महाभारत में भी विष्णु एवं वासुदेव को अभिन्न स्वीकार किया गया है।[1] इस विषय पर अधिक विचार करने की अपेक्षा हमारा कहना इतना ही है कि प्राचीनतम महाभारत के अंश में कृष्ण एक शक्तिशाली योद्धा, महापुरुष तथा धर्मोपदेशक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं और भागवत धर्म के संस्थापक के रूप में उन्हें मान्यता प्रदान की जाती है और इस धर्म के अनुयायी भागवत कहलाते हैं।[2] भागवत धर्म के परम उपास्य तत्त्व का प्राचीनतम नाम भागवत था यही वासुदेव कृष्ण पुरुष नारायण विष्णु आदि नाम ग्रहण करता है। पाणिनि के सूत्रों में पता चलता है कि वासुदेव के उपासक वासुदेवक कहलाते थे।[3]

वैदिक काल के अनन्तर सूत्रकाल में भी अवतारवाद के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं। वेदान्त दर्शन का विवेच्य तत्त्व ब्रह्म है और अवतारवाद का सम्बन्ध भी परम-तत्त्व ब्रह्म से ही है। अतः सूत्र-साहित्य में ब्रह्म का विवेचन करते हुए उसके एकदेशीय अथवा सार्वभौम अथवा उभयात्मक रूप पर विचार किया गया है। इस प्रसंग में आश्मरथ्य एकदेशीय अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हैं, उनका समर्थन बादरी एवं जैमिनी ने भी किया है। इन सूत्र में उक्त उपास्य रूप द्वारा आराधना आदि से प्रत्यक्ष ज्ञान माना कहा गया है। वह अनन्त गुणात्मक भगवान्[4] भक्त के ऊपर अनुग्रह

[1] म० भा० शा० प० ३४७/४८
[2] दि इण्डियन एंटीक्वरी सितम्बर १९०८ पृ० २५९
[3] वही पृ० २६५
वेदान्त दर्शन १/ /२९ अभि व्यक्तेरित्याश्मरथ्य, तथा १/२/३० ३२
[4] वही ३/२/२६

विशेष भी करता है।[1] वेदान्त-दर्शन के इन सूत्रों में परम-तत्त्व को प्रत्यक्ष होने (अवतार लेने) वाला स्वीकार किया है।[2] इन सूत्रों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ई० पू० ६०० में अवतारवाद की विचारधारा जन्म ले चुकी थी, और पाणिनि ने (३/२/१२० सूत्र में) अवतार शब्द का उतरने के अर्थ में 'अवतार कूपादे' प्रयोग भी किया था। इण्डियन एन्टीक्वेरी के एक निबन्ध में एक लेखक ने लिखा है कि सूत्रकाल में नारद भक्तिसूत्र तथा शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में भगवान् के अवतार की सत्ता विद्यमान है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र एवं नारद भक्ति सूत्र का समय उपनिषद् काल के अनन्तर तथा बौद्ध धर्म से पूर्ववर्ती है। इन दोनों ही ग्रन्थों में भक्ति एवं अवतारवाद का विस्तार से प्रतिपादन है।

अवतारवाद के उद्भव एवं विकास का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि अवतारवाद का सौंदर्य-युक्त प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ा है और बौद्ध धर्म में अवतारवाद की कल्पना महायान के रूप में की गई। यही नहीं बौद्ध धर्म तथा प्राचीन अवतारवाद ने परस्पर आदान प्रदान भी किया है क्योंकि बौद्ध धर्म तथा भागवत धर्म समान रूप से ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड तथा यज्ञ के प्राधान्य की प्रतिक्रियास्वरूप आविर्भूत हुए थे परिणामस्वरूप समाज में बौद्धों का बोलबाला हो रहा था। उनके इस प्रभाव को तिरोहित करने के लिए ब्राह्मणों ने अपने ही समवर्ती भागवतों के देवता वासुदेवकृष्ण को अपने वैदिक देवता विष्णु से सम्बद्ध कर दिया और कृष्ण वासुदेव को विष्णु का अवतार घोषित किया।[3] फिर क्या था समाज में भागवतों के इस धर्म ने अपनी पृष्ठभूमि में वैदिक देव विष्णु को प्राप्त कर अवतारवाद का साधिकार प्रचार किया और अन्ततः कृष्ण के स्थान पर वैदिक देव विष्णु पर ही अन्य वैदिक अवतारों के कार्यों को भी आरोपित कर दिया और इस प्रकार अवतारवाद का सम्बन्ध विष्णु से जुड़ गया। इस समन्वय का काल ई० पू० ३०० ४०० के लगभग है।[4] महाकवि भास[5] ४०० ई० पू० ने भी अपने बालचरित में भगवान् कृष्ण को आराध्य तथा भगवान् विष्णु का अवतार सिद्ध किया है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि ईसा पूर्व ४०० में अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी थी। यद्यपि यह अवतारवादी विचारधारा साहित्य और समाज में तीन चार शताब्दियां पूर्व ही पल्लवित हो रही थी।

'अवतार' शब्द प्रयोग की दृष्टि से—अवतार शब्द वैदिक-साहित्य में उपलब्ध नहीं है, उसकी अपेक्षा 'अवत्तर', अवतारिता आदि शब्द अवपूर्वस्तिरतिर्नाशनार्थ तथा अवगतौ धातु से निष्पन्न—जिनका अर्थ हिंसक, रक्षक धन-दाता और कामनाओं को

[1] वेदान्त दर्शन ३/४/३८ विशेषानुग्रहश्च
[2] वही ३/२/२४ अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्
[3] दि इण्डियन एन्टीक्वरी, सितम्बर १९०८ पृ० २५६ ५७
[4] वही, पृ० २५६
[5] वी० वरदाचार्य संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २८२

पूर्ण करने वाला है[1] वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः भगवान् का अवतार उपर्युक्त कार्यों को पूर्ण करता है इसलिए हम अवतार शब्द का मूल इन शब्दों में खोज सकते हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में 'प्रादुर्भाव' 'संवभूव', 'अजायत' आदि शब्द भी इसी अर्थ में मिल जाते हैं। किन्तु 'अवतार' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महाभारत रामायण तथा हरिवंश पुराण के काल में हुआ है ये सभी ग्रन्थ ई० पू० ४०० से लेकर २०० ई० की रचनाएं हैं और पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में भी अवतृ धातु का प्रयोग किया है।[2] इस अवतृ धातु में घञ् प्रत्यय से उस 'अवतार' शब्द का अर्थ कुआँ बावड़ी आदि में उतरने के लिए हुआ है। इस प्रकार उतरने के अर्थ में 'अवतार' शब्द का प्रयोग पाणिनि काल में मिलता है किन्तु विष्णु अथवा देवताओं के अवतरण के लिए 'अवतार' शब्द का प्रयोग महाभारत की देन है।

वाल्मीकि रामायण को विद्वान् संकलनात्मक ग्रन्थ मानते हैं, और उसके संग्रह होने में विद्वानों ने दो-तीन शताब्दियों का समय स्वीकार किया है। उनके कथनानुसार आदि रामायण की रचना बौद्धधर्म के उदय से एक दो शताब्दी पूर्व हो चुकी थी।[3] क्योंकि आदि रामायण के इस अंश पर अवतारवाद का प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता है। किन्तु रामायण के वर्तमान रूप (जिसका निर्माण ईसा की द्वितीय शताब्दी तक माना जाता है) में अवतारवाद पूर्णतः दृष्टिगत होता है। राम को भगवान् विष्णु का अवतार माना गया है। वाल्मीकि रामायण के वर्तमान रूप में अनेक अवतारवादी संकेत मिलते हैं। इस काव्य में वैदिक देववाद तथा साम्प्रदायिक अवतारवाद दोनों की प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। यह वह युग था जिसमें समाज तथा साहित्य में दोनों प्रकार की धारणाएं प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त अवतारवाद का प्रयोजन[4] परब्रह्म का विराट रूप[5] उसी विराट रूप का राम पर आरोप सामूहिक देवावतरण[6] विभिन्न अवतारों के नामों का उल्लेख[7], अवतारवादी आयुध[8] आभूषण, वाहन[9] धाम[10] सहचर विष्णु की पत्नि लक्ष्मी (सीता)[11] आदि संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनसे अवतार

---

[1] ऋग्वेद सायणभाष्य १/१३६/४, अथर्ववेद १८/ /५
ऋग्वेद १/११/७ १/६३/८ ६/२५/२, १/४७/११ १/१८/११

[2] अष्टाध्यायी सूत्र ३/३/२०

[3] हैलेनिज्म इन एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० २३६

[4] दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० २५४

[5] वाल्मीकि रामायण १/१६/३ १/१५/१४ १/१४/२१, २२ २/१/७

[6] वा० रा० यु० का० ११७/१४, १६ २६ २७, ३१
वही यु० का० १२८/१२० यु० का० ३५/३५

[7] वही बा० का० १७/२ ४

[8] वही १/२६/१ १८ २१, १/६०/३, २५, २६/३०, २/११०/८

[9] वही बा० का० १५/१६ १७

[10] वही १/१५/१७

[11] वही १/१/९७ यु० का० ११७/२६
वही यु० का० ११७/५२

की धारणा का पूर्ण समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त 'अवतार' बोधक शब्द प्रयोग की दृष्टि से 'अवतार' शब्द की अपेक्षा मानुषीभूत्वा, जगत् मानुषरूपमास्थाय, प्रविष्टो मानुषीं तनुम्, पुरुत्व तु गते विष्णो, प्रादुरासीत, भारावतारणार्थ आदि शब्द[1] उपलब्ध हैं। जिनसे विष्णु के मानव रूपधारण की भावना को पूर्ण सिद्धि हो जाती है। उन तत्त्वो के आधार पर हम कह सकते है कि वाल्मीकिरामायण के वर्तमान सस्करण (२०० ईसा पूर्व से २०० ई० सन्) तक अवतारवाद पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। वाल्मीकि रामायण में हमें ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रामायण काल तक अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी था।[2] फादर कामिल बुल्के ने अपनी रामकथा नामक शोध प्रबन्ध में स्पष्ट किया है कि रामावतार की भावना पहली शताब्दी ई० पू० से ही फलने लगी। प्राचीनतम पुराणो (वायु ब्रह्माण्ड, विष्णु मत्स्य, हरिवंश) में अवतारो की तालिका में राम का नाम आया है। महाभारत में भी राम का नाम विद्यमान है। इस प्रकार राम के अवतार की भावना कृष्णावतार से प्रभावित होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी में पल्लवित होती है और द्वितीय शताब्दी में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है।[3]

महाभारत काल मे यही पूर्व परम्परा से प्राप्त अवतारवाद पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जहाँ रामायण का अवतारवाद यदि वैदिक युग के अधिक निकट है वहा महाभारत का अवतारवाद वैदिक एव साम्प्रदायिक अवतारवादी तत्त्वो के समन्वय का काल है। इस काल तक विष्णु पूर्ण ब्रह्म हो जाते हैं। विष्णु नारायण वासुदेव पुरुष आदि सभी अभिधान अवतारवादी तत्त्वो से युक्त होकर उसी परमतत्त्व के अभिधान स्वीकार कर लिये जाते हैं। वह परम ब्रह्म ही अपनी अव्यक्त शक्ति से विश्व के कल्याण के लिए अवतरित होने लगता है।[4] अवतारवाद का प्रयोजन,[5] विष्णु के दस अवतारो के नाम[6] पौष्कर अवतार,[7] एकार्णवविधि,[8] देवांशावतरण[9], आयुध[10], आभूषण[11], धाम[12], वाहन[13] आदि सभी अवतारवादी तत्त्व इस युग में तथा

---

1. वा० रा० १/१५/२१ १/१६/३, १/१७/१ १/४५/२२ २५ यु० का ११७/२८, अयो० का १०१/७ उत्तर० का० ५३/२२
2. रूपनारायण ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्यभक्ति, पृ० २८
3. फादर कामिल बुल्के रामकथा, पृ० १४८
4. म० भा० आ० प० २/५६ ५८
5. वही० शा० प० २०९/१०, ११, ३३९/१०१ १०२
6. वही० शा० प० ३३९/१०८
7. वही० शा० प० २०७/१२, १३
8. वही० शा० प० ३४२/३-४
9. वही० अ० प० २७६/६
10. वही ३/१८९/४० १/१३०/२३ ५/६८/२
11. वही १२/२०१/४०, ३/३७२/७८
12. वही ३/३६१/३७
13. वही वही उ० प० १०५/९

महाभारत काव्य में अवतारवाद के पूर्ण विकास के सूचक हैं। इस काव्य में व्यूहवाद का भी विस्तार से उल्लेख है। श्रीकृष्ण के परिवार के ही व्यक्तियों के आधार पर व्यूह चतुष्टय की कल्पना की जाती है, जो कि आत्मा, जीव, बुद्धि और अहंकार के सूचक हैं। चारों वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध सृष्टि प्रक्रिया के व्याख्याता और सृष्टा भी कहे गये हैं।[1] महाभारत में ही सर्वप्रथम अवतरणाय,[2] अवतेरु[3] अवतीर्ण[4] आदि शब्द उपलब्ध होते हैं[5] जो अवतारवाद के चरमोत्कर्ष के सूचक हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त सम्भव आत्मसृजन दिव्यजन्म असृजत, अजायत, योनिमास्थाय, प्रादुर्भाव जन्मकृतम् सृजामि, निसृत, जाता जनयामास आदि शब्द भी मिलते हैं, जो कि विष्णु (कृष्ण) के प्रादुर्भाव अथवा मानवरूप धारण करने के समर्थक हैं। महाभारत के सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीनतम अंश गीता में कृष्ण उवाच शब्द के प्रयोग की अपेक्षा 'भगवान् उवाच' का प्रयोग हुआ है। यह भी इस बात का सूचक है कि श्रीकृष्ण को भगवान् उस काल में स्वीकार कर लिया गया था। हमारा अपना यह निश्चित मत है कि महाभारत और गीता में अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है और महाभारत के समस्त तत्त्वों के आधार पर ही पुराण-साहित्य में अवतारवाद पल्लवित होता है।

पौराणिक साहित्य में हरिवंश पुराण द्वितीय शतक में रचित प्राचीनतम पुराण है। इसमें अवतारवाद विषयक महाभारत की धारणा का ही विकास हुआ है। विष्णु पुराण (चतुर्थ शतक) में अवतारवाद की धारणा पूर्ण परिपक्व हो जाती है। अवतारवाद का सीधा सम्बन्ध इस पुराण में विष्णु से स्थापित कर दिया जाता है। 'विष्णु' का दार्शनिक व्याख्या भी की जाती है और बड़े संरम्भ के साथ विष्णु को परमतत्त्व, विराट पुरुष और ब्रह्म आदि के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। इसके पश्चात् समग्र पौराणिक साहित्य में अवतारवाद की चर्चा जोर शोर से चलने लगती है। श्रीमद्भागवत षष्ठ शतक अवतारवाद के चरमोत्कर्ष का सूचक है। इसी भागवत-पुराण के आधार पर परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने अपने अपने मतों की प्रतिष्ठा की है। पुराण साहित्य में अधिकांश पुराणों के नामकरण अवतारों के नामों पर ही हुए हैं जो कि अवतारवाद की लोकप्रियता एवं महत्ता के सूचक हैं।

बौद्ध-साहित्य में भी अवतारवाद के तत्त्व विद्यमान हैं। अश्वघोष ने अपने काव्य सौन्दरानन्द और बुद्ध चरित (ई० पू० प्रथम शतक) में भगवान बुद्ध के अवतार

---

1. म० भा० १२/३३९/४१ ४२
2. म० भा० शा० प० ३३६/१०१ ३४१/३८
3. वही व० प० ६५/८
4. वही म० अ० प० ६७/१३
5. श्रीमती वीणा पाण्डेय हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, पृ० १०६
6. श्री हाजरा पौराणिक रिकार्डस आन हिन्दू राइटस एंड कस्टम्स, पृ० २३
7. वही पृ० ५५

वादी रूप की प्रतिष्ठा की है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में महावस्तु (२०० ई० पू०), ललित विस्तर (प्रथम शतक), सद्धर्म पुण्डरीक (प्रथम शतक), प्रज्ञापारमिता-सूत्र (प्रथम शतक), सुखावती-व्यूह (द्वितीय शतक), लंकावतार-सूत्र (तृतीय शतक), कारण्ड-व्यूह (चतुर्थ शतक) बोधिचर्यावतार (सप्तमशतक) आदि बौद्ध ग्रन्थों में अवतारवाद के अनेक तत्व उपलब्ध होते हैं। बौद्धों का बोधिसत्ववाद वैष्णव अवतारवाद का बौद्ध रूपान्तर है। इसके अतिरिक्त पंचबोधिसत्व, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, मैत्रेय आदि बौद्ध देवों की पूजा वैष्णव अवतारों के समान है। लोकोत्तर-बुद्ध की कल्पना अवतारवादी मान्यताओं को ही पुष्ट करती है। बौद्ध साहित्य का त्रिकाय सिद्धान्त, त्रिविधयान का सिद्धान्त, बोधिसत्ववाद के विकास में सहायक बनते हैं। किन्तु एक विशेष बात यह है कि बौद्धों का अवतारवाद वैष्णव अवतारवाद से कुछ भिन्न है उनके अवतारवाद की प्रवृत्ति उत्क्रमणशील है। विकास प्राप्त मानव अथवा महामानवत्व की उपलब्धि ही उनके अवतारवाद का ध्येय है। बुद्ध लोकोत्तर है, उनका जन्म माता पिता से न होकर उपपादुक है।[1] वैष्णव अवतारवादी तत्वों में से धाम की कल्पना तुषित-लोक के रूप में, सहचर तथा परिकर की कल्पना परिषद् के रूप में युगावतार, मायोपमबुद्ध बुद्धावतार, सामूहिक देवतावतार, बुद्धों की संख्या, भावी अवतार मैत्रेय आदि तत्व पूर्णतः वैष्णव अवतारवाद से प्रभावित हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ई० पू० २०० से लेकर सप्तम शतक तक बौद्ध साहित्य में अवतारवाद की भावना पूर्ण विकसित हो चुकी थी, किन्तु हिन्दुओं ने बुद्ध को भगवान विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता सातवीं शताब्दी के लगभग प्रदान की है।[2] और उन्हें दशावतारों में स्थान प्रदान किया है क्योंकि मार्कण्डेय विष्णु हरिवंश, तथा महाभारत के शान्ति पर्व में बुद्ध का नाम अवतारों में परिगणित नहीं है। ये समस्त ग्रन्थ सप्तम शतक से पूर्ववर्ती हैं।

पतंजलि ने वासुदेव को केवल क्षत्रिय मानव न मानकर भगवान स्वीकार किया है।[3] पतंजलि ने महाभारत एवं यादवकुल के अनेक व्यक्तियों का नामोल्लेख किया है जिससे आधार पर यह निश्चित होता है कि पतंजलि एवं पाणिनि महाभारत एवं हरिवंश की कथाओं से परिचित थे। हेलियोडोरस के बेसनगर स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि—यूनानी भी विष्णु के भक्त हो जाया करते थे। एरण प्रस्तर[4] लेख में वराहावतार का उल्लेख है। गुप्त युगीन अनेक शिलालेखों में अवतारवाद के संकेत मिलते हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि विष्णु के अवतार ईसा की कई शताब्दियों पूर्व

---

[1] महावस्तु भाग १, पृ० १६३ बौद्ध धर्म दर्शन पृ० २३०
[2] पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र पृ० ७२१
[3] महाभाष्य सूत्र ४/३/९८ अथवा नया क्षत्रियाख्या। संज्ञा तत्रभगवत प्रदीप भाष्य —नित्य परमात्मदेवता विशेष इह वासुदेवोगृह्यत इत्यय
[4] एपिग्रेफिया इंडिका, जिल्द १० अनुसूची, पृ० ६३ ६६६

ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे।[1] डा० पी० वी० काणे का यह भी मत है कि ईसा को कई शताब्दियां पूर्व से राम एवं कृष्ण की अवतारों के रूप में पूजा जा रहा था। कालिदास ने रघुवंश (११/१२) एवं मेघदूत में वामन तथा राम को समान ही अवतार माना है।[2] यही नहीं नाटककार भास भी ई० पू० ४००[3] राम कृष्ण का अवतारवादी रूप अपने नाटकों में प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अवतारवाद की मन्दाकिनी वैदिक साहित्य के हिमाचल से उद्‌भूत होकर स्मृति, पुराण तथा संस्कृत साहित्य के धरातल पर प्रवाहित हो रही है और अपने जीवनदायी तत्त्वों से भारतीय संस्कृति, धर्म, साहित्य एवं कलाओं को प्राणान्वित कर रही है। राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक सांस्कृतिक, राजनीतिक प्रध्वंसात्मक शक्तियों से संस्कृति समाज, धर्म की रक्षा भी कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

अवतारवाद का जातीय जीवन पर प्रभाव

अवतारवाद भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं जन जीवन का आधारभूत तत्त्व रहा है। अवतारवाद भारतीय जन जीवन को सदा से ही प्राणान्वित करता रहा है। किन्तु मध्यकाल में ज्ञान मार्ग एवं कर्म मार्ग की जटिलता एवं योग समाधि-तप की दुरूहता ने संस्कृत साहित्य तथा जन मानस में निराशा का संचार किया। इस निराशावाद का प्रभाव जातीय जीवन पर भी परिलक्षित होने लगा था। ऐसे अवसर पर सामाजिक मनुष्य को सांसारिक कष्टों से बचाने के लिए ईश्वर के अवतार की क्षत्रिय रूप में आवश्यकता अनुभव की गई, क्योंकि जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र धर्म है। क्षात्र धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र धर्म एकान्तिक नहीं है। उनका सम्बन्ध लोक रक्षा से है। 'धर्म सौन्दर्य की योजना क्षात्र-जीवन में जितने रूपों में सम्भव है उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख भोग के साथ परदुःख कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्मपथ का अवलम्बन इत्यादि कर्म-सौन्दर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष योग और कहाँ घट सकते हैं?'[4] इसीलिए अवतारवाद में जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। वह मानव समाज की वृत्तियों का परिष्कार करने हुए उत्कर्ष पर न जाने में समर्थ है। इस अवतारवाद ने भारतीय जनता में आशा का संचार किया, लोकप्रियता प्राप्त की और जातीय जीवन

---

[1] पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ७२०
[2] वही पृ० ७२४
[3] वा० वरदाचार्य संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २८२
बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास षष्ठ संस्करण पृ० ८९७
[4] चिन्तामणि, भाग १, पृ० ४२ ४३

को प्राणान्वित किया। उदाहरण के लिए यदि गृहस्थ समुदाय अवतारी भगवान् की पूजा तथा मन्दिरों के निमित्त धनदान देकर अपना धार्मिक कार्य सम्पन्न करता था, और इस प्रकार अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता था तो दूसरी ओर कलाकार समुदाय विभिन्न अवतारों की प्रतिमाएँ बनाकर मुक्ति की आशा करता था, साहित्यकार स्तोत्रों की रचना कर भगवान् को प्राप्त करने का प्रयास करता था। अवतारवाद का समाज में इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि पुराणादि ग्रन्थों में अवतारों की मूर्ति, मन्त्र मुद्रा, तीर्थ, व्रत और त्योहारों का विधान किया गया। आशय यह है कि अवतारवाद ने जातीय जीवन से निराशा के गहन अन्धकार को दूर कर आशा किरण का सचार किया। इस सिद्धान्त ने जातीय जीवन को सुरक्षित किया। इस सिद्धान्त की व्यापकता, लोकप्रियता, गम्भीरता तथा पूर्णता इस बात में निहित थी कि भारतवर्ष में अन्य अनेक धर्मों ने आक्रमण किये किन्तु भारतीय जीवन में उनका प्रभाव नहीं के बराबर हुआ। मुहम्मद तथा ईसा के सिद्धान्त उतने आकर्षक सिद्ध नहीं हुए, जितना कि आकर्षक अवतारवाद था। यही नहीं, यदि भारतीयों ने उन सिद्धान्तों की ओर थोडी बहुत रुचि व्यक्त की तो उसके कारण सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा राजनीतिक अथवा आर्थिक अधिक थे अथवा उन धर्मों ने अपने में अवतार सिद्धान्त को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया था। अवतारवाद के जातीय जीवन में लोकप्रिय होने में रसखान, रहीम रसलीन जैसे मुसलमान कवि प्रमाणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। रहीम तथा रसलीन ने कृष्ण भक्ति परक साहित्य सृजन कर अपने को कृष्ण में ही भावविभोर किया, पर रसखान तो कृष्ण, उनकी लकुटी कामरिया, ग्वाल बाल, कालिन्दी और कदम्ब के पीछे दीवाने थे—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहू पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि के सुख नन्द की गाय चराय बिसारौ।
नैनन सों रसखान सब ब्रज के बन बाग तडाग निहारौं।
कंतक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

ताज कवयित्री भी नन्दकुमार कृष्ण की अनुगामिनी थी—

नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत प।
हा तो मुगलानी हिंदुआनी ह्वै रहूगी मैं।

राम कृष्ण बुद्ध आदि के लौकिक-अलौकिक चरित्र ने भारतीय समाज का चारित्रिक परिष्कार किया, आदर्श स्थापित किये और सात्विकता का प्रसार किया। राम कृष्ण के असुर विनाशक, और धर्म सस्थापक रूप ने भारतीय जीवन में धर्म की रक्षा तथा उसके विकास के लिए सामाजिकों में विश्वास उत्पन्न किया। भक्त धार्मिक जनता राम कृष्ण जैसे महान आदर्श व्यक्तियों को अपने मध्य में ही समाज घातक तत्वों से युद्ध करते और उनका विनाश करते हुए देख चुकी थी। उसे विश्वास था कि अवसर आने पर पुन राम कृष्ण अवतार लेकर हमारे दुख को दूर कर रक्षा तथा धर्म मर्यादा की स्थापना करेंगे। अत वह निश्चित होकर अपने धार्मिक

अनुष्ठानो को क्रियान्वित कर रही थी। अतः हम कह सकते हैं कि अवतारवाद ने धार्मिक अनुष्ठानो को क्रियान्वित करने के लिए जीवन सुरक्षा की भावना को भी उत्पन्न किया।

अवतारवाद ने जीवन सुरक्षा की भावना को उत्पन्न करने के साथ ही भक्ति के प्रचार एवं प्रसार के लिए भी महान् कार्य किया। वैष्णव धर्म के प्रचार और प्रसार में भक्ति का सहयोग मुख्य रहा है। भक्ति वैष्णव धर्म का मूल है। वैष्णव लोग विष्णु को प्रेम और करुणा का आधार समझकर उनसे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। "वैदिक धर्म में जीवात्मा और परमात्मा के भीतर हृदय तत्त्व विरल है, तो भक्ति के आश्रय में वैष्णव धर्म का विशाल वटवृक्ष पर्याप्त फला फूला और उसने कोटि कोटि संतृप्त प्राणों में मधुरता करुणा, स्नेह और सौन्दर्य प्रदान किया।"[1] किन्तु इस वैष्णव धर्म का मूल आधार अवतारवाद था। अवतारी भगवान् विष्णु ही इसके उपास्य थे। वे षडैश्वर्य सम्पन्न थे। उनमें इतनी क्षमता थी कि समाज में आकर श्रीकृष्ण, या राम के रूप में मानव मात्र की रक्षा कर सकते थे और धर्म की वृद्धि कर सकते थे। उनकी तो घोषणा ही मानव मात्र के कल्याण की थी। अतः हम कह सकते हैं कि अवतारवाद ने भक्ति के प्रचार एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

धार्मिक दृष्टि से जनता गहन अंधकार में निमग्न थी। राजनीतिक अनाचार अत्याचार समाज एवं धर्म के उन्मूलन में तत्पर थे। इन विकट परिस्थितियों में जिनमें अन्य जातियाँ अपनी प्राचीन संस्कृतियों को विस्मृत कर अपना स्वरूप खो बैठी थीं, श्रीकृष्ण राम का नाम महत्त्व तथा उनकी चारित्रिक विशेषतायें भारतीय जनता के हृदय में आशा का संचार करती रहीं जीवन को सरस और उनके स्वरूप को सुरक्षित बनाये रहीं। परिणामस्वरूप हम कह सकते हैं कि अवतारवाद ने जन जीवन को प्राणान्वित किया। इस सिद्धान्त ने भक्ति को व्यापकता एवं प्रतिष्ठा प्रदान की। सगुण उपासना के विभिन्न सम्प्रदायों ने भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों को अपना उपास्य बनाकर किसी न किसी रूप में अवतारवाद को स्वीकार किया। विष्णु के उस व्यक्तित्व ने जिसमें अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा भी था भक्ति के प्रचार के लिए अधिक अवसर प्रदान किये। आगे चलकर हरिहर के अद्वैत—अखिल देवताओं के ब्रह्म के स्वभाव—द्वारा भारतीय जनता में अलौकिक सहिष्णुता और उदारता का मूल कारण भी अवतारवाद ही बना। आशय यह है कि अवतारवाद ने भक्ति तथा धर्म के प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

भारतीय-संस्कृति की महान् विशेषता उसकी सहिष्णुता एवं धर्मों के प्रति उदारी उदारता है। इसी विशेषता के कारण जिस प्रकार अनेक धर्मों, अनेक जातियों और अनेक संस्कृतियों का देश भारतवर्ष है उसी प्रकार अवतारवाद भी अखिल धर्मसमन्वय की भावना से युक्त है। इसकी उदारता अथवा व्यापकता की घोषणा

---

[1] कृष्ण काव्य में भ्रमर गीत, पृ० १६

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के रूप में चिरकाल से होती चली आ रही है। वही एक तत्त्व अवतारवाद में राम, कृष्ण, बुद्ध, शक्ति शंकर गणेश, महावीर आदि के रूप में अवतरित होता है। फलतः परस्पर असहिष्णुता के निराकरण का भाव तो अवतारवाद के मूल में ही विद्यमान है। इसीलिए क्राइस्ट एवं बुद्ध के प्रति किसी प्रकार का विरोध-भावना इस देश में नहीं है। रामकृष्ण परमहंस ने भी 'जता मत ततो-पथ' कह कर इसी व्यापक उदारता का संकेत किया है। अवतारवाद में ही अखिल धर्म-समन्वय का सन्देश निहित है। मतमतान्तर और सम्प्रदायों के पारस्परिक विरोध अवतारवाद की विशाल पृष्ठभूमि में आकर एक विश्वजनीन धर्म के रूप में परिणत हो जाते हैं। अवतारवाद के अनुयायियों ने सदा ही अपनी व्यापक उदारता का परिचय दिया है—शैव बौद्ध वेदान्ती-सांख्य वैष्णव जैन उसी एक परमतत्त्व का ही स्मरण करते हुए कहते हैं—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेतिवेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।

तथा—

त्रयीसांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णवमिव॥

आदि स्तोत्र इसी अखिल धर्म समन्वय की भावना की ओर संकेत कर रहे हैं और सच्चे आर्य के समग्र जीवन के कर्म-कलाप को उस प्रभु की पूजा के रूप में परिणत कर रहे हैं। आचार्य शंकर का निम्न कथन इसी ओर संकेत कर रहा है—

आत्मा त्वं गिरिजामतिः परिचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।
पूजास्ते विषयोपभोगरचनानिद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोस्तवाराधनम्॥

यह सहिष्णुता, यह उदारता, हृदय की यह विशालता तथा अखिल धर्म-समन्वय का यह प्रवृत्ति अवतारवाद की देन है। अवतारवाद की अखिल धर्म-समन्वय की प्रवृत्ति को हम तीर्थ स्थानों में प्रतिष्ठित भगवान् के प्रतिष्ठानों में भी देख सकते हैं। ये प्रतिष्ठान भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में स्थित हैं। हमारे कुम्भ जैसे धार्मिक मेले देश के विभिन्न प्रान्तों में लगते होते हैं। जगन्नाथ क्षेत्र के समान अखिल-वर्ण भेद रहित उदारता क्या अन्यत्र सम्भव है? अवतारवाद का स्वीकार करने वाला, बदरी-नारायण, गंगोत्तरी, काशी, रामेश्वरम्, द्वारिकापुरी जैसे तीर्थ-स्थानों की भक्ति और प्रेम से गद्गद होकर यात्रा करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है। आशय यह है

कि अवतारवाद ने समग्र भारत भूमि को विविध पुण्य-क्षेत्रों को अवतारों की लीला भूमि मानकर इन सभी स्थानों को एक दिव्य अलौकिक पावनता प्रदान की है, जहां के ज म निवास एव दशन तथा यात्रा को भक्तगण अपने जीवन का पुरुषाथ समझते हैं। यही उदारता भारतवष म भावात्मक एकता स्थापित करने म आज भी समथ है।

अवतारवाद का धारा म जहां सहिष्णुता की यह भावना है, वही आय अनाय आदि अनेक धमतत्त्वों का भी सम वय विद्यमान है। हम दखते हैं कि आर्यों म देवतावाद का विकास ग्रह नक्षत्र सूय, च द्र वृक्ष नदी आदि के माध्यम से प्रतीकवाद का आश्रय लेकर हुआ था। दूसरा ओर अनाय भी वृक्ष प्रस्तर, जल नाग, सप आदि की पूजा करते थे। इन दोनों का ही सम्मि त प्रभाव दवतावाद तथा अवतारवाद के रूप म पल्लवित होता है। उपयु क्त ज चेतन समस्त तत्त्वों की पूजा के लिए अवतारवाद म स्थान है। शिवलिङ्ग बुद्ध की खड़ाऊ आदि की पूजा इसी अखिल धम तथा आय अनाय तत्त्वों के सम वय का परिणाम है। इस प्रकार अवतारवाद ने अनेक अवदिक तत्त्वों को न कवल आत्मसात् किया है अपितु उनके स्वरूप की रक्षा करते हुए उनका उन्नयन भी किया है। अश्वत्थ तुलसी आदि वृक्ष इसीलिए आज भगवान् की विभूति रूप म प्रतिष्ठित हो गय हैं। तात्पय यह है कि अवतारवाद का दृष्टिकोण उदार एव यापक है। इसीलिए विश्व के विभिन्न धर्मों ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप म उससे प्रभाव ग्रहण किय हैं। भारतीय जीवन म तो यह सदा ही आशा का सचार करता रहा है और भविष्य म भी करता रहेगा।

जैन धम

वदिक काल स निरन्तर भारतीय धार्मिक विचारधारा म परिवतन होते रहे हैं। वदिक कमकाण्डों की जटिलता वण यवस्था की उग्रता बाह्याडम्बरों की प्रचुरता, पशुहिंसा द्वारा अपने दवों को सन्तुष्ट करने की भावना आदि के कारण विश्व इतिहास की ही भांति भारतवष इसा पूव षष्ठ शतक म धार्मिक क्रांति का युग माना जाता है। इस युग म भारतवष म निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिसके परिणामस्वरूप जन धम का पुनरुत्थान तथा बौद्ध धम का उदय हुआ। 'इन दोनों धर्मों का धार्मिक अनुष्ठानों म किन्तु विश्वास न था। इन्होंने वर्ण तथा ब्राह्मणों की प्रभुता का पूर्ण रूप से खण्डन किया तथा नतिकता और तपस्या को सर्वोच्च स्थान दिया। इसी की पूर्ति के लिए इन्होंने अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की खोज की।" इन दोनों धर्मों का भारत म प्रचुर प्रचार हुआ। दोनों ही धम लोकप्रिय हुए, बौद्ध धम तो इतना अधिक व्यापक हुआ कि उसने विश्व के अनेक देशों म महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया किन्तु दोनों ही धम भारत म चिरस्थायी न रह सके। तथापि इस बात का अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन्होंने भारतीय धम, दर्शन एवं साहित्य को प्रचुर मात्रा म प्रभावित किया था।

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ

वर्तमान जैनधम के प्राचीन है। जनधम के चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान

महावीर गौतम बुद्ध के समसामयिक हैं महावीर से पूव तेइस तीथकर हो चुके थे। जन जनश्रुतियो क अनुसार जनधम क प्रथम तीथकर ऋषभ हैं। कि तु ऐनिहासिक्ता तेइसवे पाश्वनाथ तथा वधमान महावीर को ही प्रमाणसिद्ध है। इनका समय ई० पू० अष्टम शतक माना जाता है। पाश्वनाथ के प्रमुख चार सिद्धा त ये—(१) अहिसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, तथा (४) अपरिग्रह। महावीर स्वामी ने इसमे पाचवा सिद्धा त ब्रह्मचय का और जोडा था। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार पाश्वनाथ ने १०० वप की आयु म सम्मेतपवत पर निर्वाण प्राप्त किया था। पाश्वनाथ ने भूततत्त्व (Matter) नित्य माना है, सयम द्वारा कर्मों का प्रवाह रुक्ता है और तपस्या के द्वारा सचित कम नष्ट होते हैं क्योकि सचित कर्मों के कारण बधन उत्पन्न होता है।

वर्धमान महावीर (५९९-५२७ ई० पू०)

महावीर का जम विहार के मुजफ्फरपुर मे वशाली के निकट एक राजवश मे हुआ था। महावीर ३० वप की अवस्था म सयासी हो गय और १३ वप कठोर तपस्या क बाद उ हे क्वल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। सुख दु ख से मुक्त होकर 'जिन' कहलाये। इसी 'जिन' शब्द स 'जन' शब्द बना है जिसका अथ है—जिन' के अनुयायियो का धम। महावीर लगभग ३० वप तक विभिन्न—कोशल मगध आदि—प्रदेशो मे अपन सिद्धा तो का प्रचार करते रह।

महावीर ने जन धम का पुनरुद्धार किया, जन धम के सिद्धान्तो को सु य वस्थित किया, जन सघ का परिष्कार किया, पाश्वनाथ क चार सिद्धा तो म ब्रह्मचय का भी स्थान दिया। जहा पाश्व वस्त्रो की दृष्टि स श्वत वस्त्रो को पहनने का आग्रह करत थे, वही महावीर ने नग्न रहने का उपदेश दिया। वदो को पौरुषेय माना तथा वदिक कमकाण्ड (यज्ञ) का विरोध किया।

जन और बौद्ध धम के प्रचार का सबस बडा कारण राजाओ का योगदान था। समसामयिक राजा किसी न किसी धम मे दीक्षित हो जाते थ, अथवा उनके उससे सम्ब ध जुड जाते थ। महावीर को भी राज-सहयोग मिला इसका प्रधान कारण था—एक राजवश स उनका सम्ब ध। महावीर की माता लिच्छवी राजा चेतक की बहन थी। चेतक के पाच पुत्रियाँ थी जिनका विवाह राजकुलो म हुआ था। य सभी राजकुल महावीर के धम के प्रति उदार एव सहायक थ। इस सम्ब ध के द्वारा बिम्बसार, उदयन, दधिवाहन, स्तानिक तथा चण्डप्रद्योत आदि उनको सहयोग दिया करते थे। महावीर ने भी प्रचार काय करते समय केवल बारह वप लिच्छवी गणराज्य, वैशाली म व्यतीत किये। आशय यही है कि महावीर भी गण राज्यो पर कृपा करते थ।

जैन धम के सिद्धान्त

महावीर क सिद्धान्त दाशनिक पृष्ठभूमि म व्यावहारिकता की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। जन धम म सष्टि के कर्ता धर्ता के रूप म किसी ईश्वर की कल्पना नही है, ईश्वर म उनका विश्वास भी नहीं है। जब ससार ही अनादि और अनन्त है

तो जीव भी अनादि और अनन्त है। फिर ईश्वर की आवश्यकता ही क्या ? फिर भी जैनों ने तीर्थङ्करों को ईश्वरत्व प्रदान किया है। उनकी पूजा का प्रारम्भ हुआ तीर्थङ्करों के लिए मन्दिर बनवाये गये और उनकी मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित की गई। वैष्णव धर्म एवं जैन धर्म में ईश्वर के सम्बन्ध में जो मान्यताएं हैं वे इस प्रकार हैं—

वैष्णव धर्म का ईश्वर न्यायकारी दयालु अजन्मा अनन्त, सर्वाधार सर्वेश्वर, सर्वव्यापी, अजर अमर अभय, नित्य पवित्र सृष्टि कर्त्ता क्लेश, कर्म, कर्मफलों एवं वासनाओं से ऊपर है तथा लोक-कल्याण के लिए कभी कभी षडैश्वर्य सम्पन्न होकर अवतरित होकर मानव का व्यवहार करता है। इस प्रकार के ईश्वर के लिए जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। जैन धर्म में कोई 'सर्वद्रष्टा सदा से कर्मों से ऊपर नहीं हो सकता है क्योंकि बिना उपाय के उसका सिद्ध होना सम्भव नहीं है।'[1] वैष्णव धर्म में ईश्वर को अनादि माना गया है किन्तु जैन धर्म में किसी को विश्व का रचयिता नहीं माना गया है, न ही वहाँ कोई एक अनादि ईश्वर है अपितु उनके यहाँ असंख्य ईश्वर हैं। यद्यपि वैष्णव धर्म में भी असंख्य अवतार स्वीकार किये गये हैं किन्तु इन अवतारों तथा जैनों के तथाकथित असंख्य ईश्वरों में स्वरूपतः अन्तर है। जैन धर्म में प्रत्येक मुक्तस्वरूप ईश्वर कहलाता है। प्रत्येक तीर्थंकर मुक्त है इसीलिए वह जैन धर्म में ईश्वर के समकक्ष है। जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिये हुए मुक्त हो सकता है। आज तक ऐसे अनन्त आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होंगे। ये मुक्त जीव ही जैन धर्म के ईश्वर हैं। इन्हीं में से कुछ मुक्तात्माओं को जिन्होंने मुक्त होने से पहले संसार को मुक्ति का मार्ग बताया था जैन धर्म तीर्थंकर मानता है।[2] जैन धर्म में अर्हन्त एवं सिद्ध पद को प्राप्त जीव को ईश्वर कहा जाता है। प्रत्येक जीव में यह सामर्थ्य होता है कि वह अर्हन्त पद को प्राप्त कर सके। लेकिन अनादि काल के कर्म बन्धन के कारणों को जो छिन्न कर देता वह सिद्ध पद को प्राप्त हो जाता है वही जैन धर्म में ईश्वर है वही अर्हत् है, वही तीर्थंकर है। जैन धर्म में अनादि ईश्वर की मान्यता नहीं है, क्योंकि उनके मतानुसार जीव अनादि काल से कर्म-बन्धनलिप्त रहता है उसका ज्ञान ज्ञानावरण से आच्छन्न रहता है। जो महापुरुष इन आवरणों को ध्वस्त कर देता है। वही सर्वज्ञ है अन्यथा न कोई सर्वज्ञ है और न ही अनादि ईश्वर है।[3]

दार्शनिक दृष्टि से जैन धर्म निम्न सात तत्त्वों को स्वीकार करता है—
(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा तथा (७) मोक्ष।

---

[1] आप्तोपदेशेन च नास्पृष्ट कर्मभि शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथानुपपत्तितः॥

[2] कैलाशचन्द्र शास्त्री जैन धर्म पृ० १११

[3] लेखक का शोध प्रबन्ध अवतारवाद का उद्भव तथा विकास, पृ० १८८-८६

जन धम के सम्यक चरित्र, सम्यक् दशन तथा सम्यक नान त्रिरत्न है। इन तीनो को जन आत्मा या जीव का स्वाभाविक गुण मानते हैं किन्तु ये तीनो गुण सभी आत्माओ म समान रूप स नही मिलते हैं क्योंकि कर्मा का आवरण उन्हे आवृत किये रहता है।

जीव

जैन धम म जीव भी तीन प्रकार का होता है शुद्ध, मिश्र, तथा अशुद्ध। शुद्ध जीव म उपयुक्त तीनो स्वाभाविक गुण रहते ह, और उन्ह मोक्ष प्राप्त हो चुका है। जो जीव कुछ शुद्ध और कुछ विकृत होते है, उन्ह मिश्र कहते हैं। किन्तु जो स्वाभाविक गुणो स हीन, तथा विकृत होते हैं वे अशुद्ध जीव होत है। सम्यक दशन के द्वारा ही सम्यक नान तथा सम्यक नान से सम्यक चरित्र की प्राप्ति होती है। सम्यक चरित्र ही मोक्ष का मूलभूत कारण है। इसीलिए जैन धम म सम्यक चरित्र पर बल दिया गया है।

अजीव

अजीव पाच प्रकार के हैं—(१) पुद्गल, (२) धम, (३) अधम, (४) आकाश, (५) काल। रूप, रस, गध, स्पश एव वण से युक्त द्रव्य 'पुद्गल' कहलाता है। पुद्गल दो प्रकार का होता है—(१) अणु तथा (२) स्कन्ध। अणु अविभाज्य है तथा स्कन्ध' अणुओ का समूह है। 'धम' अमूत तथा विश्वव्यापी है। यह जीव और पुद्गल के जीवन म योगदान करता है। अधम भी अमूत तथा सवव्यापी है। आकाश के भेद है—एक लोकाकाश तथा दूसरा अलोकाकाश। आकाश तत्त्व पदार्थों को अवकाश प्रदान करता है। पाचवां तत्त्व 'काल' है जोकि सभी द्रव्यो क परिवतन म योग देता है।

कर्म

जन धम म कम सम्बन्धी भावना अन्य धर्मों स भिन्न है। बौद्ध धम म कम इच्छा द्वारा कृत काय को कहते हैं। हिन्दू धम कम को अभौतिक रूप म मानता है जो कि पूव कर्मों के कारण निरन्तर क्रियाशील रहता है। "जन धम म कम को सूक्ष्मतम भूत तत्त्व क रूप म मानत ह। रागद्वेष, रति मोह आदि स प्रेरित मनुष्य की अनेक सासारिक क्रियाओ द्वारा कर्मों का प्रवाह जीव की ओर चलता रहता है और वह उनस आच्छादित होता रहता है।"[1] जीव का कम परमाणुओ की ओर आकषण अथवा प्रवाह ही 'आस्रव' है। कम ही भावी जीवन का निर्माण करता है, अत कम को अधिक सुदर बनाना चाहिए। रागद्वेष आदि स प्रभावित कम के 'आस्रव' का—कम को प्रभावित हो बधन म पडना ही बधन है। राग-द्वेष आदि क प्रभाव स कम क प्रवाह या आकषण को रोकना ही सवर कहलाता है। जो कम हमारी आत्मा स आबद्ध है उस बद्ध आत्मा को तप योग आदि के द्वारा मुक्त करना ही निर्जरा है। कम बधन स मुक्ति पाना ही 'मोक्ष' है।

---

[1] भारतीय सस्कृति, पृ० ९०

जैन धर्म में परम-तत्त्व की व्याख्या सापेक्ष रूप में करने का प्रयास किया गया है। परम-तत्त्व की व्याख्या के लिए जैनियों ने 'सप्तभंग' न्याय की कल्पना की है। क्योंकि इसमें सात मिश्र पद हैं अतः यह 'सप्तभंगी नय' कहलाता है, जबकि दार्शनिक वाद की दृष्टि से इसे 'स्याद्वाद' कहा जाता है।

१ सम्भवतः परम तत्त्व है— स्यादस्ति।
२ सम्भवतः नहीं है— स्यान्नास्ति'।
३ सम्भवतः वह हो और न भी हो— स्यादस्ति च नास्ति च'।
४ सम्भवतः वह अवक्तव्य हो— स्यादवक्तव्य'।
५ सम्भवतः वह हो, किन्तु वह अवक्तव्य हो— स्यादस्ति च अवक्तव्य।
६ सम्भवतः वह न हो और अवक्तव्य भी हो— स्यान्नास्ति च अवक्तव्य।
७ सम्भवतः वह हो भी न भी हो और अवक्तव्य हो— स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य'।

जैन धर्म परम तत्त्व के सम्बन्ध में इस सप्तभंगी न्याय, स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद से विचार करता है। प्रत्येक तर्क उसके एक पक्ष पर ही विचार करता है किन्तु उनका कोई भी पक्ष पूर्णतः ग्राह्य नहीं है। कुछ विद्वान् इसे अधिक उदार कहते हैं और कुछ संशयवादी और अनिश्चयवादी कहकर इसकी कटु आलोचना भी करते हैं।

इनके अतिरिक्त भी जैन धर्म के अनेक व्यावहारिक सिद्धान्त हैं जिनमें सामान्य गृहस्थ या श्रावक तथा संन्यासी सभी के लिए उपदेश निहित हैं।

अणुव्रत

'अणुव्रत' के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सम्बन्ध में विचार किया गया है। अहिंसा से अभिप्राय किसी को पीड़ा न पहुंचाना है, अर्थात् हिंसा से रोकना। अप्रिय, निन्द्य, कटु और अनुचित बात न कहना ही 'सत्य' है। चोरी करना, चोरी का माल खरीदना, माल में मिलावट करना, कम तोलना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन आदि चोरी हैं, इनसे सभी को बचना चाहिए यही अस्तेय की भावना है। काम भावना का दमन करना ही ब्रह्मचर्य है। माया के बन्धन से मुक्त होना, धन सम्पत्ति से दूर रहना, दूसरे के धन में मोह न होना ही अपरिग्रह है। वेद के शब्दों में 'स्वधयापरिहिता' का रूपान्तर ही अपरिग्रह है।

गुणव्रत

उपर्युक्त अणुव्रतों के अतिरिक्त तीन गुणव्रत भी हैं—दिशाओं के भ्रमण में मर्यादा पालन दिग्व्रत, प्रयोजनहीन पाप उत्पादक वस्तुओं का त्याग अनर्थ दण्डव्रत तथा भोग्य पदार्थों का परिमाण निर्धारण भोगोपभोग परिमाण—ये तीन गुणव्रत नियम हैं।

शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत भी चार हैं—दिशाओं में भ्रमण की मर्यादा में कमी करना देशाव

कायिक, पापरहित होकर धर्म चिंतन करना सामायिक, उपवास व्रत करना प्रोषधोपवास, दान पूजा आदि करना वयावृत्य।

जैन धर्म में धर्म के निम्न लक्षणों का निर्देश किया है—

(१) उत्तम क्षमा, क्रोध हनन (२) उत्तम मार्दव—अहंकाराभाव (३) उत्तम आर्जव—सरलता कुटिलता का अभाव, (४) उत्तम शौच—माया के बंधन से आत्मा का शुद्धीकरण (५) उत्तम सत्य (६) उत्तम संयम, (७) उत्तम तप, (८) उत्तम आकिंचन (आत्मा के स्वाभाविक गुणों में आस्था) (९) उत्तम ब्रह्मचर्य, (१०) उत्तम त्याग। धर्म के लक्षण में प्रायः पूर्वोक्त समस्त बातों का ही समाहार किया गया है। जैन धर्म में कुछ आभ्यंतर तप बताये गये हैं जिनमें स्वाध्याय को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वाध्याय के अतिरिक्त प्रायश्चित, विनय वयावृत्य (दया उपकार), कायोत्सर्ग तथा ध्यान को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

जैन धर्म में संन्यासियों के लिए २२ कठोर नियमों का निर्देश किया गया है, जिन्हें वे परिषह कहते हैं। संन्यासी को इन्हें जीतना आवश्यक है। वे निम्न हैं—

(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत (४) उष्ण (५) नग्न, (६) याचना, (७) अरति, (८) अलाभ (९) दंशमशकादि (१०) आक्रोश, (११) रोग (१२) मल, (१३) तृणस्पर्श (१४) अज्ञान, (१५) अदर्शन, (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कार पुरस्कार (१८) शय्या, (१९) चर्या (२०) बधबंधन, (२१) निषद्या, तथा (२२) स्त्री।

जैन धर्म में कर्म का विस्तृत व्याख्या की गई है जिसका यहां विस्तार से वर्णन करना अप्रासङ्गिक होगा। जैनों ने कर्म के आठ भेदों को स्वीकार किया है। जैन चौदह गुणस्थान स्वीकार करते हैं, गुणस्थान जीव की विभिन्न स्थितियों के सूचक होते हैं।

जैन धर्म में ज्ञान का स्थान महत्वपूर्ण है ज्ञान के पाँच भेद इस प्रकार हैं—

१ मति जिसमें पाँच इन्द्रियों एवं मन से ज्ञान प्राप्त होता है। इसके भी चार उपभेद निम्न हैं—अवग्रह ईहा, अवाय तथा धारणा।

२ श्रुत ज्ञान—इसका सम्बंध मतिज्ञान से है। इसके भी दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुत।

३ 'अवधिज्ञान—जो इन्द्रिय के सहयोग के बिना ही आत्मा को होता है।

४ मनःपर्ययज्ञान—वह भी इन्द्रियजन्य नहीं है, अपितु आत्मा के स्वाभाविक विकासजन्य है।

५ केवलज्ञान—जब आत्मा का पूर्ण उत्कर्ष हो जाता है तब उसे कैवल्य ज्ञान होता है। ऐसा आत्मज्ञानी भूत भविष्य का ज्ञान कर लेता है।

जैन दर्शन में दो प्रमाण (ज्ञान प्राप्त करने की विधि) एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष है। नय भी दो हैं—एक द्रव्यार्थिक नय तथा दूसरा पर्यायार्थिक नय।

जैन धर्म का विकास और विस्तार

महावीर की मृत्यु के पश्चात् जैन धर्म और संघ की व्यवस्था जटिल हो गई,

अनेक भेदोपभेद होने लगे—जिनमे से प्रधान श्वेताम्बर तथा दिगम्बर विशेष थे। दिगम्बर साधु भोजन ग्रहण नही करता पूर्णत सम्पत्ति त्याग म विश्वास करता है। दिगम्बरो के अनुसार स्त्री को मोक्ष सम्भव नही है। किन्तु दिगम्बर विशेष लोकप्रिय न हो सके। श्वेताम्बरो का ही अधिक प्रचार हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस धम को सरक्षण दिया परिणामस्वरूप यह धम सम्पूर्ण भारत म फल गया। यद्यपि जन धम को अपने समसामयिक बौद्ध धम की प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पडा, यहाँ तक कि बुद्ध ने स्पष्ट शब्दो मे अपने प्रतिद्वन्द्वी धम के विभिन्न अङ्गो की भत्सना की थी। दोनो धर्माचार्यो को एक ही प्रदेश म रहकर अपने धम का प्रचार करना था एक ही समाज के लोगो को अपना शिष्य बनाना था। दोनो ही धम अपन सम्थापको के निधन के पश्चात् समान रूप से प्रभावशाली थे। पर बाद म दोनो की स्थिति म महान् अन्तर उत्पन्न हो गया था। ५०० वर्षों म ही बुद्ध धम विश्व धम बन गया और ससार के एक तिहाई मनुष्य उसके अनुयायी हो गये। जन धम का प्रसार भारत की सीमा के बाहर कभी न हो पाया। दूसरी ओर ५०० वर्षों स अधिक हुए जब बौद्ध धम अपनी जन्मभूमि से प्राय लुप्त हो गया। जन धम आज भी भारत म एक जीवित शक्ति है और उसका प्रभाव समाज के एक बहुत बडे प्रभावशाली वग पर है। जन धम की उन्नति ई० पू० चतुथ शताब्दी समाप्त होने स पूव ही उसका प्रसार दक्षिण भारत म हो गया था। इस सम्प्रदाय के बढते हुए महत्त्व का बहुत बडा कारण सम्भवत चन्द्रगुप्त मौय का सरक्षण था।[1] ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे गुजरात और राजपूताने म इस धम का प्रभाव था।

जन धम के सिद्धान्तो को क्रमबद्ध व सुसबद्ध करने के लिए इस धम की दो महासभा हुइ। प्रथम महासभा चन्द्रगुप्त मौय के शासन काल म पाटलीपुत्र म भद्रबाहु और सम्भूतिविजय नामक स्थविरो के निरीक्षण म हुई थी। द्वितीय महासभा गुजरात के वलभी नामक स्थान पर षष्ठ शतक ई० पू० म देवधिगणि या क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे हुई थी।

जन धम की सास्कृतिक देन

जन धम भारतवष की सीमाओ म ही सीमित रहा भारत का प्रधान धम भी कभी नही रहा किन्तु इस धम की सास्कृतिक देन महान् है। जन धम की भारतीय साहित्य कला तथा दशन को विशेष देन है।

दशन के क्षेत्र मे

जन धम न दार्शनिक क्षेत्र म अनेक नय सिद्धान्त दिये हैं जो कि मौलिक भी कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त लिया जा सकता है। यह एक उदार और सामजस्यपूर्ण सास्कृतिक दृष्टिकोण है। कोई भी विचार सत्य के एकांगी रूप को ही व्यक्त करता है कोई भी पूर्णत्व का दावा भी नही कर सकता

---

[1] मजूमदार प्राचीन भारत, पृ० १५३-५८

क्योकि सभी मत आंशिक रूप म ही सत्य होते हैं। 'जब यह भावना दृढ़ हो जाय तो ससार म अनुदारता, द्वेष, सघष आदि बहुत कुछ कम हो जायें।" अहिंसा के सिद्धात को भी जन-धम ने प्रचारित किया। इस सिद्धा त को भारतीय जन-जीवन म जैनो ने जितना पहुचाया, उतना किसी ने नही।

साहित्य के क्षेत्र मे

जन विद्वानो ने विभिन्न कालो म लोक-भाषा म साहित्य रचना की लोक भाषायें जन धम की कृतन हैं। हेमचद्र आदि आचार्यों ने प्राकृत एव अपभ्र श भाषा को विशेष रूप से समृद्ध किया है।

कला के क्षेत्र मे

कला के क्षेत्र म भी जैन धम की देन महान् है। मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र और राजस्थान मे अनेक जैन मदिर आज भी देखे जा सकते हैं। राजस्थान म आबू-पवत पर देलवाडा के निकट एकादश-शतक के अ य मदिर हैं जिनम भारतीय कला का चरमोत्कष दशनीय है। ग्वालियर, उत्तर प्रदेश म खजुराहो आदि भी कला की दृष्टि से महत्त्वपूण स्थान है।

बौद्ध-धम

बौद्ध धम के प्रवतक गौतम बुद्ध महावीर के समकालीन थे। गौतम का ज म कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के लुम्बनीवन नामक ग्राम मे हुआ था। गौतम बुद्ध बचपन से ही चि तन प्रधान निवृत्ति परक स्वभाव के थे। जीवन की, उसकी नश्वरता को रोग जरा आदि को देखकर विवाह एव पुत्र हो जाने पर भी उ होने गृह त्याग कर दिया यही बुद्ध का गृह त्याग उनका 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाता है। यत्र-तत्र दार्शनिक शिक्षा तपस्या आदि करते हुए बनारस के निकट सारनाथ म पीपल के वृक्ष के नीचे बठे हुए बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति क पश्चात् जनता क दु ख को दूर करने क लिए सवस पहले सारनाथ (बनारस) म उ होन अपने पाच साथियो को उपदेश दकर 'धम चक्र प्रवतन किया। सब लोगो को प्रव्रज्या देकर भि ु बनाना शुरू किया तथा उ ह सवथा अपने उपदशो का प्रचार करने की शिक्षा दी। ४५ वष तक वे स्वय अपने सिद्धा तो का प्रचार करते रहे और अ त मे ८० वष की आयु म उनका कुशी नगर (वत्तमान कुसीनारा जि० गोरखपुर) म महापरिनिर्वाण हुआ (४८७ ई० पू०)।

गौतम बुद्ध विश्व के महान् विचारको म से हैं उनका धम विश्व का क्रान्तिकारी धम है। इस धम ने ई० पू० षष्ठ शतक मे क्रा ति की जो प्रेरणा दी, वह महान् थी, उनका धम महान् था इस धम ने विश्व को प्रभावित किया, विश्व को शान्ति का उपदेश दिया।

गौतम बुद्ध ने जिस धम का उपदेश दिया, वह प्रधानत आचार प्रधान था। उनके मूल सिद्धात निम्न थे—(१) वे इश्वर म विश्वास नही रखते थे, (२) आत्मा

को नित्य नहीं मानते थे। (३) किसी ईश्वर को जगत् का प्रमाण नहीं मानते थे। तथा (४) जीवन प्रवाह को किसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे।

गौतम-बुद्ध ने भोग विलास का मार्ग भी देखा था और त्याग तपस्या के कठोर मार्ग का स्वयं अनुभव किया था। दोनों को ही एकाङ्गी मानकर उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश देते हुए कहा था कि मनुष्य को न तो अति भोग विलास में फँसना चाहिए और न कठोर तप साधना का मार्ग ही अवलम्बन करना चाहिए। दोनों अतियों को छोड़कर मध्य मार्ग मज्झिमापटिपदा—कामों का इच्छाओं से उत्पन्न सुख की अनुभूति में राग करना, विषयों में ही सुख मानकर सदा उनमें अनुरक्त रहना हीन है, ग्राम्य है, नीचों का है, अनार्य है, अनर्थकारी है और आत्मा को कष्ट देना भी उचित नहीं है—यह दुःखरूप है, अनार्य है, अनर्थकारक है। इनका सेवन नहीं करना चाहिए। अतएव भिक्षुओ! इन काम तथा आत्मिक कष्ट दोनों ही अन्तों की अपेक्षा मज्झिमापटिपदा का सेवन करो। यही मार्ग आँख खोलने वाला है, शान्तिदायक है, पूर्ण ज्ञानकारक है, इसी से निर्वाण सम्भव है।

बुद्ध ने जगत् व्यापी कार्य कारण के सिद्धान्त को सांसारिक दुःख की व्यापकता पर लागू करके दुःख के कारणों को समझाया। दुःख के कारणों का निराकरण हो जाने पर ही परमलक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। बुद्ध ने उपदेश देकर वह मार्ग बताया जिससे दुःख और दुःख के कारणों का निवारण हो सके। इसके लिए बुद्ध ने चार आर्य सत्यों चत्वारि आर्यसत्यानि का निरूपण किया। वे निम्न हैं—(१) दुःख, (२) दुःख समुदय (३) दुःख निरोध तथा (४) दुःख निरोधगामी मार्ग।

दुःख

भगवान् बुद्ध ने समस्त जीवन को दुःखमय माना है। उन्होंने बताया कि जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण, शोक, रुदन, मन की खिन्नता और हैरानी दुःख है। अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग भी दुःख है। इच्छा करके भी जिसे नहीं पाता, वह भी दुःख है। सम्पूर्ण जगत् सतत दुःख में आबद्ध है। केवल दुःख—और उसकी अनुभूति ही दुःख नहीं है, सुख भी क्षणिक है और उसके नष्ट हो जाने पर भी दुःख ही उत्पन्न होता है। आशय यह है कि पाँचों उपादान स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—दुःख हैं।

दुःख समुदय

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक क्रिया कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर है। अतः दुःख का कारण भी होना चाहिए। दुःख का मूल कारण अविद्या है। अपने स्वरूप के सम्बन्ध में, मिथ्या धारणा, अज्ञान ही अविद्या है। अविद्या के कारण ही मनुष्य अपने को अपना शरीर मन को मानता है। शरीर मन से आत्मा का एकात्म्य मान लेता है। परिणामस्वरूप उसे भौतिक सुख की तृष्णा (इच्छा) उत्पन्न होती है। इस प्रकार दुःख का कारण तृष्णा है। काम की तृष्णा, भव (उत्पन्न होने) की तृष्णा, विभव की तृष्णा आदि ही दुःख के कारण हैं। काम की तृष्णा से होने वाले

दु ख की प्रतिक्रिया स्पष्ट करते हुए बुद्ध कहते हैं—"काम (प्रिय भोग) के लिए ही राजगण सघर्ष करते ह क्षत्रिय क्षत्रिय स ब्राह्मण ब्राह्मण से, गृहपति गृहपतियो से, माता पुत्र से पुत्र माता से, पिता पुत्र से पुत्र पिता से भाई भाई स बहिन भाई से, भाई बहिन से मित्रमित्र म सघर्ष करते है। वे परस्पर विग्रह विवाद, आदि करते हैं, और एक दूसरे पर हाथ स दण्डे स, शस्त्र से भी प्रहार करते हैं, वे मर भी जाते हैं और मरण के दु ख को भी प्राप्त होते है।[1] इस प्रकार अविद्या और तृष्णा दु ख के मूल कारण हैं।

दु ख निरोध

प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमानुसार यदि कारण का निराकरण कर दिया जाय, तो कार्य का स्वत निरोध हो जाता है। अत दु ख के कारणो तथा उसकी कारण-भूत परिस्थितियो का निवारण कर दिया जाय तो दु ख का भी निरोध हो जायगा। दु ख का मूल कारण तृष्णा है, अत मूल तृष्णा क अन्त करने का नाम दु ख-निरोध है। तृष्णा के अन्त हो जाने पर उपादान का निरोध होता है। उपादान निरोध से भव (लोक) का निरोध से होता है और भव निरोध जन्म का निरोध हो जाता है। जन्म के निरोध स दु ख क उपकरणो—जरापा, मरण शोक आदि का अन्त हो जाता है। इस प्रकार निर्वाण की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तथा सासारिक ब धनो से मुक्ति मिल जाती है।

दु ख निरोध मार्ग

भगवान बुद्ध ने शील समाधि और प्रज्ञा को दु ख निरोध का मार्ग बताया था। दु ख निरोध के मार्ग का प्रथम उपदेश भगवान बुद्ध ने अपने पाच साथियो को दिया था जो धर्मचक्रप्रवर्तन के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान बुद्ध ने कहा— भिक्षुओ! इन दो अतियो का सेवन नही करना चाहिए। (१) काम सुख म लीन हो जाना। (२) शरीर यातना म लग जाना। इन दोना अतियो को त्याग (मैंने) मध्यम मार्ग खोज निकाला है जो आख देने वाला, ज्ञान कराने वाला शक्ति देने वाला है। वह (मध्यम मार्ग) यही आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है[2] (१) सम्मा दिट्ठि, अर्थात् सम्यक दृष्टि। (२) सम्मा सकल्प अर्थात् सम्यक सकल्प (३) सम्मावाचा अर्थात् सम्यक् वाक्य। (४) सम्मा कम्मात अर्थात् सम्यक् कर्मात (५) सम्मा जीव

---

[1] मज्झिम निकाय, १/२/३

[2] 'आधुनिक गवेषणाओं से सिद्ध हो गया है कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म मे शील, समाधि और प्रज्ञा ही दु ख निरोध मार्ग के अग थे। पर बाद में इनका विस्तार किया गया। मज्झिमनिकाय में इस मार्ग के सात अग बताये गये हैं। अगुत्तर निकाय म दस अङ्गो का उल्लेख है। कालान्तर मे आठ अङ्गो को मान्यता प्रदान की गई और दु ख निरोध मार्ग अष्टाग मार्ग कहलाया।' —डा० जी० सी० पाण्डेय स्टडीज इन दि ओरिजन ऑफ बुद्धिज्म, भारतीय सस्कृति, पृ० ७७

अर्थात् सम्यक जीविका । (६) सम्मा वायाम अर्थात् सम्यक व्यायाम । (७) सम्मा सति अर्थात् सम्यक स्मृति । (८) सम्मा समाधि अर्थात् सम्यक समाधि ।[1]

(१) सम्मा दिट्ठी—दुःख समुदाय और दुःख निरोध का ज्ञान ही सम्यक दृष्टि है। जब तक हम संसार को दुःख रूप न मानेंगे तब तक हमारे कर्त्तव्य का लक्ष्य उससे भागने की ओर न होगा। सच्चे ज्ञान के बाद ही सच्चा संकल्प आता है।

(२) सम्मा संकल्प—दुःख समुदाय के ज्ञान से निश्चय हो जाता है कि तृष्णात्याग के बिना दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता। जब हमारा सबके साथ अद्वेष, अहिंसा और मैत्री का भाव होगा तभी हमारी तृष्णा का क्षय हो सकेगा। अतएव हमें ऐसा भाव बना लेना चाहिए, जिससे किसी के प्रति हिंसा और द्वेष का व्यवहार न हो। यही विचार सम्यक संकल्प है।

(३) सम्मावाचा—सब प्रकार के झूठ, दूसरों की निंदा, अपमान, चुगली, झूठी गवाही आदि से विमुख रहना चाहिए। निरर्थक वार्तालाप भी दूषित समझा जाता है। सम्यक वार्तालाप मनुष्यों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करने में सहायक होता है। ऐसी कोई बात न कहनी चाहिए जिससे दूसरे का जी दुखे। यहाँ तक कि अपराधी को दण्ड देते समय भी आदर का व्यवहार होना चाहिए और उसमें व्यक्तिगत वैर भाव अथवा रोष की गंध न आनी चाहिए।

(४) सम्मा कम्मान्त—बौद्ध धर्म में हिंदू धर्म की भाँति ही आवागमन माना गया है। लोग अपने कर्मों के अनुकूल बुरा या भला जन्म लेते हैं। बौद्ध धर्म आत्मा को नहीं मानता किंतु एक प्रकार से कर्म का सिद्धान्त मानता है। प्राणी का पुनर्जन्म नहीं होता किंतु उसका संस्कार और अंतिम विचार एक नया रूप धारण कर लेता है। स्वयं बुद्ध ने जातक कथाओं के अनुसार अनेक बार जन्म लिया था।

कर्मों में पंचशील मुख्य है। सर्वत पाप निवृत्ति को शील कहते हैं। ये पंच शील अर्थात् पाँच आज्ञाएं सब बौद्ध गृहस्थों और भिक्षुओं के लिए हैं—

(१) कोई किसी को न मारे (२) चोरी न करे अर्थात जो वस्तु न दी गई हो उसे न ले (३) झूठ न बोले (४) नशीली चीजों का सेवन न करे, (५) व्यभिचार न करे।

भिक्षुओं के लिए पाँच और नियम हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) रात्रि में देर से भोजन न करना (२) माला न पहनना और सुगंधित द्रव्य न लगाना। (३) भूमि पर सोना (४) नाच गान वाद्य में आसक्त न होना। (५) सोना चाँदी को व्यवहार में न लाना।

ये दसों आज्ञाएँ भिक्षुओं के लिए अनिवार्य हैं और प्रथम पंचशील गृहस्थों

---

[1] धम्मचक्कपवत्तन सुत्त—संयुक्त निकाय, ५५/२/१

के लिए। अपने माता पिता का सत्कार करना यद्यपि इन दस शीलों में नहीं है, तथापि सूत्र में सब गृहस्थों को उसका पालन करने के लिए कहा गया है।

(५) सम्मा जीव—ऐसी जीविका न करनी चाहिए जो बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो, अर्थात् ऐसी आजीविका नहीं करनी चाहिए जिसमें हिंसा, चोरी और व्यभिचार करना पड़े तथा झूठ बोलना पड़े। सारांश यह है कि मनुष्यों की आजीविका शुद्ध होनी चाहिए। अगुत्तर निकाय में हथियार का व्यापार, प्राणि का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार विष का व्यापार, आदि झूठी जीविका हैं।

(६) सम्मा वायाम—व्यायाम से यहाँ अभिप्राय कसरत से न होकर शुभ उद्योगों से है। सच्चे उद्योग में चार बातें आती हैं—(१) अवगुणों के नाश का उद्योग करना, (२) नये अवगुणों से बचना, (३) गुणों को प्राप्त करना, (४) गुणों की वृद्धि करना।

(७) सम्मा सति—स्मृति से स्मरण और बराबर विचार करने का अर्थ लिया गया है। मन सदा शुद्ध होना चाहिए। जब मन शुद्ध होगा तभी कर्म निर्दोष होगा। कर्म से कायिक वाचिक, मानसिक—तीनों प्रकार के कर्म लिये जाते हैं। काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने का सदा स्मरण रखना सम्यक्-स्मृति है।

(८) सम्मा समाधि—समाधि अंतिम साधना है। शील के अनुशीलन से हमारी मानसिक क्रियाएँ नियमित होती हैं। शील समाधि की सीढ़ी है। सत्कर्म के लिए जो चित्त की एकाग्रता सम्पादित की जाती है वह समाधि है। समाधि की इच्छा रखने वाले को भोजनादि में आसक्ति का वर्जन कर उसके प्रति वैराग्य रखने का उद्योग करना पड़ता है।[1]

उपर्युक्त सिद्धान्त बुद्ध के सामान्य सिद्धान्त थे। बुद्ध के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी विचार अपेक्षित है।

क्षणिकवाद

बुद्ध के दार्शनिक विचार अनित्य दुःख, अनात्म[2] में निहित हैं। इन तीनों शब्दों में ही उनका सम्पूर्ण दर्शन आ समाया है। अनित्य बुद्ध के क्षणिकवाद का सूचक है। बुद्ध ने निम्न तत्त्वों को स्वीकार किया है

(१) स्कन्ध (२) आयतन, तथा (३) धातु।

महानिदान तथा अगुत्तर निकाय में इन समस्त तत्त्वों को अनित्य तथा क्षणिक कहा है।

---

[1] अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या करते समय बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद पटना से प्रकाशित विश्व धर्म दर्शन लेखक साँवलिया बिहारीलाल वर्मा से सहायता ली है, अतः उनके कृतज्ञ हैं

[2] अगुत्तर निकाय, २/१/३४

स्कन्ध

स्कन्ध के पाँच उपविभाग हैं—रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। रूप तत्त्व म पृथ्वी आदि महाभूत समाहित हैं। सुख दुःख की अनुभूति ही वेदना है। चेतन एव अभिज्ञान को संज्ञा कहते हैं। मन पर पड़े प्रभाव या वासना ही संस्कार हैं। चेतना एव मन ही विज्ञान है। भगवान् बुद्ध ने इन सभी को नश्वर कहा है।

आयतन

आयतन के बारह रूप हैं—इन्द्रियाँ (चक्षु श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन) तथा उनके छः विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श द्रव्य तथा धर्म)।

धातु

धातु के भी अठारह रूप हैं—छः इन्द्रियाँ, उनके छः विषय तथा उनके पारस्परिक सम्पर्क से उत्पन्न छः विज्ञान।

प्रतीत्य समुत्पाद

कार्य कारण का सिद्धान्त ही प्रतीत्य समुत्पाद है अर्थात एक वस्तु के विनाश के पश्चात दूसरे की उत्पत्ति के नियम को बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद कहा है।

अनात्मवाद

बौद्ध धर्म आत्मा को स्वीकार नहीं करता, अतः वह अनात्मवादी है, शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात आत्मा नाम की किसी शाश्वत अथवा नित्य वस्तु म बुद्ध का विश्वास न था। बौद्ध धर्म इसीलिए सभी वस्तुओं को अनित्य और क्षणभंगुर मानता है। बौद्ध-दर्शन मे आत्मा की उपमा दीप शिखा से दी गई है। जब तक दीप जलता है तब तक दीप शिखा रहती है।

अभौतिकवादी

अनात्मवादी होते हुए भी बौद्धधर्म भौतिकवादी (जड़वादी) नही था।

अनीश्वरवाद

बुद्ध ने किसी ईश्वर की पूजा करने की शिक्षा नही दी है। ईश्वर विषयक चर्चा स्वय बुद्ध ने कभी नही की। प्रश्न के उठाने पर बुद्ध ने मौनावलम्बन कर बात टाल दी अथवा परिहास की वाक्यावली से ईश्वर के अस्तित्व म सन्देह व्यक्त किया है। उन्होंने एक स्थान पर यह सकेत किया है कि 'आदि मानव को ही परवर्ती मानव ने भ्रमवश ईश्वर मान लिया।' इसके अतिरिक्त बुद्ध ने दस अव्याकृत बातो का निर्देश अवश्य किया है। इन विषयो पर मौन ही रहना चाहिए—

(क) लोक
- क्या लोक नित्य है ?
- क्या लोक अनित्य है ?
- क्या लोक अन्तवान है ?
- क्या लोक अनन्त है ?

(ख) जीव शरीर का एकात्म्य
- क्या जीव और शरीर एक है ?
- क्या जीव भिन्न और शरीर भिन्न है ?
- क्या मृत्यु के पश्चात् जीव मुक्त होता है ?

(ग) निर्वाण के पश्चात

{ क्या मृत्यु के पश्चात मुक्त होते हैं ?
क्या मृत्यु के पश्चात् न मुक्त होते ही हैं, न नही ही होते हैं ? }

भगवान् बुद्ध को किसी सवन की सवनता पर विश्वास नही है। 'मज्झिम-निकाय' मे लिखा है कि ऐसा श्रमण ब्राह्मण नही है जो सवन और सवदर्शी हो। भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण उदार था। उन्होंने अपने शिष्यो को अ धानुकरण करने की अपेक्षा विचार स्वातन्त्र्य प्रदान किया था।

निर्वाण

बुद्ध ने निर्वाण को अव्याकृत माना है। किन्तु बुद्ध का सिद्धान्त है कि वासना के क्षय हो जाने से नाम रूप इन्द्रधनुष के चित्र विचित्र रग की भाँति विलीन हो जाते हैं। निर्वाण नि शेषता का ही नाम है। निर्वाण दीपक के बुझने को कहते हैं। वस्तुत निर्वाण का अथ है उन गुणो और बन्धनों का नाश हो जाना, जो मनुष्य को भेद भाव से अनुप्राणित कर स्वाथ की ओर प्रवृत्त करता है। निर्वाण की अवस्था मे मनुष्य की सारी वासनाएँ और तृष्णाए नष्ट हो जाती हैं। जीवनमुक्त की अवस्था ही निर्वाण प्राप्त मनुष्य की अवस्था होती है। तृष्णा का क्षय ही वस्तुत बुद्ध का निर्वाण है। 'निर्वाण' का अथ विनाश की अपेक्षा पूणता ही है।

सघ अथवा त्रिरत्न

बौद्ध सघ की स्थापना बुद्ध की देन है। बुद्ध ने विहारो म रहने वाले भिक्षुओ के लिए नियमो का विधान किया था। बौद्ध धम के प्रचार मे इन सघो का बहुत बडा योगदान था। कालान्तर मे बौद्ध धम म बुद्ध, धम और सघ को त्रिरत्न माना गया और तीनो की वन्दना का भी विधान किया। नतिक प्राथनाओं—बुद्ध सरण गच्छामि, धम्म सरण गच्छामि, सघ सरण गच्छामि—की वन्दना आवश्यक थी।

बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय

बुद्ध सघ के नियम कठोर थे किन्तु बौद्ध-मत के प्रचार तथा उसकी लोक-प्रियता ने आवश्यकता अनुभव की कि ये अनुशासन कुछ शिथिल व लचीले होने चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी भी सम्प्रदाय म विभिन्न विचारधारा के मनुष्यो का होना भी स्वाभाविक है। बौद्ध धम के विकास मे बौद्ध धम सभाओ—सगीतियों का भी महत्त्वपूण स्थान है। बौद्ध धम के प्रचार एव विभिन्न विचारधारा के व्यक्तियों के विचारो के सामजस्य आदि की दृष्टि से छ सगीतियाँ होती हैं जिनम चार महत्त्वपूण हैं। प्रथम सगीति कनिष्क के काल प्रथम शताब्दी मे हुई इस काल तक बौद्ध धम मे अनेक सम्प्रदायो का जन्म हो चुका था। इसी काल मे महायान सम्प्रदाय का उदय होता है, परिणामस्वरूप बौद्ध सघ और धम के आधारभूत सिद्धान्तो मे परिवत्तन

की अपेक्षा हुई जो कि प्राचीन बौद्धों को अभीष्ट न था। इस प्रकार विचारों के वैषम्य के कारण बौद्ध धर्म विशेष रूप से हीनयान तथा महायान दो सम्प्रदायों में बँट गया।

हीनयान

हीनयान' शब्द का अर्थ है निकृष्ट या निम्न मार्ग। इस शब्द का प्रयोग महायानियों ने अपने विरोधियों के लिए किया था। हीनयान धर्म गृहस्थों के लिए अनुकूल न था। यह निवृत्ति प्रधान गृह त्याग करने वाले व्यक्तियों के लिए था। इस मत में बुद्ध सामान्य मानव थे, उन्होंने अपने कर्त्तव्य पालन द्वारा ही बुद्धत्व प्राप्त किया था इस मत में जीवन का लक्ष्य बुद्धत्व नहीं था अपितु 'अर्हत' पद की प्राप्ति था। अर्हत वही भिक्षु हो सकता था, जो निर्वाण प्राप्त कर लेता था। हीनयानी मात्र अपने लिए ही निर्वाण प्राप्त करता था, लोक के कल्याण की कामना उसे नहीं थी। 'इस मत के अनुयायी भिक्षु अनित्यता तथा क्षणभंगुरता में विश्वास करते हैं। संसार में परिवर्तन का प्रभाव चल रहा है, तथा सभी वस्तुयें अनित्य एवं क्षणभंगुर हैं। अनात्मवाद में भी ये विश्वास करते है। इसका अर्थ है कि व्यक्तित्व का निर्माण रूप (भौतिक तत्त्व) वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पाँचों स्कन्धों से होता है जिनमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है आत्मा जैसा कोई स्थायी तत्त्व नहीं रहता। चार आर्य सत्य प्रतीत्य समुत्पाद तथा अष्टांग मार्ग भी हीनयान मत के अंग हैं।'[1]

हीनयान सम्प्रदाय भी दो उपविभागों में विभक्त है—वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वैभाषिक मत अभिधर्म की टीका विभाषा पर अधिक आस्था रखते हैं। यह मत नानात्मक जगत को वस्तुतः सत्य मानता है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है। इसके अनुसार जगत के दो रूप हैं—भूत (बाह्य) तथा चित्त (आन्तर) और यह बाह्य एवं आन्तर दोनों ही पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है इसे सर्वास्तिवाद भी कहा जाता है क्योंकि यह भूत भविष्य तथा वर्तमान काल के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह मत परिवर्तन के प्रवाह तथा क्षणभंगुर को स्वीकार करता है। किन्तु वैकारिक जगत के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। वैभाषिक मत प्रत्येक वस्तु परमाणु निर्मित मानता है। ये परमाणु अपना स्थान परिवर्तित करते रहते हैं। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण धातु दो प्रकार का है। एक सोपधिशेष और दूसरा निरुपधिशेष। कुछ लोग सोपधिशेष को सास्रव, संस्कृत, कुशल आदि बताते है और निरुपधिशेष को अनास्रव असंस्कृत अव्याकृत परन्तु दोनों ही अनास्रव असंस्कृत तथा अव्याकृत हैं। आस्रव क्षय होने पर भी जो अर्हत जीवितावस्था में रहते हैं, उनके पंच स्कन्ध में उत्पन्न अनेक विज्ञान शेष रहते हैं, अतः उसकी दशा का नाम है—सोपधिशेष दशा, परन्तु शरीरपात होने पर नवोजन शेष होने पर समस्त उपाधियों के हटने से निरुपधिशेष निर्वाण होता है।

---

[1] भारतीय संस्कृति, पृ० ८०

अत इन दोनो निर्वाणो मे वही अतर है जो वेदान्त की जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति म है।''[1]

सौत्रान्तिक

सौत्रांतिक सम्प्रदाय सूत्रान्त' को सर्वोपरि स्वीकार करता है। सौत्रांतिक अभिधम को प्रामाणिक नही मानते हैं क्योंकि यह बुद्ध की रचना नही है किन्तु सूत्रान्त' बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओ के भण्डार होने से नितान्त प्रामाणिक हैं। अत इस सम्प्रदाय का नामकरण 'सौत्रांतिक' है। (१) इस मत म वर्तमान काल ही सत्य है, भूत और भविष्य काल्पनिक तथा निराधार। जबकि वभाषिक भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालो के अस्तित्व को स्वीकार करता है। (२) सौत्रांतिक ज्ञान को स्वत प्रमाण मानते हैं, जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वय प्रकाशित करता है उसी भांति ज्ञान स्वय प्रकाश्य है। (३) सौत्रांतिक बाह्य जगत की सत्ता प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं। जब समस्त पदार्थ क्षणिक हैं तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष असम्भव है। जिस क्षण म किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियो का सम्पर्क होता है, उस क्षण म वह क्षणिक वस्तु अतीत के गर्भ म चली गई रहती है। केवल उससे उत्पन्न विज्ञान ही शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील, पीतादि बुद्धि वाले चित्र मन पर खिच जाते हैं इन्ही चित्रों की सहायता से इनके उत्पादक बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। अत बाह्यार्थ की सत्ता प्रत्यक्षगोचर न होकर अनुमान सिद्ध है।''[2] (४) बाह्यवस्तु के सम्बन्ध म सौत्रान्तिको म मतभेद हैं— पदार्थ स्वय 'आकार रखता है। पदार्थ म आकारनिवेश चित्त से विनिर्मित है। अर्थात् वस्तु मे स्वय अपना कोई विशेष आकार नही होता अपितु चित्त ही यह आकार बनाता है। तीसरा मत है कि वस्तु का आधार उभयात्मक (स्वय तथा चित्त विनिर्मित) होना है। ये तीन मत है। (५) परमाणुवाद के विषय म भी इनका अपना विशेष मत है। ''परमाणुओ म पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव होता है। परमाणु स्वय निरवयव होते हैं, अत स्पर्श अवयवो का न होकर समस्त वस्तु का ही होगा। ऐसी दशा म एक परमाणु मिलकर एक हो जायेंगे दूसरे परमाणु से (तादात्म्य)। अत परमाणुओ का सघात परमाणु से परिमाण मे अधिक न हो सकेगा।''[2] (६) सौत्रांतिक मत मे समस्त पदार्थ स्वभावत विनाशशील हैं, अनित्य न होकर क्षणिक है। क्रिया, वस्तु तथा क्रिया काल तीनो मे जरा भी अन्तर नही है। वस्तु असत स उत्पन्न होकर एक क्षण रहकर पुन लीन हो जाती है। फिर भूत भविष्य की सत्ता मानने की आवश्यकता ही क्या है। (७) निर्वाण के सम्बन्ध म श्रीलाल तथा श्रीलब्ध का मत है कि प्रतिसख्या निरोध प्रज्ञा निबन्धन भाविक्लेशानुत्पत्ति अर्थात प्रज्ञा के कारण भविष्य म उत्पन्न होने वाले क्लेशो का न होना। अप्रतिसख्या निरोध का अर्थ है क्लेश निवृत्ति मूलक दुखानुत्पत्ति। इन दोनो म कोई विशेष अन्तर नही है। क्योंकि क्लेशो की

---

[1] भारतीय दर्शन, पृ० २०५

[2] वही २०८

निवृत्ति के ऊपर ही दुःख का संसार की अनुत्पत्ति अवलम्बित रहती है, अतः मलगा नुदय दुःख भाव का कारण है।

महायान-सम्प्रदाय

महायान' शब्द का अर्थ है 'उत्कृष्ट मार्ग'। यह बौद्ध धर्म की शाखा ईसा की प्रथम शताब्दी में मान्यता प्राप्त करती है। प्रथम शताब्दी में नागार्जुन अपनी नव-नवोन्मेषिनी प्रतिभा से इस सम्प्रदाय को दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं। हीनयान सम्प्रदाय में बुद्ध को सामान्य मानव की मान्यता प्राप्त थी, किन्तु भक्ति के आन्दोलन के प्रारम्भ हो जाने तथा अवतारवाद के समक्ष बौद्ध धर्म को जीवित रखने की भावना के कारण महायान-सम्प्रदाय का उदय तथा बुद्ध का आदिबुद्ध अथवा बोधिसत्व का रूप प्रदान किया गया, और बुद्ध को ईश्वरत्व प्रदान किया गया। 'बोधिसत्व की कल्पना महायान-सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है। यह कल्पना इतनी उदात्त तथा इतनी मनोरम है कि केवल इसी कल्पना के आधार पर यह धर्म संसार के प्रमुख धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। 'बोधिसत्व' का शाब्दिक अर्थ है—बोधि अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति। अर्हत्' तथा प्रत्येक बुद्ध का लक्षण नितान्त सीमित रहता है। अपना अभ्युदय तथा व्यक्तिगत कल्याण साधन करना ही दोनों के अनुष्ठान का अन्तिम उद्देश्य रहता है। पर बोधिसत्व संसार के समस्त प्राणियों के समग्र दुःखों का नाश कर उन्हें निर्वाण प्राप्ति करा देना अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। संसार का एक एक प्राणी जब तक मुक्त नहीं हो जाता तब तक वह स्वयं निर्वाण-सुख को भोगने के लिए उद्यत नहीं होता। उसके जीवन का ध्येय स्वार्थसिद्धि न होकर परोपकार रहता है। वह जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही स्वरूप समझता है।'"[1] महायान के मतानुसार 'परम सत्य स्वरूप बुद्ध मानव समाज के कल्याण साधन के निमित्त अनेक रूप धारण किया करते हैं।। बुद्धदेव भी उन्हीं के एक अवतार मात्र हैं। उनकी भक्तिपूर्वक उपासना करने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। महायान ग्रन्थ सद्धर्म-पुण्डरीक का कहना है कि सच्चे प्रेम से भगवान् बुद्ध की, एक पुष्प के अर्पण द्वारा, पूजा करने से साधक को अनन्त सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार महायान धर्म ने निरीश्वरवादी शुष्क निवृत्ति प्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे ईश्वरवादी तथा प्रवृत्ति प्रधान मनोरम रूप से उपस्थित किया।

इस प्रकार हम देखते है कि अपने अस्तित्व की सुरक्षा तथा लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए बौद्धों ने महायान सम्प्रदाय को हीनयान तथा भारतीय भक्ति सम्प्रदाय से अनेक तत्वों को लेकर जीवन्त रूप प्रदान किया। इस सम्प्रदाय की संक्षेप में विशेषतायें निम्न हैं—

---

[1] धर्म और दर्शन पृ० ११३-१४

[2] वही, पृ० ११७

(१) भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुरूप बोधिसत्व के आदर्श की कल्पना उस कल्पना में अवतारवादी धारणा का समावेश (२) नैतिक आचार के लिए बोधिसत्व के कर्त्तव्यों का निर्देश—तदनुसार पारमिताओं का पालन। ये पारमितायें मनुष्य को चारित्रिक पूर्णता प्रदान कर संसार-सागर से पार ले जाती हैं। (३) आध्यात्मिक पूर्णता के लिए दस अवस्थाओं की स्वीकृति। (४) त्रिकाय सिद्धान्त—धर्मकाय, निर्माणकाय, और सम्भोगकाय की स्वीकृति (५) बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तिपूजा की स्वीकृति। कालान्तर में महायान मत की पूजोपचार विधि अधिक व्यापक हुई और उनमें प्रायः सभी हिन्दू देवी-देवताओं के समान पद्मपाणि, अवलोकितेश्वर, अमिताभ, मञ्जुश्री आदि देवों की कल्पना कर अर्चना की जाने लगी। इस प्रकार बुद्ध की पूजा पौराणिक अवतारों की भांति की जाने लगी। (६) इस सम्प्रदाय में नागार्जुन के प्रभाव के कारण तन्त्र मन्त्र का भी प्रचार हुआ। परिणामस्वरूप महायान का स्वरूप ही बदल गया। 'यह विचारधारा इतनी प्रबल हुई कि मन्त्र-यन्त्रों की विपुलता ने प्राचीन बुद्धत्व के आदर्श को ढक दिया।'[1]

महायान के दार्शनिक सम्प्रदायों में शून्यवाद, अर्थात् माध्यमिक विज्ञानवाद अर्थात् योगाचार हैं।

माध्यमिक शून्यवाद

इस सम्प्रदाय के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएँ परमाणुओं द्वारा निर्मित होती हैं, किन्तु परमाणु नश्वर है, अतः विश्व की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। इस नश्वरता के कारण ही जगत दुःखमय है और यही दुःख सत्य है। समस्त विश्व शून्य है। बुद्ध ने शून्यता क्षणिकता का अनुभव कर शून्य में विलीन हो जाने को ही निर्वाण कहा है। माध्यमिकों का प्रमुख सिद्धान्त शून्यवाद है। शून्यवाद की व्याख्या अनेक दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से की है, किन्तु माध्यमिकों के शून्यवाद में शून्य का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। हीनयान के आधार विषयक मध्यम—प्रतिपद के अनुरूप ही माध्यमिक लोग तत्त्व-मीमांसा के विषय में मध्यम प्रतिपदा के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके अनुसार वस्तु न तो एकान्तिक सत् है और न एकान्तिक असत् प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत् तथा असत् के मध्यबिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है जो स्वयं शून्य रूप ही होगा।"[2] यह शून्य अभाव से नितान्त भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परमतत्व का सूचक है। इस आध्यात्मिक

---

[1] विश्व धर्म दर्शन, पृ० १४६

[2] समाधिराजसूत्र—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्येहिस्थानं प्रकरोति पण्डितः।

मध्यमार्ग के उद्भावक होने के कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम 'माध्यमिक'[1] दिया गया है।"[2] माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने अनेक सत्यों की सत्ता स्वीकार करते हैं[3]—

बुद्ध का उपदेश दो सत्यों को ध्यान में रखकर किया गया है—एक लोक व्यवहार में आने वाला सत्य और दूसरा वास्तविक सत्य है। प्रथम व्यावहारिक है और द्वितीय पारमार्थिक। 'अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित शून्य ही पारमार्थिक सत्य है जो बुद्धि के अगोचर है। बुद्धि मात्र विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से अविद्यात्मक है। अतः बुद्धि में इतनी योग्यता नहीं है कि वह परमतत्त्व का यथार्थ ग्रहण कर सके। संवृति का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है सब पदार्थों का ढकने वाला तत्त्व अर्थात् अज्ञान या माया। इस जगत् की सत्ता अज्ञान के द्वारा ही है। इसलिए समस्त जगत् की सत्ता सांवृतिक या व्यावहारिक है। परमार्थ इससे विलक्षण होता है। त्रिकाल में अबाधित ज्ञान से शून्य तथा निर्वाण तत्त्व परमार्थ रूप माना जाता है। इस तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण योगियों के द्वारा ही किया जा सकता है। आर्यसत्य चतुष्टय के तीन सत्य दुःख, समुदय तथा मार्ग सांवृतिक सत्य में अन्तर्भूत हैं, केवल निरोध परमार्थ सत्य है। इन्हीं दोनों सत्यों के आधार पर बुद्ध लोग जीवों का धर्मोपदेश किया करते थे।

इस सम्प्रदाय में दुःख निवृत्ति के लिए षट् पारमिताओं—दान, शील, शान्ति, वीर्य, समाधि तथा प्रज्ञा की उपलब्धि नितान्त अनिवार्य है।

योगाचार या विज्ञानवाद

इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा मैत्रेय (तृतीय शतक) ने की थी। असंग और वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति ने इसका विकास किया। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' है।

योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार चित्त या विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। विज्ञानवादी योगी दो आवरणों—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की—निवृत्ति पर मोक्ष लाभ करता है। इन आवरणों की सत्ता रहने पर वह मुक्त नहीं हो सकता।

---

[1] चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा—

अतो भावाभावान्तद्वय रहितत्वात सर्व स्वाभावानुत्पत्ति लक्षणा ।
शून्यता मध्यमा प्रतिपत्त मध्यमो मार्ग इत्युच्यते ॥

[2] भारतीय दर्शन, पृ० २१९

[3] माध्यमिक कारिका २४/८

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना
लोक संवृति सत्य च परमार्थत ॥

[4] भारतीय दर्शन, पृ० २२० २२१

योगाचार अथवा विज्ञानवाद म चित्त या विज्ञान या प्रवाह ही सत्य है अन्य सम्पूर्ण विश्व मिथ्या है। सासारिक विभिन्न तत्त्व चित्त के विकल्पो के ऊपर आरोपित रूप या गुण हैं। चित्त के नाना विकल्प वासनाजन्य होते हैं। विज्ञान की तीन अवस्थायें हैं—

१ आलयविज्ञान,
२ मनोविज्ञान, तथा
३ प्रवृत्ति या विषयविज्ञान।

यह जगत् विज्ञान के विविध परिणामो का रूप धारण करने वाला विकल्प रूप है। विकल्प तीन प्रकार क होते है—आलयविज्ञान का क्लिष्ट मन का तथा प्रवृत्ति विज्ञान का। आलयविज्ञान म समस्त धर्मों को उत्पादन शक्ति छिपी रहती है, क्योकि वह सबीज' कहा गया है। इस आलयविज्ञान से ही समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है। आलयविज्ञान का स्वरूप समुद्र के उदाहरण स स्पष्ट हो जाता है। वायु प्रवाह स समुद्र म लहरें नृत्य करने लगती हैं और अपनी लीला का प्रदर्शन करती हैं। कभी उपराम नही होती। "इसी प्रकार आलयविज्ञान म भी विषयरूपी वायु क झकोरो स चित्र विचित्र विज्ञानरूपी तरगें उठती हैं सदा नृत्यमान होकर अपना खेल किया करती हैं और कभी नाश नही होती।"[१]

आचार्य वसुबन्धु ने आलय विज्ञान की प्रकृति बाढ़ के समान मानी है। जिस प्रकार जलप्रवाह तृण काष्ठ, आदि अनेक पदार्थों को आत्मसात कर जल प्रवाह म खीच ले जाता है उसी प्रकार यह विज्ञान भी पुण्य अपुण्य, अनेक कम, वासना आदि को खींच ल जाता है। जब तक यह ससार है तब तक आलय विज्ञान का विराम नही। इस प्रकार आलय विज्ञान शक्तिशाली एव परिवतनशील चित्त का प्रबल प्रवाह है। यह कर्मों तथा वासनाओ का कोष है। भौतिक स्तर पर सदा यह चलता रहता है, निर्वाण प्राप्ति क पश्चात इसका क्रम समाप्त हो जाता है। चित्त की मनन करन की शक्ति का नाम मनोविज्ञान है इसक द्वारा सासारिक विचारो और अनुभवो की सृष्टि तथा अहभाव की सपुष्टि होती ह। प्रवृत्ति विज्ञान पञ्च ज्ञानेन्द्रियो के विषयो और बुद्धि का निर्माण करता है।

वज्रयान

वज्रयान बौद्ध धम का परवर्ती सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय म तन्त्र मन्त्र का प्राधान्य है। पचम षष्ठ शतक क बाद तन्त्रो म श्रो क प्रभाव के साथ ही इस सम्प्रदाय

---

[१] लकावतार सूत्र २/६९-१००
तरङ्गा उदधेयद्वत पवनप्रत्ययेरिता।
नत्यमाना प्रवत्त त व्युच्छेदश्च न विद्यते।
आलयौघस्तथा नित्य विषय-पवनेरित।
चित्रस्तरङ्गविज्ञाननत्यमाना प्रवत्तते।

का उदय होता है। इस सम्प्रदाय में गुह्य समाज आदि अनेक तन्त्र-ग्रन्थ लिखे गये। इस सम्प्रदाय में मद्य, मांस, हठयोग तथा मैथुन की शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान तान्त्रिक बौद्ध धर्म का विकसित रूप है। इसकी दार्शनिक दृष्टि यद्यपि शून्यवाद ही है तथापि आचार में तान्त्रिक क्रियाकलाप की बहुलता है। यह तिब्बत, चीन आदि में विशेष रूप से फूला फला।[1] वज्रयान में वज्र को अलौकिक तत्त्व स्वीकार किया गया जोकि हीरे के समान कठोर शून्य की तरह शुद्ध तथा वज्र के समान अजेय रहता है। वज्र की एकता धर्म से स्थापित की गई तथा उसे परम सत्य और सबोधि स्वीकार किया गया। वज्रयान-तन्त्रयान में तारा आदि देवियों की उपासना बढ़ी, तान्त्रिक क्रियाओं का प्रभाव बढ़ा और भ्रष्टाचार बढ़ा, फलस्वरूप इस धर्म का पतन आरम्भ हुआ और यह भारतवर्ष से लुप्त भी हो गया।

बौद्ध धर्म की उन्नति के कारण

बौद्ध धर्म भारतवर्ष में अत्यधिक लोकप्रिय रहा। भगवान् बुद्ध के जीवन काल में ही उसने लोकप्रियता प्राप्त की थी, उसका प्रचार व प्रसार आँधी के वेग की भाँति हुआ था और वह भारत भूमि से उसी भाँति अदृश्य भी हो गया। इसकी उन्नति के निम्नलिखित कारण थे—

(१) **बौद्ध धर्म और तत्कालीन भारत**—बौद्ध धर्म आडम्बर, कर्मकाण्ड आदि से रहित धर्म था, उससे पूर्व षष्ठ शतक में प्रचलित धर्म के मन्त्र एवं कर्मकाण्ड इतने जटिल थे कि उनके विरुद्ध क्रान्ति करने की भावना जन सामान्य के हृदय में थी। जनता उस समय की सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट थी, इसी असन्तोष का बौद्ध धर्म के प्रचारकों को पूरा-पूरा लाभ मिला। ब्राह्मणों का अपने आदर्शों से पतन हो चुका था समाज की नस-नस में अन्धविश्वास घर कर चुका था एवं तीव्र तपस्या, निष्ठुर शारीरिक यातनाएँ घोर पश्चाताप, रक्तिम यज्ञों, बाह्य आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों तथा मन्त्रोच्चारण ने जनता में ब्राह्मण धर्म को अत्यन्त अप्रिय कर दिया था।[2] दूसरी ओर बौद्ध धर्म में सर्वात्मना सरलता थी— व्यावहारिक नैतिक आदर्शों के प्रति आग्रह था, बुद्ध के सिद्धान्त जनसामान्य के लिए थे, उनमें जीवन की समस्याओं के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया गया था।

(२) **बुद्ध के सिद्धान्त सरल थे**—बौद्ध धर्म के आदर्श सरल थे उनमें प्रदर्शन तथा अन्धविश्वास का अभाव था उनके उपदेश तथा धार्मिक क्रियायें व्ययसाध्य न थे। बुद्ध द्वारा कृत जीवन की व्याख्या दार्शनिक न थी, बुद्ध ने सरल और स्पष्ट शब्दों में मानव के दुःखमय जीवन की ओर ध्यान दिलाया था, मनुष्य की अन्तर्निहित वासनाओं के परिष्कार के लिए आग्रह किया था मनुष्य को अपने कर्त्तव्य की ओर सचेत किया

---

[1] विश्व-दर्शन, पृ० १८६

[2] भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० १२६

था, स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया था कर्मवाद का सिद्धान्त सरल शब्दों में स्पष्ट किया। उसका परिणाम यह निकला कि बुद्ध के जीवन काल में उसे एक आचार-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया, और उसे लोकप्रियता मिली।

(३) **बुद्ध का व्यक्तित्व**—बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार के पीछे प्रारम्भ में बुद्ध का महान आकर्षक पवित्र चरित्र तथा व्यक्तित्व था, वे विश्व के महान् धर्मोपदेशकों में थे, उनका व्यक्तित्व तथा चरित्र प्रभावोत्पादक तथा आकर्षक था परिणामस्वरूप राजा से लेकर रङ्क तक उनकी ओर आकृष्ट हुए। बुद्ध की साधना, उनके अकाट्य तर्क और उनकी सरलता, उनके विवेक तथा मधुर हृदयग्राही उपदेशों ने ब्राह्मणों, पण्डितों, राजाओं तथा शूद्रों तक को आकृष्ट किया। बुद्ध महान् त्यागी थे, राजसुखों का परित्याग उन्होंने लोक-कल्याण के लिए किया था, मानवतावादी समस्त गुण बुद्ध में थे। क्षमा सहनशीलता, दया, स्नेह करुणा आदि गुणों के वे अक्षयकोष थे। यही उनका व्यक्तित्व था। 'बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व से कोई भी जो उनके सम्पर्क में आया प्रभावित हुए बिना न रहा। जिस सर्वग्राह्य तर्क के साथ वे ब्राह्मणों पण्डितों के विवादों का मुँह तोड़ उत्तर दिया करते एवं करुणा मैत्री, दया आदि जिन मानव भावनाओं से उनके उपदेश सप्राण हो जाते उनके कारण क्या पुरोहित, क्या राजा और क्या प्रजा सभी सन्तुष्ट होते थे।"

(४) **जाति प्रथा का विरोध और समानता की भावना**—बुद्ध ने जाति प्रथा का विरोध कर उसे निरर्थक सिद्ध किया, जातिप्रथा एवं पुरोहितवाद का विरोध कर धर्म का द्वार सभी के लिए खोल दिया। परिणामस्वरूप निम्न वर्ग का ध्यान उसकी ओर विशेष गया। उनके धर्म में वर्गभेद, ऊँच नीच, जाति पाति, शिक्षित अशिक्षित कुछ न था। परिणामस्वरूप उसका अधिक प्रचार हुआ।

(५) **बौद्ध** धर्म की एक अन्य विशेषता उसकी सहनशीलता तथा उसकी देश-काल-परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तनशीलता में निहित है। वह अधिक लचकदार था वह अधिक व्यावहारिक था वह कट्टर-पन्थी न था। इसीलिए जहाँ भी वह धर्म गया वहीं स्वीकार किया गया और लोकप्रिय हुआ।

(६) **लोकभाषा का प्रयोग**—आज ग्रियर्सन ने बुद्ध को 'लोक नायक' कहा है, यह सर्वथा उचित है, 'ललित विस्तर' के अनुसार बुद्ध अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, किन्तु उन्होंने अपने धर्म का प्रचार जनता-जनार्दन की भाषा में किया था। अतः उनकी भाषा भी बौद्ध धर्म के प्रचार का एक कारण थी। एक बार बुद्ध के ब्राह्मण शिष्यों ने उनसे प्रश्न किया कि आप संस्कृत में उपदेश क्यों नहीं देते। नाना जाति और गोत्र के मनुष्य अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध वचनों को रखकर दूषित करते हैं—'सकाय निरुत्तिया बुद्ध वचनां दूसेंति'। इसकी सूचना देते हुए वे बुद्ध से निवेदन करते हैं कि आप अपने उपदेश संस्कृत में दें—'भन्ते! बुद्ध वचन छन्दसो

आरोपेमाति'। भगवान् इस विचार को तुच्छ अपराध मानते हैं और भी भिक्षुओं को आज्ञा दी है कि वे अपनी अपनी भाषा में बुद्ध वचनों को सीखें?— अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्ध वचनं परियापुणितु। इस प्रकार बुद्ध ने सारी भाषा को अपनाकर अपने उपदेश भाषा में जनता तक पहुँचाए। बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का यह भी एक प्रधान कारण था।

(७) मठों की स्थापना—बुद्ध केवल एक धार्मिक और धर्म प्रचारक संत ही न थे उनमें अपूर्व संगठन की क्षमता भी थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि कोई भी धर्म संगठन के अभाव में चिरस्थायी नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए सभा का संगठन किया, उनके रहने के लिए अनेक मठ स्थापित किये जिनके कारण परस्पर सभाओं का भाव जागृत कर प्रचार हुआ और इन मठों ने धर्म के प्रचार का भी महान् कार्य किया।

(८) राज प्रश्रय—तात्कालिक भारत के राजा बुद्ध को आदर व श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे बिम्बिसार और प्रसेनजित बुद्ध के अनुयायी थे राजा उदयन भी उनकी शिक्षाओं से प्रभावित थे। इनके अतिरिक्त अशोक, शासक मौर्य आदि राजाओं पर उनका प्रभाव था। बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार में तत्कालीन राजाओं से अनेक प्रकार की सहायता ली। राजकीय सहायता से धर्म को बल मिला प्रचार कार्य अच्छी तरह से हुआ, दान से मठ और सभा की स्थापना हुई और बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

इन कारणों के अतिरिक्त प्रचारकों का अपने धर्म के प्रति उत्साह, प्रचार की रोचक शैली प्रबल विरोधी का अभाव तथा भारत की धार्मिक सहिष्णुता आदि कारण बौद्ध धर्म के प्रचार तथा लोकप्रियता के कारण थे।

बौद्ध धर्म के पतन के कारण

बौद्ध धर्म का भारत में प्रचार जिस गति से हुआ उसका पतन भी उसी तेजी से हुआ और भारत में बौद्ध धर्म का प्रायः लोप ही हो गया। इसके भी अनेक कारण हैं—

हिन्दू धर्म का पुनरभ्युदय बौद्ध धर्म की कुरीतियाँ कठोर साधना, बौद्ध धर्म का तन्त्रवाद, कर्मकाण्ड, जादू टोने की ओर आकर्षण भिक्षुओं का नैतिक पतन मद्य मांस का प्रयोग, बौद्ध संघ में भिक्षुणियों का प्रवेश, राज्याश्रय का अभाव और विदेशी आक्रमण आदि अनेक तत्त्व हैं जो इस धर्म के पतन के कारण हैं। जो बौद्ध-धर्म संयम नैतिकता एवं आचार विचार को लेकर लोकप्रिय हुआ था, उसी में घोर विलासिता का साम्राज्य छा गया दूसरी ओर हिन्दू धर्म के कुमारिल तथा शङ्कर जैसे महान् व्यक्तियों का आगमन हुआ जिनके कारण बौद्ध धर्म को अनेक पराजयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक वह भारतवर्ष से सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया।

बौद्ध-धर्म की सांस्कृतिक देन

बौद्ध धर्म का अभ्युदय और उसका विश्वव्यापी प्रचार भारतीय संस्कृति के लिए जीवनदायी सिद्ध हुआ। इस धर्म ने भारतीय जीवन में अहिंसा, दया, परोपकार, सहिष्णुता, नैतिकता, विश्व बंधुत्व, मानव कल्याण आदि सांस्कृतिक आदर्शों के साथ ही जाति प्रथा का विरोध कर मानवतावादी धारणाओं का प्रचार किया। यही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से बौद्ध धर्म ने शक, पार्थियन, कुषाण आदि विदेशी आक्रमणकारियों को भारतीय-संस्कृति में आकण्ठ निमग्न किया। इस धर्म के प्रचार के साथ चीन, जापान, लंका, बर्मा आदि देशों—में भारतीय संस्कृति का प्रचार व प्रसार हुआ। आज के विषम युग में भी बुद्ध के आदर्श नैतिकता, विश्व बंधुत्व, विश्व शान्ति और मानववाद का प्रचार करने की क्षमता रखते हैं।

भारतीय कला को बौद्ध-धर्म की देन

बौद्ध धर्म की महान् देन कला के क्षेत्र में है। भारतीय कला का इतिहास पुरातन होते हुए भी कला के क्षेत्र में प्राप्त उपकरण बौद्ध धर्म की देन है। मूर्तिकला और शिल्पकलाओं के उदय में बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। बौद्ध कलाकारों द्वारा निर्मित कलाकृतियाँ सौंदर्य में निपुणता में बारीकी में अपनी क्षमता नहीं रखती हैं। श्री नाहर ने प्रोफेसर कोल्ह का कथन उद्धृत किया है, जो इस बात का सूचक है कि ये कृतियाँ आज भी अनुपम हैं। 'यह स्पष्ट है कि बौद्ध कला का अनुभव हम सब के लिए एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। सभी क्षेत्रों में—चित्रकला में, स्थापत्य में, वास्तुकला में और कारीगरी में—बौद्ध धर्म ने ऐसी कला कृतियाँ उत्पन्न की हैं जो पाश्चात्य कला की उन्नततम कृतियों के समक्ष रखी जा सकती हैं।'[1]

वस्तुतः बौद्ध कला भारतीय कला से इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। मूर्तिकला की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ बुद्ध की हैं, विहारों, बौद्ध मन्दिरों और स्मारकों के अलंकरण भी बौद्धों की देन हैं। सांची भरहुत, अमरावती के स्तूपों तथा अशोक के शिला-स्तम्भों एवं कार्ली की बौद्ध गुफाओं की गणना भारतीय कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। सांची का स्तूप उसकी वेदिकाएँ कलापूर्ण प्रवेश द्वार विश्व में अनुपम हैं। गया का बौद्ध मन्दिर बौद्ध कालीन कला की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। अजंता, ऐलोरा, बाघ, बारबरा की गुफाओं में बौद्ध कालीन स्थापत्य-कला और

---

[1] प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ० १६२

'*It is clear that the experience of Buddhist art must have a profound experience for us In all fields—in painting sculpture architecture and handicraft—Buddhism has produced works of art that can be placed by the side of the highest creations of Western art*'

चित्रकला के श्रेष्ठतम आदर्श हैं। बौद्ध कला की "गति तथा लयपूर्णता और संवेदनशीलता का पाश्चात्य कला में अभाव है। इसी प्रकार चित्त में भाव और रस उत्पन्न करने की शक्ति भी भारतीय कला में अधिक है। हम्फ्री ने लिखा है कि "ईसा की छठी शताब्दी तक भारत की सबसे उत्तम कला बौद्ध-कला है और जब से चीन तथा जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश के किसी भी युग की सर्व श्रेष्ठ कला बौद्ध है और लंका बर्मा तथा श्याम की समस्त महती कला बौद्ध है, बोरबोदूर का स्तूप भी बौद्ध है और तिब्बत तथा नेपाल की धार्मिक कला भी उसी प्रकार बौद्ध कला है—

'The finest Indian art upto the sixth century A D and the finest of Chinese and Japanese art at any period since the introduction of Buddhism, is Budphist art that all great in Ceylon, Burma and Siam is Buddhist art that the Stupa of Borboder is Buddhist art and that the religious art of Tibet and Nepal is equally Buddhist"

यद्यपि हम्फ्री के इस कथन से सर्वांश में सहमत नहीं हुआ जा सकता, फिर भी बौद्ध-कला ने भारतीय कला को बहुत कुछ दिया है।

साहित्यिक देन

बौद्ध धर्म ने साहित्य के क्षेत्र में भी बहुत बड़ी देन दी है, बौद्ध भिक्षुओं ने महान् साहित्य का सृजन किया जिसने भारतीय आस्था, इतिहास और संस्कृति को स्पष्ट किया तथा प्रेरणा दी। बौद्धों ने धार्मिक साहित्य का पाली भाषा में सृजन किया सम्पूर्ण जातक साहित्य तात्कालिक भारत का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत करता है। इस जातक साहित्य का प्रभाव 'अरेबियनननाइटस पर सहज ही खोजा जा सकता है। भारतीय कथा साहित्य के ऐतिहासिक विकास में इनकी देन को भी स्वीकार किया जा सकता है। थेर गाथा' और थेरी गाथा के गीत भी अपनी मार्मिकता एवं प्रभावोत्पादकता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत में लिखित ललित विस्तर' सद्धम पुण्डरीक, मंजुश्री मूल कल्प', दिव्यावदान बुद्धचरित सौन्दरनन्द' सारिपुत्रप्रकरण' का अपना साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व है। बौद्ध विद्वान् अमरसिंह का अमरकोष' भी इसी काल की रचना है। 'लंकावतार सूत्र' मिलिन्द पन्हो तथा महावस्तु भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

दार्शनिक देन

बौद्ध धर्म ने भारतीय विचारधारा को भी प्रभावित किया। बौद्ध दार्शनिकों ने दर्शन-साहित्य का सृजन किया। इस धर्म के कारण भारतीय दर्शन और तर्क शास्त्र की प्रचुर उन्नति हुई। श्री नाहर इस काल की दार्शनिक उन्नति के सम्बन्ध में कहते

है—"शून्यवाद तथा माध्यमिक दशन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत के ही नही निखिल विश्व के दार्शनिको म गौरवपूर्ण स्थान है। बौद्धो का दार्शनिक साहित्य केवल प्रचुर और समृद्ध ही नही अपितु विचारोत्तेजक भी था। स्वय बौद्ध धम के अन्तगत ही अनेक दार्शनिक-सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। प्रतीत्य समुत्पाद, शून्यवाद योगाचार, सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक विज्ञानवाद और अनित्यवाद आदि कितनी ही दार्शनिक विचारधाराओ का प्रादुर्भाव हो गया। असङ्ग वसुमित्र दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिको की कृतियो का अध्ययन बिना किये हुए कोई भी व्यक्ति भारतीय दशन का आचार्य नही कहा जा सकता। बौद्धो के दार्शनिक विचारो का खण्डन करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए, जिनम भगवान् शकराचाय का नाम अग्रगण्य है।"[1] यदि हम परवर्ती भारतीय साहित्य का अध्ययन करें तो पता चले कि शकर बौद्ध दशन स प्रभावित हैं, बौद्ध दशन क खण्डन के लिए वे प्राय उन्ही की युक्तियो को अपनाते हैं शकर के मायावाद पर नागार्जुन के शून्यवाद का प्रभाव है।

ब्राह्मण-धम पर प्रभाव

बौद्ध धम की लोकप्रियता ने कट्टरपथी और हिंसावादी ब्राह्मण धम को आत्म निरीक्षण के लिए प्रेरित किया क्योकि बौद्ध धम का उदय ब्राह्मण धम की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणो ने उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया, अहिंसा की ओर उनका झुकाव हुआ और उसका महत्त्व समझा। जटिल-कमकाण्ड और पशुहिंसा का लोप हुआ। भक्ति भावना तथा मूर्तिपूजा का उदय और विकास हुआ।

बौद्ध सघों की स्थापना

बौद्धो ने अपने भिक्षुओ को सगठित जीवन व्यतीत करते हुए, लोक कल्याण करने के लिए प्रेरित किया। इसस पूव भारतीय सन्यासी लोक मगल के लिए उपदेश आदि दिया करते थे। वे समाज की नैतिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओ के नियामक तथा आवश्यकता उपस्थित होने पर उनके व्याख्याता भी होते थे तथापि उनकी साधना बहुत कुछ एकाकी ही होती थी।" बुद्ध ने सामूहिक जीवन व्यतीत कर सगठित रूप मे लोक कल्याण की भावना को जन्म दिया।

भारतीय सस्कृति का प्रचार

बौद्ध धम ने एक महान् काय यह भी किया कि उसने भारतीय सस्कृति का विदेशो मे प्रचार किया। बौद्ध धम क अनेक भिक्षु अशोक एव कनिष्क के काल मे भारतीय धम और सस्कृति का सन्देश लकर चीन जापान, मगोलिया, तिब्बत वर्मा, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया तथा लका आदि सुदूर दक्षिण पूर्व एशिया मे गये और

---

[1] प्राचीन भारत का राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास, पृ० १६३ ६४

बौद्ध धम की महान शिक्षाओ का प्रचार किया, बौद्ध धम की स्थापना की। इन देशों के निवासियो के लिए भारत एक पवित्र तीथ बन गया इन सभी देशो के निवासियों ने तथागत के उपदेश और भारतीय सस्कृति के अनेक तत्त्वो को ग्रहण किया। इस प्रकार बौद्ध धम ने अ य देशो को भारतीय सस्कृति का अमृत पान कराया।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धम ने अनुशासन, बौद्धिक स्वत त्रता, नतिक उच्च आदश, लोक साहित्य के विकास मे बहुत बडा काय किया है, जो कि महान् है।

भारतीय दर्शन

ससार म मानव एक उत्कृष्ट प्राणी है, क्योकि वह मननशील और बुद्धिजीवी है। मनुष्य अपने सम्पूण कार्यों को सोच विचार कर सम्पादित करता है, इसलिए मनुष्य श द की निरुक्ति "मत्वा कर्माणिसीव्यति इति मनुष्य" की जाती है। मनुष्य की यही विशेषता दशनशास्त्र के उदय के मूल म है। मानव मन म निरतर विभिन्न विषयो के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती रहती है—मैं क्या हूँ ? ससार क्या है ? इसकी उत्पत्ति क्यो कसे और कब हुई ? मानव मन की इन समस्त जिज्ञासाओ का समाधान ही दशन है। बृहदारण्यकोपनिषद म याज्ञवल्क्य एव मत्रेयी सवाद म आत्म-तत्त्व के सम्ब ध म चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—अयमात्मा द्रष्टव्य श्रोतव्य म तव्य निदिध्यासितव्य "मानव को आत्मा आत्मतत्व का दशन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। इन सभी मे अनुभव का प्राधा य रहता है अनुभव से ही आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। अत हम कह सकते हैं कि अनुभूत ज्ञान ही दशन है—Realized science is philosophy दशनश द की युत्पत्ति दृश्यते इति दशनम—भी की जाती है। आशय यह है कि जिसके द्वारा देखा जाय, विभिन्न जिज्ञासाओ का समाधान किया जाय। दशन श द का एक अथ दृष्टिकोण भी है। विभिन्न भारतीय दशन मात्र मानव की विभिन्न जिज्ञासाओ को समाधान करने के दृष्टिकोण ही हैं, क्योकि परम-तत्त्व अथवा जीवन के विभिन्न तत्त्वा का आत्यतिक रूप से समाधान सम्भव नही है वे तो मात्र दृष्टिकोण होकर ही रह जाते हैं, अथवा भिन्न भिन्न यक्तियो क विभिन्न तत्त्वो के सम्ब ध म वे विभिन्न युक्तियाँ ही होती हैं। इस प्रकार युक्तिपूवक ज्ञान प्राप्त करने का नाम ही दशन है। एक अग्रेज विद्वान् के अनुसार मनुष्य अपन दशन के अनुसार ही जीवन यतीत करता है। इस प्रकार मानव जीवन स सम्बद्ध विभिन्न मा यताए ही दशन नाम स यवहृत की जाती हैं।

भारतीय-दर्शन की विशेषताएँ

भारतीय साहित्य मसवनामुखी विकास को महत्त्व प्राप्त है फलत भारतीय आचाय धम अथ काम और मोक्ष रूप पुरुषाथ चतुष्टय की सिद्धि म ही मानव कत्तव्य की इतिश्री समझते हैं। इसी पुरुषाथ चतुष्टय की साधना म भारतीय मन लगाकर जीवन को सुख मय बनाता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार एहिक एव पारलौकिक सुख की प्राप्ति भारतीय दशन की प्रथम विशेषता है।

भारतीय दर्शन की चरम परिणति मोक्ष की प्राप्ति में होती है इसलिए मानव जीवन उसको प्राप्त करने के लिए शुभकर्म, तप और त्याग करता है। इस तप और त्याग के सम्बन्ध मे भारतीय दर्शन अष्टांग योग का विधान करता है।

भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शनों का ध्येय आध्यात्म परक है उपनिषद् इस दर्शन साहित्य के उपजीव्य ग्रन्थ हैं। उपनिषदों का प्रधान वर्ण्य विषय ब्रह्म एवं आत्मा है। आत्म ज्ञान की जिज्ञासा—आत्मा क्या है? वह नित्य है या अनित्य? वह एक है अथवा अनेक? आत्मा परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? आदि प्रश्न भारतीय दर्शन के मौलिक तत्त्व हैं। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या को सब विद्याओं की प्रतिष्ठा कहा है—"स ब्रह्मविद्या सर्वविद्या प्रतिष्ठा-मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।' भगवान् कृष्ण ने 'आध्यात्मविद्या विद्यानाम' कहकर आध्यात्म विद्या को मुख्य स्थान दिया है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करना है, पाश्चात्य दर्शनों की भांति विद्वानों का मनोविनोद अथवा बौद्धिक व्यायाम या कौतूहल निवृत्ति-कारक ही नहीं है। भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का शाश्वत सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है तथा इन दोनों का भारतीय जीवन से साक्षात् सम्बन्ध है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध तापों से पीड़ित मानव को चिरशान्ति के लिए अर्थात् ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति के लिए ही दर्शनशास्त्र का उदय हुआ है। यह भी स्पष्ट ही है कि भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा दार्शनिक अनुभूतियों के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। भारतीय धर्मप्राण जनता के लिए इसीलिए दर्शन शास्त्र का मूल्य अधिक है।

भारतीय दर्शन मे व्यवहार अर्थात् जीवन को उतना ही महत्त्व प्राप्त है जितना विचार को। अतः यही कहना अधिक समीचीन है कि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का समन्वय इस दर्शन की मौलिक विशेषता है। दोनों के विकास को समान महत्त्व प्राप्त है।

पाश्चात्य विद्वान् भारतीय दर्शन को निराशावादी दर्शन कहते हैं, किन्तु उनका यह आक्षेप एकाङ्गी है। वेदान्त का ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है इस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न निराशावादी नहीं कहे जा सकते हैं। गौतम बुद्ध ने संसार से विरक्त होकर भी संसार के कल्याण के लिए ही प्रयत्न किये थे। भारतीय-दर्शन सर्वथा आशावादी है, इसीलिए वेद में कामना की गई है—

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्
भूयेम शरदः शतम्। भूयसी शरदः शतात्

इसी प्रकार 'आशा ही परम ज्योति निराशा परम तम' कहा गया है। इस प्रकार जिस दर्शन मे सो वर्षों तक सुखो की ओर जीवन को कामना हो, वह कभी निराशावादी नही हो सकता।

भारतीय दशन विद्या और अविद्या पर विस्तार से विचार करता है। यह दर्शन ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करता है। ससार मे जन्म, मरण, लोभ, मोह रूपी ब धनो का एकमात्र कारण अविद्या है, तथा मोक्ष का कारण ज्ञान, अर्थात विद्या है। विद्या के कारण मानव ससार चक्र के भोगो से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अर्थात मानव इसी ज म से ज्ञान की साधना से पूर्णत्व प्राप्त करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मानव को साधना करनी पडती है—'यम नियमासनप्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधि' का अनुष्ठान अपेक्षित होता है। इन साधनो के द्वारा चित्त की वृत्तियो का निरोध कर मानव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञान की प्राप्ति पर ही अविद्या का नाश तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। साख्य योग और न्यायदर्शन विविध 'दु खात्य त' की निवृत्ति अथवा 'दु खत्रयाभिघात' अथवा तदत्यन्त मोक्षोऽपवर्ग के रूप म त्रिविध दु ख की निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। वेदान्ती भ्रम और अज्ञान को दूरकर विवेक ज्ञान के हो जाने पर स्वाभाविक मुक्ति स्वीकार करते हैं। यह विवेक ज्ञान की अवस्था निता त आन दमयी होती है। यहाँ पर ब्रह्म एव जीव की भेद भावना से उत्पन्न होने वाले दुखो की केवल निवृत्ति ही नही होती, अपितु साधक तो अलौकिक आन दानुभूति भी होती है।

भारतीय दर्शन सम वय प्रधान है विचारो धर्मों एव जीवन के व्यवहारा का एकमात्र लक्ष्य वह ब्रह्म ही है—ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक भारतीय धम की प्रवृत्ति उसी ब्रह्म की ओर रहती है इसी ब्रह्म की भावना म ही अनेकत्व म एकत्व के दर्शन किये जाते हैं। यही भारतीय दर्शन का उद्देश्य है। उदाहरण द्वारा हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस प्रकार विभिन्न नाम वाली नदियाँ अन्तत समुद्र म जाकर मिलकर एक हो जाती हैं—'स यथा सर्वासामपा समुद्रमे कायनम' उसी प्रकार भारतीय दर्शन भी सम वय प्रधान है।

भारतीय दर्शन परलोक और पुनज म पर विश्वास करता है। भारतीय दशनो म चार्वाक दशन क अतिरिक्त सभी दशन पुनज म और परलोक पर आस्था और विश्वास व्यक्त करते हैं। इसलिए यहाँ के मनुष्य तथा दशन नतिकता का विशेष ध्यान रखत है। इस नतिकता के मूल म यह आस्था निहित है कि इस सष्टि के मूल म एक शक्ति अपना काय सचालन करती रहती है। वह मानव क शुभ-अशुभ, पाप पुण्य सभी प्रकार के कर्मों की व्यवस्था करती है। उसी को ऋग्वद म ऋत की सना दी गई है ऋत इस ब्रह्माण्ड म व्याप्त है वह प्रत्यक तत्व सचालित करता रहता है। इसी ऋत के आधार पर मानव अपने किय हुए कर्मों के अनुसार फल भी भोगता है, मानव

अपना स्वय भाग्य विधाता है 'अवश्यमेव भोक्त य कृत शुभाशुभम्'। इसी को अपूव, अदृष्ट, प्रारब्ध आदि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। विश्व मे आकर मानव अपने किये कर्मों का भोग भोगता है और आत्म-सयमादि की शिक्षा प्राप्त कर शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है।

भारतीय दशन म व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रमाणो के महत्व को स्पष्टत स्वीकार किया गया है। भौतिकवादी चारवाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को, बौद्ध, जन, और वशेषिक प्रत्यक्ष एव अनुमान को, सांख्य प्रत्याक्षानुमान तथा शब्द प्रमाण को, न्याय, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान प्रमाण को, मीमासा एव वेदान्त प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव को भी स्वीकार करते हैं।

भारतीय दशन की धारा ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त नासदीयसूक्त, हिरण्यगभ आदि सूक्तो से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। यह धारा अथव एव यजु के मन्त्रो से लेकर औपनिषदिक काल तक कालक्रमेण पल्लवित होती हुई, दर्शन शास्त्र के रूप म प्रतिष्ठित हुई है। वस्तुत ये दार्शनिक विचार ही व आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जहाँ से ज्ञान की निमल गङ्गा भारतीय ही नही, विश्व के दार्शनिको के हृदयो को पावन करती हुई ऐहिकामुष्मिक मगल की साधना करती हुई अजस्र रूप से प्रवाहित हो रही है।

भारतीय दशन अपनी विवेचनात्मकता के लिए प्रसिद्ध है परम्परा से प्रसिद्ध ऐतिहासिक जनश्रुतियाँ इसम व्याघात नही करती हैं। सभी विचारो को अपनी तार्किक बुद्धि की कसौटी पर परीक्षित करही मा यता दी जाती है। भारतेतर देशो की भाँति धम दशन पर हावी नही हुआ इसका कारण भी स्पष्ट है क्योकि भारतीय तत्व-ज्ञान समीक्षात्मक है। ईश्वर जसे तत्व को भी यहाँ के सभी दाशनिको ने अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। भारतीय दशन मे जो सम्मान तथा महत्व चारवाक दर्शन को प्राप्त है, वही नयायिक को। निरीश्वरवादी सांख्य ब्रह्मका प्रतिपादन करने वाले वेदान्त क समान ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार समीक्षा और विवेचन तथा तक भारतीय दशन की कसौटी है।

अनेक विदेशी विद्वान भारतीय तत्वज्ञान से प्रभावित हैं। पालडासन का कथन है कि 'उपनिषदो म जो दार्शनिक कल्पना है वह भारत म तो अद्वितीय है ही, सम्भवत सम्पूर्ण विश्व म अतुलनीय है।" मकडानल मानवीय चिन्तन के इतिहास मे सवप्रथम वृहदारण्यकोपनिषद म ही ब्रह्म अथवा पूणतत्व को ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यजना हुई है, कहते हैं। फेडरिक श्लेगेल "उपनिषदो के सामने यूरोपीय तत्वज्ञान प्रचण्ड मार्तण्ड टिमटिमाता दीपक' मानते हैं। शापनहावर न लिखा है कि—

They present the fruit of the highest human knowledge"

काट का कथन है कि 'हिन्दू रोम और ग्रीक के दार्शनिकों से बरसों आगे बढ़े हुए थे, शिष्य नहीं। D N Field का कहना है कि पथागोरस आदि ने ज्ञान प्राप्ति के लिए भारत की यात्रा की थी बाद में ये ग्रीक के प्रसिद्ध दार्शनिक माने गये। सुकरात और प्लेटो का आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त प्राच्य दर्शन की ही देन है।

इस प्रकार अनेक दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन के अनेक पक्षों की प्रशंसा की है। वस्तुत भारतीय दर्शन की अपनी मौलिक विशेषतायें हैं।

आस्तिक-नास्तिक दर्शन

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता उसकी सहिष्णुता एवं समन्वयवादिता में निहित है। इस विशेषता का प्रभाव भारतीय जन जीवन एवं साहित्य, दोनों पर ही प्रतिबिम्बित होता है। यह कहना हमें समीचीन प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों की एक संस्कृति है और वैदिक धर्म अनेक धर्मों का एक धर्म है। भारतीय विचारधारा सदा ही अनेकता में एकता एवं भेदों में अभेद की स्थापना की पोषक रही है। यहां पर विचारों में भिन्नता होने पर भी एक विचारधारा के अनुयायी दूसरी विचारधारा के ऋषियों एवं प्रवर्तकों का उतना ही सम्मान करते हैं जितना अपने धर्म के प्रवर्तक का। ईश्वरवादियों की ही भाँति महावीर स्वामी के अनुयायी जन आज भी हिन्दू समाज के अभिन्न अङ्ग हैं और महावीर स्वामी उतने ही पूज्य हैं उतने ही आदर के पात्र हैं जितने कि विष्णु एवं शिव। भगवान् बुद्ध वेद एवं ईश्वर के विरोधी विचार वाले होते हुए भी राम एवं कृष्ण के समान ही भारतीय देवतावाद में भगवान् के अवतार माने जाते हैं। भारतीय विचारधारा में किसी भी धर्म के प्रति अवज्ञा एवं दुर्भावना की गन्ध नहीं प्राप्त होती है। भारतीय दर्शन एवं साहित्य इसी प्रकार की विचारधाराओं का एक समन्वित कोष है। साहित्य में जन जीवन की भावनाएं प्रतिबिम्बित होती हैं। भारतीय दर्शन साहित्य विभिन्न विचारधाराओं का समष्टि संग्रह है। आलोचकों ने भारतीय दर्शन की विचारधाराओं को दो रूपों में विभक्त किया है—

(१) आस्तिक दर्शन

(२) नास्तिक दर्शन।

जन सामान्य आस्तिक शब्द का अर्थ ईश्वरवादी तथा नास्तिक शब्द का अर्थ अनीश्वरवादी करता है। किन्तु प्राचीन काल से दार्शनिक क्षेत्र में ये दोनों ही शब्द भिन्नार्थ द्योतक माने जाते रहे हैं। 'आस्तिक' शब्द वेद के अनुयायी एवं नास्तिक शब्द वेद के विरोधी के लिए भी प्रयुक्त होता है। यही नहीं, इन दोनों ही शब्दों से एक तीसरा अर्थ भी लिया जाता है वह है परलोक में विश्वास रखने वाला आस्तिक तथा परलोक में विश्वास न रखने वाला नास्तिक। श्री राधाप्रसाद शास्त्री ने प्राच्य दर्शन में आस्तिक नास्तिक दर्शनों के विभाजन के आधार को स्पष्ट करते हुए विभिन्न दर्शनों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

नास्ति वदोदिता लोक इति येषा मति स्थिरा ।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषान्ते आस्तिका ।
अवदिक प्रमाणाना सिद्धान्ताना प्रदशका ।
चार्वाकाद्या षडविधास्ते ख्याता लाकेषु नास्तिका ।
वेद प्रमाणकानीह प्रोचुर्ये दशनानि षट ।
न्यायवशेषिकादीनि स्मृतास्ते आस्तिकाभिधा ।

किन्तु आस्तिक' शब्द का अथ यदि हम परलोक म विश्वास रखने वाला तथा नास्तिक श द का परलोक मे विश्वास न रखने वाला करें तो शास्त्रीजी का उपयु क्त विभाजन समीचीन प्रतीत नही होता है ।

अत हम आस्तिक नास्तिक दशनविमश के लिए तीन आधारो का लेकर परीक्षण करेंगे—

१—क्या ईश्वर इस विभाजन का आधार हो सकता है ?

२—क्या परलोकवाद इस विभाजन का आधार हो सकता है ?

३—क्या वेद को आधार बनाकर यह विभाजन सम्भव है ?

आस्तिक एव नास्तिक दशनो के विचार क लिए हम उपयु क्त तीना ही माप दण्डो के माध्यम से परीक्षण करेंगे—

क्या ईश्वर इस विभाजन का आधार हो सकता है—सामान्यत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाले के लिए 'आस्तिक' शब्द का प्रयोग होता है तथा ईश्वर की सत्ता का निषेध करने वाले के लिए नास्तिक' शब्द का । यदि इसी दृष्टिकोण स इन दशनो पर विचार किया जाय तो क्या दशनो के विभाजन का उचित समाधान हो सकता है ?

मीमासा दशन म कम को प्रधानता देकर फल के लिए अपूव की कल्पना को प्रमाण मानकर ईश्वर की सत्ता को ही (प्राचीन मीमासक) स्वीकार नहा किया गया है, अपूव की प्रामाणिकता मे तन्त्रवार्तिक का कथन भी दशनीय है—

यागादेव फल तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्ध्यति ।
सूक्ष्म शक्त्यात्मक वा तत् फलमेवोपजायते ।

तो दूसरी ओर प्रभाकर महोदय ईश्वर की आनुमानिक सिद्धि का निषध करते हैं, उसकी सत्ता का नहा—

एवञ्चानुमानिकत्वमीश्वरस्यनिराकृत नेश्वरो निराकृत ।

इतना ही नही साख्य-दशन प्रकृति एव पुरुष से सृष्टि का प्रारम्भ मानता है । अत उनके यहाँ सृष्टि के लिए ईश्वर की सत्ता का प्रश्न नहीं उठता है । साख्य सूत्रकार ने तो स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है, उसम सवथा प्रमाणो का अभाव है, उसके विषय म अनुमान भी नही किया जा सकता है—

ईश्वराऽसिद्धे । १/६२
प्रमाणाभावान्नतत्सिद्धि । ५/१०
सम्बन्धाभावान्नानुमानम् । ५/११

इस प्रकार ईश्वर को विभाजन का आधार बनाकर हम जैन, बौद्ध, तथा चार्वाक इन ईश्वर विरोधी दर्शनों को तो नास्तिक दर्शन शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं किन्तु मीमांसा एवं सांख्य को जो कि वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं, नास्तिक दर्शन में परिगणित करना नितान्त अनुचित होगा तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा कृत आस्तिक नास्तिक दर्शन विभाजन का आधार अतिव्याप्ति दोष-ग्रस्त ही होगा फलतः यह 'ईश्वरवादी सिद्धान्त' इस विभाजन का आधार नहीं बन सकता है।

क्या परलोकवाद इस विभाजन का आधार हो सकता है ? पाणिनि के 'अस्ति नास्तिदिष्टं मतिः (४/४/६०) सूत्र की व्याख्या में भट्टोजी दीक्षित ने आस्तिक शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

'अस्ति परलोक मतिर्यस्य स आस्तिकः' अर्थात परलोक की सत्ता को मानने वाले अथवा परलोक में विश्वास रखकर आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले व्यक्ति आस्तिक हैं तथा—

'नास्ति परलोक मतिर्यस्य स नास्तिकः' अर्थात परलोक की सत्ता पर विश्वास न रखकर केवल इसी लोक को सर्वस्व मानने वाले व्यक्ति नास्तिक हैं। इस व्युत्पत्ति सम्यक् अर्थ की दृष्टि से जैन बौद्ध तथा न्याय वैशेषिक, सांख्ययोग, वेदान्त एवं मीमांसा आदि दर्शन, आस्तिक दर्शन स्वीकार किये जा सकते हैं, क्योंकि इन सभी दर्शनों की मान्यता में परलोक की सत्ता सिद्ध है। इस विभाजन के अनुसार केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन कहा जा सकता है।

किन्तु इस विभाजन को स्वीकार करने पर एक प्रश्न स्वभावतः उठता है कि प्राचीन आचार्यों ने जैन एवं बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन में परिगणित क्यों किया है ? इस प्रकार आस्तिक नास्तिक दर्शन विभाग का यह आधार भी दोषग्रस्त है। अतः अब तीसरे आधार के द्वारा समाधान करेंगे।

क्या वेद के प्रमाण के आधार पर इस शङ्का का समाधान सम्भव है ? वेद का अर्थ है—ज्ञान (विद् ज्ञाने)। यह ज्ञान मन्त्र ब्राह्मणात्मक है—'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनाम धेयम' जो दर्शन वेद की प्रामाणिकता पर विश्वास करे, वह आस्तिक दर्शन है तथा वेद विरोधी एवं उसकी प्रामाणिकता को स्वीकार न करने वाला दर्शन नास्तिक है। मनु ने कहा भी है—'नास्तिको वेद निन्दकः' इस वचन के अनुसार चार्वाक, बौद्ध जैन आदि दर्शन वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं अतः ये नास्तिक दर्शन हैं।

किन्तु इस समाधान को स्वीकार करने पर एक अन्य प्रश्न सांख्यदर्शन के विषय में उपस्थित होता है। क्योंकि सांख्यदर्शन की दूसरी कारिका में लिखा है—,

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् ॥

इस कारिका में वैदिक उपायों को अविशुद्धि, क्षय और अतिशयात्मक दोषों से युक्त होने के कारण लौकिक उपायों के समान मानकर सांख्यदर्शन प्रतिपादित ज्ञान-मार्ग को श्रेयस्कर कहा गया है।

इस सांख्यकारिका के अनुसार सांख्यदर्शन वेद विरोधी सिद्ध होता है, फिर इस दर्शन की गणना आस्तिक दर्शनों में होती है, ऐसा क्यों ?

समाधान

(अ) आनुश्रविक शब्द यहाँ पर सामान्यतः गृहीत होने पर भी वैदिक कर्म-कलाप की प्रामाणिकता का द्योतक है अन्यथा सांख्य-सम्मत विवेक ज्ञान भी आनुश्रविक होने से लौकिक उपाय के समान ही होगा।

(ब) वैदिक मार्ग अविशुद्धि क्षय अतिशय युक्त है—सांख्य वेद की प्रामाणिकता पर आस्था रखता है, वह वेद के क्रियाकलाप अर्थात् कर्मकाण्ड के प्रतिपादनार्थ ही इस कारिका को उद्धृत करता है। लेखक का आशय है कि वैदिक कर्मकाण्ड वेद विहित तथा अज्ञात दुःखनाशक होने के कारण उसकी अपेक्षा एकान्तिकात्यन्तिक दुःखनाशक सांख्य का ज्ञान मार्ग श्रेयस्कर है।

(स) इसी प्रकार तद्विपरीतः श्रेयान् यहाँ पर भी तत् शब्द में ध्वनि है। वह वेद की प्रामाणिकता का ही सिद्ध करती है, क्योंकि वेद से विपरीत मार्ग श्रेयस्कर है। सांख्य दर्शन की मान्यता से वैदिक मार्ग की अपेक्षा सांख्य सम्मत विवेक ज्ञान-पथ श्रेयस्कर है। ठीक है, किन्तु इससे वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है।

(१) यही नहीं सांख्य-दर्शन ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी इन दो रूपों में विभक्त है जिनमें कपिल एवं विज्ञानभिक्षु सेश्वर सांख्य के प्रतिपादक हैं तथा ईश्वरकृष्ण निरीश्वर सांख्य के।

(२) कपिल मुनि ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है।

(३) महाभारत, भगवद्गीता, चरक संहिता, भागवत पुराण में सेश्वर सांख्य का प्रतिपादन मिलता है।

(४) सांख्य श्रुतिमूलक है अतः महाभारत में सांख्यानुयायियों का यथाश्रुति निदर्शिनः ब्रह्मणास्तत्त्वदर्शिनः कहा गया है।

(५) कुछ विद्वानों ने सांख्य एवं योग एक व्यक्ति कृत माना है तथा गीता में भी लिखा है—

'एकं सांख्यञ्चयोगञ्च यः पश्यति स पण्डितः ।"

यदि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय तो 'योग' स्पष्ट ही ईश्वर प्रतिपादक है, उसने ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेषईश्वर"

किन्तु सांख्य एवं योग एक ही ऋषि की देन हैं यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं है।

(६) सांख्यकारिका' के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में श्वेताश्वतरोपनिषद् के "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां" मन्त्र को कुछ परिवर्तन के साथ मङ्गलाचरण में लिखकर वेद उपनिषद् की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। टीकाकार वाचस्पति मिश्र का मङ्गलाचरण इस प्रकार है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां सृजमानां नमामः ।
अजायता जुषमाणा भजन्त जहत्यनां भुक्तभोगां नुमस्ताम् ॥

(७) वस्तुस्थिति तो यह है कि सांख्य दर्शन का आदि-स्रोत उपनिषद् ही हैं, क्योंकि सांख्यदर्शन के अनेक तत्त्वों का स्पष्टीकरण श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही प्राप्त होता है।

अतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि सांख्यदर्शन का स्रोत ही उपनिषद् साहित्य है, उसमें से भी श्वेताश्वतर बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य आदि उपनिषदों में प्रकृति पुरुष एवं सत्कार्यवाद के तत्त्व वर्णित हैं। श्वेताश्वतर तथा कठोपनिषद् में सांख्य के बुद्धि अव्यक्त पुरुष इत्यादि न केवल उल्लिखित ही हैं अपितु उनकी आनुपूर्वी सूक्ष्मता भी निर्दिष्ट है।

इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है उसकी वेद एवं उपनिषद् पर आस्था ही नहीं है अपितु उसकी पृष्ठभूमि में भी वेद एवं उपनिषद् हैं। छान्दोग्योपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् एवं कठोपनिषद् तो सांख्यदर्शन के उपजीव्य ग्रन्थ हैं। फिर जिस दर्शन को वैदिक साहित्य का वरदहस्त प्राप्त है, उसे नास्तिक दर्शन में परिगणित करना कहाँ तक उचित है, इसका निर्णय स्वयं पाठक करें।

इस प्रकार वेदों को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक जैन और बौद्ध दर्शन ही नास्तिक दर्शन हैं, शेष न्यायवैशेषिक सांख्य और योग मीमांसा और वेदान्त आस्तिक दर्शन हैं।

नास्तिक दर्शन

अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन प्राचीनतम है, इसकी प्राचीनता की कहानी महाभारत काल से भी पूर्ववर्ती है। यही लोक आत्मा का क्रीडा स्थल है, इसके बाद परलोक नामक कोई वस्तु नहीं है, यह शरीर ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है। अतएव जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तब तक सुख प्राप्ति की ही चिन्ता करनी

चाहिए । धम कोई पुरुषाथ नही है । मानव जीवन के लिए काम ही पुरुषाथ है, आदि चार्वाक सिद्धान्तो का प्रचार इस देश मे सुदूर प्राचीन काल से चला आ रहा है ।" इस धम का उदय श्रौतकालीन धार्मिक अनुष्ठानो की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ होगा । यह इसकी विचारधारा तथा सिद्धा तो स सहज ही अनुमेय है ।

इस दशन का प्राचीन नाम 'लोकायत' है इस दशन के मानने वाले बुद्धिवाद पर आस्था रखते थे परपक्ष खण्डन उनका सिद्धा त था अपन पक्ष की पुष्टि से उन्हे कोई अथ न था अत इसके लिए प्राचीन काल मे 'वतण्डिक' नाम भी व्यवहृत होने लगा था । "सामा य निर्विचार लोगो की तरह आचरण करने के कारण इन लोगो की लोकायत' या लोकायतिक' सज्ञा पडी थी । कुछ लोग बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित होन के कारण इन्हे इस नाम से पुकारते हैं । खाओ, (चव भोजन करना) पीओ, मौज उडाओ—इस सिद्धा त के कारण चार्वाक सज्ञा भी मानी जाती है । पुण्य पापादिक परोक्ष वस्तुजात को चवण कर जाने से (चट कर जाने से) इन दाशनिको का नाम चार्वाक पडा यह गुणरत्न का कहना है ।"[1] हो सकता है, इनका यह नाम 'चारु वाक' धुआधार भाषण करने के कारण पडा हो । इस दशन का एक अ य नाम बाहस्पत्य दशन' भी है, क्योकि भारतीय दशन के इतिहास म इस दशन के उपदेष्टा आचाय बृहस्पति मान जाते हैं ।

यह दशन सवथा भौतिकवादी और प्रत्यक्ष प्रमाण म विश्वास करने वाला है । इस मत म ईश्वर परलोक आत्मा स्वग और नरक का कोई अस्तित्व नहीं है । इनका मुख्य आदश है खाओ पीओ और मौज उडाओ जब तक जिओ, सुख से जियो, ऋण लेकर भी घी पीओ क्योकि शरीर के भस्म हो जाने पर जीव पुन ससार म नही आता है —

'यावज्जीवेत्सुख जीवत ऋण कृत्वा घृतपिबेत । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनकुत आध्यात्मवा" पाप पुण्य सवथा मिथ्या एव ढकोसला है विश्व म नत्र स दृष्टिगोचर भूमि जल, अग्नि और वायु य चार तत्त्व ही सत्य हैं, इस शरीर मे चारो भूतो क सयोग स जीवात्मा उत्पन्न होकर उ ही के वियोग क साथ ही नष्ट हो जाता है क्योकि मृत्यु क पश्चात् कोई भी जीव प्रत्यक्ष नही होता है, इसीलिए हम प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणो को मानत ही नही—

तच्चतय विशिष्ट देह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात ।[2] चारवाको क जीवन का मुख्य उद्देश्य द्रव्य प्राप्ति तथा भोग है । इनक मत म वदो के निर्माता धूत भाण्ड और निशाचर थ । इस दशन का मूलग्रथ 'बाहस्पत्य सूत्र" आज उपलब्ध नही है । कि तु सवदशन सग्रह' के प्रथम अध्याय मे इनके सिद्धा त दिये

[1] भारतीय दशन, पृ० १२१

[2] सत्याथ प्रकाश, पृ० २८६ ५७

हुए हैं। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के द्वितीय अङ्क में चार्वाक सिद्धान्तों को 'लोकायत' कहा गया है।

नास्तिक दर्शनों में जैन एवं बौद्ध दो दर्शन और भी परिगणित किये जाते हैं, इनके सिद्धान्तों का 'भारतीय धर्म' विवेचन प्रसङ्ग में विस्तार से विवेचन किया गया है।

आस्तिक-दर्शन

न्याय, वैशेषिक सांख्य, योग पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) इन आस्तिक दर्शनों का इतिहास प्राचीन है। इन दर्शनों के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का मत है कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० प्रथम शताब्दी तक इन दर्शनों ने व्यवस्थित रूप धारण कर लिया था।

न्याय-दर्शन

न्याय दर्शन का विषय 'न्याय' का विवेचन तथा प्रतिपादन है। न्याय का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा (प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः—वात्स्यायन न्यायभाष्य १/१/१)। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से यह दर्शन न्यायदर्शन के नाम से पुकारा जाता है।

न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि माने जाते हैं। गौतम का समय ई० पू० तृतीय शतक है। किन्तु पाँचवीं शताब्दी से इस दर्शन का विशेष प्रचार हुआ है। न्याय के विकास की दो धारायें हैं। प्रथम धारा तो सूत्रकार गौतम से आविर्भूत है। इसमें प्रमाण, प्रमेय-संशय प्रयोजन आदि षोडश पदार्थों का विवेचन करने के कारण इसे पदार्थ मीमांसात्मक अथवा प्राचीन न्याय कहते हैं और दूसरी प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान शब्द प्रमाण का सूक्ष्म विवेचन करने के कारण नव्य न्याय-धारा या प्रमाण मीमांसात्मक धारा कहलाती है।

न्यायदर्शन में सोलह तत्त्व हैं जो निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु हैं इन्हीं के द्वारा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। वे निम्न हैं—प्रमाण प्रमेय संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय वाद जल्प वितण्डा, हेत्वाभास छल जाति तथा निग्रहस्थान। इन सोलह तत्त्वों में दो प्रथम प्रधान हैं अन्य गौण। प्रमाण ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं। यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं प्रमाणम् अथवा यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं— प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्। ये चार हैं—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान तथा शब्द। इन्द्रियों तथा उनके अर्थ के संयोग से जो ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष भी सामान्यतया निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है। किसी लिङ्ग (हेतु) के ज्ञान से उस लिङ्ग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना 'अनुमान' कहलाता है पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूम शिखा को देखकर उस पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना कि यह

पर्वत वह्निमान् है, यह अनुमान प्रमाण का विषय है। न्याय सूत्रों में अनुमान तीन प्रकार के हैं—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। अनुमान का एक अन्य भेद स्वार्थानुमान और परार्थानुमान नामक भी है। अनुमान का तीसरा एक विभाजन केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वय व्यतिरेकी भी है। नैयायिकों का तीसरा प्रमाण उपमान है। पूर्व अनुभूत अथवा दृष्ट वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नयी वस्तु का ज्ञान होता है, उसे 'उपमान' कहते हैं। चौथा प्रमाण शब्द है—आप्तोपदेश शब्द (न्या० सू० १/१/६) किसी आप्त-पुरुष के उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं।

न्याय दर्शन का दूसरा विवेच्य तत्त्व 'प्रमेय' है, प्रमेय का ज्ञान मुक्ति का साधक है। प्रमेय बारह हैं आत्मा—सब वस्तुओं का द्रष्टा, भोक्ता एवं ज्ञाता। शरीर—भोगों का आयतन या आधार होता है। इन्द्रिय—जिनके द्वारा आत्मा बाह्य पदार्थों का भोग करता है। अर्थ—भोग किए जाने वाली सामग्री। बुद्धि—भोग, ज्ञान। मन—सुख-दुख आदि भोगों का साधनभूत एक अन्तर इन्द्रिय। प्रवृत्ति—मन, वचन तथा शरीर का व्यापार। दोष—जिसके कारण अच्छे बुरे कर्मों में प्रवृत्ति होती है। प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म। फल—सुख दुख का अनुभव। दुख—इच्छा के विघात से उत्पन्न वेदना। अपवर्ग—दुख से आत्यंतिक निवृत्ति। तीसरा पदार्थ है, संशय—किसी वस्तु विशेष के ज्ञान अथवा प्राप्ति के प्रति शंका ही संशय होता है। किसी फल की प्राप्ति के लिए जो कार्य किया जाता है वह उसका प्रयोजन होता है। दृष्टान्त—विवाद रहित तथ्य। सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र अधिकरण तथा अभ्युपगम। अवयव—किसी ज्ञान के अङ्ग पाँच होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु दृष्टान्त, उपनय और निगमन यही अवयव हैं। तर्क—संशय का उपरम होना ही तर्क कहलाता है। संदेह और तर्क के अनन्तर जो निश्चय होता है वही निर्णय कहलाता है। पक्ष प्रति पक्ष परिग्रह से जो प्रश्नोत्तर होते हैं उसे वाद कहते हैं। जल्प में वादी प्रतिवादी केवल विजय की इच्छा से छल, जाति और निग्रह आदि को अपनाता है, वह जल्प है। पक्ष प्रतिपक्ष साधन विहीन तर्क ही वितण्डा है। हेत्वाभास में हेतु का आभासमात्र ही होता है। यह पाँच प्रकार का होता है—असिद्ध विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरण सम। छल—वक्ता के अभिप्राय को तोड़ मरोड़कर दूसरा अर्थ लगाना। यह तीन प्रकार का होता है—वाक् छल, सामान्य छल तथा उपचार छल। जाति में अदूषण का दूषण के समान आभास होता है। इसके चौबीस भेद हैं। निग्रह स्थान में विपक्ष का निग्रह किया जाता है। इन पदार्थों की देन और इनकी यथार्थ मीमांसा न्यायदर्शन की दार्शनिक जगत् को बहुत बड़ी देन है। न्याय की दार्शनिक दृष्टि बहुत सबलित यथार्थवाद की है। इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा, ईश्वर आदि ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण जगत् स्थित है। हमारी इन्द्रियों से जो जगत् दृष्टिगत होता है वह वस्तुतः सत् है। परमाणु इसका समवायी कारण है तथा ईश्वर निमित्त कारण है। ईश्वर अनुमान गम्य है, उसकी इच्छा होने पर

एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर द्व यणुक की सृष्टि करता है तथा तीन द्व यणुकों के परस्पर योग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार आकाशादि क्रम से पञ्चतत्त्व उत्पन्न होते हैं। याय मत म मुक्ति म सुख तथा दुख उभय मनो वृत्तियो का नाश होने पर मन साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। सुख के साथ राग का सम्ब ध रहता है तथा यही राग ब धन का कारण बनता है। अत मोक्ष म न तो दुख विद्यमान रहता है और न सुख। जीवन मुक्ति को अपर नि श्रेयस तथा विदेह मुक्ति को पर नि श्रेयस कहते है। मिथ्या ज्ञान क कारण ही दोष, प्रवृत्ति, ज म तथा दु ख की उत्पत्ति होती है। यह मिथ्या ज्ञान तत्त्वज्ञान से नष्ट होता है। यम नियम, ध्यान धारण आदि के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना तथा सुख दुख स रहित चित्त की साम्यावस्था को प्राप्त करना याय का चरम लक्ष्य है।

वैशेषिक

यह दशन प्राचीन दशनो म से एक है। कणादसूत्र गौतमसूत्रों से अधिक प्राचीन है। कणादसूत्र विक्रम स तीन सौ वष पूव बन चुके थे किन्तु इनका प्रचार व प्रसार बाद म हुआ। वैशेषिको पर बौद्धों की विशेष आस्था थी। प्राचीन वैशेषिक प्रारम्भ म केवल दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान ही मानते थे, इसीलिए ये अर्ध बौद्ध माने जाते थे। साहित्य की दृष्टि से याय दशन' से इसकी साहित्य सम्पति कम है।

वैशेषिक के प्रधान सिद्धा त 'याय-दशन क समान ही हैं अत इस दशन को समान-त त्र कहा जाता है। "याय का प्रधान लक्ष्य अ तजगत् तथा ज्ञान की मीमासा करना है तथा वैशेषिक का मुख्य लक्ष्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करना है।

वैशेषिक दशन मे द्र य गुण, कम सामा य, विशेष, समवाय तथा अभाव नामक सात पदाथ हैं। द्र य भू, जल तेज वायु आकाश काल, दिशा, आत्मा तथा मन नौ हैं। गुण चौबीस हैं, जसे—स्पश, रूप, रस, ग ध शब्द है सख्या, विभाग, सयोग, वियोग, परिणाम पथक्त्व परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुखेच्छा, दु खेच्छा, धम, अधम प्रयत्न सस्कार, द्वेष स्नेह, गुरुत्व द्रवत्व तथा वेग। कम के पाँच—उत्क्षेप, अवक्षेप अवकुञ्चनक, प्रसारण तथा गमन भेद हैं। सामा य दो प्रकार का—पर तथा अपर होता है। विशेष द्वारा वस्तुओं के पारस्परिक सम्ब ध की जानकारी होती है। "आधार-आधेय भूत अयुत सिद्धो का जो सम्ब ध रहता है उसे 'समवाय कहत है जसे पट म त तु। इन षड्भाव पदार्थों की भाति 'अभाव' नामक द्रव्य भी वास्तव, यथाथ, तथा महत्त्वपूण पदाथ है। इन पदार्थों के ज्ञान हो जाने पर तथा आत्मा के स्वरूप परिचय से ही मोक्षोपलब्धि सम्भव है। इस दशन म प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा शब्द य चार प्रमाण हैं।

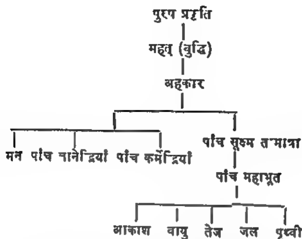
परमाणवाद वैशेषिक-दशन की विशेषता है। उसका उदय औपनिषदिक है, जन तथा आजीवक आदि न भी इसका सकेत किया है। याय दशन म भी परमाणु वाद का उल्लख किया गया है। कि तु इसका विस्तृत विवचन वैशेषिक-दशन की

विशेषता है। परमाणुवाद से इनका आशय यह है कि समस्त भौतिक जगत् परमाणुओं द्वारा निर्मित होता है। परमाणु जगत् के उपादान कारण माने जाते है, परमाणु कभी पृथक रहते हैं और कभी एकत्र। यह काय अनन्त काल स चला आ रहा है। अग्नि तथा पृथ्वी क परमाणुओ से ईश्वर के ध्यान मात्र से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है। फिर ईश्वर जगत् व ब्रह्मा को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार सम्पूण सृष्टि उत्पन्न हो जाती है।

तुलनात्मक दृष्टि से न्याय तथा वशेषिक दशन पर विचार करने पर हम देखते हैं कि दोनो ही दशनो मे इश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एव विनाश का कारण माना गया है, ये दशन अनेक तत्ववादी हैं क्योकि इनके यहा भौतिक परमाणु काल दिग् आत्मा आदि सभी की स्वतन्त्र सत्ता है। इन दशनो के अनुसार आत्मा, शरीर और मन से भिन्न है। वह नित्य तथा विभु (सवव्यापक) है। जन और साख्य दशन की तरह इन दशनो म भी आत्मा अनेक हैं। 'यहाँ चतन्य को आत्मा का तत्व या उसका नित्य लक्षण नहीं माना गया है। मन के सम्बन्ध स ही आत्मा को चैतन्य गुण और ज्ञान प्राप्त होते है। मन एक सूक्ष्म, अविभाज्य तथा नित्यतत्व है जो अणु के रूप मे रहता है। यह आत्मा के लिए ज्ञान और सुख दु ख की अनुभूति का साधन है। शरीर अन्य भौतिक पदार्थों की भाति परमाणुओ द्वारा निर्मित होता है। न्याय तथा वशेषिक दोनो के अनुसार आत्मा का मन और शरीर के साथ सयुक्त होना ही दु ख का कारण है। मिथ्याज्ञान तथा उससे उत्पन्न राग द्वेष और मोह से प्रेरित हो आत्मा अच्छे और बुरे कर्मों को करता है और कर्मों के प्रभाव से दु ख तथा आवागमन के बन्धन म पड जाता है। अपवग या मोक्षतत्व ज्ञान अर्थात् सत्य के सम्यक ज्ञान द्वारा मिल सकता है। मोक्ष मे दु खो और कष्टो से छुटकारा मिल जाता है।' यह आनन्द की स्थिति न होकर दु खो से मुक्त होने की अवस्था है। यही जीवन का लक्ष्य या नि श्रेयस है।

साख्य-दर्शन

इस दशन के प्रणेता कपिल मुनि माने जाते हैं। साख्य पूव वर्णित दोनो ही दशनो से अधिक प्राचीन है। इस दशन क मूल सूत्र कठ, छान्दोग्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषदो म उपलब्ध होते हैं। यह दशन द्वैतवादी है, अत अभेदवादी वेदान्त दशन का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी भी रहा है। साख्य का अथ है—सम्यक ख्याति या यथाथ ज्ञान। इस दशन म पच्चीस तत्व हैं—जिनमे प्रकृति और पुरुष मुख्य है। इन दोनों का सम्बन्ध पगु और अन्धे का है। प्रकृति अन्धी है तथा पुरुष लगडा। जब तक दोनो का सम्बन्ध बना रहता है, तब तक ससार का नाटक चलता रहता है। पुरुष को कवल्य ज्ञान के होते ही यह नाटक बन्द हो जाता है। प्रकृति के सत्व, रज तथा तम तीन गुण हैं जब तक इनकी साम्यावस्था रहती है, तब तक प्रकृति निष्क्रिय रहती है, किन्तु गुण क्षोभ होते ही प्रकृति सजग होकर काय प्रारम्भ कर देती है। पच्चीस तत्व निम्न हैं जिनका क्रमश विकास होता है



सांख्य-दर्शन का पुरुष ही अन्य दर्शनों की आत्मा है। सांख्य-दर्शन में पुरुष अनेक हैं वे एकाग्र भाव से तटस्थ रहकर प्रकृति नटी के नाटक का द्रष्टा हैं। सांख्य दर्शन का पुरुष अमूर्त्त चेतन, भोगी नित्य सर्वगत अक्रिय अकर्त्ता, निर्गुण सूक्ष्म आदि विशेषताओं से युक्त है। जब यही पुरुष शरीर मन इन्द्रिय आदि से बद्ध होता है तभी वह जीव कहलाता है। प्रत्येक जीव का एक स्थूल शरीर होता है, जो मृत्यु के समय नष्ट हो जाता है। उसका एक सूक्ष्म शरीर भी होता है, जिसे लिङ्ग शरीर भी कहते हैं इसी शरीर के साथ जीवात्मा पुनर्जन्म लेती है। सांख्य-दर्शन में ज्ञान पांच प्रकार का है—प्रमाण विपर्यय विकल्प, निद्रा व स्मृति। प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन हैं। इस दुःखमय संसार में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीन प्रकार के दुःख हैं। सत्य विवेक ज्ञान से दुःखों से मुक्ति मिलती है।

सांख्य दर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य-दर्शन अवैदिक है अतः इसमें ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि प्राचीन आचार्यों ने यह कहीं नहीं लिखा कि ईश्वर नहीं है किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया था। किन्तु परवर्ती काल में सांख्य के आचार्यों को अपनी यह त्रुटि अनुभव हुई जबकि पुरुष तटस्थ व द्रष्टा मात्र है तथा अन्धी प्रकृति भी स्वयं कुछ नहीं कर सकती फिर यह सृष्टि विकास कैसे सम्भव है इसलिए वाचस्पति विज्ञानभिक्षु तथा नागेश आदि आचार्यों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

सांख्य-दर्शन का प्रभाव बौद्ध और जैन दर्शन पर विशेष है बौद्ध और जैनों को अहिंसा के सिद्धान्त की प्रेरणा सांख्य से मिली है। इसके अतिरिक्त बौद्धों ने 'दुःख की सत्ता वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता ईश्वर की सत्ता पर अनास्था तथा जगत् की परिणामशीलता" के सिद्धान्त सांख्य दर्शन से लिये हैं।

योग-दर्शन

योगदर्शन के प्रणेता पतञ्जलि माने जाते हैं सम्भवत व्याकरण महाभाष्य के प्रणेता पतञ्जलि। सम्भवत इनका काल ईसापूर्व द्वितीय तृतीय शतक है। सांख्य व योग दोनों ही दर्शन बहुत अंशों में समान हैं। सैद्धान्तिक समानता के कारण विद्वान् इनके पारस्परिक भेद प्रतिपादन के लिए क्रमश इन्हें निरीश्वर तथा सेश्वर सांख्य कहते हैं। *सांख्य के पच्चीस तत्व तथा योग का ईश्वर ये छब्बीस तत्व योगदर्शन में हैं।* योग के शब्दों में ईश्वर का लक्षण यह है—"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेष ईश्वर।" जो पुरुष विशेष-क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (विपाकानुरूप संस्कार) के सम्पर्क से शून्य रहता है वही 'ईश्वर' कहलाता है। मुक्त-पुरुष पूर्वकाल के बन्धन में रहता है, तथा प्रकृतिलीन को भविष्य में बन्धन की सम्भावना रहती है। परन्तु ईश्वर सदा ही मुक्त रहता है और सदा ही ईश्वर रहता है।

मुक्ति या कैवल्य प्राप्ति के लिए जिन व्यावहारिक साधनाओं की आवश्यकता होती है, उनका प्रतिपादन योगदर्शन में मिलता है। योग का अर्थ है—'चित्त की वृत्तियों का निरोध—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोध**।" यह चित्त की एकाग्रता मुक्ति के लिए परम अपेक्षित है। यह एकाग्रता अष्टांगयोग की साधना से ही सम्भव है। यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान धारणा और समाधि यह अष्टांग योग के साधन हैं। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान) ये नैतिक साधना के अङ्ग हैं। इसके पश्चात् आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार (इन्द्रियों का उनके विषय से हटाना) योग का प्रथम सोपान है। तदनन्तर धारणा (मन को किसी वस्तु पर स्थिर करना) ध्यान (उसी वस्तु का एकाग्र ध्यान) और समाधि (मन की पूर्ण एकाग्रता) ये योगदर्शन की उच्चतम साधनायें हैं। समाधि भी दो प्रकार की होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। प्रथम समाधि में बुद्धि किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहती है, किन्तु दूसरी में नहीं। असम्प्रज्ञात समाधि से ही कैवल्य (मुक्ति) प्राप्ति होती है। योग दर्शन के अनुसार सभी को कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है। उनके लिए क्रियायोग का ही विधान है। योग का ईश्वर जगत् का कर्त्ता न होकर प्राकृतिक विकास का प्रथम द्रष्टा है।

पूर्वमीमांसा

मीमांसादर्शन अपने स्वरूप के कारण प्राचीनतम सिद्ध होता है, क्योंकि दर्शन में *वैदिक कर्मकाण्ड को महत्व प्राप्त है। कर्मकाण्ड सम्बन्धी वेदमन्त्रों का विस्तार* से विवेचन है। मीमांसा-दर्शन की मान्यताएं संहिताओं, और ब्राह्मणग्रन्थों तक में मिलती हैं। अत इस दर्शन की प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। किन्तु प्राचीनतम विचारों को शृङ्खलाबद्ध करने का श्रेय महर्षि जैमिनि (ई० पू० ८०० ६००) को है। परवर्तीकाल में बादरायण उपवर्ष, भवदास (द्वितीय शतक) आदि आचार्यों ने इस दर्शन को पल्लवित किया। द्वितीय शतक में मीमांसा सूत्रों पर शबर स्वामी ने 'शबर भाष्य' की रचना

की। इसी 'शबर-भाष्य' के टीकाकारों ने तीन सम्प्रदायों—भाट्ट, गुरु और मुरारी का प्रवर्तन किया। भाट्टमत के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट (अष्टम शतक-पूर्वार्द्ध) थे कुमारिल मीमांसा-दर्शन के इतिहास में विद्वता, तर्क पद्धति, अपने विचारों की सुबोध व्याख्या के लिए अमर हैं। कुमारिल ने बौद्धों की लोकप्रियता के समक्ष इस दर्शन की रक्षा ही नहीं की, इसे और भी अधिक लोकप्रिय बनाया। गुरुमत के संस्थापक कुमारिलभट्ट के शिष्य प्रभाकर मिश्र थे। मुरारि का प्रवर्तन मुरारि मिश्र (द्वादश शतक) ने किया था।

मीमांसा-दर्शन का विषय धर्म की व्याख्या करना है—"धर्माख्य विषय वक्तु मीमांसाया प्रयोजनम्"[1] और इस दर्शन ने धर्म का यह लक्षण किया है—"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म"। इस मत में 'वेदविहित इष्ट साधन धर्म' है तथा अनिष्ट साधन 'अधर्म' है। वेद स्वयं नित्य है, अपौरुषेय है। इस संसार में कर्म ही प्रधान वस्तु है। आचार्य बादरायण ने ईश्वर को कर्मफलों का देने वाला माना है किन्तु जैमिनी के मत में यज्ञ से ही तत्तत् फलों की प्राप्ति होती है। कर्म के फल के सम्बन्ध में—आज कर्म किया उसके फल की प्राप्ति कालान्तर में होगी, मीमांसकों ने 'अपूर्व' नामक सिद्धान्त का आविर्भाव किया। कर्मों से उत्पन्न होता है अपूर्व (पुण्यापुण्य) तथा अपूर्व से होता है फल। मीमांसा दर्शन में कर्म तीन प्रकार के हैं'—नित्य नैमित्तिक तथा काम्य। तीनों वर्ण इन कर्मों को करने के अधिकारी हैं। कर्म तथा फल का संचालन 'अपूर्व' से होता है। मीमांसा दर्शन में कर्म ही सत्य है।

ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करने पर हम देखते हैं कि मीमांसकों ने वैदिक देवताओं के अस्तित्व को स्वीकार किया है जो कि यज्ञ की हविष् प्राप्त करते हैं, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मीमांसक मौन हैं। कुछ मीमांसकों ने ईश्वर के अस्तित्व को यदि स्वीकार किया तो कुमारिल आदि उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर हम देखते हैं कि इस मत में आत्मा एक नित्य एवं शाश्वत तत्त्व है पर चैतन्य उसका नित्य लक्षण नहीं है। शरीर से युक्त होने पर तथा पदार्थों के सामीप्य होने पर आत्मा में चैतन्य का गुण आविर्भूत होता है।

मीमांसा दर्शन छः प्रमाण (सम्यक ज्ञान के साधन) स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष अनुमान शब्द उपमान अर्थापत्ति तथा अभाव। प्रारम्भ में केवल तीन प्रमाणों के अस्तित्व को इस दर्शन ने स्वीकार किया था किन्तु बाद में इस दर्शन में इन प्रमाणों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया। ज्ञान प्राप्ति के चार अङ्ग हैं—ज्ञाता ज्ञेय, ज्ञान तथा कारण अथवा ज्ञातता।

प्रभाकर ने आठ तत्वों को स्वीकार किया है—द्रव्य गुण कर्म सामान्य, परतन्त्रता शक्ति सादृश्य व संख्या। गुणों के अधिष्ठान को द्रव्य कहते हैं—द्रव्य नौ

---

[1] श्लोकवार्तिक, श्लोक ११

हैं—भू, जल, वायु अग्नि, आकाश, आत्मा, मन, काल तथा स्थान। द्रव्य तथा गुण विषयक मान्यता वैशेषिक से प्रभावित हैं।

मीमांसकों ने शब्द के स्वरूप, उसकी नित्यतानित्यता पर गम्भीर तथा व्यापक विचार किया है। विरोधी वाक्यों की संगति तथा व्याख्या आदि के सम्बन्ध में सिद्धान्त स्थिर किये हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। कुमारिलभट्ट का अभिहितान्वयवाद तथा प्रभाकर का अन्विताभिधानवाद शब्दार्थ को हृदयङ्गम करने के लिए उपादेय सिद्धान्त है। मीमांसा दर्शन वस्तुवादी अर्थात् यथार्थवादी है, यह दर्शन भौतिक जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

वेदान्त दर्शन

भारतीय-दर्शन का चरमोत्कर्ष वेदान्त में मिलता है। इस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्त' शब्द का अर्थ है उपनिषद्। 'इन उपनिषदों को वेदों के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण से 'वेदान्त' (वेद का अन्त—सिद्धान्त) शब्द से अभिहित करना नितान्त युक्तियुक्त है।" किन्तु उपनिषदों की संख्या बहुत है प्रत्येक उपनिषद् के अपने अपने सिद्धान्त हैं। उनके सिद्धान्तों में विरोध की प्रतीति होती है। उस प्रतीयमान विरोध के परिहार के लिए वेदान्त दर्शन का आविर्भाव बादरायण व्यास ने किया था। बादरायण ने इस सम्बन्ध में कुछ सूत्रों की रचना की थी जिन्हें वेदान्त सूत्र या ब्रह्मसूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पाणिनि से भी प्राचीन हैं, क्योंकि पाणिनी ने अपने सूत्र 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयो' (४ ३/११०) में पाराशर्य (पाराशर के पुत्र व्यास) निर्मित जिन सूत्रों का निर्देश किया है वे ब्रह्म-सूत्र ही हैं। ये ब्रह्म सूत्र अल्पाक्षर हैं, भाष्यों के अभाव में अर्थ का ज्ञान करना सम्भव नहीं है। भाष्यकारों ने अपने अपने विभिन्न मन्तव्य इन सूत्रों से निकाले हैं। इन भाष्यकारों का जो मन्तव्य है क्या वही बादरायण का मन्तव्य था? एक विद्वान् ने इस सम्बन्ध में मतभेद व्यक्त करते हुए लिखा है—"विभु ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा अणु है जीव चैतन्य रूप है। ज्ञान उसका विशेषण या गुण है। ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। बादरायण और शंकर में प्रधान भेद यह है कि सूत्रकार मायावाद नहीं मानते थे। उनका मत था कि ब्रह्म से प्रादुर्भूत होने पर भी जीव उससे पृथक और वास्तविक बने रहते हैं। ब्रह्म से बनने वाला जगत् भी वास्तविक होता है। शंकर के मत में यह अवास्तविक और मिथ्या है।"[1]

वेदान्त-सूत्रों की अनेक आचार्यों ने व्याख्यायें की हैं। इन समस्त आचार्यों की विचारधारा को मोटे रूप में दो भागों में बांटा जा सकता है—अद्वैतवाद तथा ईश्वरवाद। 'अद्वैतवाद में परम सत् ब्रह्म निर्विशेष (निर्गुण) तत्व के रूप में माना जाता है और ईश्वरवाद में सविशेष (सगुण) ईश्वर के रूप में।' वेदान्त-सूत्रों के

---

[1] भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ११३

भाष्यकारों का निर्देश हम श्री बलदेव उपाध्याय[1] के मतानुसार इस प्रकार कर सकते हैं—

	आचार्य	समय	भाष्य	मत
१	शंकर	(७०० ई०)	शारीरिक भाष्य	अद्वैत
२	भास्कर	(१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३	रामानुज	(११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	मध्व	(१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
५	निम्बार्क	(१२५० ई०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६	श्रीकण्ठ	(१२७० ई०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति	(१४०० ई०)	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८	वल्लभ	(१५०० ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९	विज्ञानभिक्षु	(१६०० ई०)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०	बलदेव	(१७२५ ई०)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

वेदान्त दर्शन के अनुसार केवल दो प्रमाण हैं—श्रुति (प्रत्यक्ष) व स्मृति (अनुमान)। इस जगत् में केवल ब्रह्म सत्य है। पुरुष तथा प्रकृति उसी के रूपान्तर हैं। पुरुष में जो ब्रह्म का स्वरूप है उस पुरुष का कोई प्रभाव नहीं होता है, दोनों का भेद मुक्ति में भी रहता है। यह संसार ब्रह्म की लीला तथा उसके संकल्प का परिणाम है। आत्मशुद्धि का वेदान्त में विशेष महत्त्व है। वेदान्त के सभी सम्प्रदायों में ईश्वर तथा जीव के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद है। किन्तु अन्य सिद्धान्तों में एकता है। श्री बलदेव उपाध्याय ने निम्न समभाव तथ्यों की ओर संकेत किया है—

(१) ब्रह्म ही इस जगत् का मूल कारण है अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय एक चेतन तत्त्व के कारण है किसी अचेतन तथा जड पदार्थ (जैसे सांख्यों की प्रकृति) से उनकी उत्पत्ति नहीं हुई।

(२) ब्रह्म सर्वत्र व्यापक तथा नित्य है।

(३) मुख्यतः उपनिषद् ही सिद्धान्त ग्रन्थ हैं तथा उपनिषद् मूलक होने से भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र भी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं इन्हें प्रस्थानत्रयी के नाम से पुकारते हैं।

(४) ब्रह्म आदि जैसे इन्द्रियातीत आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में वेद ही सबसे अधिक प्रमाण हैं। तर्क की प्रामाणिकता तभी तक ग्राह्य है जब तक वह श्रुति के अनुकूल रहता है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिए इन सूक्ष्म विषयों के विवेचन में निमित्त हमें श्रुति का आश्रय लेना नितान्त श्रेयस्कर है।

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६७२-७३

(५) कम ज्ञान की अपेक्षा गौण है। कम की उपयोगिता इतनी ही है कि वह चित्त की शुद्धि करता है तथा मुक्ति माग की तयारी करने का प्रधान साधक है। व्यावहारिक जगत् के निमित्त कम की अपेक्षा है ही, पर तु मुक्ति के निमित्त कम का सन्यास ही श्रेयस्कर है।

(६) इस अनादि ससार से मुक्ति पाना ही हमारा अ तिम उद्देश्य है।

(७) विष्णु ही ईश्वर है। अत उनकी अवतार मूर्तियो की उपासना आवश्यक है।

इन सिद्धान्तो के अतिरिक्त पारस्परिक मतभेद का मुख्य तथ्य जीव और ईश्वर का स्वरूप है। शकराचाय ईश्वर और जीव का भेद स्वीकार नही करते हैं। शकर का सिद्धा त है— ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है), 'जीवो ब्रह्म वनापर' (जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नही है), सव खलु इद ब्रह्म' (यह सब कुछ ब्रह्म है 'तत्त्वमसि' (तू वही है)। शकर का दूसरा सिद्धा त मायावाद है। मायावाद का आशय यह है कि जो कुछ दिखाई देता है, वह सत्य नहो है, वह केवल आभासमात्र है। जिस प्रकार रात्रि के अ धकार म रस्सी मे सप का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार अविद्या के अ धकार म ब्रह्म इस जगत् के रूप मे दृष्टिगत होता है। ब्रह्म का जगत् के रूप मे दिखाई पडना उसके माया रूप का ही परिणाम है। जीव को मायावित ब्रह्म भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अनेकत्व केवल आभास मात्र है, व्यावहारिक है, किन्तु एकत्व एकमात्र सत्य या पारमार्थिक है। शकर ने ब्रह्म के दो रूप निगु ण तथा सगुण माने हैं। मायाविशिष्ट ब्रह्म सगुण है तथा यही ईश्वर है। निगु ण ब्रह्ममाया के सम्ब ध से रहित, सवश्रेष्ठ, अखण्ड, व्यापक और सच्चिदानन्द है। शकर ज्ञान के द्वारा मुक्ति मानते हैं।

श्रीशकर का मायावादी सिद्धान्त भक्त वष्णव आचार्यों को स्वीकार न था। अत उनके मायावाद का खडन बडे समारम्भ, तथा ऊहापोह के साथ किया गया। इन आचार्यों को ब्रह्म और जीव का भेद स्वीकाय था, उनके मत मे ब्रह्म ही ईश्वर था, चेतन जीव तथा जड जगत् मिथ्या न होकर सत्य थे। जीव अणु तथा अन त है। भक्ति ही मुक्ति की साधिका है। इन भक्त आचार्यों मे रामानुज (विशिष्टाद्व त) के अनुसार जीवन तथा जगत् अखिल सद्गुणो के भण्डार ईश्वर के दो विशेषण हैं। अत यह अद्व त न होकर विशिष्टाद्व त है। मध्व (द्व त) जीव और ईश्वर को सवथा भिन्न मानते थे, साथ ही वे ईश्वर को इस जगत् का निमित्त कारण मानते थे, उपादानकारण नही। आचाय निम्बाक (द्व ताद्व त) जीव और ईश्वर को व्यवहार काल मे भिन्न मानते थे, वस अभिन्न। वल्लभाचाय (शुद्धाद्वत) मायावाद को न मानकर शुद्धाद्व त पर विश्वास करते थ। चत य सम्प्रदाय म ईश्वर तथा जीव का भेद तथा अभेद दोना हैं, पर तु वे अचि त्य हैं। अलौकिक शक्ति उत्पन्न ईश्वर की यह लीला है।

भारतीय दर्शन का यह संक्षिप्त निरूपण कराया गया है। स्थूल दृष्टि से देखने पर इनमें परस्पर वैषम्य की प्रतीति होती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन सिद्धान्तों में विरोध न होकर समन्वित विराम दृष्टिगोचर होता है। अन्ततः अपनी अपनी दृष्टि से ईश्वर जीव तथा जगत् की व्याख्या है। "आरम्भवाद का आश्रय लेकर न्याय वैशेषिक ने इस स्थूल जगत् का विश्लेषण किया है। लौकिक बुद्धि के द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में दिया गया है। सांख्य योग की पदार्थ कल्पना न्याय वैशेषिक से सूक्ष्म है क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभव के द्वारा भी पदार्थों का साक्षात्कार कर निरूपण किया गया है। अद्वैत वेदान्त की कल्पना इससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म है। भारतीय दर्शन का यही पर्यवसान है।' जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ अपनी धाराओं के द्वारा समुद्र में गिरती हैं उसी प्रकार विभिन्न आस्था और दर्शनों के साधना मार्ग भले ही भिन्न हों किन्तु उनका लक्ष्य ईश्वर ही है—

> बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

प्राचीन भारतीय साहित्य

भारतीय संस्कृति के विभिन्न अङ्गों पर विचार करते हुए भारतीय-साहित्य के उद्भव एवं विकास पर विचार करना भी परमावश्यक है। प्राचीन भारतीय साहित्य का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। भारतीय साहित्य के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए डा० नगेन्द्र ने एक निबन्ध में लिखा है कि भारतीय 'ज्ञान का अपार भण्डार हिन्द महासागर से भी गहरा भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म है।' भारत का प्राचीन साहित्य प्रायः संस्कृत भाषा में है और कोई विद्वान् जब भारत के प्राचीन साहित्य की चर्चा करता है तो निश्चित ही उसका अभिप्राय संस्कृत साहित्य से ही होता है। भारत का प्राचीन साहित्य प्रायः संस्कृत में ही है और वह भी परिष्कृत संस्कृत में। पाली एवं प्राकृत में उसकी अपेक्षा अल्प साहित्य ही है। संस्कृत आर्यों की भाषा है। आर्य संस्कृति के विस्तार के साथ ही इस भाषा का अधिक विकास हुआ है। इस संस्कृत का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में सुरक्षित है। प्रारम्भ में साहित्य एवं बोलचाल की भाषा में अन्तर नहीं था किन्तु कालक्रमानुसार यह अन्तर बढ़ता गया। इस अन्तर के मूल में विद्वानों के व्यक्तित्व की अपनी छाप थी। विद्वान् एवं प्राकृत मनुष्यों के अध्ययन एवं रहन सहन के स्तर के कारण विद्वान् एवं जन सामान्य की भाषा में अन्तर था और यह अन्तर पाली प्राकृत और प्राकृत की विभिन्न अवस्थाओं (पैशाचि, महाराष्ट्री मागधी) के रूप में प्रतिफलित हुआ और इनके ही विभिन्न रूप विकसित होकर हिन्दी, बंगाली मराठी गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में उपलब्ध हैं।

वदिक वाङ्मय

प्राचीनतम भारोपीय साहित्य का एक अंश सगीतमय कविता के रमणीय कलेवर म भावपूर्व अर्थसौष्ठव, परिष्कृत भाषा तथा उद का श्रुति मधुर ध्वनि स विश्व को गौरवगरिमा प्रदान कर आध्यात्मिक ज्ञान की सुधाधारा प्रवाहित कर रहा है। भारतीय आध्यात्मिक जीवन एव उसक सास्कृतिक विकास तथा समुत्कर्ष के अध्ययन के लिए भी वदिक साहित्य कोश ग्र थ प्रमाणित हो चुका है। भारतीयो के अन्तरतम का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सहस्राब्दियो स प्रचलित इस साहित्य का जब तक रसास्वादन नही कर लिया जाता, तब तक वह ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। वद भारतीय परम्परा म प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र मान जाने वाल ग्र थ ह। धर्म विषयक जिज्ञासा क समाधान क लिए व परम प्रमाण हैं, सम्पूर्ण धर्मों क व मूल हैं, ज्ञान ही उसका स्वरूप है—

> धर्म जिज्ञास्यमानाना प्रमाण परम श्रुति
> वेदोऽखिलो धर्ममूलम्,
> ज्ञानमयो हि स ।

समस्त वदिक साहित्य को विद्वानो न तीन भागो म विभक्त कर अध्ययन प्रस्तुत किया है। विन्टरनिटज के अनुसार वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) सहिता—इस भाग म मन्त्र हैं, इन म त्रो म प्रार्थना, स्तवन, आशीर्वाद, यज्ञ आदि विषय है। इस प्रकार म त्रो के समुदाय का नाम ही सहिता है।

(२) ब्राह्मण—यज्ञ सम्बन्धी विधान, रीतियाँ एव यज्ञोत्सव विषयक समस्त वदिक ज्ञान क सग्रहात्मक ग्र थ ब्राह्मण है। दूसरे शब्दो म हम यह कह सकत ह कि ब्राह्मण ग्र थो म एक प्रकार से सहिताओ के म त्रो की विस्तृत व्याख्या है, कि तु प्रधानत ब्राह्मण ग्र थों का लक्ष्य यज्ञ का सविस्तार वर्णन ह।

(३) आरण्यक (Forest texts) तथा (४) उपनिषद् (Sacred Doctrines)—आरण्यक तथा उपनिषद् दोनो ही ब्राह्मण ग्र थो के निकटवर्ती हैं तथा इन्ह भी हम सहिताओ की व्याख्या के रूप म स्वीकार कर सकते हैं। कि तु इस साहित्य का ब्राह्मण साहित्य के साथ मौलिक अ तर भी है। 'आरण्यक' साहित्य जन समाज स दूर वनो म पढ़े जाने के कारण ही 'आरण्यक' कहलाते हैं। 'ब्राह्मण साहित्य यज्ञकर्ता गृहस्थो के लिए हैं तथा 'आरण्यक वानप्रस्थियो के लिए।

श्रवण कर गुरु परम्परा स अवगत होने के कारण म त्र ही श्रुति हैं, इन्ही को 'मन्त्र' भी कहते हैं। म त्रो का समुच्चय ही 'सूक्त' है तथा सूक्तो का समुच्चय 'सहिता'। सहिताए चार हैं—

(१) ऋग्वद सहिता,	(२) यजुर्वेद सहिता,
(३) सामवद सहिता,	(४) अथर्ववद सहिता।

उपयु क्त समस्त सहिताओ का सकलन यज्ञो की आवश्यकताओ के अनुरूप वेदव्यास जी ने किया था। ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद पृथक पृथक किसी-न किसी वेद से अवश्य सम्बद्ध हैं। प्रत्येक वेद के अपने अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं। यद्यपि यह साहित्य विभिन्न कालो म क्रमश निर्मित एव सगृहीत हुआ है, किन्तु इनम मूलभूत एकता विद्यमान है। ये ब्राह्मणवाद के सजग प्रहरी हैं। यह पवित्र साहित्य उनका श्रद्धेय है। विन्टरनिट्ज ने ठीक ही लिखा है कि यहूदी और ईसाई अपने पवित्र धमग्र थ बाईबिल का अध्ययन करते हैं तो ब्राह्मणो के पवित्र एव धमग्रन्थ वेद हैं इनकी विषय-वस्तु इनका वर्ण विषय देववाद ही है।

'Old testament has for Judaism or the New testament for Christianity As Jews and Christians look on their Holy scripture' so the Brahmnic Indians look on their Veda in its whole extent as divine revelation

वेद भारतीय विश्वास क अनुरूप ब्रह्मा के निश्वास से उत्पन्न एव ऋषियो द्वारा दृष्ट है। यही नही परवर्ती उपनिषद् साहित्य तक की समस्त रचनाओ को ब्रह्मा के द्वारा निर्मित माना गया है। यद्यपि भारतीय दशनो म विचार वैषम्य है किन्तु वेद क प्रमाण तथा सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। बौद्ध भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वेद ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट हैं, किन्तु परवर्ती काल मे ब्राह्मणो ने इसमे सम्मिश्रण किया है इसलिए वेद भ्रमात्मक एव अप्रामाणिक हैं—

'Most significant it is that even the Buddhists, who deny the authority of Veda yet concede that it was originally given or created by God Brahman only they add it has been falsified by the Brahmans and therefore contains so many errors'

वेदो से सम्बद्ध सूत्र साहित्य भी है, इस सूत्र साहित्य को Manuals on ritual भी कहा जाता है। इस सूत्र साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—

(१) श्रौत सूत्र—बडे बडे यज्ञो क नियमो का इनम सग्रह है, ये यज्ञ दीघ कालीन होते है।

(२) गृह्य सूत्र—सामा य उत्सव तथा दनिक जीवन के कमकाण्ड जो ज'म, मृत्यु विवाह आदि क समय होते हैं, इनके विशेष नियम इनमे समाहित है।

(३) धम-सूत्र—धार्मिक और आध्यात्मिक नियमो के प्राचीनतम ग्र'थ— Books of instruction on spiritual and secular law the oldest law books of the Indians ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् ग्र'थो की भाति सूत्र-ग्रन्थो का भी चारो वदो म से किसी न किसी से प्रत्येक का सम्ब'ध है—

As a matter of fact they originated in Cretain Vedic schools which set themselves the task of the study of Cretain Veda"

परन्तु ये सूत्रग्रन्थ मनुष्य कृत है, वेदाङ्गो से सम्बद्ध हैं जबकि वेद अपौरुषेय है।

भारतीय-संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्य का निर्विवाद रूप से अधिक महत्त्व है, न केवल अपने सुसगठित सुरक्षित, विस्तृत वाङ्मय की प्राचीनता के कारण न केवल अपने वाङ्मय के अनन्त व्यापक प्रभाव के कारण अपितु भारत के, भारत के ही नहीं वैदिक भारत के, धार्मिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय साहित्य में वैदिक साहित्य का अपना प्रमुख स्थान है। वैदिक साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज के निम्नलिखित उद्गार महत्त्वपूर्ण एवं यथार्थ है— जो मनुष्य वैदिक साहित्य के समझने में असमर्थ रहता है वह भारतीय संस्कृति को नहीं जान सकता। इतना ही नहीं, वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध साहित्य के रहस्य को भी समझने में असमर्थ रहता है, क्योंकि बौद्ध साहित्य वैदिक साहित्य का ही नव्य रूप है।' वह पुनः लिखता है— यदि हम अपनी संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने के इच्छुक हैं यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते है तो हम भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है।'

'If we wish to learn to understand the beginnings of our own culture, if we wish to understand the oldest Indo-European culture, we must go to India, where the oldest literature of an Indo European people is preserved'

वैदिक मन्त्रों का विषयवस्तु के आधार पर वर्गीकरण करते हुए इन्हे चार माना गया है। इन चारों ही वेदों में ऋत्विजों के आधार पर मन्त्रों का सकलन किया गया है। यज्ञकार्य के सम्पादक चार ऋत्विज होते हैं—(१) होता, (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता तथा (४) ब्रह्मा। यज्ञ के अवसर पर देवता—विशेष की प्रशसा में मन्त्रों का सविधि उच्चारण करते हुए देवता का आह्वान करने वाला 'होता' नामक ऋत्विज होता है। 'होता' नामक ऋत्विज के कार्य सम्पादन के लिए अभीष्ट मन्त्रों का सकलन ऋग्वेद में है। ऋग्वेद के दस मण्डलों में १०२८ सूक्त तथा लगभग १०४७२ ऋचाएं सगृहीत हैं। ऋग्वेद की पाठ भेद के आधार पर अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु प्रधानतः पाच शाखाए है। प्रचलित ऋग्वेद सहिता का सम्बन्ध शाकल शाखा से है। अन्य शाखाओं में वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन है। सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि जिस वेद की जितनी शाखाए होंगी, उसके उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद् भी होंगे, किन्तु आज ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण दो आरण्यक, तथा दो उपनिषद् ही मिलते हैं—

(१) ऐतरेय तथा कौषीतकी ब्राह्मण।

(२) ऐतरेय तथा कौषीतकी आरण्यक।
(३) ऐतरेय तथा कौषीतकी उपनिषद्।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद से सम्बद्ध एक आश्वलायन श्रौतसूत्र भी मिलता है।

यजुर्वेद

यजुर्वेद संहिता उन गद्य-वाक्यों का समूह है जो 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज के उपयोग में आते हैं 'अध्वर्यु' का कार्य यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना है। अतः यजुर्वेद का सीधा सम्बन्ध यज्ञानुष्ठानों से है। कभी कभी इस वेद को इसीलिए कर्म काण्डीय वेद भी कह दिया जाता है। इस वेद के दो भेद मिलते हैं, जो कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद कहलाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें मिलती हैं—(१) माध्यंदिन, तथा (२) काण्व। माध्यंदिन शाखा का उत्तर भारत में तथा काण्व का दक्षिण भारत में प्रचार अधिक है। इस संहिता से शतपथ ब्राह्मण बृहदारण्यक एवं ईशोपनिषद सम्बद्ध है। कृष्ण यजुर्वेद की चार संहिताएं या शाखाएँ उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमशः (१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी (३) काठक तथा (४) कठ कपिष्ठल हैं। कृष्ण यजुर्वेद से तैत्तिरीय ब्राह्मण तैत्तिरीय आरण्यक तथा तीन उपनिषदें तैत्तिरीयोपनिषद् मैत्रायणी तथा कठोपनिषद् सम्बद्ध हैं। इस संहिता से सम्बद्ध आठ सूत्रग्रन्थ—(१) आपस्तम्बकल्पसूत्र (२) बौधायन श्रौतसूत्र, (३) हिरण्य केशी कल्पसूत्र (४) भारद्वाज श्रौतसूत्र (५) मानव श्रौतसूत्र, (६) मानवगृह्यसूत्र (७) वाराह गृह्य सूत्र तथा (८) काठक गृह्यसूत्र है।

सामवेद

सामवेद संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए हुआ है। उद्गाता का कार्य है कि वह यज्ञ में मन्त्रों को स्वर सहित उच्चगति से गान करे। उद्गाता शब्द का अर्थ ही है—उच्चस्वर से गान वाला व्यक्ति। इस वेद में केवल ऋचाओं का ही संकलन है और उन्हीं ऋचाओं का जो कि गेय हैं। इस वेद की ऋचाओं की संख्या १८७५ है और अधिकांश ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं, इस वेद में बहुत थोड़ी ही मौलिक ऋचाएं हैं अन्यथा वे प्रायः ऋग्वेद की ही ऋचाएँ है। सामवेद का विभाजन दो रूपों में हुआ है—(१) पूर्वार्चिक और (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को अग्नि इन्द्र सोम तथा अरण्य सम्बन्धी विषय वस्तु के आधार पर चार पर्वों में बाँटा गया है जिनके नाम हैं क्रमशः आग्नेयपर्व, ऐन्द्रपर्व, पवमान पर्व, तथा आरण्यपर्व। उत्तरार्चिक में दशरात्र संवत्सर सत्र, प्रायश्चित आदि अनुष्ठानों का विधान है। सामवेद की सहस्रों शाखाओं का उल्लेख होने पर भी आज केवल तीन शाखाएं ही उपलब्ध हैं—(१) कौथुम (२) राणायनीय तथा (३) जैमिनीय इन तीनों शाखाओं का प्रचार क्रमशः गुजराती ब्राह्मणों में, महाराष्ट्री ब्राह्मणों में तथा कर्नाटक प्रदेश में है। सामवेद से सम्बद्ध चार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं—(१) ताण्ड्य, (२) षड्विंश ब्राह्मण (३) सामविधान ब्राह्मण तथा (४) जैमिनीय ब्राह्मण। साथ ही इस वेद के दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद् भी मिलते हैं—छान्दोग्य आरण्यक जैमिनीय आरण्यक

तथा छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् एव जमनीय उपनिषद्। इस वद से सम्बद्ध सात सूत्रग्रथ निम्न हैं—

१ कौथुम सहिता—	१ मशक कल्प सूत्र
	२ लाट्यायन श्रौतसूत्र
	३ गोभिल गृह्यसूत्र
२ राणायनीय सहिता—	४ द्राह्यायन श्रौतसूत्र
	५ खदिर गृह्यसूत्र
३ जमिनीय सहिता—	६ जमिनीय श्रौतसूत्र
	७ जमिनीय गृह्यसूत्र

अथववेद सहिता

अनुश्रुतियो के आधार पर अथववेद की गणना पहले वदो म नही की जाती थी। वेदत्रयी शब्द म समाहित होन वाले वेदो म ऋक, यजु तथा साम की गणना होती थी। पुरुषसूक्त मे भी ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवद का उल्लेख मिलता है, किन्तु अथववद का नही। लेकिन परवर्त्ती साहित्य म अय तीन वेदो के साथ अथववद भी चतुथवद माना गया। अथववद म सगृहीत म त्र, आयुवृद्धि, प्रायश्चित और पारिवारिक एकता के लिए है तथा दुष्ट प्रेतात्माओ राक्षसा आदि के निवारण तथा शाप के लिए कुछ म त्रो म मारण मोहन, तथा उच्चाटन की क्रियाएँ भी निहित हैं। साथ ही कुछ मन्त्रो म आध्यात्मिक भावो का समावश भी है। इस वेद म अधिकाश ऋग्वद के म त्र ही है। अथववेद की रचना—यज्ञ विधान के लिए न होकर यज्ञ म उत्पन्न होने वाले विघ्नों के निवारण क लिए हुई है। इस वेद क म त्र यज्ञ सरक्षक 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज के लिए ह। 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज का काय यज्ञ का निरीक्षण है। यज्ञानुष्ठान म होने वाली त्रुटि का वह समाधान करता है। त्रुटि होने पर तुर त मगलकारी म त्रो का उच्चारण करके 'ब्रह्मा' उस विघ्न का निवारण कर दता है। इस प्रकार के समस्त मत्रो का सग्रह यह अथववद है। इस वद म बीस काण्ड है जो ३८ प्रपाठक १११ अनुवाक ७३१ सूक्तो म विभक्त है। इस वद म कुल मिलाकर ५८४९ मन्त्र है। अथववेद की ९ शाखाओ का उल्लख मिलता है कि तु आजकल दो शाखाएँ ही प्राप्त हैं, जिनक नाम क्रमश पिप्पलाद तथा शौनक हैं। पिप्पलाद शाखा क अधिकाश ग्रथ लुप्तप्राय है केवल प्रश्नोपनिषद् ही उपलब्ध ह। अथववेद की द्वितीय शाखा शौनक अधिक प्रसिद्ध ह। इस वद के गोपथ ब्राह्मण मुण्डक, तथा माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्र थ वतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र भी आज प्राप्त हैं।

रचना विधान एव समयानुक्रम स भारतीय साहित्य म वदो की रचना प्राचीनतम ह किन्तु जब वदो क मन्त्रो म विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव हुई तब ब्राह्मण साहित्य का सजन हुआ। इन ग्र थो म मूलत यज्ञ एव ब्राह्मण धम का ही वणन किया गया ह। ब्राह्मण साहित्य म ब्राह्मणो-यजमानो क वस्त्र-या का भी निर्देश हुआ ह।

सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त शब्द व्युत्पत्ति एवं शब्दों का ब्याख्यात्मक इतिहास तथा अन्यान्य जनकथाओं का भी उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है जिनसे तत्कालीन सामाजिक जीवन के चित्र दर्शन को मिलते हैं। ब्राह्मण साहित्य का अन्तिम अंश आरण्यक कहलाते हैं। इन आरण्यकों में पाठ रहस्यपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में वेदों के आध्यात्म पक्ष का विवेचन है यज्ञों की क्रिया और अनुष्ठानों के साथ ही साथ यज्ञ रहस्य और पौरोहित्य का भी विवेचन है। अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन ग्रन्थों का नाम 'आरण्यक' है। आरण्यक साहित्य की विषय-वस्तु का विस्तार उपनिषदों में है।

ब्राह्मण साहित्य

ब्राह्मण साहित्य से हमारा आशय यज्ञ विषय पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या वाद से है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप में यज्ञ विधान पर विद्वान् पुरोहित द्वारा की गई व्याख्याएं ही हैं। ब्राह्मण ब्रह्मन् के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते हैं। ब्रह्म शब्द स्वयं अनेकार्थी है। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ मन्त्र भी है— 'ब्रह्म' व मन्त्र' (त० ब्रा० ७/१/१/५)। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों का नाम 'ब्राह्मण' है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ 'यज्ञ' है, याज्ञिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी इन ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों कर्मों की तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अंतरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोष है।' उपाध्याय जी के इस मत के मूल में भट्टभास्कर तथा वाचस्पति मिश्र की निम्न निरुक्तियाँ हैं—

ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थ ।

(भट्टभास्कर त० सं० भा० १/५/१)

नरुक्त्य यस्य म त्रस्य विनयोग प्रयोजनम् ।
प्रतिष्ठान विधिश्चैव ब्राह्मण तदिहोच्यते ॥

(वाचस्पति मिश्र)

ब्राह्मण शब्द की व्याख्या करते हुए विण्टरनिट्ज ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है—

Explanation or utterance of a learned priest of a Doctor of the science of sacrifice upon any point of a ritual, used collec tiv ly, the word means secondly a collection of such utterance and discussions of a priest upon the science of sacrifice'

ब्राह्मण शब्द का अर्थ यह है कि यज्ञ के विधि विधानों में कुशल विद्वान् पुरोहितों द्वारा यज्ञों के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली संहिता भाग की विधियों का

सकलन। समष्टि रूप म इस श द का अथ है यनगत पुरोहितों के उच्चारणो एव विवादों का सग्रह। इस प्रकार निष्कष रूप म हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्र थो की विषय वस्तु का सीधा सम्बन्ध वदिक सहिताओं से है। मेरा तो अपना विश्वास यह है कि विश्व साहित्य मे कमकाण्ड और यानिक विधि विधाना का इतना साङ्गोपाङ्ग स्वतन्त्र एव मौलिक विवेचन अन्यत्र दुलभ है। इन ब्राह्मण ग्रन्थो म यानिक विषयो पर उदय होने वाली समस्याओ का समाधान है, इसलिए हम इन्ह यन विनान की सहिता भी कहें तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि यन का क्रिया कलाप भी स्वय अपने म एक विनान है। इस विनान का विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं—The texts which deal with the science of sacrifice समग्र ब्राह्मण साहित्य को दो रूपों म बाँट-कर अध्ययन किया जा सकता है—विधि और अथवाद। "प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थो क विषय को हम विधि और अथवाद इन दो भागो म रख सकते हैं। 'विधि' का अथ होता है, नियम और 'अथवाद' का अभिप्राय है प्रशस्ति पूण व्याख्या। ब्राह्मण ग्रन्थो म हम कम-अनुष्ठान विधि मिलती है और इन विधियो पर यन कम तथा प्राथनाओ के अथ और उद्देश्य के ज्ञान के लिए भाष्य और व्याख्याएँ मिलती हैं जसा कि पाश्चात्य अनुसधान शास्त्रियो को भी मान्य है।" शबर स्वामी ने ब्राह्मण ग्रन्थो की विषय सामग्री का उल्लख इस श्लोक म किया है—

हेतुनिवचन निन्दा प्रशसा सशयो विधि ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना ।
उपमान दशते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ॥

अर्थात् यन का विधान क्यो किया जाय ? कब किया जाय ? कसे किया जाय ? किन साधनो से किया जाय ? इस यन क अधिकारी कौन है ? और कौन नही। आदि विभिन्न विषयो का निर्देश इन ब्राह्मण ग्रन्थो म होता है। अथवाद म निन्दा तथा प्रशसा का योग रहता है। योग म निषिद्ध एव उपयोगी वस्तुओ की निन्दा तथा प्रशसा यनीय विधि की सोपयुक्तता— अत हेतु का निर्देश, अनुष्ठेय विधान की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास तथा आख्यान के उद्धरण, शब्द विशेष की व्युत्पत्ति प्रदशन, विविध विधियो का विधान आदि ब्राह्मण ग्र थो क विषय हैं।

ऋग्वद के हम आज दो ब्राह्मण ग्र थ उपल ध हैं—एतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण। ऐतरेय ब्राह्मण म चालीस अध्याय हैं जिन्ह आठ पचको मे विभक्त किया गया है। इसके लेखक या सग्रहकर्त्ता महीदास ऐतरेय हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ मे सोम यज्ञ का विस्तार से वणन है। कौषीतकी ब्राह्मण एतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भिक पाच अध्यायो का ही परिवर्धित रूप है। इसम विविध (अन्न यन, अग्निहोत्र पौण मास्येष्टि ऋतु आदि) यना तथा सामयन का विस्तार म वणन है।

सामवेद के चार ब्राह्मण मिलते हैं। इनम 'ताण्डय ब्राह्मण' अधिक महत्त्वपूण है। इसम पच्चीस अध्याय हैं, अत यह 'पञ्चविंश ब्राह्मण' भी कहलाता है। इसमे एक

दिन से लेकर वर्षों चलने वाले यागों का विधान है। इसमें भी सोमयागों का विस्तार से चर्चा है। सामवेद का दूसरा ब्राह्मण षड्विंश ब्राह्मण है। यद्यपि रचना की दृष्टि से पूर्णतः स्वतन्त्र है फिर भी प्रथम ब्राह्मण का अन्तर्भूत हो है। इसमें इन्द्रजाल तथा अलौकिक घटनाओं के उत्पात के साथ ही देवों के हास्य एवं रोदन भी हैं। सामवेद का तीसरा ब्राह्मण जैमिनीय ब्राह्मण है यह अति प्रकृत प्राचीन रचना है। जैमिनीय ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण की भांति विपुलकाय योगानुष्ठानों के रहस्य ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व धर्म व आख्यान की दृष्टि से भी है। सामवेद का चौथा ब्राह्मण सामविधान है। इसमें जादू टोना, शत्रु विनाश, धनोपार्जन तथा उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कुछ अनुष्ठानों का विधान है। इनके अतिरिक्त दैवत ब्राह्मण उपनिषद् ब्राह्मण संहितोपनिषद् ब्राह्मण वंश ब्राह्मण आदि ब्राह्मणों के भी उल्लेख मिलते हैं, किन्तु ये सभी लघुकाय रचनाएं हैं।

यजुर्वेद में तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन रचना है। इसमें अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय सोम, नक्षत्रेष्टि राजसूय अग्निहोत्र सौत्रामणि आदि यागों का वर्णन है। यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मण साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं। इसके प्रारम्भिक नौ काण्डों में यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की व्याख्या है। इसमें अग्निचयन उपनयन स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, अश्वमेध पुरुषमेध सर्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण गोपथ है। इसके दो भाग पूर्वगोपथ तथा उत्तर गोपथ हैं। यह ब्राह्मण ग्रन्थ रचना काल की दृष्टि से अर्वाचीन है। इस ब्राह्मण में अन्य में पूर्वोक्त ब्राह्मण ग्रन्थों की समस्त विषय सामग्री का संचयन है।

आरण्यक—ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट रूप में हम आरण्यक साहित्य मिलता है। आरण्यक उस साहित्य को कहते हैं जिसका अध्ययनाध्यापन नगरों, ग्रामों से दूर अरण्यों में होता था, तथा यह ज्ञान अदीक्षित व्यक्ति के लिए हानिकारक भी हो जाता था। "The texts comprised every thing which was a secret, uncanny character and spelt danger to the uninitiated and which, for that reason might only be taught and learnt in the forest and in the village"

आरण्यकों का प्रधान विषय यज्ञानुष्ठान के विधि नियमों की व्याख्या करना न था अपितु यज्ञों के गूढ़ और लाक्षणिक, प्रतीकात्मक विवेचन के साथ साथ पुरोहित वर्ग की विचारधारा की दार्शनिकता की प्रतिष्ठा करना था, किन्तु विषय वस्तु आदि की दृष्टि से उपनिषद् एवं आरण्यक परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि इनकी पृथक सीमा निर्धारित करना सहज सम्भव नहीं है। आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थ परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि उनको पृथक करना सम्भव नहीं है इसीलिए ऐतरेय आरण्यक में ऐतरेय उपनिषद् संश्लिष्ट है, इनका आधार ग्रन्थ ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण है। ऋग्वेदीय

कौपीतकी ब्राह्मण का अन्तिम भाग कौपीतकी आरण्यक है। कौपीतकी उपनिषद् इसी आरण्यक का ही एक अंश है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण से तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् एवं महानारायणोपनिषद् सम्बन्धित हैं। शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड का तृतीय भाग एक आरण्यक ही है। इसी के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् संलग्न है। सामवेदीय ताण्ड्य-ब्राह्मण के आरण्यक का प्रथम अध्याय ही छान्दोग्योपनिषद् है। सामवेदीय जैमिनीय शाखा से सम्बन्धित जैमिनीय ब्राह्मण एक आरण्यक है। इसी का एक भाग केनोपनिषद् अथवा तवलकारोपनिषद् है। तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बन्धित महानारायणोपनिषद् के अतिरिक्त अन्य सभी उपर्युक्त उपनिषद् प्राचीनतम तथा आरण्यकों से सम्बद्ध हैं। विषय आदि भी तदनुरूप ही है। आरण्यक साहित्य प्रत्येक वेद के अनुसार निम्न है—

ऋग्वेद—ऐतरेय आरण्यक तथा कौपीतकी आरण्यक

यजुर्वेद—तैत्तिरीय आरण्यक

सामवेद—छान्दोग्य आरण्यक तथा जैमिनीय आरण्यक। किन्तु अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में उपनिषद् साहित्य महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों की संख्या बढ़ते-बढ़ते ता २५० तक पहुंच चुकी है किन्तु विद्वानों ने ग्यारह उपनिषदों—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रधानतः स्वीकार किया है। उपर्युक्त उपनिषदों में कुछ गद्यात्मक, कुछ पद्यात्मक और कुछ उभयात्मक हैं। प्राचीनता एवं महत्त्व की दृष्टि से छान्दोग्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद् का विशिष्ट स्थान है। उपनिषदों में प्राधान्येन दार्शनिक तत्त्व का निरूपण हुआ है। ज्ञानकाण्ड के अन्यतम ग्रन्थों में उपनिषद् साहित्य है। श्लेगल ने लिखा है कि उपनिषद् साहित्य के समक्ष यूरोपीय तत्त्वज्ञान प्रचण्ड मार्तण्ड के समक्ष टिमटिमाता दीपक है। वैदिक साहित्य की अंतिम कड़ी के रूप में उपनिषद् साहित्य का अद्वितीय स्थान है। उपनिषद् साहित्य की प्रशंसा करते हुए शापेनहावर ने लिखा है— यह अनुपम ग्रन्थ आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक गम्भीर और बड़े ही ज्योतिष्मान विचार ऊपर उठते हैं। हमारे चारों ओर भारतीयता का वातावरण आप से आप खड़ा हो जाता है तथा ऐसा प्रतीत होता है मानो ये विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हैं। हमारे मन पर यहूदी संस्कारों की जो रूढ़ियाँ और अन्ध विश्वास छाये हुए हैं वे इन विचारों के स्पर्श मात्र से एकबारगी धुल जाते हैं। सारे संसार में इसके जोड़ का और ग्रन्थ नहीं हो सकता। जीवन भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है और मृत्युपर्यन्त यह आश्वासन मेरे साथ रहेगा। शापेनहावर उपनिषद् साहित्य को उच्चतम ज्ञान की चरम उपलब्धि मानता है। प्रो० विन्टरनिट्ज तो इन औपनिषदिक दार्शनिक विचारकों के आत्मज्ञान विषयक तीव्र जिज्ञासा के प्रति हार्दिक

भावना म नतमस्तक होना है। डॉसन महोदय उपनिषदीय आत्मगरिमा को विश्व साहित्य म महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। मैक्समूलर ज्ञान का उद्गम स्थान उपनिषदों को मानते हैं। संक्षेप म उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्त निम्न हैं—

(१) उपनिषदें आत्मा एव ब्रह्म म एकत्व प्रतिपादन करने के साथ शरीर के साथ उसका पार्थक्य प्रतिपादित करती हैं। उपनिषदें आत्मा को अखण्ड, अद्वितीय एव सर्वव्यापक मानती हैं। ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि 'वह अनन्त नित्य तथा दिव्यशक्ति है। वह समस्त जीवन का स्रोत है और जीवन की हर वस्तु अन्तत उसी म विलीन हो जाती है क्योंकि जिससे इन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है उत्पन्न हो जाने के बाद वे जिनम वास करती हैं और मृत्यु के बाद जिसम विलीन हो जाती हैं वही ब्रह्म है वही सत है और वही आनन्द है।'[1]

(२) उपनिषद् साहित्य म ऋग्वेदीय प्रजापति नामक तत्त्व को ही ब्रह्म के रूप म परिगणित हुई है।

(३) उपनिषदो म विश्व के मायामयत्व का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म के ज्ञान द्वारा भावी कर्त्तव्य के विधान का निर्देश किया गया है।

(४) आत्मा के गमन प्रत्यागमन सिद्धान्त को उपनिषदो म स्वीकार किया गया है।

(५) कर्म एव ज्ञान के अनुरूप विभिन्न योनियो म जन्म तथा विश्व के क्षणिकत्व का निरूपण भी उपनिषद् साहित्य की शिक्षा है। ऋतु के नियम ने ब्रह्माण्ड के नियम तथा व्यवस्था की ऐसी कल्पना प्रस्तुत की जिसम हर वस्तु का अपना अलग स्थान और भाग था, कर्म के सिद्धान्त ने इस सिद्धान्त मूलक नियम को विस्तृत करके उसम नये क्षेत्रो को सम्मिलित कर लिया उसम कर्म और उसके फल के अटल' नियम का प्रतिपादन किया गया और सुख दुख का सारा उत्तरदायित्व स्वय मनुष्य पर रखा गया। उपनिषदो ने मनुष्य को अपनी इच्छानुसार स्वय अपने सुख का विधाता या अपने हाथो अपने पर पर कुल्हाडी मारने वाला बना दिया। यद्यपि मनुष्य अपने कर्मों के फल के वश मे था पर वह कर्म के हाथो निस्सहाय खिलौना

---

[1] Brahman is the 'essence of the Universe, the Cosmice principle and the power which presents itself to us materialized in all existing things which creates sustains, preserves and receives into itself all worlds the infinite eternal divine power It is the source and refuge of all life as it is that from which these things are born that in which when born they live and that into which they enter at their death is Brahaman ' It is sat (truth) cit (spirit) and ananda (bliss) (B G Gokhale Ancient India p 149)

नही था, क्योकि इच्छा और कम दोना वही करता है और इसलिए वह 'कम' से अधिक 'शक्तिशाली' है।

(६) मोक्ष सिद्धान्त भी उपनिषद् साहित्य का एक महत्त्वपूण सिद्धान्त है। किन्तु सम्यक ज्ञान के अभाव म मुक्ति अलभ्य है। यह भी उपनिषदा का सकेत है।

(७) जीवन की पवित्रता, सदाचार और सुकम के प्रति उपनिषदो म प्रेरणा दी गई है।

(८) उपनिषद् साहित्य म कमकाण्ड की व्यथता को सिद्ध किया गया है। कहा भी है—यनरूपी नौका अस्थिर है ससार सागर से सन्तरण के लिए यन और कमकाण्ड पर विश्वास नही किया जा सकता।

वेदाङ्ग साहित्य

वदिक साहित्य के अध्ययनाध्यापन की सुव्यवस्था के लिए जिस साहित्य का सृजन हुआ है उस साहित्य को हम 'सूत्र साहित्य' कहते हैं। इस सूत्र साहित्य को ही वेदाङ्ग की सना से अभिहित किया जाता है। वेदाङ्ग छ है—शिक्षा, कल्प व्याकरण निरुक्त, छद और ज्योतिष। इस वदाङ्ग साहित्य को वेदो के साथ सम्बद्ध करने के लिए व्याकरण' को वद का मुख 'ज्योतिष' को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, 'कल्प' को हाथ 'शिक्षा' को नासिका और छद' को पाद कहा गया है।

'शिक्षा' का व्युत्पत्तिपरक अथ है वह विद्या जो स्वर वण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदश दे— स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारोयत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा"। वेद पाठ म स्वरा का महत्त्वपूण स्थान है। स्वर की अशुद्धि से महान् अनथ की सम्भावना रहती है। 'पाणिनीय शिक्षा मे लिखा है कि जो मन्त्र स्वर से या वण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अथ का प्रतिपादन नही करता है, वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है जसे कि स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ।[1]

शिक्षा ग्रन्थो म प्रातिशाख्य प्रमुख है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, अथववेद प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य तत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा सामवेद के—एक पुष्पसूत्र तथा दूसरा ऋक तन्त्र प्रातिशाख्य प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय निम्न शिक्षाग्रथ भी हैं—पाणिनीय शिक्षा यानवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा कात्यायनी शिक्षा पाराशरी शिक्षा माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, वणरत्न प्रदीपिका, केशवीय शिक्षा,

---

[1] पा० शि० श्लो० ५२ मन्त्रो हीनो स्वरतो वणतो वा।
मिथ्या प्रयुक्तो न तमथमाह॥
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति।
यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥

की व्याख्या सायण ने इस प्रकार की है— **निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तत्र निरुक्तम्'** अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है, वही निरुक्त है। टीकाकार दुर्गाचार्य के कथनानुसार अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण यह अंग इतर वेदांगों तथा शास्त्रों से प्रधान है, क्योंकि अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण। इस प्रकार महत्त्व की दृष्टि से निरुक्त भी वेदांगों में प्रमुख स्थान का अधिकारी है।

छन्द

छन्द वेद रूपी शरीर का 'पाद' है। वेद के मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। छन्दों के परिज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ समुचित रूप में कदापि नहीं हो सकता। कात्यायन ने स्पष्ट ही लिखा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान में हीन होकर मन्त्र का अध्ययन अध्यापन यजन याजन करता है उसका वह प्रयत्न निष्फल होता है। वेद के मन्त्र तो सर्वथा छन्दोबद्ध है, अतः छन्दों का ज्ञान प्राप्त किए बिना वेद मन्त्रों का यथार्थ उच्चारण कैसे सम्भव है? इसलिए छन्दों के परिज्ञान के लिए छन्द शास्त्र तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थों की रचना हुई है। इनमें ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र पिंगल का छन्द सूत्र तथा शांखायन के श्रौत सूत्र का कुछ अंश विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में पिंगलाचार्य कृत छन्द सूत्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। लौकिक छन्दों का विकास भी वैदिक छन्दों से ही हुआ है, लौकिक छन्दों का विवेचन करने वाले निम्न ग्रन्थों का उल्लेख धनराज ने किया है—छन्दोर्णव विष्णु सूत्र छन्दोरहस्य, छन्द प्रभाकर, छन्द प्रवेश, छन्दोरत्नाकर। वृत्तरत्नाकर भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

ज्योतिष

वेद की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन के लिए है तथा यज्ञ विशेष समय पर किये जाते हैं। इसी समय विशेष के निर्देश के लिए ज्योतिष शास्त्र की आवश्यकता है। नक्षत्र तिथि पक्ष, मास ऋतु तथा संवत्सर काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञों का निर्देश वेदों में उपलब्ध है। वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ— याजुष ज्योतिष तथा आर्च ज्योतिष हैं, जो क्रमशः यजुर्वेद एवं ऋग्वेद से विशेष सम्बद्ध हैं। परवर्ती काल में इस विषय पर भी ग्रन्थ रचना होती रही है। आदि भट्ट वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य एवं कमलाकर प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य हैं।

वेदानुक्रमणी

वेदों से सम्बद्ध एक अन्य साहित्य भी है, जिसे 'अनुक्रमणी' कहा जाता है। इस साहित्य में वेद मन्त्र, ऋषि छन्द देवता आदि की सूचियाँ हैं। शौनक कृत ऋग्वेद से सम्बद्ध सात अनुक्रमणी अधिक प्रसिद्ध हैं। सामवेद की 'आर्ष' और दैवत' नामक दो अनुक्रमणी हैं, जिनमें सामवेद के ऋषि और देवताओं का विवरण है। कृष्ण यजुर्वेद

की दो तथा शुक्ल यजुर्वेद की एक अनुक्रमणी भी उपलब्ध है। ऋग्वेद की अनुक्रमणि मे आर्पानुक्रमणी छन्दानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी पादानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, देवतानुक्रमणी एव बृहद्देवता प्रसिद्ध हैं जिनमे क्रमश ऋषि, छन्द, अनुवाक, पाद, सूक्त, देवता एव प्रत्येक मन्त्र के देवताओ आदि विषयो पर विचार किया गया है।

रामायण महाभारत

भारतीय सास्कृतिक एव साहित्यिक क्षेत्र मे रामायण तथा महाभारत महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है। ऋषि वाल्मीकि कृत रामायण 'आदिकाव्य' कहलाता है। इसके सम्बन्ध मे किम्वदन्ती है कि व्याध के बाण से विद्ध क्रौंच के लिए विलाप करने वाली क्रौंची के करुण क्रन्दन को सुनकर वाल्मीकि के मुँह से अकस्मात् वाणी निकली—हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौंच पक्षी को मारा है। अत तुम शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर सकोगे।" (२/१५) इस वाणी को सुनकर ब्रह्मा ने आविर्भूत हो, वाल्मीकि को इस रामायण महाकाव्य के सृजन की प्रेरणा दी थी।

रामायण के उत्तरकाण्ड एव बालकाण्ड को विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं। जकोबी के अनुसार इसका मौलिक रूप केवल पाच (२ ६) काण्डो का ही है। इसका रचनाकाल भी विवादास्पद है। किन्तु हमारे मत मे यह रचना बुद्ध के जन्म से पूर्व वर्ती है। इस महाकाव्य मे कोसल एव इक्ष्वाकु वश के राजाओ का वर्णन है। इसके नायक राम हैं। रामायण सस्कृति, धर्म, दर्शन तथा इतिहास आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। काव्य की दृष्टि से भी इसका महत्त्व अनुपम है। इसमे लेखक की कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है। अलङ्कार, शैली, रस चरित्र चित्रण, दन्त कथाओ—सभी की दृष्टि से यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती काल की अनेक रचनाओ का यह काव्य प्रेरणा-स्रोत भी है। त्रिविक्रमभट्ट ने कवि की प्रशसा मे लिखा है—सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला। नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा। (१/११) जिसने दूषण युक्त होते हुए भी निर्दोष खरयुक्त होते हुए भी सुकोमल रम्य रामायणी कथा की रचना की है उस (कवि वाल्मीकि) को नमस्कार करता हूँ। विरोधाभास अलङ्कार के इस चमत्कार से त्रिविक्रम भट्ट ने आदिकवि वाल्मीकि को नमस्कार किया है।

वाल्मीकि रामायण आदिकाव्य होने पर भी महाकाव्य के सम्पूर्ण गुणो से सम्पन्न है। इस काव्य मे रघुवश के प्रतापी राजा राम का जीवन-चरित काव्य रूप मे प्रस्तुत किया गया है। भारतीय-सस्कृति के आचार पक्ष को राम के जीवन के माध्यम से कवि ने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। राम का जीवन राजप्रासाद से लेकर वनवासियो का पर्णशाला तक देवताओ से लेकर दानवो तक शान्ति से युद्ध तक व्याप्त है। राम का जीवन वृत्त व्रत-पालन का अनुपम आदर्श है। राम के चरित्र मे बालक की रमणीयता के साथ यौवन की वीरता और प्रौढावस्था के कर्मयोग का अपूर्व समन्वय है। मानव-जीवन के वर्णाश्रम धर्म के आदर्श यदि कही सुरक्षित और

सुप्रतिष्ठित हैं तो वह वाल्मीकि रामायण ही है। राम एक पारस पत्थर हैं जिनके परिचय और समीप पहुचने पर प्रत्यक का उद्धार होता है। राम का व्यक्तित्व महान् है। उनके व्यक्तित्व का उल्लेख बालकाण्ड म विस्तार से हुआ है। इसी व्यापक व्यक्तित्व के कारण परवर्ती काल मे राम को विष्णु का अवतार माना गया है।'

वाल्मीकि रामायण ने परवर्ती काल मे उपजी य ग्र थ का काय किया है—चाहे जीवन क आदश हो या महान् यक्तित्व, चाहे काव्य के तत्त्व हा या का य रूपा का आदश। प्राकृतिक विभूति हो या मानवीय विभूति—दोनो ही दृष्टियो से रामायण प्रेरक का काय करती रही है। का य के अनिवाय तत्त्व—रस, अलकार, छ द, रीति आदि की रामायण मे जिस रूप म प्रतिष्ठा ह, उसका परवर्ती कवियो ने जम कर अनुकरण किया है।

काव्य के लक्षणा की कसौटी पर भी रामायण एक सफल प्रब ध काव्य है। इसम कथावस्तु की उदात्तता, घटनाओ का वचित्र्यपूण वि यास, भाषा का सौष्ठव, विचारो की यापकता एव मनोहारिता तथा रमणीय दृश्यो की योजना ह। अन्त एव बाह्य प्रकृति का भ य चित्रण, रस अलकार रीति, छन्द आदि का सफल प्रयोग निश्चय ही इस अनकृत महाका यो म भी मुख य स्थान दिला देते हैं। डा० व्यास ने लिखा है रामायण क रसास्वादन म कोई बाधा नही पडती और पाठक उसकी सहज स्वाभाविकता भाव प्रवणता एव सौ दय चेतना से म त्र मुग्ध हो उठता है। विषय की उत्कृष्टता घटनाओ का वचित्र्यपूण वि यास भाषा का सौष्ठव प्रकृति का अत्य त सजीव रूप म उपस्थापन पात्रों का मयादित विकास, मानवीय मनोभावो का उदात्तीकरण आदि जिस दृष्टि स भी दखें रामायण एक निपुण कवि-कलाकार की मनोहर रचना है। रस गुण अलकार तथा ध्वनि के सभी भेद प्रभेदो के उदाहरण रामायण म प्रचुर मात्रा म मिल जाते हैं। महाकाव्य का सवप्रथम निदशन वाल्मीकीय रामायण ही है। इसी का विश्लेषण करक आलकारिको ने महाका य क लक्षण प्रस्तुत किये हैं। लौकिक सस्कृत म श्लोक रचना का सवप्रथम श्रेय वाल्मीकि को ही प्राप्त है। काव्य और नतिकता का एसा मनमोहक सम वय अ यत्र नही पाया जाता।

वाल्मीकि रामायण म कवि की अपूव वणन शक्ति का परिचय मिलता है। वन आश्रम सना युद्ध राजप्रासाद नगर पवत नदी आदि का भव्य वणन इसम हुआ है। ऋतुओ न छह ऋतुएँ रामायण क सौन्दय को बढाती हैं। मानव प्रकृति का भव्य स्वरूप इस काव्य म सहज प्राप्त होता है। इसम एव प्रमुख एव मानव प्रकृति का चित्रित है। दशरथ का रानी रानियाँ उनका स्वभाव और उनक मनोभावो का चरम मनोमोहक रूप म चित्रित हुआ है। विशेष रूप स राम-वन गमन क परिणाम म जब दशरथ की मृत्यु हो जाती है तब कौशल्या का उन्मत्त स्वरूप व्यक्त होता है। उसक विचार और व्यवहार म भारतीय गौरवमयी नारी का गरिमा मिलता है।

राम और सीता के साथ लक्ष्मण के वन जाने को उद्यत होने पर सुमित्रा के विचार महान् हैं। दशरथ से वर माँगते समय तथा भरत के प्राप्त राज्य को अस्वीकार कर देने पर कैकेयी के मनोभावों का जो चित्रण कवि ने किया है वह अपूर्व है। राम के वन चले जाने पर भरत जब चित्रकूट स्थित राम से मिलने आते हैं, उस समय लक्ष्मण का दर्पमय स्वरूप और उनका आक्रोश लक्ष्मण के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। साथ ही इसी प्रसङ्ग में राम का आत्मविश्वास, भ्रातृप्रेम भी दर्शनीय है। सीता को जब दूसरी बार वन भेजा जाता है, उस समय उसके मनोभाव नारी चरित्र के अनुरूप हैं— हे सौम्य! इस जनशून्य आश्रम में मैं कैसे रहूँगी, तथा किसके समक्ष अपना दुःख कहूँगी? ऋषियों के पूछे जाने पर पतित्याग के कारण का क्या उत्तर दूँगी? क्योंकि मैंने कोई असत्कार्य नहीं किया है। हे लक्ष्मण! मैं तो गंगा में प्राण गवाँ देती किन्तु मैं ऐसा भी नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसा करने पर राजवंश और मेरे पति का परिहास होगा—

> सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता।
> आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा॥
> किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
> कस्मिन्वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना॥
> न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले।
> त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते॥

—उत्तरकाण्ड ४८/६-९

यहीं पर सीता पुनः कहती है कि हे वीर! अपवाद के भय से तुमने मेरा परित्याग किया है यदि वह वचनीय मेरे त्याग से दूर होता है तो वह मुझे स्वीकार है, क्योंकि तुम्हीं मेरी गति हो। यह बात हे लक्ष्मण धर्म पालन में तत्पर राजा से कह देना—

> अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
> यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
> मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
> वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः॥

—उत्तरकाण्ड ४८/११-१२

बाह्य प्रकृति की दृष्टि से चित्रकूट का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। राम कहते हैं कि मैं जब मनोरम चित्रकूट पर्वत को देखता हूँ तो राज्य का न मिलना, मित्रों का दूर रहना आदि सन्ताप व्यथित नहीं करते हैं। विभिन्न प्रकार के पुष्पों से उत्पन्न वायु नासिका को परितृप्त कर मन को प्रसन्न कर देती है—

> न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विना भवः।
> मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम्॥

गुहासमीरणो ग या नानापुष्पभवान् वहन् ।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य क नर न प्रहर्षयेत् ॥
—अयोध्याकाण्ड ६४/३/१४

कवि ने पम्पासरोवर, पम्पाकानन गगा नदी आदि का भी मनमोहक वणन किया ह । पम्पाकानन का वणन करते हुए कवि कहता ह कि चारो ओर पुष्पित कर्णिकार ऐसे प्रतीत होते हैं मानो स्वर्णाच्छादित पीताम्बरधारी मानव हो—

सुपुष्पितास्तु पश्यमाद कणिकारान् समन्तत ।
हाटकप्रतिसछन्नान्नरान् पीताम्बरानिव ॥ ४/१/२१

पम्पासरोवर का वणन देखिए—

सौमित्रे ! शोभते पम्पा वदूर्यविमलोदका ।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधद्रुम ॥ ४/१/३

हे लक्ष्मण ! वदूर्यमणि के समान स्वच्छ जल वाला पम्पासरोवर शोभायमान है, विकसित रक्त एव नीलकमल तथा अ य। य वृक्षो स भी यह शोभित है ।

रामायण म षडऋतुओ का भावुकतापूण वणन ह । वस त का वणन करते हुए कवि कहता ह कि—' गिर हुए गिरत हुए और वृक्ष पर लटकते हुए पुष्पो के साथ चारो ओर मानो क्रीडा करता हुआ मारुत वृक्षो की फूल स भरी हुई डालो को हिलाता डुलाता हुआ उडने वाले भ्रमरो का अपने साथ गायन करा रहा ह । मत्त कोकिल नाद से वृक्षो को मानो नचाता हुआ वायु पवत की क दरा स निकलते हुए सगीतपूण हो रहा ह ।

पतित पतमानश्च पादपस्थैश्च मारुत ।
कुसुम पश्य सौमित्रे क्रीडन्निव सम तत ।
विक्षिपन् विविधा शाखा नगाना कुसुमोत्कचा ।
मारुतश्चलितस्थान षटपदैरनुगीयते ॥
मत्तकोकिलसनादनर्तयन्निव पादपान् ।
शलक दरनिष्क्रा त प्रगीत इव चानिल ॥
४१/१३-१५

वर्षा वणन म कवि कहता ह कि नील मेघ का आश्रय लिए हुए बिजली जब चमकती है तो तपस्विनी सीता की भाति लगती ह, जब वह रावण की गोद म रही होगी । जल के अतिशय भार को लिय हुए बादल, पवतो के ऊँचे शिखरो पर बार म्बार विश्राम करते हुए आगे बढते हैं—

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुर ती प्रतिभाति मे ।
स्फुर ती रावणस्याके वदेहीव तपस्विनी ।

समुद्वहन्त सलिलातिभार बलाकिनो वारिधरा नद त ।
महत्सु शृगेपु महीधराणा विश्रम्य विश्रम्य पुन प्रयान्ति ।

४/२८/१२, २२

कवि आश्रम मे रहता हुआ प्रकृति को निकट से देखता था अत चाहे वर्षा हो या वसन्त अथवा हेमन्त, सभी का यथार्थ और मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। कवि दृष्टि ने शृङ्गार, युद्ध, प्रकृति, नगर और समाज सभी का यथार्थ निरूपण किया है।

रामायण पूर्णत काव्य के आदर्शों को लेकर नही लिखा गया है। उसमे जातीय गौरव की प्रतिष्ठा है, का य के समस्त तत्त्व विद्यमान हैं, किन्तु उसका प्रधान उद्देश्य नैतिकता की स्थापना है, भारतीय गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण तथा उसके आदर्शों की स्थापना करना है। इसलिए इसमे रस-निष्पत्ति की दृष्टि से कवि ने किसी एक अङ्गी रस की ओर विशेष आग्रह नही किया है, फिर भी इसमे शृगार, वीर करुण और शान्त को स्थान प्राप्त हुआ है। इसमे यदि युद्ध के घोष, विजय-दुन्दुभी के स्वर है तो साथ ही करुण रस का पारावार भी। आनन्दवर्धन ने रामायण मे 'करुण रस' को प्रधान रस माना है। निश्चय ही रामायण का आरम्भ करुण' से होता है। कवि की वाणी करुणा से परिप्लावित होकर ही व्याध को शाप देती है और सीता के अन्तर्धान होने पर रामायण का अन्त भी करुण ही है—

रामायणे हि करुणो रस स्वयमादिकविना सूचित शोक श्लोकत्वमागत'
इत्येववादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

(ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत)

रामायण म अनेक अलङ्कारो का कवि ने प्रयोग किया है। उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार की का य मे भरमार है। इनके अतिरिक्त रूपक, समासोक्ति आदि अलङ्कारो के दर्शन भी किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए अनन्वयोपमा अलङ्कार देखिए— 'सागर अम्बर के समान और अम्बर सागर के समान है, राम-रावण का युद्ध राम रावण के ही अनुरूप है।

सागर चाम्बरप्रख्यमम्बर सागरोपमम्।
रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव ॥ ६/१०७/५२

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण—

"मैं समझता हू सौन्दर्य के निर्माण कर्ता ब्रह्मा ने तुमको बनाकर फिर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं की। इसीलिए हे सुन्दरि ! तुम्हारे सौन्दर्य की उपमा ससार मे नही है—

त्वा कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
न हि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार के उदाहरण के लिए प्रकृति चित्रण प्रसग म उद्धत वसत ऋतु के श्लोक देखे जा सकते है।

उपमा का एक अन्य उदाहरण—

"अभागे ! तू सियार है और मैं सिंहनी हू। मैं तरे लिए सवथा दुलभ हूं। क्या तू मुझे पाने का साहस रखता है ? जस सूय की प्रभा पर कोई हाथ नहीं लगा सकता, वसे ही तू मुझ स्पश नही कर सकता।'

त्व पुतजम्बूक सिंही मामिहेच्छसि दुलभाम्।
नाह शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा।

३/४७/३७

समासोक्ति का एक उदाहरण—

चञ्चच्च द्रकरस्पशहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सध्या जहातु स्वयमम्बरम्॥

नृत्य करते हुए चन्द्रमा के कर (किरणों तथा हाथ) के स्पश स होने वाले हप स विकसित तारकाओ (तारा तथा नेत्र की पुतलिया) से युक्त राग (लालिमा और अनुराग) वाली सध्या स्वय अम्बर (आकाश तथा वस्त्र) को छोड दे, यह आश्चय है।' इस श्लोक म सध्या का वणन अनुरागवती नारी के सादृश्य पर किया गया है अत समासोक्ति अलङ्कार है।

रूपक अलकार का एक उदाहरण—

विषाद रूपी नक्रो स सवित और भय की तरङ्ग मालाओ से युक्त महान् शोकसागर म डूबी हुई मुझको तुम क्या नही बचाते हो—

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि।
किं मा न त्रायसे मग्ना विपुल शोकसागरे॥

आनुप्रासिक पदलालित्य स का य पूण है। उदाहरण के लिए—'सागर चाम्बरप्रख्यमम्बर उपयुक्त श्लोक दखा जा सकता है। इसी प्रकार दक्षिणा दक्षिण तीरम् आदि श्लोकाशो म अनुप्रास के प्रति कवि का आकषण मिलता है। आनुप्रासिक सगीतमय उदाहरण भी द्रष्ट य है—

मही कृता पवतराजिपूर्णा नाला कृता वृक्षवितानपूर्णा।
वृक्षा कृता पुष्पवितानपूर्णा पुष्प कृत केसरपत्रपूर्णम्॥५/७/६

छद की दृष्टि स कवि का प्रिय छद अनुष्टुप है, कि तु अ य छदो का प्रयोग भी कवि न किया है। भाषा कवि की मनोहारी है उदात्त है अलङ्कृत है रम णीय है। इसीलिए डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास ने लिखा है—

रामायण म होमर वर्जिल और मिल्टन की अपक्षा कहा अधिक भाषा का गाम्भीय, छन्दो का औचित्य और रस का परिपाक है।'

भारतीय साहित्य म वाल्मीकि की रामायण एक महान् प्रेरक स्रोत का काय करती रही है। उसने काय शली का आदश प्रस्तुत किया है। नतिकता और चारित्रिक आदश प्रस्तुत किये हैं। भावो का उदात्त दशन यदि कही होता है तो वह रामायण ही है। संस्कृत साहित्य और भारतवासी वाल्मीकि और उनकी रामायण के चिरऋणी हैं। मुरारि के शब्दो म— 'समस्त कवि रूपी व्यापारियो के लिए वाल्मीकि ने एक सामूहिक पूजी प्रस्तुत कर दी है —अहो सकल कविसाधसाधारणी खल्विद वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।"

वाल्मीकि के इसी प्रभाव को लक्ष्य कर किसी प्राचीन कवि ने लिखा है कि कवीन्दु वाल्मीकि को प्रणाम करता हू जिसकी रामायणी कथा को साधुजन उसी तरह चयन करत हैं जसे चकोर चद्रिका कणो को—

> कवी दु नौमि वाल्मीकि यस्य रामायणी कथाम।
> चद्रिकामिव चिर्वात चकोरा इव साधव।

रामायण एव वाल्मीकि का मूल्याकन करते हुए एक आलोचक न लिखा है—"वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय क ही प्रकाशक आदिकवि नही हैं बल्कि वे भारतीय संस्कृति क संस्कारक मनीषी भी हैं। कमनीय काय कला उनक रामायण के पद्यो म स्वत नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति, उनके पात्रो के द्वारा अपनी मनोरम झाकी दिखाती है। इसलिए कविता कल्पद्रुम क कमनीय कोकिलरूप वाल्मीकि का कूजन किस आन द विभोर नही बनाता ?"

रामायण की भांति ही महाभारत भी भारतीय सांस्कृतिक गौरवगरिमा का परिचायक अनुपम महाकाव्य है। इस जातीय इतिहास क अनुपम काय म कौरव पाण्डवो के इतिहास क साथ ही मूलत हिन्दू धम संस्कृति, दशन एव नतिकता आदि का विस्तृत सर्वाङ्गपूण चित्रण प्रस्तुत किया गया ह। यह एक विशाल २४००० श्लोकात्मक अठारह पव की रचना ह। इस काय क तीन संस्करण जय, भारत' तथा महाभारत' नामक ह। इस काय का क्रमिक विकास हुआ है। महाभारत के प्राप्त वतमान संस्करण म लोको की कुल संख्या एक लाख है। इसलिए महाभारत को शत साहस्री' भी कहते ह। इसके रचना काल क सम्ब ध म विवाद है। भारतीय विद्वान इसका समय अधिक प्राचीन मानते है कि तु श्री शिवदत्त ज्ञानी ने अपनी भारतीय संस्कृति नामक पुस्तक (पृष्ठ १५५) म लिखा है— महाभारत के रचना काल क सम्ब ध म निश्चित रूप स कुछ नही कहा जा सकता कि तु वर्णित विषय क आलोचनात्मक अध्ययन क सहारे मक्डानल प्रभति विद्वानो ने यह मत स्थिर किया है कि महाभारत का मौलिक रूप ई० पू० पाँचवी शताब्दी के लगभग का होना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र म भारत व महाभारत का उल्लेख आता है। इसस भी ई पू० पाचवी शताब्दी का समय निश्चित होना है।' कि तु महाभारत परवर्ती काल म लगभग ईसा की चौथी पाचवी शताब्दी तक अपन आधुनिक रूप म

आ चुका था। इसके आदि रचयिता वेदव्यास हैं, जिनका महाभारत के पात्रों से निकट सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ की मुख्य कथा कौरव पाण्डवों के युद्ध को लेकर चली है। इसमें मुख्य कथा के अतिरिक्त अनेक उपाख्यान भी सन्निष्ट हैं जिनमें शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गङ्गावतरण, ऋष्य शृंग कथा, राजा शिवि तथा उनके पुत्र उशीनर, जयद्रथ का द्रौपदी हरण, अर्जुन की स्वर्ग-यात्रा, सावित्री कथा तथा नल-कथा प्रमुख हैं। इन उपाख्यानों का आलम्बन कर परवर्ती काल में अनेक काव्य, नाटक, गद्य पद्य, चम्पू कथा, आख्यायिका आदि साहित्य की विधाओं का सृजन हुआ है। कृष्ण के जीवन का परिचायक हरिवंश पुराण भी महाभारत में जुड़ा है। इस प्रकार अपनी व्यापकता के कारण महाभारत एक विश्वकोश ही है। अतः व्यास का यह कथन महाभारत के सम्बन्ध में सर्वथा उचित ही है—'इस ग्रन्थ में जो कुछ है, वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है—

> धर्मेचार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
> यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥'
>
> —आदि २/३६०

यह एक महासागर है जिसमें मानव जीवन को तरंगित करने की अनन्त सामर्थ्य है। इसमें जीवन के विविध पक्षों को लेकर व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध रचनाओं का संकलन है। इनमें वर्ण्य विषयों की विविधता है इसमें पुराण, इतिहास, आख्यायिका, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवेद आदि विषयों का समावेश है—

> धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
> मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।
>
> —आदिपर्व ६२/२३

> अष्टादश पुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः
> वेदाः सांगास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम्।
>
> —स्वर्गारोहण पर्व ५/४६

> अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्,
> कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।
>
> —आदिपर्व

निःसन्देह लेखक ने पूर्ववर्ती भारतीय वाङ्मय का निचोड़ इस काव्य में समाविष्ट कर समाज और राष्ट्र के उत्थान और मार्ग दर्शन का पथ प्रशस्त किया है इसीलिए इसे पंचम वेद भी कहा गया है।

महाभारत की इस व्यापकता और महत्त्व को देखकर कहा गया है कि 'यह अमर भारत वृक्ष भावी कवियों के लिए उसी प्रकार उपजीव्य है और होगा, जैसे प्राणियों के लिए मेघ—

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुम ॥

निःसंदेह महाभारत न जाने कितने काव्य और नाटकों का उपजीव्य है, महाभारत की कथावस्तु, चरित्र, शिक्षा, उपदेश, उपमान आदि न जाने कितने तत्त्वों का परवर्ती साहित्य में अनुकरण किया गया है। विश्व में सम्भवतः एकाध ही ग्रन्थ ऐसा होगा जो महाभारत की तुलना में आ सके। यह कवि रूपी माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ ऐसा उद्यान नहीं है, जिसके लता वृक्ष पुष्प अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं बल्कि यह स्वाभाविक जीवनी शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्नपरिवर्धित विशाल वन है, जो अपनी उपमा आप ही है।'

महाभारत एक चरित्र काव्य है। इसमें भारतीय संस्कृति और भारतीयों का जीवन-दर्शन व्यक्त हुआ है। इसमें वर्णाश्रम धर्म और निष्काम कर्म को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। विलास और विकास साथ साथ नहीं चल सकते। इस बात को पाण्डव एवं कौरवों की कथा से स्पष्ट किया गया है। पाण्डवों ने साधना की, कष्ट सहे और राज्य प्राप्त किया दूसरी ओर कौरवों ने विलास भोगा और विनाश को प्राप्त हुए। भारतीय साहित्य में सर्वत्र यह भावना मिलती है कि हमारे चरितनायकों के गुणों का आविर्भाव विपत्तियों की कसौटी पर कसने के बाद ही होता है। महाभारत की कथा इसका प्रमाण है। महाभारत के पात्रों द्वारा महाकवि ने इसी नूतन जीवन दर्शन की स्थापना की है और साथ ही इन चरित्रों के द्वारा कलात्मक ढंग से चरित्र एवं नैतिकता की शिक्षा दी है। श्री सिलवाँ लेवी ने लिखा है— The Mahabbarat is not only the largest, but also the grandest of all epics as it contains throughout a lively teaching of morals under a glorious garment of poetry

वास्तव में नैतिकता एवं आदर्श की जितनी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण बातें इस काव्य में हैं उतनी अन्यत्र नहीं हैं। महाभारत के पात्र एक से एक बढ़कर महान् हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

'महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का विशाल वन है। इस ग्रन्थ में ऐसे पात्र कम हैं—नहीं हैं कहना अधिक ठीक है—जो महलों में पलकर चमके हों। सब के सब एक तूफान के भीतर से गुजरे हैं। उनका विकास कवि की सुनियन्त्रित योजना के इशारे पर नहीं हुआ है, बल्कि अपने आपकी भीतरी शक्ति के द्वारा हुआ है जैसे महावन का विशाल वनस्पति हो जो तूफानों और शिला वृष्टियों की चोट सहकर और पार्श्ववर्ती वनराजि की भयंकर प्रतिद्वंद्विता को पछाड़कर आकाश में सिर उठाता है। इन पात्रों ने अपना रास्ता स्वयं निकाला है, अपनी ही रची हुई विपत्ति की चिता में ये हँसते हँसते कूद गए हैं। महाभारत का अदना से अदना चरित्र भी

डरना नही जानता, आत्मविश्वास की कमी उच्छ्न धारा सवत्र नही मिल सकती। सबके चेहरे पर अनुभाव है अविश्वास की छाया कहा नहा पडी भांति की भिन्न स कोई विकृत नही हुआ—निर्भीक, साहसी तजस्वी। महाभारत' पढ़त समय पाठक एक जादू भरे वीरत्व क अरण्य म प्रवश करता है, जहाँ विपत्ति तो है पर भय नहीं है असफलता तो है पर निराशा नही है जीवन की गलतियाँ तो हैं पर उनक लिए अनुताप नही है। सरल तेज अकृत्रिम दप, निर्भीक वीरत्व, विवेकयुक्त कत्तव्य और अकपट आचरण महाभारतीय वीरा के चरित्र क मूलस्वर हैं।"

उदाहरण के लिए युधिष्ठिर भीम, अजु न, दुर्योधन, भीष्म, कृष्ण किसी भी पुरुष पात्र या किसी नारी पात्र का लिया जा सकता है। व्यास न पुरुषाथवाद का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है—

जिनक पास दव प्रदत्त दस उ गलियां वाल हाथ हैं उन्हे और क्या चाहिये? निश्चय ही उनके लक्ष्य की सिद्धि होगी। जिनक पास हाथ हैं उन्ही क लिए मेरे मन म सच्ची सराहना है। तुम भन ही धन की आर ताका, मं ता इन हाथा की ओर देखता हूं। पाणिलाभ स बढ़कर भी कोइ दूसरा लाभ है इस विश्व म?

अहा सिद्धार्थता तेषा यषा स तीह पाणय ।
अतीव स्पृहे तपा यषा सन्तीह पाणय ।
पाणिमद्भ्य स्पृहास्माक यथा तव धनस्य व,
न पाणिलाभादधिको लाभ कश्चन विद्यत ॥

—शान्ति पव १७०/११ १२

महाभारत की चरित्रिक विविधता और महत्त्वपूण शिक्षाओ के कारण इसकी सवत्र प्रतिष्ठा रही है। यह ग्र थ राजा से लकर रक तक के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। आबालवृद्ध इसस परिचित रह ह और शिक्षा ग्रहण करते रहे है। महाभारत के पात्र आज भी भारतीय जन मानस के प्रेरणा-स्रात है। इसीलिए जनमेजय ने आदि पव म कहा ह कि—प्राचीन महान् चरिता को सुनते हुए मेरा मन तृप्त नही होता ह—

न हि तृप्यामि पूर्वेषाभ्रृण्वानश्चरित महत् ।

—आदि पव ६२/३

महाभारत एक काय ग्र थ ह। महाकाय क प्राय लक्षण इस पर घट जाते है कि तु महाकाव्य की अपेक्षा यह विश्वकोश अधिक ह। फिर भी इसम काव्य की सम्पूण विशेषताओ का अनुसधान किया जा सकता ह। स्वय व्यास ने भी इसे काय' कहकर काव्य के अनिवाय उपकरणा का आदि पव म इस प्रकार सकेत किया हैं—

यह महाभारत शुभ श ब्दा स देवताआ और मनुष्यो स अलकृत विविध प्रकार के छन्दो स निर्मित विद्वानो को प्रिय होगा—

अलकृत शुभै शब्द ममर्यादि यमानुपे ।
छ दोवृत्त श्च विविधर्रा वत विदुषा प्रियम् ॥

—आदिपव १/२८

महाभारत म का य क कथानक विस्तार के तत्त्वा का पूणत प्रयोग किया गया है । सक्षिप्त पताका और प्रकरी जसी प्रासगिक कथाओ का इसमे प्रयोग है । सम्पूण का य सवादो क माध्यम स लिखा गया है । सवाद जहाँ एक ओर पात्रो के चरित्र चित्रण म योगदान करते है वहा कथानक का विस्तार भी । इसके सवाद प्रवाह पूण, ओजस्वी, अथ की गम्भीरता से सम्पन्न तथा शक्तिशाली हैं । इस का य का प्रत्येक पात्र वक्ता अपने विचारो को पूण आत्मविश्वास क साथ यक्त करता है । सवाद स्पष्ट और पूण हैं । रोचकता इनकी विशेषता है । कवि ने चित्रोपम शली मे भ य चित्र भी प्रस्तुत किये हैं ।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से महाभारत एक महान् काव्य है । इसके चरित्र भ य और उदात्त हैं । *प्रत्येक पात्र अपना स्वत त्र व्यक्तित्व रखता है । सजीवता तथा* वषिध्य इनकी विशेषता है । इस दृष्टि से अभी ऊपर विचार किया जा चुका है ।

काव्य म सममामयिक परिस्थितियो और उस युग का भव्य चित्र भी मिलता है । कथानक इतना व्यापक है कि आज तक वह सैकडो काव्य और नाटको का उप जीव्य बन चुका है और निर तर अपनी जीवन शक्ति से भारतीय मानस को प्राणा वित कर रहा है ।

का य का एक तत्त्व रमणीयता भी है, इसकी कथा इसके चरित्र, इसके सवाद, इसके पात्र और इसका स देश सभी कुछ रमणीय है । काव्य की इस रमणीयता ने रस की पूणत सष्टि की है । का य म वीर शृगार, करुण एव शान्त रस की सत्ता देखी जा सकती है ।

कवि ने का य म कूट शली का भी अपनाया है । इस काव्य म लगभग ८८०० कूट श्लोक हैं, जो कवि की प्रतिभा के परिचायक हैं । उदाहरण के लिए यह कूट श्लोक देखा जा सकता है—

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रीश्चतुर्भिवश कुरु ।
पन्च जित्वा विदित्वा षट सप्त हित्वा सुखी भव ॥

अर्थात् (एकया) एक बुद्धि के द्वारा (द्वे) क्त याक्तव्य का निश्चय कर (त्रीन) मित्र, शत्रु और तटस्थो को (चतुर्भि) साम दाम दण्ड-भेद नीति के द्वारा वश म करे । (पञ्च) पाच इन्द्रियो को जीतकर (षड) स धि विग्रह, यान, आसन, द्व धीभाव, *साम आश्रय आदि को जानकर (सप्त)* स्त्री जूआ शिकार मद्यपान, कठोर वचन, दण्ड अथदोप आदि सात दोषो को छोडकर मनुष्य सुखी होवे ।

का य के तीनो गुण—माधुय, ओज और प्रसाद—इसमे विद्यमान हैं । युद्ध-

वणन म ओज गुण और वीर भावना का परिचय मिलता है। शृङ्गारिक वणना म माधुय गुण देखा जा सकता है। वारणिक प्रसग प्राय प्रसाद गुण स सम्पन्न है।

भाषा शली और छ द की दृष्टि स विचार करने पर महाभारत काव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। इसम संस्कृत का तत्कालीन बोलचाल का रूप विद्यमान है। शब्दो म आप संस्कृत के अनेक प्रयोग भी मिल जाते हैं। वदिक आप प्रयोग, पौराणिक कथा शली और अलकृत काव्य शली गद्य, पद्य और गद्य पद्य मिश्रित स्थल वदिक त्रिष्टुप् और लौकिक अनुष्टुप छन्द ' के प्रयोग महाभारत म सुलभ हैं। निस्स देह महाभारत की शली म एकरूपता नही है।

महाभारत म अलकारो का प्रयोग अपनी स्वाभाविक स्थिति म मिलता है। महाभारत का सर्वाधिक प्रिय अलकार उपमा है। उपमा के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति दृष्टान्त अनुप्रास और रूपक अलकारो की भी खोज की जा सकती है। उपमा एव अतिशयोक्ति से युक्त एक उदाहरण द्रष्टव्य है—'मेरी जिस प्रियतमा को कभी वायु और आदित्य भी नही देख पाते थे वही दमयन्ती आज अनाथ की तरह सभा भवन म भूमिशयन कर रही है"—

या न वायुन चादित्य पुरा पश्यति मे प्रियाम्।
सेयमद्य सभा मध्ये शेते भूमावनाथवत्॥

राजा नल के इस कथन म स्वाभाविकता भी है।

अनुप्रास एव उपमा से युक्त यह श्लोक दशनीय है— स्थूल नितम्ब और स्तनो वाली वदर्भी ने आधे वस्त्र से अपने शरीर को ढक रखा था। वह पौणमासी के चन्द्र के समान सुकुमार एव निष्कलक अगो वाली थी—

तामधवस्त्रसवीता पीनश्रोणिपयोधराम्।
सुकुमारानवद्यागी पूणच द्रनिभाननाम्॥

महाभारत मे अतिशयोक्ति अलकारो की भरमार है, उदाहरण के लिए—'जब भीम चलता था तो पृथ्वी कापती थी गजयूथ डरते थे वह वायु के वेग के समान चलता था सिंह व्याघ्र और मृगो को कुचलता था बडे बडे वृक्षो को उखाड फेंकता था।' अजुन जब शस्त्राभ्यास करते थे तो शल विदीण हो जाते थे, वायु का चलना ब द हो जाता है। सूय की चमक और अग्नि का जलना ब द हो जाता है। (वन पव १४६/३६ ३८ १७६/७)

आशय यही है कि कवि ने सरल और स्वाभाविक रूप मे यत्र तत्र अलकारो का प्रयोग किया है किन्तु यह भी निश्चित है कि कवि का अलकारो के प्रति विशेष आग्रह नही है।

प्रकृति चित्रण की दृष्टि से महाभारत भरपूर है। वनपव म जगल की भयकरता आदि के चित्र हैं। कही नदी का वणन है तो कही पवत आदि का, तो कहो जगली पशुओ का।

महाभारत सुदर एव शिक्षाप्रद सुभाषिता का अथाह सागर है। गीता, विदुलोपाख्यान, विदुरनीति तथा भीष्म पव आदि म जावन क अनुभव क आधार पर उपदेश हैं जो कि शाश्वत सत्य का उद्घाटन करते है। य कथन आज लोकोक्तियो का रूप धारण कर चुके हैं। उदाहरण के लिए कुछ द्रष्टव्य हैं—

१—अलात तिदुकस्येव मुहूर्त्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चि धूमायस्व जिजीविषु ॥

२—मुहूर्त्त ज्वलित श्रेयो, न च धूमायित चिरम् ॥

३—स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानव।
स लोके लभत कीर्ति परत्र च शुभा गतिम् ॥

४—न कुल वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मति।
अन्तष्वपि हि जाताना वृत्तमेव विशिष्यते ॥

५—सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यत।
मजया रक्ष्यत रूप कुल वृत्तेन रक्ष्यते ॥

६—य एव यत्न क्रियत परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्न कत्तव्य स्वराष्ट्रपरिपालने।

७—वृत्त यत्नन सरक्षेत वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्तत क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहत ॥

८—ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नव कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धम किन्न सेव्यते ॥

निष्कर्ष रूप म हम कह सकते है कि "अपने आधुनिक रूप म महाभारत केवल एक महाकाव्य ही नही है, वह एक एमा रचना है जिसम धम, नीति, दशन तथा लोक ज्ञान की ऐसी समस्याओ पर विचार किया गया है, जो इस देश के असख्य व्यक्तियो के जीवन की मूलाधार हैं। इसम हमारे सामूहिक अचेतन का सारतत्त्व प्रतिबिम्बित होता है।"[1]

नि स देह य दोनो ही काव्य महान् हैं और भारतीय सस्कृति एव साहित्य के गौरव-ग्रन्थ है, रामायण एव महाभारत एसी महान् शास्त्रीय रचनाए हैं जिनसे इसके बाद के शास्त्रीय साहित्य न कवल कथानक की विषय वस्तु म ही नहीं, बल्कि शैली

---

[1] वी० जी० मोखन एशियन्ट इण्डिया पृ० १६८
The Mahabharata as it stands is more than an epic, it is a work which treats of matters pertaining to religion, morals, philosophy and worldly wisdom of vital interest to millions in this country Through it is reflected 'the substance of our collective unconscious

और छन्द रचना में भी उद्धृत कुछ लिया है। परवर्ती साहित्य में महाभारत तथा रामायण की अनेक घटनाओं को लेकर नाटकों तथा काव्यों की रचना की गई है और वाल्मीकि की काव्य रचना के सौन्दर्य तथा अलंकारों के कुशल प्रयोग ने ही कालिदास की कोमल तथा परिमार्जित काव्य कला के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।[1]

केवल कालिदास ही नहीं, प्रत्येक भारतीय कवि इन दोनों महाकवियों और इनके काव्यों से सर्वतामुखी प्रभाव ग्रहण करता है। अतः इनका प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर सहज उपलब्ध है।

पुराण

भारतीय साहित्य में पुराण साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं जीवन दर्शन का परिचय पुराण साहित्य से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार में पुराणों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू धर्म को जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने में वैदिक साहित्य के बाद पुराण साहित्य ने ही प्रमुख कार्य किया है।

पुराण शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' है—पुराणमाख्यानम्। पुराण का शाब्दिक अर्थ पुराना है। पुराण साहित्य भारतीय प्राचीन इतिहास को प्रस्तुत करता है। किन्तु केवल इतिहास ही नहीं—कहीं उससे अधिक व्यापक आयाम को लेकर चलता है।

पुराण साहित्य का विकास क्रम चार अवस्थाओं में हुआ है। उन चार अवस्थाओं के तिथि क्रम का निर्देश श्री शिवदत्त ज्ञानी ने इस प्रकार किया है—

(१) वंशाख्यान (ई० पू० १२०० से ई० पू० १०००) इसमें राजाओं तथा ऋषियों की वंशावलियाँ, राजाओं के आख्यान आदि का समावेश होता है। (२) इतिहास पुराण या द्वन्द्वीकरण (ई० पू० १००० से ई० पू० ६००) इसके अन्तर्गत महापुराणों के भविष्य वर्णन का समावेश हो सकता है तथा ब्राह्मण उपनिषद् आदि काल में इसी अवस्था का पौराणिक साहित्य वर्तमान था। (३) पञ्चलक्षण (ई० पू० ६०० से ई० स० १००) सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, वर्णाश्रम, श्राद्ध, दार्शनिक सिद्धान्त आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है। (४) साम्प्रदायिक (ई० स० १०० से ई० स०

---

[1] वी० जी० गोखले एंशियेंट इण्डिया पृ० १६८

'The Mahabharat and the Ramayan are the great 'classics' to which the later classical literature is indebted not only for much of its episodic matter, but also in the matter of style and metre. Themes from the Mahabharat and the Ramayan are freely borrowed in later literature and worked into drama and poetry and the elegance of Balmiki's handling of metre and his skilled use of figures of speech are precursors of the daintiness and polish of Kalidas.'

७००) शिव विष्णु आदि की भक्ति, तीर्थ-माहात्म्य आदि का वर्णन इस अवस्था का सूचक है।

किंतु पुराणों के रचना काल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। विल्सन महोदय अपनी दृष्टि से पुराणों का समय ईसा से लगभग एक हजार वर्ष बाद में मानते हैं। पार्जिटर महोदय वायु पुराण को प्राचीनतम मानते हुए ई० पू० तृतीय शतक का मानते हैं। मत्स्य पुराण को ई० स० २०० के लगभग का माना जाता है। विष्णु तथा मार्कण्डेय हरिवंश आदि पुराण गुप्तकालीन हैं भागवत पुराण सातवीं शताब्दी का है। दूसरी ओर भारतीय विद्वान् इन्हें प्राचीन सिद्ध करते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय पर्याप्त विवेचन एवं प्रमाणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "पुराण का अस्तित्व वैदिक काल में भी था। ईसवी से छः सौ वर्ष पूर्व वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही पुराण ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। मूल पुराण उपलब्ध नहीं हैं। पुराण एक शताब्दी की रचना नहीं है, समय-समय पर उनमें नये नये अध्याय जोड़े गए थे। गुप्तकाल तक वे अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुके थे।"[1] आशय यह है कि पुराण संकलन ग्रन्थ हैं निरन्तर इनमें संशोधन एवं परिवर्धन होते रहे हैं।

पुराण साहित्य भारत का धार्मिक राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक भौगोलिक परिचय प्रस्तुत करते हैं। इनमें राजाओं, आचार्यों के वर्णन से लेकर वर्णाश्रम, ब्राह्मण धर्म, श्राद्ध, व्रत, सांख्य योग, राजाओं की वंशावली आदि सभी कुछ है। दर्शन और भक्ति इसका प्रमुख विषय है। धार्मिक दृष्टि से पुराणों में वेदविहित धर्म का सरल भाषा में वर्णन है। मूर्तिपूजा द्वैत अद्वैत भावनाओं का पौराणिक गाथाओं द्वारा अच्छा उल्लेख किया गया है। शिलालेखों और विभिन्न व्यक्तियों के यात्रा वर्णनों के अनुसार ये राजनीतिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं। समाज का सुन्दर एवं भव्य शैली में विस्तृत वर्णन किया गया है। तीर्थों आदि के वर्णन से धार्मिक विचार तथा भारत की भौगोलिक स्थिति का वर्णन किया गया है। स्मिथ महोदय ने यह सिद्ध कर दिया है कि मत्स्यपुराण में जिन आन्ध्र राजाओं के शासन काल का वर्णन मिलता है वह यथार्थ है। क्षत्रियों की विचारधारा ओज और यश का वर्णन भी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अनन्य चित्र प्रस्तुत करता है। विभिन्न महापुराणों में पुराण का लक्षण तथा विषय वस्तु का उल्लेख करने वाला यह श्लोक मिलता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् सर्ग (सृष्टि) प्रतिसर्ग (सृष्टि का विस्तार लय तथा पुनः सृष्टि) सृष्टि की वंशावली, मन्वन्तर (किस किस मनु का समय कब कब रहा और उस

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५० ५५

काल की महत्त्वपूर्ण घटना क्या थी), वशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन—यह पुराणों के विशिष्ट पाँच विषय हैं। इन विषयों के वर्णन के अतिरिक्त वास्तव में पुराण साहित्य का विषय एक विश्व कोष या भारतीय ज्ञान कोष कहना अधिक उपयुक्त है।

पुराण साहित्य को दो वर्गों में बाँटा गया है—(१) महापुराण तथा (२) उपपुराण। संख्या की दृष्टि से महापुराण तथा उपपुराण अठारह अठारह हैं। वे निम्न हैं— महापुराण — (१) मत्स्य, (२) मार्कण्डेय (३) भविष्य, (४) भागवत (५) ब्रह्माण्ड (६) ब्रह्मवैवर्त, (७) ब्राह्म (८) वामन (९) वराह, (१०) विष्णु (११) वायु,(शिव) (१२) अग्नि (१३) नारद (१४) पद्म, (१५) लिङ्ग (१६) गरुड, (१७) कूर्म, तथा (१८) स्कन्द।

उपपुराण—(१) सनतकुमार (२) नारसिंह, (३) स्कन्द, (४) शिव, (५) आश्चर्य (६) नारदीय, (७) कापिल, (८) वामन (९) औशनस, (१०) ब्रह्माण्ड, (११) वारुण (१२) कालिका (१३) महेश्वर (१४) साम्ब (१५) सौर (१६) पाराशर (१७) मारीच (१८) भार्गव।

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत धर्मसूत्र स्मृतियों आदि का अन्तर्भाव होता है। धर्मसूत्रों का सूत्र साहित्य के अन्तर्गत उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ विशिष्ट धर्मसूत्रों का पुनः संकेत मात्र करेंगे। गौतमीय धर्मशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन धर्मसूत्र है, यह सामवेद की राणायनीय शाखा के अन्तर्गत आता है। 'हारीतय धर्मशास्त्र' प्राचीन तथा विशिष्ट धर्मशास्त्र है। 'वशिष्ठ धर्मशास्त्र' में इन दोनों का उल्लेख किया गया है। बोधायन धर्मशास्त्र' और आपस्तम्बीय धर्मसूत्र कृष्ण यजुर्वेद की शाखा से सम्बद्ध हैं। इन धर्मसूत्रों का काल ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से द्वितीय शताब्दी तक माना जाता है। वैष्णव धर्मशास्त्र में विद्वान् प्रक्षेप स्वीकार करते हैं। क्योंकि वैष्णव धर्मशास्त्र' में यूनानी ज्योतिष के पारिभाषिक शब्द विद्यमान हैं अतः इसका समय ईसा की तृतीय शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं है। वैखानस धर्मशास्त्र' में वर्णाश्रम धर्म की विस्तार से चर्चा है। विद्वान् इसे परवर्ती रचना मानते हैं। इनके अतिरिक्त पठीनसी शातु लिखित, उशनस, काश्यप बृहस्पति आदि धर्मसूत्र भी हैं, जिनकी प्राचीनता के सम्बन्ध में सन्देह किया जाता है।

धर्मशास्त्र का श्रेष्ठ रूप स्मृतियों में मिलता है ये स्मृतियाँ श्लोकात्मक हैं इनमें सामाजिक आचार विचार व्यवहार राजधर्म की विस्तार से चर्चा की गई है। प्राचीनतम स्मृति मनु की है। मनु का उल्लेख भारतीय साहित्य में वेद, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र एवं महाभारत आदि विशिष्ट ग्रन्थों में मिलता है। ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में मनु भारतीय साहित्य में चिर परिचित हैं किन्तु मनुस्मृति की रचना ई० पू० २०० से पूर्ववर्ती नहीं है। किन्तु अन्य स्मृतियों से प्राचीन होने के कारण २०० ई०

के बाद की रचना भी नहीं है। अत जमा कि बुह्लर ने इसका काल ई० पू० २०० से २०० ई० के मध्य म माना है, हम भी मानते हैं।

मनुस्मृति म बारह अध्याय हैं मनुस्मृति के आधार पर ब्रह्मा ने मनुस्मृति की रचना कर मनु को सुनाई मनु ने भृगु को, भृगु ने इसे मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस स्मृति के प्रथम अध्याय म सृष्टि उत्पत्ति वणन द्वितीय अध्याय म धम का प्रामाण्य तथा ब्रह्मचारी धर्मों का निरूपण है। तृतीय चतुथ और पचम अध्याय म गृहस्थ धम का विस्तार से निरूपण है जिसम विवाह पचयज्ञ, श्राद्ध, सदाचार, भक्ष्याभक्ष्य आदि का प्राधान्यन उल्लेख किया गया है। षष्ठ अध्याय म वानप्रस्थ तथा सन्यास धम का सप्तम अध्याय म राजधम का, अष्टम अध्याय म व्यवहार, साक्षी, ऋण और उसका शोध दान, चोरी, व्यभिचार आदि का विवेचन है। इनके अतिरिक्त नवम अध्याय म राजधम वश्य तथा शूद्रो के कत्त यो पर भी विचार किया गया है दशम अध्याय म वणसकर वणधम और आपद्धम, एकादश अध्याय म दान, यज्ञ तप का तथा द्वादश अध्याय म पुनज म और मोक्ष आदि का निरूपण किया गया है।

नारद स्मृति

यद्यपि नारदस्मृतिकार के अनुसार यह मनुस्मृति से भी प्राचीन रचना है किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। यह ईसा की द्वितीय शताब्दी अथवा उसके बाद की रचना है। बाण ने इसका उल्लेख किया है। आठवा शताब्दी मे इस पर आपाय ने टीका लिखी है। सातवी आठवी शताब्दी म रचित बृहस्पतिस्मृति भी अपूण मिलती है। याज्ञवल्क्यस्मृति भी स्मृतियो म एक महत्त्वपूण उल्लेखनीय स्मृति है। रचनाकाल की दृष्टि से यह ई० तृतीय शताब्दी की रचना हो सकती है। याज्ञवल्क्य स्मृति म वर्णित विषय मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक क्रमबद्ध है। इसम आचार और व्यवहार आदि के अलग अलग अध्याय हैं। इसकी सवश्रेष्ठ टीका विज्ञानभिक्षु रचित 'मिताक्षरा' है जिसका समय एकादश शतक है। पराशरस्मृति भी एक उल्लेखनीय रचना है। आजकल १५० के लगभग स्मृतिया मिलती हैं।

स्मृति साहित्य की अधिकता क कारण परवर्तीकाल मे स्मृतियो का सार सचय कर 'धम निबन्ध' लिखे जाने की परम्परा का उदय होता है। इस प्रकार के धम निबन्धो के लखको म लक्ष्मीधर हलायुध, देवणभट्ट, हेमाद्रि चण्डेश्वर जीमूतवाहन आदि महत्त्वपूण हैं।

बौद्ध साहित्य (समय ई० पू० द्वितीय शतक से ई० चतुथ शतक)

पालि साहित्य का प्राचीनतम रूप हम बुद्ध के वचनो के सग्रह म मिलता है। बुद्ध वचनो के सग्रह का नाम त्रिपिटक है जिसका अथ है तीन पिटक—'पेटतिशब्द करोति सव समाहरति'। पिटक शब्द का सामान्य अथ है विस्फोट, फोडा, पिटारी,

पटी, मजूषा, टोकरी तथा पिटक अर्थ में—पालि आगमों के तीन अंगों की ओर संकेत करता है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य तीन पिटकों में समाहित किया गया है। वे तीन पिटक हैं—

(१) विनय पिटक, (२) सुत्तपिटक, तथा (३) अभिधम्म पिटक। विनय पिटक जिसमें बौद्ध श्रमणों तथा भिक्षुओं के संघ के विनय, अर्थात अनुशासन और आचार सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। सुत्तपिटक', जिसमें धम्म (धर्म) अर्थात बौद्ध सिद्धान्तों का भगवान् बुद्ध के सूक्तों (जिससे पालि का 'सुत्त' शब्द निकलता है)—संवादों द्वारा निरूपण किया गया है एवं 'अभिधम्मपिटक' जिसमें अभिधम्म अर्थात् अधिक धर्म (अतिरिक्त सिद्धान्तों अथवा पूरक उपदेशों) का निरूपण किया गया है। इसीलिये ये पालि पिटक त्रिपिटक कहलाते हैं।'[1]

विनय पिटक स्वतः एक परिपूर्ण ग्रन्थ है। इस पिटक में बौद्ध धर्म सम्बन्धी नियमों का निर्देश मिलता है जिसमें बौद्ध संघ के प्रबन्ध एवं भिक्षु भिक्षुणियों के दैनिक कार्य कलापों से सम्बद्ध नियम हैं। कहा जाता है कि इन नियमों का निर्माण स्वयं भगवान् बुद्ध ने किया था (विनयपिटक में २२७ नियम अनेक रूपों में विभक्त हैं। विनयपिटक की विषयवस्तु तीन भागों में अथवा तीन ग्रन्थों में विभक्त है—

(१) सुत्तविभंग, (२) खन्धक तथा (३) परिवार अथवा परिवार पाठ।

सुत्त विभंग सूत्रों की व्याख्या है। इसमें जिन सूत्रों की व्याख्या की गई है वे पातिमोक्ख' नियम कहलाते हैं। सुत्तविभंग के दो भाग हैं। एक पाराजिक'—इसमें चार धर्मों का उपदेश है। दूसरे पाचित्तिय में ९२ धर्मों का उपदेश है। इन दोनों का सम्बन्ध क्रमशः धर्म बहिष्कार तथा प्रायश्चित से है। खन्धक' दो भागों में विभक्त है—महावग्ग और चुल्लवग्ग। 'महावग्ग' में धर्म नियम तथा धर्माचार से सम्बद्ध नियम संगृहीत हैं। चुल्लवग्ग' में बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन कहानी रूप में वर्णित है तथा संगीतियों एवं विभिन्न विधानों का विवरण भी इसमें है। इसमें बारह सर्ग हैं जिनमें से नौ भिक्षुओं के जीवन के नियमों से सम्बन्धित हैं। परिवार पाठ शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ है। पातिमोक्ख में चार पाराजिक भिक्षुओं के वस्त्रों प्रवणोत्सवों भिक्षापात्रों प्रायश्चित और कर्मकाण्ड व धनी भिक्षुओं की आवश्यकताओं तथा शिक्षा उपासना और शुद्धि का निर्देश मिलता है। परिवार विनयपिटक के सम्पूर्ण नियमों का सारांश है जोकि प्रश्नोत्तरमयी शैली में है।

सुत्तपिटक

सुत्तपिटक में तर्क और सम्वादों के रूप में भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों का संग्रह हैं इनमें गद्य संवाद हैं मुक्तक छन्द हैं, प्राचीन छोटी छोटी कहानियाँ हैं। सुत्तपिटक साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। यह पाँच निकायों अर्थात संग्रहों में विभक्त

---

[1] हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ४६५

है—(१) दीघनिकाय (२) मज्झिमनिकाय, (३) संयुक्तनिकाय (४) अंगुत्तरनिकाय, तथा (५) खुद्दक निकाय।

दीघनिकाय में चौंतीस सुत्त हैं जिनमें बौद्ध धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण है। इस निकाय को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—सीलक्खंध महावग्ग, तथा पाथेय या पातिकवग्ग। इनके सूत्रों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सूत्र स्वयं अपने में पूर्ण है। प्रत्येक सूत्र में एक छोटी सी भूमिका है जिसमें भगवान् बुद्ध की विभिन्न परिस्थितियों की चर्चा है जिन परिस्थितियों में यह उपदेश किया गया है। इस निकाय की महत्त्वपूर्ण बातें निम्न हैं—'विश्व की उत्पत्ति जाति व्यवस्था की कृत्रिमता ईश्वर से मिलने के साधन, पुनर्जन्म निर्वाण आत्मज्ञान, आत्मचिंतन या यास चमत्कार आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त, उदार धार्मिक विचार पूर्व बुद्ध, वस्तुओं का कारण और ब्राह्मण का वास्तविक स्वरूप। इसमें एक महत्त्वपूर्ण सुत्त है 'महापरिनिब्बान सुत्त' जिसमें भगवान् बुद्ध के अंतिम दिनों उनके निधन और अन्त्येष्टि के विस्तृत और रोचक वृत्तान्त हैं।" सुत्तपिटक का दूसरा ग्रन्थ 'मज्झिम निकाय' है। इसमें एक सौ बावन सुत्त हैं जोकि पन्द्रह वर्गों में विभक्त हैं। इस निकाय में बौद्ध धर्म सम्बन्धी सर्वाङ्गीण विवेचन मिलता है। जैसे ब्राह्मण यज्ञ, योग के अनेक रूप, बुद्ध का जनों से सम्बन्ध और तत्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति, बौद्ध धर्म के चार सत्य, रूप या कर्म सिद्धान्त, आत्मवाद का खण्डन, ध्यान की अनेक पद्धतियों आदि का विवेचन इस निकाय में मिलता है। संयुत निकाय सुत्तपिटक का तीसरा निकाय है। संयुत (संयुक्त) निकाय ऐसे सुत्तों का संग्रह है जिनमें मानसिक चारित्रिक तथा दार्शनिक समस्याओं का निरूपण है। यह सुत्त ५६ सुत्तों का समूह है जो पाँच विभागों में विभक्त है जिनके नाम निम्न हैं—सगाथवग्ग, निदानवग्ग, खंधवग्ग, सलायतनवग्ग, महावग्ग। इनमें कुल सुत्त संख्या ७७६२ है। किन्तु आज केवल प्राप्त २८८९ ही है। अंगुत्तर निकाय (अंगुत्तर अर्थात् संख्या के बढ़ते हुए क्रम से संकलित सुत्त संग्रह) में अनेक धर्मों का विवेचन है। इसमें तेइस सौ सुत हैं जो ग्यारह विभागों में बंटे हुए हैं जिनको निपात कहते हैं। ये निम्न हैं—एक निपात, दुक निपात, तिक निपात चतुक्क निपात पंचक निपात, छक्क निपात, सतक निपात, अटठक निपात, नवक निपात, दसक निपात एकादसक निपात। इन निपातों में एकरूपता है, जोकि वीर रसात्मक शैली में निबद्ध है। खुद्दक निकाय सुत्त निपात का अंतिम भाग है। इसमें पन्द्रह ग्रन्थ संगृहीत हैं। इन ग्रन्थों के विषय विभिन्न समयों के सूचक हैं। खुद्दक निकाय का अधिकांश भाग पद्य में है। बौद्ध साहित्य में यह साहित्य महत्त्वपूर्ण है। ये पुस्तकें निम्न हैं—

(१) खुद्दक पाठ—इस में वगलमेध्यादि छोटे छोटे मंत्र हैं जो दीक्षा के समय पढ़े जाते हैं। (२) धम्मपद—यह बौद्ध साहित्य का सर्वोत्तम अंश है। इस पुस्तक की गणना सुप्रसिद्ध धर्म पुस्तकों में की जाती है। इसमें बौद्ध धर्म की आचार सम्बन्धी

शिक्षाओं का विवेचन सुन्दर रूप में किया गया है। इसमें ४२३ ज्ञान एवं अनुभव की गाथाएँ हैं। यह रचना बौद्ध धर्म में गीता के समान महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। (३) उदान (प्रसन्नता उत्साहपूर्वक और आनन्दपूर्ण वचन)—उल्लासमय काव्य ही उदान है, उदान में आठ वग हैं जिनमें प्रत्येक में दस सुत्त हैं। प्रत्येक सुत्त में बुद्ध के जीवन की कोई विशिष्ट घटना उल्लिखित है और अन्त में उस अवसर पर दिया गया बुद्ध का उपदेश अंकित है। (४) इतिवुत्तक (ऐसा बुद्ध ने कहा)—इसमें गद्य पद्यात्मक बुद्ध के छोटे छोटे ११२ सुत्त हैं जिनमें बिना किसी विस्तार के बुद्ध की शिक्षाएँ निहित हैं। एण्डरसन के अनुसार यदि यह बुद्ध वचन नहीं तो और कुछ बुद्ध वचन नहीं हो सकता। (५) सुत्त निपात—यह ५ भागों में पद्यबद्ध सुत्तों का संग्रह है। इन सुत्तों की भाषा प्राचीन है, अधिकांश सुत्त बुद्धकालीन हो हैं। बुद्ध धर्म की जानकारी के लिए यह धम्मपद के समान ही महत्त्वपूर्ण है। अशोक के भाब्रू शिलालेख के तीन उपदेश इसमें हैं। (६) विमानवत्थु तथा (७) पेतवत्थु में मानव द्वारा इस लोक के पाप पुण्य तथा उनसे मिलने वाले नरक और स्वर्ग के दुःख सुख का वर्णन है। ये दोनों रचनाएं परवर्ती हैं। (८) थेर गाथा—थेर गाथा में भिक्षुओं के उद्गार हैं जोकि दार्शनिक हैं वरणीय कर्त्तव्य उपासना विचार तथा संसार की सारहीनता पर विचार एवं दुःखवाद की स्थापना की गई है। (९) थेरी गाथा—थेरी गाथा में भिक्षुणियों के उपदेश संगृहीत हैं। ये गीतात्मक हैं भावों की दृष्टि से सुन्दर हैं। (१०) जातक बौद्ध साहित्य की लोकप्रिय पूर्व जन्म की कथाओं का संग्रह है। बुद्धत्व प्राप्ति की योनियों का उल्लेख है। इसकी कहानियाँ प्रधान हैं संख्या की दृष्टि से ये ५०० से अधिक है। (११) निद्देस अथवा महानिद्देससुत्त सारिपुत्त द्वारा लिखित है जो कि सुत्त निपात की एक भाग की अट्ठकथा (टीका) है। (१२) पटिसम्भिदा मग्ग एक धार्मिक पुस्तक है। (१३) अपदान में भिक्षुणियों के पूर्व जन्म की कथायें हैं (१४) बुद्ध वंश—इसमें बारह कल्पों में हुए गौतम बुद्ध से पूर्ववर्ती २४ बुद्धों की पद्यात्मक कहानियाँ है। चरियापिटक में बुद्ध के पूर्व जन्म की विभिन्न पारमिताओं का वर्णन है। यह ३५ जातकों का पद्यबद्ध संग्रह है।

अभिधम्म पिटक—अभिधम्म पिटक में बौद्ध धर्म का दार्शनिक चिन्तन निहित है। वस्तुतः इसकी विषय वस्तु का सुत्तपिटक से पर्याप्त साम्य है किन्तु अभिधम्मपिटक में दार्शनिक निरूपण अधिक है। अभिधम्मपिटक में सात बड़े बड़े ग्रन्थ हैं। धम्म सगणि में चित्त चेतसिक तथा अव्याकृत धर्म का विश्लेषण है। गणनात्मक परिप्रश्नात्मक शैली पर मानसिक चित्तवृत्तियों तथा भौतिक जगत की व्याख्या भी है। विभंग—वस्तुतः चित्तचेतसिक का सुसम्पादन मात्र है। धातुकथा में विभंग के अठारह विभागों में से केवल तीन भाग स्कन्ध आयतन एवं धातु को ग्रहण किया है। पुग्गल-पञ्ञत्ति में नैतिक दृष्टि से विकसित होने वाले व्यक्तियों का वर्णन है। कथावत्थु में विभिन्न मतों का खण्डन कर स्थविरवाद की स्थापना है जोकि २३ सर्गों में विभक्त

है। यमक में पूरक जोड़ा का वर्णन है। पट्ठान में प्रतीत्यसमुत्पाद नामक बुद्ध के सिद्धान्त का वर्णन है। बुद्ध वचनों का यह विभाजन विषय एवं स्वरूप की दृष्टि से हो है ग्रन्थों की दृष्टि से नहीं। अतः इसे औपचारिक ही कहा जा सकता है।

'विनयपिटक का अधिकांश भाग ३५० ई० पू० के पहले अवश्य ही बन चुका था। यही बात सम्भवतः सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। खुद्दक निकाय का अधिकांश भाग तीसरी शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुका था। अभिधम्मपिटक की अन्तिम पुस्तक कथावत्थु की रचना अशोक के राज्यकाल ई० पू० तीसरी शताब्दी में हुई थी।'[1]

इस पिटक-साहित्य के अतिरिक्त बौद्धों का अनुपिटक साहित्य भी महत्वपूर्ण है। अनुपिटक उस साहित्य का नाम है जिसकी रचना त्रिपिटक साहित्य के निर्माण के अनन्तर होती है। आज भी अनुपिटक-साहित्य का सृजन हो रहा है अतः इस सुदीर्घ काल में निर्मित साहित्य के इतिहास को तीन भागों में बाँटकर अध्ययन किया गया है—(१) पूर्वबुद्धघोष युग (२) बुद्धघोष युग, तथा (३) परवर्ती बुद्धघोष युग अथवा टीका युग। प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी तक के इस पूर्व बुद्धघोष युग में (१) नेत्तिपकरण, (२) पेटकोपदेश (३) सुत्तसंग्रह, (४) मिलिन्दपञ्ह तथा (५) दीपवंश की रचना हुई है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण है 'मिलिन्दपञ्ह' तथा 'दीपवंश' यह ऐतिहासिक रचना है। 'अनुपिटक साहित्य' के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोष के आविर्भाव काल से प्रारम्भ होता है। इस युग में बुद्धघोष के प्रसिद्धि प्राप्त ग्रन्थ— 'विसुद्धमग्ग' और उनकी अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि की अट्ठकथा भी लिखी गई हैं। इस युग का रचना काल ५वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक माना गया है। इस युग में इतिहास ग्रन्थ 'महावंश' कच्चान का व्याकरण तथा अनिरुद्ध का 'अभिधम्मत्थसंग्रह' भी निर्मित हुए हैं। प्राचीन भारत का यह साहित्य थेरवादियों का है।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का साहित्य संस्कृत में लिखा गया है वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हीनयान के सर्वास्तिवादियों के भी कुछ ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए हैं। महायानियों के 'वैपुल्यसूत्र' प्रसिद्ध हैं। वैपुल्यसूत्रों के अन्तर्गत निम्नलिखित सूत्र प्रसिद्ध हैं—(१) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (२) सद्धर्मपुण्डरीक (३) ललितविस्तर (४) लंकावतार अथवा सद्धर्मलंकावतार (५) सुवर्णप्रभास (६) गण्डव्यूह, (७) तथागत गुह्यक अथवा तथागत गुणज्ञान, (८) समाधिराज और (९) दशभूमीश्वर। महायान साहित्य के अन्य ग्रन्थों में अवदानशतक और दिव्यावदान भी हैं। अश्वघोष के महायान श्रद्धोत्पाद 'सौन्दरानन्द' 'बुद्धचरित', सूत्रालंकार, वज्रसूची 'सारिपुत्रप्रकरण'। अश्वघोष की प्रशंसा करते हुए एक फ्रांसीसी विद्वान् ने लिखा

[1] प्राचीन भारत पृ० १६६

है—ईसा की आरम्भिक शताब्दी में जिन महान् धाराओं ने भारत को रूपान्तरित कर नवजीवन दिया उनके आरम्भ बिन्दु पर वह खड़ा है। कवि, संगीतज्ञ, प्रचारक, आचार्य, शास्त्री, दार्शनिक, नाटककार और कथाकार के रूप में वह इन कलाओं की खोज निकालने वाला है और सब में पारंगत भी। अपनी बहुलता और विभिन्नता में वह मिल्टन, गेटे, कान्ट और वाल्तेयर की याद दिलाता है।[1] अश्वघोष के पश्चात् द्वितीय शताब्दी का नागार्जुन भी बौद्धसाहित्य में महत्त्वपूर्ण है, उनका 'अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता' बहुमूल्य ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ महायान के प्राचीनतम सूत्रों में गिना जाता है। आर्यदेव भी नागार्जुन का समसामयिक है उसकी 'चतुःशतिका' प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, चन्द्रगोमिन आदि विद्वान् साहित्य लेखक महत्त्वपूर्ण हैं।

तमिल साहित्य

भारतवर्ष की प्राचीन भाषाओं में संस्कृत और पालि के अतिरिक्त प्राचीनतम भाषाओं में द्रविड परिवार की 'तमिल' भी महत्त्वपूर्ण है। तमिल साहित्य के रचना काल की सीमाओं के सम्बन्ध में विवाद होते हुए भी विद्वान् ई० पू० ५वीं शताब्दी और ५वीं ई० शताब्दी के मध्य में रखते हैं। तमिल का प्राचीनतम साहित्य 'सङ्गम साहित्य' है। संगम (विद्वान् परिषद्) में कुछ विशिष्ट कवि और विद्वान् होते थे अपने सामने आने वाली रचना पर स्वीकृति प्रदान करते थे।

संगमसाहित्य आज पूर्णतः उपलब्ध नहीं है किन्तु दूसरे संगम से सम्बद्ध केवल एक ग्रन्थ—तोलकाप्पियम् प्राप्त है। यह मुख्यतः व्याकरण ग्रन्थ है, किन्तु इसमें तत्कालीन आचार विचार रहन सहन पर भी प्रकाश पड़ता है। तृतीय संगम का साहित्य अधिकांश में उपलब्ध है इस साहित्य को दो रूपों में बाँटा जा सकता है—संग्रहग्रन्थ और महाकाव्य। संग्रहग्रन्थों में—(१) पत्तुपट्टु (दस खण्डकाव्य), (२) एट्टुथोकई (आठ संग्रह) और (३) पडीनेन कील्लनैक्क (१८ संक्षिप्त शिक्षामय कविताएं)।

खण्डकाव्यों में नक्कीरर कृत 'नेडुनलवाडई' प्रसिद्ध रचना है इसमें शिविर स्थित पाण्ड्य नरेश नेडुल जलियन और विरहग्रस्त रानी की मनःस्थिति का चित्रण है। रुद्रन कन्नार कृत पत्तिनप्पालइ में नायक के अन्तर्द्वन्द्व (वीर और शृङ्गार) का मार्मिक चित्रण है।

आठ संग्रहों में अन्तिम 'पुरनानूरु' अधिक प्रसिद्ध है। इसमें १५० तमिल कवियों की कविताएं संगृहीत हैं। इन कविताओं में तमिल प्रान्त के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

---

[1] सिल्वा लेवी—कलकत्ता रिव्यू सितम्बर १९२३, पृ० १७७

धम, अथ और काम की शिक्षा देने वाले छोटे छोटे शिक्षा काव्यग्रन्थो मे तिरुवल्लुवर तिरुक्कुरल' अथवा कुरल' श्रेष्ठ रचना है।

दस महाकाव्यो म— शिलप्पादिकारम्' और मणिमखलई तमिल साहित्य के मीपस्थानीय ग्र थ है इनकी तुलना सस्कृत के रामायण और महाभारत से की जाती है। इन रचनाओ का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। शिलप्पादिकारम का शाब्दिक अथ है नूपुर की कहानी। इसी काव्य को अपना आधार बनाकर हिन्दी के लेखक अमृतलाल नागर ने 'सुहाग के नूपुर उपन्यास की रचना की है। इस काव्य मे नायक कोवलन के माधवी नामक वेश्या से प्रेम की कहानी है। इस कहानी म धमपत्नी सती साध्वी कण्णकी के पातिव्रत, सतीत्व तथा उसके अभिशाप की सुदर अभिव्यक्ति हुई है। मणिमेखलई इसी का समसामयिक ग्र थ है, तथा पूरक भी। इसकी नायिका मणि मेखलई' माधवी से उत्पन्न कोवलन की पुत्री है। कण्णकी से प्रेरणा प्राप्त कर भाग्य चक्र के थपेडे खाती हुई अन्तत वह बौद्ध-भिक्षुणी बन जाती है।

यह सम्पूण तमिल साहित्य ई० पू० द्वितीय शतक से ई० की चौथी शती के अन्तगत निर्मित हुआ है।

लौकिक साहित्य

गुप्तकाल के उदय के साथ भारतीय साहित्य म क्रान्तिकारी परिवतन होता है और वह क्रान्तिकारी परिवतन भारतीय-साहित्य का एक स्वर्णिम पक्ष प्रस्तुत करता है। अभी तक निर्मित समस्त साहित्य धार्मिक परिवश मे लिखा गया साहित्य था, अत उसकी परिस्थिति एव उद्देश्य भिन्न थे किन्तु विशुद्ध साहित्य का सृजन गुप्त युग की देन है। कुषाण युग म ब्राह्मण धम एव लौकिक सस्कृत की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी उसका पूण विकास गुप्त युग म होता है। श्री० के० एम० पणिक्कर ने लिखा है 'गुप्तकाल म उच्च कोटि के सस्कृत साहित्य का सृजन हुआ। इसे सस्कृत साहित्य का श्रेष्ठ युग कहा जा सकता है। पाणिनि के पश्चात पाँच सौ वर्षों तक सस्कृत का परिमाजन और परिष्कार होता रहा- और तब कहीं वह कालिदास के समय म अपनी लावण्य माहित्य सुषमा से अत्यन्त मनोरम बन गई।' इस लौकिक सस्कृत का इस युग म विकास हुआ। "इस लौकिक सस्कृत स हमारा आशय उस भाषा से है—जिसम व्याकरणाचाय पाणिनि द्वारा प्रतिपादित व्याकरण के नियमो का, जिनकी व्याख्या पतजलि जस टीकाकारो ने की है न्यूनाधिक रूप म पालन किया जाता है। इस साहित्य की शैली म गद्य की अपेक्षा पद्य को प्रधानता प्राप्त है और अलकारमय भाषा गद्य तथा पद्य दोनो ही की विशिष्टता है। सस्कृत का अथ होता है परिमार्जित परिष्कृत । परिष्कृत सस्कृत म विभिन्न बोलियो के रूपान्तर नहीं हैं, वह पूणत पाणिनि तथा उनके अनुयायियो के नियत्रण म और महाकाव्यों से उत्तराधिकार म मिली हुई परम्परा का यथासम्भव इन नियमो का पाबन्द बना देने का प्रयत्न करती है।" भाषा का यह रूप साहित्यिक रचनाओ म अभिव्यक्ति का सामान्य माध्यम बन गया और धीरे धीरे अभिलेखो म भी उसने प्राकृत भाषाओ का

स्थान ले लिया। जूनागढ़ में रुद्रदामन का अभिलेख और इलाहाबाद में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उन अभिलेखों के केवल दो उदाहरण हैं जिनमें अलंकारमय संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है, जो विकास के एक लम्बे मार्ग की द्योतक है।[1]

लौकिक संस्कृत के नाटकों में नाटककार भास का स्थान महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने लगभग तेरह नाटक लिखे हैं जिनके नाम ये हैं—स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा, अविमारक, चारुदत्त, बालचरित दूतघटोत्कच, दूतवाक्य कर्णभार मध्यमव्यायोग, पंचरात्र, उरुभंग, प्रतिमा और अभिषेक। इस नाटककार के जीवन काल के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। विद्वान इसे ई० पू० चौथी शताब्दी से लेकर ई० की सातवीं शताब्दी का मानते हैं, किन्तु हमारे मत में इनका समय गुप्तकाल से पूर्ववर्ती है। भास के नाटकों का कथानक ऐतिहासिक तथा कल्पित है रामायण और महाभारत पर भी आधारित है। "इनके नाटकों में चरित्र चित्रण का सराहनीय कौशल और समाज की गहरी जानकारी का परिचय मिलता है और ये भव्य तथा प्रवाहमयी भाषा में लिखे गए हैं।"

भास के अनन्तर लौकिक संस्कृत साहित्य के लेखकों में बौद्ध कवि अश्वघोष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अश्वघोष केवल प्राचीन कवि ही नहीं हैं उनका साहित्य भी उच्चकोटि का है अश्वघोष कनिष्क के राजदरबार के कवि थे। अश्वघोष के दो महाकाव्य हैं— बुद्ध चरित और सौन्दरानन्द। प्रथम में भगवान बुद्ध का जीवन चरित्र, तथा दूसरे में सुन्दरी और शाक्यवंशी बौद्ध भिक्षु नन्द की कथा का वर्णन है। "अपनी कविताओं में अश्वघोष ने काव्य रचना में अपनी निपुणता और दर्शन तथा व्याकरण की व्यापक जानकारी का परिचय दिया है। परन्तु अश्वघोष नाटककार भी थे जैसा कि मध्य एशिया में पाये गये उनके नाटकों से पता चलता है— इनमें से एक नाटक सारिपुत्र प्रकरण है जिसमें बुद्ध के प्रमुखतम शिष्यों सारिपुत्र तथा मौदगलायन द्वारा बौद्धमत अंगीकार करने का वर्णन किया गया है। सूत्रालंकार महायान, श्रद्धोत्पाद वज्रसूचि तथा गण्डीस्तोत्र गाथा आदि रचनाओं का श्रेय भी उन्हीं को दिया जाता है। अश्वघोष की रचनाओं में भाषा की सरलता और शैली की भव्यता के कारण बौद्धमत की कुछ अत्यन्त दुर्ज्ञेय धारणाएँ भी आसानी से समझ में आने लगती हैं।"

कालिदास

गुप्तयुगीन महाकवि कालिदास एवं नाटककार भी हैं। काव्य एवं नाटक दोनों ही क्षेत्रों में उनका सानी अन्य कवि नहीं है। लौकिक संस्कृत साहित्य को अपने चरम गौरव पर पहुंचाने का श्रेय कालिदास को प्राप्त है। कालिदास की कुल रचनाएँ सात हैं—ऋतु संहार, मेघदूत, कुमार सम्भव और रघुवंश नामक चार काव्य कृतियाँ, तथा मालविकाग्निमित्रम् विक्रमोर्वशीयम् तथा शाकुन्तलम् तीन नाटक हैं। कविकुल

[1] बी० जी० गोखले प्राचीन भारत, पृ० १७१

गुरु, कालिदास का समय विवादास्पद है किन्तु आज विद्वानों का बहुमत उन्हें गुप्त कालीन मानता है। कालिदास उपमा अलंकार के प्रयोग में, नारी के रूप सौंदर्य के चित्रण में अद्वितीय हैं। महाकवि कालिदास के काव्य सौंदर्य का उल्लेख करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास की रचनाओं में काव्य शैली अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी क्योंकि कालिदास की कविता में भावनाओं को प्रधानता प्राप्त है अलंकारों को नहीं। अलंकार भावनाओं पर छा जाने के बजाय केवल उनकी शोभा बढ़ाते हैं। कालिदास के निकट भाव कविता की आत्मा होते हैं और यद्यपि कविता में अलंकार जन्य सौंदर्य के प्रति उनकी रुचि बहुत थी, पर वह रस के फेर में अपने मुख्य लक्ष्य का हनन कभी नहीं करते।" निस्सन्देह 'कालिदास की कविता में हम ज्ञान तथा भाव काव्य कला तथा वस्तुनिष्ठा निष्कलंक भाषा तथा उदात्त रस का एक अनोखा समन्वय मिलता है। उनकी प्रत्येक रचना एक ऐसे मेधावी पुरुष की कृति प्रतीत होती है जो अपनी शक्ति का ज्ञान होते हुए भी अपनी विनम्रता के कारण महान् है।' कालिदास का शाकुन्तलम् नाटक विश्व का एक श्रेष्ठतम नाटक है। उसका एक-एक वाक्य और उसका एक एक शब्द उनकी अनन्य प्रतिभा का परिचायक है। मानव भावनाओं का इतना व्यापक चित्रण अन्य नाटकों में कम ही मिलता है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण एक विद्वान् ने लिखा है, "उनकी कल्पना की ऊंचाई, छन्दों का मधुर संगीत, भावों की कवित्वपूर्ण अभिव्यंजना, भाषा का प्रसाद गुण तथा उपमाओं की चित्रमयता एवं सांगोपांगता आदि महाकवि के काव्य के विशिष्ट गुण हैं। उपयुक्त शब्दचयन, ललित पदावली, मनोरम उपमाओं एवं सुन्दर कल्पनाओं द्वारा पाठक के हृदय में रस का उद्रेक कराकर उसे उस चरम आनन्द की अनुभूति कराते हैं जिसके लिए हमारे ग्रन्थों में 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द का प्रयोग किया गया है।

कालिदास ने साहित्यिक रचना में इतनी उच्च मानदण्ड एवं कवित्व शक्ति का परिचय दिया था कि परवर्ती प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने लाख प्रयत्न किए किन्तु उस स्तर तक न पहुंच सके। समय की गति के साथ परिष्कृत संस्कृत शैली अन्य ... गूढ़ अलंकारों तथा जटिल वाक्य रचनाओं के कारण भाराक्रान्त हो उठी और कविता की आत्मा इस भार के नीचे कुचल कर रह गई। परवर्ती युगों के आलोचनात्मक मूल्यांकन में कविता और पांडित्य प्रदर्शन बहुत खतरनाक हद तक एक दूसरे के निकट आ गये और धीरे धीरे साहित्य पर पतन की छाया पड़ती गयी। साहित्यकारों ने अनुकरण का पथ अपना लिया और वाक् चातुर्य ने उदात्त भावनाओं का स्थान ले लिया।'

---

[1] गोयल एंशिएण्ट इण्डिया पृ० १७४

He creates such high forms of literary composition, that his successors however eminent in their own right fall for short of them As the years roll by, the classical Sanskrit style be

भारवि कृत किरातार्जुनीयम् १८ सर्गों का सुन्दर काव्य है। यह सप्तम शतक की रचना है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें वन पर्व की पाण्डवों की कथा का उल्लेख है। कालिदास की परम्परा की कुछ छाया इस काव्य पर भी है। भारवि का अर्थ गौरव 'भारवेरर्थ गौरवम्' सस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है। इस काव्य की विशेषता है चरित्र चित्रण, उदात्त शैली और महाकाव्योचित रूप में प्रस्तुत करने वाली कल्पना शक्ति। इसी परम्परा में भट्टी काव्य के रचयिता भट्टी स्वामी हैं। यह ग्रन्थ राजा श्रीधर सेन के समय वलभी में सप्तम शतक में लिखा गया है। यह काव्य बाईस सर्गों का है। इसमें राम चरित्र का वर्णन है किन्तु कविता का प्रमुख उद्देश्य सस्कृत व्याकरण के नियमों को समझाना है। माघ कविकृत शिशुपाल वधम नवम शतक का कलात्मक शैली एवं चमत्कार प्रधान काव्य है। यह बीस सर्गों का महाकाव्य है। इसमें श्रीकृष्ण द्वारा चदिराज शिशुपाल के वध का वर्णन है।

श्रीहर्ष कृत नैषध चरित बारहवी शताब्दी का अलंकृत शैली का काव्य है, इसमे लम्बे लम्बे बाईस सर्ग है। निषधराज नल इसके नायक हैं। काव्य का विस्तार, कल्पना शक्ति अलंकारों का चमत्कार और पदलालित्य इस काव्य की विशेषताएँ हैं। रत्नाकर का हर विजय (नवम शतक) कालिदास का नलोदय कविराज का 'राघव पाण्डवीयम्' (स० ८००) विल्हण का विक्रमाकदेव चरित तथा परिमल गुप्त (१०६१ ६२ वि० स०) का 'नव साहसाङ्कचरित' भी ऐतिहासिक महाकाव्य की परम्परा में उल्लेखनीय है।

खण्ड काव्य गीति-काव्य

गीति-काव्य की परम्परा में कालिदास का 'ऋतु सहार' और 'मेघदूत' शीर्ष स्थानीय हैं। मेघदूत ससार के कुछ महत्त्वपूर्ण काव्यों में से एक है। इनके अतिरिक्त कवि विल्हण की चौरपचाशिका भर्तृहरिकृत शृगार शतक वैराग्य शतक नीति शतक भी महत्त्वपूर्ण हैं। भर्तृहरि की कविता की प्रशसा में एक विद्वान् लेखक लिखता है— हम सस्कृत का श्रेष्ठतम रूप देखते है। भर्तृहरि का हर छन्द साधारणतया स्वत पूर्ण होता है और एक छन्द में एक ही विचार को चाहे वह प्रेम का भाव हो अथवा विरक्ति का या करुणा का पूर्णत बडे परिमार्जित ढग से व्यक्त किया जाता है। सस्कृत में विचारो को सक्षेप में व्यक्त करने की जो असाधारण क्षमता है उसका

---

comes heavy with ponderous metaphors and involved constructions under the weight of which the spirit of poesy lies smothered Poetry and pedanty come dangerously close to each other in the critical estimation of later ages and decadence slowly spreads its shadow Imitation becomes the vogue and the loftines of spirit yields place of verbal brilliance."

सवश्रेष्ठ उदाहरण हम भतृहरि की कविता म मिलता है। इस कविता को पढकर हमारे मस्तिष्क म एक पूण समष्टि का चित्र बनता है जिसके विभिन्न अग किसी आंतरिक प्रेरणा के वश एक दूसरे म विलीन हो जाते हैं।" दूसरे कालिदास कृत शृगार तिलक, अमरुक का अमरुशतक, जयदेव का गीतिगोविन्द भी सस्कृत साहित्य के इतिहास म बेजोड भावपूण कलात्मक तथा ललित पदावली से समन्वित महत्त्वपूण गीतिकाव्य हैं।

नाटक

नाटककारो म कालिदास का स्थान सर्वोच्च है हम कालिदास के विषय मे विचार करते हुए इनकी काव्य प्रतिभा का उल्लख कर चुके हैं।

गुप्तयुग के नाटककारो म शूद्रक का महत्त्वपूण स्थान है। शूद्रक के नाटक का नाम मृच्छकटिक है इसम एक धनवान वणिक चारदत्त तथा सहृदय वेश्या वस तसेना के जीवन का चित्रण है। इस नाटक म यथार्थवादी दृष्टिकोण से तात्कालिक समाज का सर्वाङ्गपूण चित्रण किया गया है।

प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द के लेखक सम्राट श्रीहष सरल, सयत भाषा तथा अलकारो के प्रयोग मे कुशल थे।

महावीर चरित, मालती माधव तथा उत्तररामचरित नाटको के लेखक भव भूति सवशास्त्र निष्णात नाटककार थ। उत्तररामचरित मे नाटककार के सर्वाङ्गपूण कौशल का परिचय मिलता है और मानव विचारो तथा भावनाओ के विषय म लेखक का मार्मिक न न सराहनीय है। नाटककार विशाखदत्त की मुद्राराक्षस रचना भी नाट्य-क्षेत्र की महत्त्वपूण कृति है। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि म लिखी गई सराहनीय रचना है। इसम विचारो तथा घटनाक्रम को जिस ढग से प्रस्तुत किया गया है उससे लेखक की प्रतिभा का परिचय मिलता है। इस नाटक की भाषा अत्यन्त प्रभावशाली और उच्चकोटि की है राजनीतिक दावपेच, वीरता तथा कौतूहल नाटक की विशेषताए हैं। भट्टनारायण का वेणी सहारम' नवम शतक का वीर रस पूण सुन्दर नाटक है। इसम ६ अक हैं। द्रौपदी का अपमान और भीम की प्रतिना इस नाटक की कथा वस्तु है। वीर रस की दृष्टि से नाटक सुन्दर है।

गद्य लखको मे दण्डीकृत (छठी शती) 'दशकुमार चरित' एक महत्त्वपूण रचना है इस गद्य कृति म तत्कालीन सामाजिक जीवन की सुन्दर झाँकी मिलती है। दण्डी का पदलालित्य यमक तथा अनुप्रास सस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध हैं। कहा भी है—दण्डिन पदलालित्यम्। 'वासवदत्ता नामक गद्यकृति के लेखक सुबन्धु (सप्तम शतक) हैं वासवदत्ता म वासवदत्त तथा वत्सराज उदयन की प्रेम कहानी वर्णित है। परवर्ती गद्य लेखको ने इसकी प्रशसा की है। बाणभट्ट (ई० स० ६०६ ६४७) सस्कृत गद्य साहित्य के मूधन्य कलाकार हैं। इनकी कादम्बरी' तथा हषचरित' नामक

दो गद्यकृतियाँ हैं। इनकी कादम्बरी एक प्रेम कहानी है, कथानक वचित्र्यपूर्ण है, भाषा म अलकारा का सौ दय है लालित्य है लम्बे-लम्बे जटिल वाक्य एक दूसरे के बाद भ यगति से चले आते है और हृदय पर प्रभाव डालते है। बाणभट्ट की सस्कृत साहित्य के गद्य लेखकों म पर्याप्त प्रशसा हुई है इसलिए कहा भी है— बाणोच्छिष्ट जगत्सवम' कि तु इन समस्त गद्यकारो की कवित्वशक्ति मे चमत्कार तथा कृत्रिमता की अधिकता है। अत रसास्वादन सभी के लिए सुलभ नही है।

लघुकथा

लघुकथाओं म गुणाढ्य (१ २ य शती) की बृहत्कथा, विष्णु शर्मा की पचतत्र तथा हितोपदेश वताल पञ्चविंशति सिहासन द्वात्रिंशिका, शुक सप्तति, बृहत्कथामजरी (क्षमेन्द्र १०३७ ई०), कथासरितसागर (सामदेव १०७० ई०) आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

चम्पूकाव्य

गद्य पद्य से समन्वित काव्य को चम्पू' कहते हैं। यद्यपि गद्य-पद्यात्मक काव्य रचना की परम्परा प्राचीन है, किन्तु चम्पूका य का प्रचार परवर्ती है। प्राचीनतम चम्पूकाव्यों म त्रिविक्रम भट्ट (ई० स० ९१५) का 'नलचम्पू' है। इसम नल दमय ती की कथा है। सोमदव कृत यशस्तिलकचम्पू' हरिश्चन्द्र कृत जीवनधर चम्पू (ई० स० ९००) भोज व लक्ष्मणभट्ट रामायणचम्पू' अन तकृत भारतचम्पू' महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि चम्पू साहित्य प्रकाशित अप्रकाशित रूप म बहुत है कि तु महत्त्वपूर्ण चम्पूकाव्य यही हैं।

अलकार शास्त्र

वदिक साहित्य म भी अलङ्कारो का प्रयोग मिलता है। काव्यशास्त्रीय अनक तत्त्वों की वदिक साहित्य म खोज की गई है। किन्तु उल्लेखनीय का य शास्त्र क ग्रथो म भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र (२०० ई० पू०) अग्नि पुराण (ई० स० २०० ३००) मधाविन् (४०० ई०) दण्डी कृत का यादर्श (६०० ई०) भामह (७०० ई०) कृत काव्यालकार उद्भट (७७९ ८१३ ई०) का काव्यालकारसार सग्रह' वामन (८५० ई०) का काव्यालकारसूत्रवृत्ति, आनन्दवर्धन (८५० ई०) का 'ध्व यालोक', रुद्रट (९०० ई०) का काव्यालकार' मुकुलभट्ट (९०० ई०), कृत 'अभिधावृत्ति मातृका राजशखर (८८४ म ९२५) का काव्यमीमांसा, धनजय (१००० ई०) का दशरूपक' अभिनवगुप्त (ग्यारहवीं शती) कृत ध्व यालोकलोचन', तथा अभिनव भारती राजानक कुतक (१००० ई०) कृत वक्रोक्ति जीवित' महिमभट्ट (११०० ई०) कृत व्यक्ति विवक राजा भोज (१०५० ई०) कृत सरस्वती कण्ठाभरण तथा शृगारप्रकाश क्षमेन्द्र कृत कविकण्ठाभरण तथा औचित्यविचार-चर्चा आचाय मम्मट (१०५० ई०) का काव्यप्रकाश रुय्यक (१०८९ ई०) कृत अलकार-सर्वस्व वाग्भट्ट प्रथम (११३८ ई०) का वाग्भट्टालकार', हेमचन्द्र (१०८२ ई०) का

'काव्यानुशासन', जयदेव (१२००-१३०० ई०) का 'चन्द्रालोक' भानुदत्त (१३००-१४०० ई०) की रसतरंगिणी, विद्याधर (चतुर्दश शतक) की 'एकावली', दूसरे विद्याधर (१४०० ई०) का 'प्रतापरुद्रीययशोभूषण' वाग्भट्ट द्वितीय (१४८० ई०) का 'काव्यानुशासन', विश्वनाथ (१४७२-१५२८ ई०) का 'साहित्यदर्पण', रूप गोस्वामी (१५०० ई०) 'उज्ज्वलनीलमणि' अप्पयदीक्षित (१५५४-१६२६ ई०) का 'कुवलयानन्द', पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'रसगंगाधर' विश्वेश्वर पण्डित का 'अलङ्कार-कौस्तुभ' अलंकार शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें अलंकार शास्त्रीय समस्त तत्त्वों का गम्भीर निरूपण किया गया है।

दर्शन शास्त्र में भी संस्कृत-साहित्य में सहस्रों ग्रन्थों का सृजन हुआ है, विस्तार भय से उनका यहाँ उल्लेख सम्भव नहीं है।

अर्थशास्त्र एवं राजनीति विषय पर कौटिल्य का अर्थशास्त्र अभूतपूर्व रचना है। व्यापक परिवेश में जीवन सम्बन्धी समस्त तत्त्वों का इसमें निरूपण किया गया है। कामन्दकीय नीतिसार (७वीं शती) तथा शुक्रनीति आदि परवर्ती रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी आर्यभट्ट (४७६ ई०), वराहमिहिर (षष्ठ शतक) ब्रह्मगुप्त (५९८ ई०) भास्कराचार्य (१११४ ई०) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में चरक की 'चरक संहिता' कनिष्क काल की है। सुश्रुत की 'सुश्रुत संहिता' चतुर्थ शतक की है। वाग्भट्ट का अष्टांगहृदय (सप्तम शतक) चक्रपाणिदत्त (११वीं शती) का 'चक्रदत्त' माधव का 'माधव निदान' आदि विशिष्ट ग्रन्थ हैं जिनमें चिकित्सा सम्बन्धी सूक्ष्म चिन्तन देखने को मिलता है।

यह है भारतीय प्राचीन साहित्य की एक संक्षिप्त रूपरेखा। इस विशाल साहित्य की इस संस्कृति के ग्रन्थ में एक रूपरेखा ही दी जा सकती है। इस रूपरेखा के माध्यम से ही प्राचीन भारत का सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का आभास मिल जाता है। संस्कृत साहित्य का विस्तार विशद है क्योंकि हम देखते हैं कि विचाराभिव्यक्ति के विविध रूपों—कविता, कथा, नाटक, गद्य ज्ञान विज्ञान सभी के ऊपर भारतीयों ने लेखनी चलाई है, जोकि यहाँ की प्रतिभा का परिचायक है। इसमें प्राचीन भारत का बौद्धिक चिन्तन सर्वतोभावेन देदीप्यमान हो रहा है।

भारतीय शिक्षा-संस्थाएँ

वैदिक युग में महान् ऋषियों के आश्रम ही उनकी शिक्षा संस्थायें थीं, इनमें दूर-दूर से विद्यार्थी विद्या उपार्जन के लिए आया करते थे। उस काल में ये आश्रम ही वास्तविक शिक्षा के केन्द्र थे। उदाहरण के लिए कण्व आश्रम, मारीचि आश्रम विश्वामित्र वसिष्ठ आदि आचार्यों ऋषियों के आश्रमों का यत्र तत्र संस्कृत साहित्य में उल्लेख मिलता है। नैमिषारण्य (सीतापुर) आचार्य शौनक का प्रसिद्ध आश्रम था।

इस प्रकार हम देखते है कि गुरु गृह गुरुकुल तथा आश्रम ही इस काल के प्रमुख शिक्षा के द्र थे जहाँ विभिन्न शास्त्रो का सागोपाग अध्ययन अध्यापन किया जाता था। इस काल मे व्यावहारिक शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया जाता था।

बौद्ध युग म गुरुकुलो और आश्रमो का स्थान बौद्ध विहारो ने ले लिया और यह आश्रम व्यवस्था धीरे धीरे इन विहारो म रूपान्तरित हो गई। इन विहारो म बौद्ध धर्म के अतिरिक्त दूसरे धर्मों के व्यक्ति भी अध्ययन करने के लिए आया करते थे। इस काल म बौद्ध धर्म म भिक्षु भिक्षुणियो को शिक्षित करने का उपक्रम उनके विहारो म प्रवेश काल से ही प्रारम्भ हो जाता था। इस प्रकार ये बौद्ध विहार ही शिक्षा केन्द्र के रूप म प्रसिद्ध हो गये।

जातक साहित्य का सर्वेक्षण करने पर विदित होता है कि प्राचीन भारत म अनेक शिक्षा केन्द्र थे जिनम निम्न अधिक प्रसिद्ध थे—तक्षशिला काशी, राजगृह नाल दा बलभी, मिथिला विक्रम। किन्तु इन शिक्षा केन्द्रो मे तीन प्रमुख थे—

तक्षशिला,
नाल दा,
विक्रम शिला।

तक्षशिला

प्राचीन भारत का सर्वाधिक पुरातन शिक्षा केन्द्र तक्षशिला (रावलपिंडी के निकट) था। कहते है कि इसकी स्थापना भरत ने की थी और भरत का पुत्र तक्ष उसका प्रथम कुलपति था। महाभारत म उल्लिखित जनमेजय के नागयज्ञ का यही स्थान था। रामायण महाभारत जसे ग्र थो म इसका उल्लेख शिक्षा केन्द्र के रूप मे नही है कि तु ई० पू० सप्तम शतक म यह स्थान विशिष्ट विद्या केन्द्र के रूप मे ख्याति प्राप्त कर चुका था। इसलिए यहाँ राजगृह बनारस और मिथिला जसे दूरस्थ प्रदेशो से विद्यार्थी आया करते थे। कि तु ई० पू० म ईरानी, शक, कुषाण हूणो के निरतर होने वाले आक्रमणो ने इस विश्वविद्यालय को नामशेष कर दिया था इसीलिए फाहियान ने इस स्थान का अपने विवरण मे उल्लेख नही किया है। कि तु उत्खनन के समय इस स्थान से प्राप्त बत्तन भाडे, दावात थाली, लोटा, हीरक हार कसौटी पत्थर, मटके आदि अनेक वस्तुयें प्राप्त हुई है जो उस समय की सभ्यता तथा शिक्षित समाज की ओर सकेत करती हैं। तक्षशिला के उस महान् विश्वविद्यालय के स्थान पर अब खण्डहर तथा वीरान स्थान है। इसके खण्डहर जौलिया पिपला, जाडियाल तथा रिचस्तूप आदि स्थानो के थोडी ही दूर पाये जाते हैं। इसकी खुदाई स यह भी पता चला है कि तक्षशिला म ब्राह्मण, बौद्ध-दर्शन, साहित्य अर्थशास्त्र राजनीति आदि पर अनेक ग्रथ लिखे गए। अत यह विश्वविद्यालय भारत की समृद्धि शालिनी सभ्यता का महान् प्रतीक है।'[1]

---

[1] भारत का सास्कृतिक विकास, पृ० १६८ ६९

तक्षशिला यद्यपि शिक्षा-केन्द्र था किन्तु उसका स्वरूप किसी विश्वविद्यालय की भांति नही था, न तो वहा कोई निश्चित शिक्षाकाल था न उपाधियाँ थी न कोई पाठयक्रम अपितु वहा जगत प्रसिद्ध (दिसापामावख) विद्वान् रहते थे जोकि स्वतन्त्र रूप से विद्यादान देते थे उनकी कीर्ति से आकृष्ट होकर दूर दूर से विद्यार्थी विद्याजन के लिए आते थे। भगवान् बुद्ध का चिकित्सक सात वष तक वहा विद्याजन करता है। विद्याजन करने के पश्चात् उसकी द्रव्यगुण मे क्रियात्मक परीक्षा भी ली गई थी—"यह खुरपी लो और तक्षशिला के चारो ओर एक योजन तक घूम आओ, तुम्हे जो भी पौधा ओषधि के काम का न जान पडे, उसे ले आओ।' जीवक तदनुसार उस प्रदश म घूम आये किन्तु उन्हे कोई भी ऐसा पौधा न मिला जो ओषधि के काम का न हो। यह बात उसने अपने गुरु स कही और गुरु अपने शिष्य के ज्ञान से स तुष्ट हुए और उन्हे घर जाने की आज्ञा प्रदान की।

तक्षशिला म कौटिल्य राजनीति के तथा भत्यकौमारजीव जैसे शल्य चिकित्सक अध्यापक थे। पाणिनि भी अटक के पास 'शालापुर ग्राम के निवासी थे। सम्भवत उन्होने वहाँ विद्याजन किया हो और उसके पश्चात् अध्ययन-काय भी।

नालन्दा

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा पटना के दक्षिण-पश्चिम चालीस मील दूर आधुनिक बडगाँव मे था जोकि राजगृह से आठ मील है। 'नालन्दा विश्वविद्यालय वास्तव म उस समय विश्व का ज्ञान पीठ था और इसी ने उस समय जगत् को भारतीय ज्ञान विज्ञान, साहित्य, कला तथा दशन का ज्ञान प्रदान किया था। यहाँ के स्नातक विश्व म ख्याति प्राप्त करते थे। बौद्ध काल म यहा चीन जापान, तिब्बत श्याम बर्मा आदि के विद्यार्थी विद्याजन के लिए आया करते थे। चीनी-यात्री ह्वेनसाग ने यहाँ शिक्षा प्राप्त की थी, उसने उसकी महत्ता का भव्य वणन किया है। उसने लिखा है कि भारत म शिक्षा की हजारो सस्याएँ थी पर कोई भी नालन्दा के मुकाबले भव्य न थी। १० हजार विद्यार्थी न केवल बौद्ध-साहित्य की विभिन्न शाखाओ का अध्ययन करते वरन् वे वेद (अथर्ववेद भी) तकशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद साख्य, दशन आदि भी पढते थे। प्रतिदिन १०० आसनो स शिक्षायें दी जाती थी। राजाओ की कई पीढियो की उदारता के फलस्वरूप न केवल यहाँ निवास और व्याख्यान के भव्य भवन बनाये गये थे, वरन् गुरु और शिष्यो की इतनी बडी सख्या की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति भी की जाती थी। १०० गावो की आय इस काय म व्यय होती थी और इन गावो के २०० परिवार उनकी दनिक आवश्यकताओ की बारी बारी से पूर्ति करते थे। चीनी यात्री ने ठीक ही लिखा है कि इन्ही कारणो से विद्यार्थियो को यहाँ इतना अधिक मिलता है कि उन्हें चारो आवश्यकताओ—कपडा, खाना,

बिस्तर और दवा—के लिए किसी से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। यही उनकी शिक्षा की पूर्णता का रहस्य है।"[1]

ह्वेनसाग नालन्दा की शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध मे लिखता है कि गम्भीर प्रश्नो के पूछने और उत्तर देने के लिए पूरा दिन भी पर्याप्त नही पडता। प्रात काल से रात्रि तक लोग वाद विवाद म लगे रहते हैं। बूढ़े और जवान एक दूसरे की सहायता करते है।'

ह्वेनसाग क अनुसार नालन्दा विश्वविद्यालय के शिक्षक एव शिक्षार्थी 'उच्चतम योग्यता और मेधा के व्यक्ति होते थ। नालन्दा से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी जहाँ भी जाते थे वहा उन्हे सम्मान प्राप्त होता था। एशिया के शिक्षा-क्षेत्र म नालन्दा सदा ही आदर्श शिक्षक का काय करता रहा है।

नालन्दा विश्वविद्यालय म १०००० छात्र तथा १५०० अध्यापक थे। इस अध्यापक मण्डल मे धमपाल चन्द्रपाल, गुणमति स्थिरमति प्रभाकमित्र शान्तरक्षित और पद्मसम्भव जसे प्रतिभावान अध्यापक थे। शीलभद्र प्रधानाध्यापक थे। इस विश्वविद्यालय म ८ हाल तथा ३०० छोटे छोटे कक्षा-कक्ष थे। अनेक मठ थे। 'रत्न सागर' 'रत्नोदधि' तथा 'रत्नरजक' नामक तीन सरस्वती मन्दिर (पुस्तकालय) थे इनकी इमारतें नौ मजिल तक थी। विभिन्न सम्प्रदायो से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ इन पुस्तकालयो मे सुरक्षित थे।

इन इमारतो के सम्बन्ध म ह्वेनसाग ने लिखा है कि जो सभी कई मजिल की थी लम्बाई चौडाई तथा ऊँचाई की दृष्टि से अत्यन्त भव्य थी इनमे अत्यन्त सुसज्जित मीनार तथा बुर्जिया थी जसी परियो की कहानियो म होती है जो दूर से देखने म नुकीले पवत शिखरो जसी लगती थी और प्रात काल के कुहरे म छिपी रहने वाली वेधशालाए थी। ऊपर के कमरे बादलो म अपना मस्तक ऊचा किये हुए दिखाई देते थे और उनकी खिडकियो से हवाओ का वेग और नित नया रूप धारण करते हुए बादल तथा उनके अलिन्दो से सूर्यास्त का सौन्दय तथा ज्योत्स्ना का नयनाभिराम दृश्य देखा जा सकता था।"[2] ह्वेनसाग तथा उनके चरित्र के लेखक ह्वुईली ने नालन्दा के सौन्दय के सम्बन्ध म लिखा है— और फिर हम इसका भी उल्लेख कर सकते हैं कि निमल जल से भरे हुए गहरे सरोवरो के धरातल पर नील कमल तरते रहते हैं जिनके बीच बीच म गहरे लाल रग के कमल के फूल अपनी छवि दिखाते है और थोडी थोडी दूर पर आम्रकुज अपनी छाया से भूमि को ढक लते हैं। बाहर के सभी प्रागण जिनमे पुरोहितो के कक्ष बने हुए हैं चार मजिले है। हर मजिल पर अजगर की शक्ल म कटे हुए पत्थर बाहर को निकले हुए हैं और रग बिरगे अलिन्द बने हैं मूगे जसे लाल स्तम्भो पर अत्यन्त सुन्दर बेल बूटो की नक्काशी है,

[1] प्राचीन भारत, पृ० ६८४
[2] वही पृ० १८२

उन इमारतो म अत्य त सुदर तथा सुसज्जित जगले तथा बटहर है और छतो पर ऐसे चौक लगे है जिनस प्रकाश हजारो अलग अलग रगो म प्रतिबिम्बित होता है। इन सब चीजो के कारण यहा के सौ दय को चार चाद लग जाते थे।[1]

नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्ध महायान पथ का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था, अत यहाँ प्रवेशार्थी छात्रो की सख्या अत्यधिक थी, इसलिए इस विद्यालय के प्रवेश नियम कठोर थ। प्रत्यक प्रवेशार्थी की परीक्षा ली जाती थी। ह्वेनसाग न लिखा है—

'यदि बाहर के लोग वहाँ प्रवेश पाने और शास्त्राथ म भाग लेन की इच्छा स आते हैं तो द्वारपाल उनके सामने कुछ कठिन प्रश्न रखता है, बहुत से लाग इन प्रश्नो का उत्तर नही दे पाते और वापस लौट जाते हैं। यहाँ प्रवेश पाने से पहल पुरातन तथा नूतन दोनो ही (ग्रन्थो) का गूढ अध्ययन आवश्यक है। इसलिए जो विद्यार्थी यहा नवागतुका के रूप म आते हैं उन्हे कठिन वाद विवाद मे भाग लेकर अपनी योग्यता सिद्ध करनी पडती है, यदि सात या आठ लोगो को इसम असफलता प्राप्त होती है तो दस लोग सफल भी हो जाते हैं। इन सात या आठ मे से दो या तीन जिनकी योग्यता साधारण होती है, सभा मे शास्त्राथ के लिए पहुचने पर निश्चित रूप से असफल सिद्ध होते हैं और अपनी ख्याति स हाथ धो बैठत हैं।"[2]

नालन्दा विश्वविद्यालय अष्टम शतक म अपने चरमोत्कष पर था इसे अन्त र्राष्ट्रीय ख्याति इस काल म मिल गई थी, तथा यह बारहवी शताब्दी म तुर्कों के आक्रमण के द्वारा नामशेष हो गया। प्राचीन भारत का विद्यार्थी जब तक इस विश्व विद्यालय म शिक्षा प्राप्त नही कर लेता था, तब तब स्वय वह अपनी शिक्षा को अपूण मानता था।

वलभी—जिस प्रकार पूव म नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि थी, उसी भाति पश्चिमी काठियावाड म स्थित वलभी की प्रसिद्धि थी। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने वलभी शिक्षा के द्र का विस्तार से वर्णन किया है। वह यहाँ दो तीन वर्ष तक रहा था। वलभी म भारतवष क विद्वान सिद्धा तो पर विचार करने के लिए एकत्र हुआ करते थे। वलभी म एकत्र विद्वान जिस पंडित के सिद्धान्तो को स्वीकार करते थ अथवा जिसकी बुद्धिमता की प्रशसा करत थे उसे प्रसिद्धि शीघ्र ही मिल जाती थी। गगा के मदान तथा उत्तर भारत स अनेक व्यक्ति वलभी शिक्षा प्राप्त करन जाते थ। वलभी स शिक्षा प्राप्त व्यक्ति उच्च पदो पर नियुक्त होता था। वलभी बौद्धधम का केन्द्र होन पर कानून अथशास्त्र गणित और साहित्य जस विषयो का भी शिक्षा केन्द्र था। लगभग ७७५ ई० म अरबो के आक्रमण के कारण यह विद्यालय नष्ट हो गया।

विक्रमशिला—विक्रमशिला बिहार प्रान्त क भागलपुर जिल म स्थित था।

---

[1] प्राचीन भारत १४२

[2] वही, पृ० १४२ ४३

इस विश्वविद्यालय की स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने अष्टम शतक में की थी। इस विश्वविद्यालय ने अपनी विद्वत्ता के कारण शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली। विक्रमशिला के प्रतिष्ठा प्राप्त अध्यापकों की एक लम्बी तालिका है। इस विश्वविद्यालय का विशेष सम्बन्ध तिब्बत से था। इस विश्वविद्यालय में अध्ययन करने आने वालों में तिब्बतियों की विशाल संख्या रहती थी, इसलिए उनके लिए इसमें एक विशिष्ट अतिथिशाला भी थी। विक्रमशिला के सम्बन्ध में हमें विभिन्न आधारों से जानकारी मिली है, उसके सम्बन्ध में थामस लिखते हैं—

"उन महापुरुषों की जीवनियों में, जिन्होंने यहाँ विद्या लाभ किया और यहीं के उन विद्वानों के जीवन चरित्र स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं जिन्हें विदेशों में, मुख्यतः तिब्बत में ज्ञान, संस्कृति तथा धर्म के प्रचार के लिए आमंत्रित किया गया। इनमें से कुछ विद्वानों के वृत्तान्तों में हमें उनके विश्वविद्यालय के इतिहास की कुछ झलकियाँ मिलती हैं। सचमुच, विद्या के केन्द्र के रूप में विक्रमशिला की सफलता का प्रचुर प्रमाण इस बात में मिलता है कि उसने बहुत बड़ी संख्या में प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा किये, उसने विलक्षण तथा धर्मात्माओं को जन्म दिया जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा ज्ञान तथा धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिये और उनके इसी योगदान के आधार पर तिब्बत जैसे एक पूरे देश की सभ्यता तथा संस्कृति का वस्तुतः निर्माण हुआ। तिब्बत ने बड़ी कृतज्ञता के भाव से विक्रमशिला के कुछ स्नातकों की स्मृति को सुरक्षित रखा है और उनमें से कुछ को यहाँ धर्मगुरु के पद पर बिठा दिया गया है।"[1]

ओदंतपुरी का विश्वविद्यालय भी पालवंशी राजाओं के द्वारा विकास प्राप्त हुआ। इस विश्वविद्यालय की स्थापना अष्टम शतक में गोपाल नामक राजा ने की थी। इस विश्वविद्यालय में तान्त्रिक साहित्य का विशेष रूप से अध्यापन कार्य होता था। यह विश्वविद्यालय पाटलीपुत्र के निकट स्थित था।

जागद्दल विश्वविद्यालय इन महान् विश्वविद्यालयों में अंतिम था। इसकी स्थापना बंगाल के राजा रामपाल ने की थी। इसका अस्तित्व केवल एक शताब्दी तक ही रहा। इसकी स्थापना बारहवीं शताब्दी में हुई थी तथा इसको विनष्ट भी विदेशी आक्रमणकारियों ने किया था।

बनारस भी भारत का प्राचीन शिक्षा केन्द्र रहा है। इसे अधिक महत्त्व अशोक तथा उसके पश्चात् सारनाथ को अधिक महत्त्व मिलने पर प्राप्त हुआ है। अन्यथा ई० पू० सप्तम शतक में बनारस के राजाओं का तक्षशिला विद्याध्ययन करने जाने का उल्लेख मिलता है। हिन्दू धर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थ होने के कारण बनारस (काशी) संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा है।

---

[1] प्राचीन भारत, पृ० १४५

षोडश संस्कार

भारतवर्ष में संस्कार केवल हिन्दू धर्म के ही नहीं, अपितु अन्य धर्म एवं सम्प्रदायों के महत्त्वपूर्ण अङ्ग रहे हैं और आज भी इस वैज्ञानिक विषम युग में, जबकि सभ्यता के विकास के नाम पर बुद्धि का दिवाला निकाल दिया गया है उस समय भी वे अपने महत्त्व को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। विगत अनेक शताब्दियों से संस्कार धार्मिक तथा सामाजिक एकता के प्रभावकारी माध्यम रहे हैं। इनका उदय सुदूर अतीत में हुआ था और कालक्रम से अनेक परिवर्तनों के साथ वे आज भी जीवित हैं। हिन्दू-संस्कारों का वर्णन वेदों के कुछ सूक्तों में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों में गृह्य धर्म सूत्रों में, तथा स्मृतियों में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य में यद्यपि कहीं भी संस्कार शब्द का प्रयोग नहीं मिला, किन्तु विभिन्न स्थलों पर उपनयन, अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अङ्गों का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है।

'संस्कार' शब्द की निष्पत्ति सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय करने से होती है। इस शब्द का अर्थ है—धार्मिक विधि विधान अथवा वह कृत्य जो आत्मिक सौन्दर्य का आन्तरिक तथा बाह्य दृश्य प्रतीक हो, यही नहीं इस संस्कार पद से शिक्षा, संस्कृति प्रशिक्षण, शुद्धि परिष्करण, आभूषण अर्थ भी ग्रहीत होते हैं। 'वीरमित्रोदय संस्कृत प्रकाश' में संस्कार की प्राच्यकालीन मान्यता के सम्बन्ध में लिखा है, "आत्म शरीरान्यतरनिष्ठो विहित क्रियाजन्योऽतिशय विशेष संस्कार" अर्थात् शारीरिक एवं आध्यात्मिक प्रकृति के आधायक सविधि अनुष्ठानों का नाम संस्कार है।

मीमांसक 'संस्कार' शब्द का आगम यज्ञाङ्गभूत पुरोडाशादि की विधिवत शुद्धि से मानते है— 'प्रोक्षणादिजन्य संस्कारो यज्ञाङ्ग पुरोडाशेस्विति द्रव्यधर्म।' अद्वैत-वेदान्ती जीव पर शारीरिक क्रियाओं में मिथ्या आरोप को संस्कार कहते हैं— 'स्नानाचमनादिजन्या संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्प्यन्ते' तो दूसरी ओर नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्म व्यंजक शक्ति को संस्कार कहते हैं। विभिन्न विचारों के होते हुए भी यह सदा से माना जाता रहा है कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विचक्षण एवं अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार गृह्य-सूत्रों की विषय सीमा के अन्दर आते हैं किन्तु इन ग्रन्थों में भी संस्कार शब्द का प्रयोग उसके वास्तविक अर्थ में प्राप्त नहीं होता है। वे भी मीमांसकों के अर्थ में ही इसका प्रयोग करते हैं और पचम-संस्कार तथा पाक संस्कार का उल्लेख करते हैं, जिसका अभिप्राय है यज्ञभूमि का मार्जन अथवा शोधन।

गृह्यसूत्र साधारणतः विवाह से प्रारम्भ कर समावर्तन संस्कार पर्यन्त दैहिक संस्कारों का निरूपण करते हैं। अधिकांश में अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। संख्या की दृष्टि से विचार करने पर आश्वलायन गृह्यसूत्र में १२,

पारस्कर बोधायन एवं वाराह गृह्यसूत्र में १३ तथा वगानस गृह्यसूत्र में १८ संस्कारों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार गौतम धर्मसूत्रों में ४० संस्कारों का निर्देश मिलता है। मनुस्मृति में तेरह संस्कारों को माना है। याज्ञवल्क्यस्मृति में वेदान्त को छोड़कर मनुस्मृति के शेष बारह संस्कारों का विधान है। परन्तु परवर्ती स्मृतियों में सोलह संस्कारों का उल्लेख मिलता है और जिन सोलह संस्कारों का विशेष प्रचलन रहा है, उनके नाम हैं—(१) गर्भाधान संस्कार (२) पुंसवन संस्कार, (३) सीमन्तोन्नयन, ये तीनों ही संस्कार जन्म से पूर्व ही किए जाते हैं (४) जातकर्म, (५) नामकरण (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन (८) चूड़ाकर्म (९) कर्णवेध, ये छः संस्कार बाल्यावस्था में किए जाते हैं, तथा (१०) विद्यारम्भ (११) उपनयन, (१२) वेदारम्भ (१३) केशान्त अथवा गोदान, (१४) समावर्तन संस्कार, ये पाँचों संस्कार शैक्षणिक संस्कार हैं तथा विवाह शिक्षोपरान्त और अन्त्येष्टि जीवनोपरान्त करणीय संस्कार हैं। उपर्युक्त सोलह संख्या डा० राजबली पाण्डेय कृत 'हिन्दू संस्कार' नामक ग्रन्थ से उद्धृत है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपनी 'संस्कार विधि' नामक पुस्तक में विद्यारम्भ को वेदारम्भ के अन्तर्गत तथा केशान्त व गोदान को समावर्तन में ही मानकर वानप्रस्थ एवं संन्यास इन दो संस्कारों को भी स्वीकार किया है। पं० भीमसेन शर्मा कृत संस्कार विधि में केवल स्वामी जी स्वीकृत १६ संस्कारों का ही समावेश हुआ है।

संस्कारों का प्रयोजन

संस्कारों का भारतवर्ष में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। चिरकाल से उनकी व्यवहारिक उपयोगिता और उद्देश्य रहा है, यद्यपि आज उनकी सत्ता एवं महत्ता पर प्रश्नवाची चिह्न और निरुद्देश्यता का कलंक लग गया है, क्योंकि आज के इस वैज्ञानिक एवं परिवर्तित जीवन के साथ उनका सामंजस्य नहीं हो सका है। किन्तु इतना होते हुए भी उनकी अपनी महत्ता है। समाज विज्ञान की दृष्टि से भी संस्कार अपना महत्त्व रखते हैं। सामाजिक मानवीय गुणों के विकास में सदियों और सहस्राब्दियों के संस्कार ही काम करते हैं।

संस्कारों का सर्वाधिक लोकप्रिय प्रयोजन तो मानवीय विश्वास की पूर्ति ही है। श्रेष्ठ संस्कारों से सद् आचरण से मानव शुभ एवं पुण्य आचरण करता हुआ जीवन में सफलता प्राप्त करता है तथा अमंगल प्रभावों को दूर करता है। समस्त हिन्दू संस्कारों में इन अमङ्गलजनक तथा भूत प्रेत-पिशाचों के निराकरण के लिए नाना प्रकार की स्तुतियाँ एवं अनुष्ठान यहाँ सदा से होते रहे हैं। जल प्रोक्षण से जहाँ शरीर शुद्धि होती थी वहीं अभिसिंचित जल से भूत पिशाच एवं राक्षसों से रक्षा की जाती थी। इन अनुष्ठानों से अभीष्ट प्रभावों को आकृष्ट किया जाता था। भारतीय जन जीवन में यह विश्वास घर किए हुए था कि ईश्वर सर्वव्यापक है। देवता मानव जीवन के सर्वत्र अभिव्याप्त हैं उन्हें संतुष्ट रखना आवश्यक है, उनके संतुष्ट होने पर अभीष्ट सुख

की प्राप्ति होगी अत सस्कारो से व्यक्ति सवदा देवो की स्तुति करता एव बडो से आशीर्वाद इन अवसरो पर ग्रहण करता था। सस्कारो का भौतिक प्रयोजन भी यह था कि यज्ञ याग अनुष्ठानो के समय देव स्तुति होती है। इन स्तुतियो के माध्यम से देव हमारी आवश्यकताओ का ज्ञान लते हैं और फिर वे धनधा य आदि हम प्रदान करते हैं। इसी प्रकार आत्माभि यक्ति के साधन भी य सस्कार होते ह क्योकि इन विशेष अवसरो पर मनुष्य हप, शोक और दु ख आदि को भी व्यक्त करने के लिए इन सस्कारो का आयोजन कभी कभी करता है। जहा सस्कारो के उपयु क्त प्रयोजन हैं वहां इन सस्कारो के गम्भीर सास्कृतिक प्रयोजनो का भी विद्वानो न निर्देश किया है। मनुस्मृतिकार का तो यहा तक कहना है कि गाभ होम जातकम चूडाकम और मौञ्जीब धन सस्कार के अनुष्ठान से द्विजो के गभ तथा बीज सम्ब धी दोष दूर हो जाते है।[1]

तो दूसरी ओर इन सस्कारो स पवित्रता आदि का भी शरीर पर आधान किया जा सकता ह। मनुस्मृति म लिखा है कि प्रत्यक द्विज को, स्थूल एव सूक्ष्म शरीर की शुद्धि के लिए षोडश सस्कार करने चाहिए जिनसे इस लोक एव परलोक म पवित्रता की प्राप्ति होती है।[2] इन सस्कारो म यज्ञयाग की पूण प्रक्रियाओ का किया जाता है, अत यह शरीर ब्रह्म शरीर भी कहा जाता है।

मनु का कहना है कि स्वाध्याय जप यज्ञ, महायज्ञ आदि के वदिक विधि-विधान पूवक करन स मानव शरीर ब्रह्मीय शरीर हो जाता है।[3] वस्तुत उपयु क्त विवेचन स यह सिद्ध हो जाता है कि सस्कार प्रथा मात्र नही है, अपितु स्थूल एव सूक्ष्म शरीर की मानसिक व शारीरिक शुद्धि के लिए जो विधिवत क्रियाए की जाती हैं उनको ऋषियो और महर्षियो न सस्कार नाम दिया है।

उपयु क्त समस्त प्रयोजनो का समष्टिगत प्रभाव नतिकता के विकास एव व्यक्तित्व के निर्माण पर पडता है। इन सस्कारो का विधान विकास व योजना इन सभी का पूण रूप से यदि हृदयङ्गम किया जाय तो उनस मानव का जीवन पूण रूप म सुसस्कृत बन सकता है। मानव मात्र के स्वास्थ्य, आयु तथा अनुशासित जीवन के

---

[1] मनु, २/२७

गार्भै होमर्जातकम चौडमौञ्जी निब धने
बजिके गर्भिकञ्जनो द्विजानामपमज्यते ॥

[2] मनु, २/२६

वदिक कर्मभि पुण्यनिषेकादिद्विजन्मनाम।
काय शरीरसस्कार पावन प्रेत्य चेह च ॥

[3] मनु २/२८

स्वाध्यायेन व्रतहोमैस्त्रविद्येनेज्यया सुत
महायज्ञ श्च यज्ञ श्च ब्राह्मीय क्रियते तनु ।

निर्माता भी संस्कार स्वीकार किये जा सकते हैं। संस्कार हिन्दू संस्कृति का, चरित्र का, नैतिकता का पूर्णत विकास व पोषण करते हैं।

संस्कारों का एक और महान् प्रयोजन आध्यात्मिक था। हिन्दू धर्म का अंग प्रत्यंग आध्यात्मिक भावनाओं से निर्मित है। उन आध्यात्मिक भावनाओं के विकास व पोषण में संस्कार महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करते हैं। डा० राजबली पाण्डेय का मत है कि 'संस्कार हिन्दू के लिए सजीव धार्मिक अनुभव थे केवल बाहरी उपचार मात्र नहीं। संस्कार जीवन की आत्मवादी और भौतिक धारणाओं के बीच मध्य मार्ग का काम देते थे। संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का काम करते थे। यही वह मार्ग था, जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था। हिन्दुओं का विश्वास था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे दैहिक बंधन से मुक्त होकर मृत्यु सागर को पार कर लेते हैं।

क्रमश संस्कारों का संक्षिप्त परिचय

गर्भाधान संस्कार—जिस कार्य के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना वीर्य स्थापित करता है वह गर्भाधान संस्कार कहा जाता है। शौनक ने भी लिखा है—' जिस कर्म की पूर्ति से स्त्री प्रदत्त शुक्र धारण करती है, उसे गर्भाधान कहते हैं।" पूर्व मीमांसाकार का भी यही कहना है—गर्भ संधार्यते येन कर्मणा तत् गर्भाधानम्।" वैदिक काल में संतति एवं वंश के विकास के लिए ऋषि मुनियों के द्वारा निर्दिष्ट प्रार्थना आदि के वचनों में मातपितृ प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है, किन्तु यह यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि गर्भाधान विषयक विधानों का सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप हमें गृह्य सूत्रों में प्राप्त होता है। परवर्ती धर्मशास्त्र स्मृति एवं अध्यात्म ग्रंथों में इस संस्कार के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक सामग्री का निर्देश हुआ जहाँ गर्भाधान काल नक्षत्र एवं स्वीकृत रात्रियों का अत्यन्त विशद विवेचन है।

पुंसवन संस्कार—प्रस्तुत संस्कार गर्भ धारण हो जाने पर किया जाता है। इसका अभिप्राय उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से पुत्र संतति का जन्म हो—'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्'। इस अवसर पर गाते ऋचाओं में पुत्र का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। पुत्र जन्म देने वाली माता की प्रशंसा की जाती है अथर्ववेद तथा सामवेद में इस प्रकार की प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार गर्भ धारण करने के पश्चात् दूसरे या तीसरे मास में सम्पन्न किया जाता है— पुरास्यन्दत इतिमासे द्वितीय तृतीये वा।"[1] इस अवसर पर एक विशेष कार्य किया जाता है। वह है कि गर्भवती स्त्री के दाहिने नासिका रंध्र में वट वृक्ष का रस गर्भपात का निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था।

---

[1] पारस्कर का १, कं० १४

सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार गर्भकाल का तीसरा संस्कार था। इस संस्कार में गर्भवती स्त्री के केशों को उठाने का क्रिया विधान है—'सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत्सीमन्तोन्नयनम्'। जन सामान्य के हृदय में यह आस्था थी, कि गर्भवती स्त्री को अमङ्गलकारी शक्तियाँ दुःखित कर देती हैं, अतः उनके निवारण के लिए विशेष संस्कार की आवश्यकता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में इस विश्वास का उल्लेख मिलता है, जहाँ यह लिखा है कि राक्षसियाँ नारी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं इसलिए पुरुष को चाहिए कि उन अमङ्गलकारी शक्तियों के विनाश के लिए वह श्री का आवाहन करे।[1] इन अमङ्गलकारी प्रवृत्तियों को भगाने के लिए ही इस संस्कार का विधान किया गया है। इस संस्कार का दूसरा प्रयोजन माता के लिए ऐश्वर्य तथा गर्भस्थ शिशु के लिए दीर्घायुष्य की कामना भी था। बौद्धायन गृह्यसूत्र में एक अन्य प्रयोजन का भी संकेत मिलता है। वह यह है कि गर्भवती स्त्री को प्रसन्न करना भी इस संस्कार का प्रयोजन है। इस संस्कार का समय गर्भाधान के चौथे मास में बताया गया है— चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्" अथवा "पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठे अष्टमेवा'।[2] सुश्रुत-संहिता में लिखा है कि 'गर्भधारण के समय से स्त्री को मैथुन, श्रम, दिवाशयन, रात्रि जागरण, सवारी पर यात्रा, भय, रेचन, रक्तस्रवण, मल मूत्र का असामयिक स्थगन आदि से बचाना चाहिए।' इस निर्देश का स्पष्ट ही आशय शिशु की रक्षा से है।

जातकर्म संस्कार—इस संस्कार का उद्देश्य निर्विघ्न प्रसव होने के अतिरिक्त बालक को शूरवीर, यशस्वी वर्चस्वी बनाने का था। जातकर्म संस्कार के अवसर पर होने वाली एक क्रिया यह भी थी कि आयु सन्तान के जन्म लेते ही उसकी जिह्वा पर स्वर्ण की सलाई से घृत एवं मधु से ओ३म् लिखा जाता था तथा कान में वेदोऽसि कहा जाता था। अथर्ववेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (१/११) में सरल एवं सुरक्षित प्रसव के लिए प्रार्थनाएँ तथा उपचार वर्णित है। गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का विशद वर्णन है। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में भी धार्मिक तत्वों का निर्देश है। परन्तु मध्ययुगीन पद्धतियों में सूतिका-गृह प्रबन्ध उसमें प्रवेश के विधि विधान, प्रसूता के निकट वाञ्छनीय व्यक्तियों की उपस्थिति तथा कतिपय शिशु मेधा जनन, आयु बल प्राप्ति के लिए कामनायें तथा विधान है। यह संस्कार नाभि बन्धन के पूर्व ही सम्पन्न किया जाता था।

नामकरण संस्कार—भारतीय हिन्दू धर्म ने प्राचीन काल से ही व्यक्तिगत नामों के महत्त्व को स्वीकार कर नामकरण की इस भाषा शास्त्रीय समस्या को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया था। बृहस्पति ने 'वीरमित्रोदय-संस्कृत प्रकाश' में नामकरण की अनिवार्यता की ओर संकेत किया है। वह लिखता है कि समस्त नाम

---

[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र अ० १ क० १४

[2] पार का० १ क० १५

समस्त लौकिक व्यवहारों का हेतु है शिव का आधायक है और आभ्योदय का हेतु है। मनुष्य अपने नाम के आधार पर ही कीर्ति प्राप्त करता है। अतः नामकरण संस्कार प्रशंसनीय है— नामाखिलस्य व्यवहार हेतुः शुभावहं कर्म सुभाग्य हेतुः नाम्नैव कीर्तिलभते मनुष्य ततः प्रशस्त खलु नाम कर्म[1]। ऋग्वेद में भी नामन् शब्द का उल्लेख है। नामकरण की यह परम्परा प्राचीनतम है, क्योंकि वैदिक साहित्य में व्यक्ति तथा पदार्थों के नाम निर्धारित है। इस प्रकार ऋग्वद, एतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण में गुह्यनाम का भी उल्लेख मिलता है। नवजात शिशु के नामकरण के विषय में प्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[1] में इस प्रकार मिलता है—'तस्मात्पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात' विभिन्न सूत्र ग्रंथों के अनुसार यह संस्कार जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। अन्य ग्रंथों में ११ वें दिन, १०१ वें दिन तथा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में करने का भी संकेत मिलता है।

निष्क्रमण संस्कार—नवजात शिशु का विधि विधान के साथ प्रथम बार गृह से बाहर लाने का विधि का नाम निष्क्रमण है, तत्सम्बद्ध संस्कार निष्क्रमण संस्कार है। यह चौथे मास में होने वाला संस्कार है। बालक घर से बाहर निकल कर सूर्य का दर्शन करता था।[2]

वैदिक साहित्य में केवल गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का केवल इतना ही संकेत मिलता है कि—पिता शिशु को बाहर लाकर 'तच्चक्षुर्देवहितं' मन्त्र से सूर्य के दर्शन कराता है। परवर्ती स्मृतियों एवं निबन्धों में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है। निष्क्रमण संस्कार का समय जन्म के बारहवें दिन से चौथे मास तक विभिन्न रूपों में था। यम का कथन है कि तृतीय माह में शिशु को सूर्य दर्शन कराना चाहिये चतुर्थ मास में चन्द्रदर्शन—

ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ।
चतुर्थेमासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्र दर्शनम् ॥

सूत्रकाल में यह संस्कार माता पिता द्वारा शिशु का सूर्यदर्शन करा कर ही समाप्त हो जाता था तो परवर्ती साहित्य में अधिकाधिक विधिविधानों के साथ अलंकृत बालक का कुल देवता के समक्ष लाना, वाद्य संगीत के साथ देवता की पूजा करना, आठों लोकपाल सूर्य चन्द्र वायुदेव एवं आकाश का स्तुति करना तथा बाद में ब्राह्मणों को भोज दानादि का समावेश भी हो गया है। प्रस्तुत संस्कार का उद्देश्य—वायु सेवन सृष्टि अवलोकन का प्रथम शिक्षण है तथा दैहिक आवश्यकता की पूर्ति है।

---

[1] शतपथ ६/१/३/६

[2] पार गृ० सू० १/१७/५

चतुर्थेमासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।
वहि निष्क्रमणञ्चैव तस्य कुर्याच्छिशो शुभम्॥

[3] य० अ० ३६ म० २४

अन्नप्राशन—बालक की शरीर वृद्धि के साथ ही उसे पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। माँ के द्वारा मिलने वाले दुग्ध से उसकी पूर्ण तृप्ति न होने के कारण तथा माँ के शरीर को स्वस्थ रखने की भावना के साथ ही इस संस्कार का उदय हुआ है। 'सुश्रुत संहिता' नामक आयुर्वेदीय ग्रंथ में शिशु का षष्ठ मास में पथ्य भोजन देने का विधान मिलता है। यद्यपि वैदिक-साहित्य में भी कुछ इस प्रकार की श्रुतियाँ मिलती हैं, किन्तु इस संस्कार को सूत्रकाल में ही आकर कर्मकाण्डीय आवरण मिलता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार जन्म के छठे मास में किया जाता था। 'षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्।'[1] मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों का भी यही मत है। किन्तु लौगाक्षी का अपना विचार यह है कि शिशु की पाचन शक्ति के बढ़ने अथवा दाँतों के निकलने पर ही इस संस्कार का विधान उचित है—"षष्ठे अन्न प्राशनम् जातेषु दन्तेषु जातेषु वा।" किसी किसी ग्रन्थ में इस अवसर पर शिशु को मांस देने का भी विधान है, परन्तु मार्कण्डेय पुराण तथा अन्यान्य ग्रन्थों में भी मधु घी तथा खीर खिलाने का विधान मिलता है।

चूडाकर्म संस्कार—धर्मशास्त्र के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति को दीर्घायु सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति कराना ही इस संस्कार का प्रयोजन था। आयुर्वेदीय ग्रन्थों से भी उस संस्कार का समर्थन होता है। मुण्डन के लिए सिर को गीला करने का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। सूत्रकाल में आकर चूडाकर्म के विधि विधानों का व्यवस्थित रूप मिला। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व हो जाना आवश्यक है 'तृतीय वर्षे चौलम्।' किन्तु परवर्ती साहित्य में इस आयु को ५ वर्ष से ७ वर्ष तक भी माना है। इस संस्कार में सिर के सभी बालों को मुड़वा कर चोटी का रखना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस संस्कार के अवसर पर सिर को गीला कर बालों को काटा जाता है, फिर केशों को गीले आटे के पिण्ड के अथवा गोबर के पिण्ड के साथ फेंकना (गुप्त रूप में)। चौथी बात है, शिखा रखना। इस संस्कार के साथ एक वैज्ञानिक तत्त्व यह भी निहित है कि शिखा जिस स्थान पर रखी जाती है वह कोमलतम स्थान है, केशों से उसकी रक्षा होती है। यह भावना सुदूर अतीत में रही हो तो कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ शिखा जातीय सूत्र की बोधकता अवश्य ही है।

कर्णवेध संस्कार—कानों का छेदा जाना सुदूर अतीत में केवल सौन्दर्य के प्रसाधन के रूप में ही था किन्तु परवर्ती काल में इसकी कुछ उपयोगिता सिद्ध हो जाने के उपरान्त इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए धार्मिक आवरण में भी आवृत्त कर दिया गया। सुश्रुत संहिता का कथन है कि रोगादि से बचना तथा भूषण अथवा अलङ्करण के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। सुश्रुत अण्डकोष

---

[1] आश्व० गृ० सू० १/१६/१

समस्त लौकिक व्यवहारों का हेतु है निय ा आधायक है और आभ्योदय का हेतु है। मनुष्य अपने नाम के आधार पर ही कीर्ति प्राप्त करता है। अतः नामकरण सस्कार प्रशसनीय है— नामाखिलस्य व्यवहार हेतु शुभावहं कम सुभाग्य हेतु नाम्नव कीर्तिलभते मनुष्य तत प्रशस्त खलु नाम कम'। ऋग्वेद म भी नामन् शब्द का उल्लेख है। नामकरण की यह परम्परा प्राचीनतम है, क्याकि वदिक साहित्य म व्यक्ति तथा पदार्थों के नाम निर्धारित हैं। इस प्रकार ऋग्वेद, ऐतरेय, एव शतपथ ब्राह्मण म गुह्यनाम का भी उल्लेख मिलता है। नवजात शिशु के नामकरण के विषय म प्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[1] म इस प्रकार मिलता है— तस्मात्पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्' विभिन्न सूत्र ग्र था क अनुसार यह सस्कार जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। अ य ग्र था म ११ वें दिन १०१ वें दिन तथा दूसरे वष के प्रारम्भ म करने का भी सकेत मिलता है।

निष्क्रमण सस्कार—नवजात शिशु का विधि विधान के साथ प्रथम बार गृह से बाहर लाने का विधि का नाम निष्क्रमण है तत्सम्बद्ध सस्कार निष्क्रमण सस्कार है। यह चौथे मास म होने वाला सस्कार ह। बालक घर स बाहर निकल कर सूय का दशन करता था।[2]

वदिक साहित्य म केवल गह्यसूत्रो म इस सस्कार का केवल इतना ही सकेत मिलता ह कि—पिता शिशु को बाहर लाकर 'तच्चक्षुर्देवहित' मन्त्रसे सूय के दशन कराता ह। परवर्ती स्मृतियो एव निबन्धा म इसका विस्तार से उल्लेख किया गया ह। *निष्क्रमण सस्कार का समय ज म क बारहव दिन स चौथ मास तक विभिन्न रूपा* मे था। यम का कथन ह कि ततीय माह म शिशु को सूय दशन कराना चाहिये, चतुथ मास म च द्रदशन—

ततस्ततीय कत य मासि सूयस्य दशनम ।
चतुर्थेमासि कत य शिशोश्च द्र दशनम् ॥

सूत्रकाल मे यह सस्कार माता पिता द्वारा शिशु का सूयदशन करा कर ही समाप्त हो जाता था तो परवर्ती साहित्य म अधिकाधिक विधिविधानो के साथ अल कृत बालक को कुल दवता क समक्ष लाना वाद्य सगीत क साथ देवता की पूजा करना आठा लोकपाल सूय च द्र वायुदव एव आकाश की स्तुति करना तथा बाद म ब्राह्मणो को भोज दानादि का समावेश भी हो गया है। प्रस्तुत सस्कार का उद्देश्य—वायु सवन सृष्टि अवलोकन का प्रथम शिक्षण ह तथा दहिक आवश्यकता की पूर्ति है।

---

[1] शतपथ ६/१/३/६

[2] पार गृ० सू० १/१७/५

चतुर्थेमासि निष्क्रमणिका सूयमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ।
वहि निष्क्रमणञ्चय तस्य कुर्याच्छिशो शुभम ॥

[3] य० अ० ३६ म० २४

अन्नप्राशन—बालक की शरीर वृद्धि के साथ ही उसे पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। मा के द्वारा मिलने वाले दुग्ध से उसकी पूर्ण तृप्ति न होने के कारण तथा मा के शरीर को स्वस्थ रखने की भावना के साथ ही इस सस्कार का उदय हुआ है। सुश्रुत सहिता नामक आयुर्वेदीय ग्रथ मे शिशु को षष्ठ मास मे पथ्य भोजन देने का विधान मिलता है। यद्यपि वैदिक साहित्य मे भी कुछ इस प्रकार की श्रुतियाँ मिलती हैं किन्तु इस सस्कार को सूत्रकाल मे ही आकर कर्मकाण्डीय आवरण मिलता है। गृह्यसूत्रो के अनुसार यह सस्कार जन्म के छठे मास मे किया जाता था। **षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्।**[1] मनु एव याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो का भी यही मत है। किन्तु लौगाक्षी का अपना विचार यह है कि शिशु की पाचन शक्ति के बढने अथवा दातो के निकलने पर ही इस सस्कार का विधान उचित है—'**षष्ठे अन्न प्राशनम् जातेषु दन्तेषु जातेषु वा।**" किसी किसी ग्रन्थ मे इस अवसर पर शिशु को मास देने का भी विधान है परन्तु मार्कण्डेय पुराण तथा अन्यान्य ग्रन्थो मे भी मधु घी तथा खीर खिलाने का विधान मिलता है।

चूडाकर्म सस्कार—धर्मशास्त्र के अनुसार सस्कार्य व्यक्ति को दीर्घायु सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति करना ही इस सस्कार का प्रयोजन था। आयुर्वेदीय ग्रन्थो से भी उस सस्कार का समर्थन होता है। मुण्डन के लिए सिर को गीला करने का उल्लेख अथर्ववेद मे मिलता है। सूत्रकाल मे आकर चूडाकर्म के विधि विधानो का व्यवस्थित रूप मिला। गृह्यसूत्रो के अनुसार यह सस्कार जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त मे अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व हो जाना आवश्यक है **तृतीय वर्षे चौलम्।** किन्तु परवर्ती साहित्य मे इस आयु को ५ वर्ष से ७ वर्ष तक भी माना है। इस सस्कार मे सिर के सभी बालो को मुडवा कर चोटी का रखना सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग है। इस सस्कार के अवसर पर सिर को गीला कर बालो को काटा जाता है, फिर केशो को गीले आटे के पिण्ड के अथवा गोबर के पिण्ड के साथ फेंकना (गुप्त रूप मे)। चौथी बात है शिखा रखना। इस सस्कार के साथ एक वैज्ञानिक तत्त्व यह भी निहित है कि शिखा जिस स्थान पर रखी जाती है, वह कोमलतम स्थान है, केशो से उसकी रक्षा होती है। यह भावना सुदूर अतीत मे रही हो तो कोई बडी बात नही है। हाँ शिखा जातीय सूत्र की बोधक तो अवश्य ही है।

कर्णवेध सस्कार—कानो का छेदा जाना सुदूर अतीत मे केवल सौन्दर्य के प्रसाधन के रूप मे ही था, किन्तु परवर्ती काल मे इसकी कुछ उपयोगिता सिद्ध हो जाने के उपरान्त इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए धार्मिक आवरण मे भी आवृत्त कर दिया गया। सुश्रुत सहिता का कथन है कि रोगादि से बचना तथा भूषण अथवा अलङ्करण के निमित्त बालक के कानो का छेदन करना चाहिए। सुश्रुत अण्डकोष

---

[1] आश्व० गृ० सू०, १/१६/१

की वृद्धि तथा आंत वृद्धि निरोध के लिए भी कर्णवेध संस्कार का विधान करता है। इस संस्कार का सर्वप्रथम अथर्ववेद के एक सूक्त में विधान मिलता है। बृहस्पति के अनुसार यह संस्कार जन्म के १० वें १२ वें अथवा १६ वें दिन किया जाता था। गर्ग छठे, सातवें आठवें अथवा बारहवें मास में इस संस्कार का विधान करता है। श्रीपति बालक के दाँतों के निकलने से पूर्व ही इसका विधान करते हैं। कात्यायन तीसरे या पाँचवे वर्ष के निर्देश के साथ शुभ दिन में पूर्वाभिमुखासीन बालक के क्रमशः दायें, बायें कान को छेदन का निर्देश करता है।

विद्यारम्भ संस्कार—बालक के शिक्षा ग्रहण के योग्य हो जाने पर विद्यारम्भ संस्कार कराया जाता था। इसी को दूसरे शब्दों में अक्षरारम्भ भी कहा जाता था। सर्वप्रथम स्मृतियों में ही इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। इसका आरम्भ चौल एवं मुण्डन संस्कार के साथ ही किया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इसी विचारधारा की पुष्टि होती है। बालक स्नानादि से पवित्र होकर गणेश, सरस्वती, गृह देवता लक्ष्मी नारायण आदि की स्तुति के साथ गुरु के सम्मुख बैठकर अक्षरों को तीन बार पढ़ता था।

उपनयन संस्कार—गुरु के समीप ले आना—इस अर्थ का यह बोधक शब्द एक सुदीर्घ ऐतिहासिक परम्परा को आत्मसात् किये हुए है। अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में किया गया है। किन्तु इस शब्द का वास्तविक अर्थ आचार्य द्वारा आगत शिष्य को दीक्षादान है। ब्राह्मणकाल में भी यही मान्यता बनी रही और सूत्रकाल में भी यही स्थिति रही। किन्तु परवर्तीकाल में गायत्री मन्त्र द्वारा द्वितीय जन्म के अर्थ में उपनयन शब्द रूढ़ हो गया है। मनु और याज्ञवल्क्य उपनयन संस्कार से बालक का द्वितीय जन्म मानते हैं। किन्तु आगे की परम्परा छात्र का आचार्य के निकट लाने के अर्थ में ही इस संस्कार की मान्यता की इतिश्री समझने लगी। आज इस संस्कार से केवल यज्ञोपवीत संस्कार ही माना जाता है। मातृ पितृ आचार्य ऋण को सदैव स्मरण कराने के लिए आचार्य-संस्कार को कराता है। ऐसी भी मान्यता थी कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य पुत्रों को १६,२२,२४ वर्ष तक यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार अवश्य ही कर लेना चाहिए। अन्यथा वह व्रात्य (पतित) दस सभा का अधिकारी होता है। वैसे इस संस्कार का ब्राह्मण पुत्र के लिए आठवें, क्षत्रिय पुत्र के लिए ग्यारहवें वैश्य पुत्र के लिए बारहवें वर्ष का भी विधान है।[1]

वेदारम्भ संस्कार—प्राचीनकाल में उपनयन संस्कार के साथ ही वेदों का अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ हो जाता था, किन्तु परवर्तीकाल में संस्कृत बोलचाल की

---

[1] आश्व० गृ० सू०, १/१९/१६ तथा
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विश ॥ मनु २/३६

भाषा नही रही तो उपनयन केवल दहिक संस्कार मात्र रह गया। अत इस संस्कार के पूव ही ब्रह्मचारी लोकभाषा का अध्ययन आरम्भ कर देता था। इसलिए संस्कृत भाषा तथा वदिक साहित्य के अध्ययनाध्यापन के आरम्भ करने के लिए एक अय संस्कार का उद्भव आवश्यक माना गया। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वेदारम्भ संस्कार का उदय हुआ है। इस संस्कार का सवप्रथम उल्लेख यासस्मृति मे मिलता है। इस वेदारम्भ संस्कार म ब्रह्मचारी को आचाय अनेक सदुपदेश देकर उपनयन-संस्कार के बाद एक वष के भीतर ही गायत्री म त्र की दीक्षा के साथ अपना अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ कर देता था।

केशान्त अथवा गोदान—इस संस्कार म ब्रह्मचारी की श्मश्रुओ का सवप्रथम क्षौर किया जाता था। इसे गोदान संस्कार भी कहते हैं क्योंकि इस अवसर पर आचाय को गौ का दान किया जाता था। यह संस्कार ब्रह्मचारी की सोलह वष की अवस्था म सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार की मा यता के सम्बध म अनेक आचार्यो म विवाद है। कोई कोई आचाय चूडाकरण के साथ भी इस संस्कार को सम्बद्ध करते हैं।

समावत्तन संस्कार अथवा स्नान—वीर मित्रोदय म समावत्तन का अथ है—तत्र समावत्तन नाम वेदा ययना तरम गुरुकुलाद् स्वगृहागमनम अर्थात् वेदाध्ययन के उपरा त गुरुकुल स अपने घर को प्रत्यावत्त न का नाम समावत्त न है। इस संस्कार का दूसरा नाम 'स्नान संस्कार' भी है क्योंकि समावत्त न संस्कार के करने स पूव ब्रह्मचारी को शीतल पवित्र जल स स्नान कराने का भी विधान था। दूसरे शब्दो म, *इस संस्कार को दीक्षा त संस्कार' भी कहा जाता था। प्राचीन मा यता* के अनुरूप ब्रह्मचर्याश्रम एक दीघसत्र था। गृह्यसूत्र म लिखा है कि—"दीघसत्र वा एष उपति यो ब्रह्मचयमुपति' इस दीघसत्र के उपरा ■ स्नान एक अनिवाय विधान था, क्योंकि संस्कृत का अध्ययन सागर स तरण के समान माना जाता था और वह स्नातक भी विद्या सागर का पारङ्गत माना जाता था। इम प्रकार विद्यार्थी जीवन के अ त म *किया जाने वाला प्रस्तुत सांस्कृतिक स्नान भी विद्यार्थी के द्वारा विद्या सागर को* पार करने का प्रतीक था।"

विवाह संस्कार—समस्त संस्कारो मे विवाह का महत्त्वपूण स्थान है। अधिकाश गृह्यसूत्रो का आरम्भ विवाह संस्कार मे होता है। ऋग्वद तथा अथववेद म भी ववाहिक विधि विधानो की का यात्मक अभि यक्ति मिलती है। उपनिषदो के युग में *भी आश्रम चतुष्टय का सिद्धा त पूणत प्रतिष्ठित* हो चुका था, जिनमें गृहस्थाश्रम की महत्ता सर्वाधिक स्वीकार की जा चुकी थी। गृह्य सूत्रो धम-सूत्रो एव स्मृतियो में भी परवर्त्ती काल में प्रस्तुत संस्कार का पूण परिचय मिलता है। स्वामी दयानन्द ने "गृहाश्रम-संस्कार" का भी विधान किया है, उनके अनुसार ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामथ्य के अनुसार परोपकार करना और

नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृह कृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन मन धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करना इसी का नाम गृहाश्रम संस्कार है।" किन्तु मेरे विचार से विवाह एवं गृहाश्रम संस्कार को एक ही मान लेना अधिक उचित है।

स्वामी दयानन्द ने विद्यारम्भ एवं केशान्त को मान्यता न देकर वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के प्रवेश करने पर संस्कार का विधान किया है अतः हम इन दोनों ही संस्कारों का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना अनुपयुक्त नहीं समझते हैं।

वानप्रस्थाश्रम प्रवेश संस्कार—प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार यहाँ चार आश्रमों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। वानप्रस्थाश्रम का आशय यह है कि मानव अपनी गृहस्थाश्रम के लिए निर्धारित आयु को पूर्ण करके अर्थात् पचास वर्ष की आयु होने पर अथवा प्रपौत्र के हो जाने पर गृहस्थाश्रम का त्याग कर अरण्य निवास करे तथा भावी जीवन के निर्माण के लिए संयमपूर्वक साधना करे। यही नहीं, प्राचीन मान्यता के अनुरूप मुक्ति प्राप्ति के लिए ईश्वराराधन भी करे। जैसा कि लिखा भी है—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृहीभवेत गृही भूत्वा वनी भवेत वनी भूत्वा प्रव्रजेत'

इसी श्लोक में संन्यासाश्रम का भी उल्लेख है जिसमें वानप्रस्थाश्रम के उपरान्त संन्यास लेने का विधान है। संन्यासाश्रम में दीक्षित होने पर मानव मोह आदि का परित्याग कर पक्षपात रहित विरक्त हो समस्त जन जीवन के परोपकारार्थ विचरण करे।

अन्त्येष्टि संस्कार—हिन्दू के जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है जिसके साथ वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम अध्याय समाप्त करता है। भारतीय पुनर्जन्मवाद में आस्था रखकर एक भारतीय इस संस्कार को करता है क्योंकि परलोक में सुख एवं कल्याण की प्राप्ति के लिए यह संस्कार आवश्यक माना गया है। बोधायन पितृमेध सूत्र में कहा गया है कि— जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयतिमृतसंस्कारेणामुं लोकम् अर्थात् जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कारों द्वारा उस लोक को। अन्त्येष्टि क्रियाओं में व्यवहृत ऋचाएं ऋग्वेद अथवा अथर्ववेद में उपलब्ध होती हैं। इसका विधान कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीयारण्यक के षष्ठ अध्याय में प्राप्त होता है। परवर्ती कतिपय गृह्य सूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार से सम्बद्ध विधि विधानों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। इस संस्कार के करने से कुछ विशेष लाभ भी हैं। इस संस्कार के करने से एक तो संक्रामक रोग एवं कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि इस संस्कार से मनुष्य तथा जीवन के प्रति गृहस्थ के मन में सामंजस्य स्थापित होता है। यह पारिवारिक और सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान का एक विस्मयजनक समन्वय था तथा जीवित सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान करना भी इसका एक लक्ष्य था।

आज बच्चों के निर्माण के लिए न जाने कितने साधनों का प्रयोग किया जा

रहा है, न जाने कितनी सस्थाएँ केवल बच्चो के निर्माण के लिए काय कर रही हैं। प्राचीन भारत म इन सभी का अभाव था किन्तु मानव आज स अधिक सभ्य एव शिष्ट तथा बल सम्पन्न था। इसका एकमात्र कारण सस्कारो का क्रिया वयीकरण ही था। सस्कार व्यवहार म मानव जीवन क निर्माण व विकास की क्रमबद्ध योजना है। ये सस्कार जीवन के परिष्कार एव व्यक्तित्व के विकास म भी अपना योगदान करते हैं। समस्त भौतिक एव आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए सफल पथ प्रस्तुत करते हैं। सस्कार शिक्षा दान का एक वैज्ञानिक प्रयोग है महाभारत क प्रमुख पात्र अभिमन्यु ने मा के पेट म ही चक्र व्यूह की रचना तथा उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वैवाहिक नियम समाज म पारिवारिक जीवन को सुखद बनाने के साथ ही सामाजिक कुरीतियो के निवारण मे योग देते हैं। वानप्रस्थ एव सन्यासाश्रम राष्ट्र के सर्वांगपूण अभ्युदय एव शिक्षा के लिए आवश्यक है। निष्कष यह है कि मानव के निर्माण एव सर्वाङ्गीण विकास मे सस्कार महत्त्वपूण योगदान करते हैं। निश्चय ही ये सस्कार मनुष्य को वास्तविक अर्थो म मानव बनान का काय करते हैं।

विवाह पद्धतियाँ

वस्तुत सस्कारो म सर्वाधिक महत्त्वपूण स्थान विवाह सस्कार का है। आज के जीवन म भी इस सस्कार की महत्ता अक्षुण्ण है। आज के विवाह सस्कार की पूणत रूपरेखा पाणिग्रहण अग्नि परिक्रमा सप्तपदी, लाजाहोम आदि समस्त वैवाहिक पद्धति वही है, जो सकडो वष पूव थी आज भी जीवन की इस मधुर वेला के आरम्भ मे वर कहता है कि '*मैं सौभाग्य की समृद्धि क लिए तेरा हाथ पकडता हू, जिसम हम पूण आयु को प्राप्त हो भग अयमा और दानशील सविता देव आदि ने प्रसाद रूप म गृहस्थ धम के पालन के लिए तुम्ह मुझे प्रदान किया है।*'[1]

विवाह सस्कार के ऊपर विचार करते हुए श्री राय Vedic Index' म लिखते हैं— विवाह सस्कार क लिए एक सुविस्तृत समारोह का आयोजन किया जाता था, जिनका स्वरूप और सस्कार दोनो ही इण्डो जमनिक तथा अइण्डो-जमनिक जाति क लोगो के प्रचलन के ही समान और उनका अभीष्ट भी वैवाहिक सम्बन्ध म स्थायित्व तथा प्रभावोत्पादकता लाना होता था। समारोह का आरम्भ वधू के घर से होता था, जहा अपने मित्रो और सम्बन्धियो सहित वर का आगमन और वहा वधू के मित्रो तथा सम्बन्धियो स भी उसका परिचय होता था। अतिथियो के मनोरजनाथ *एक अथवा अनेक गायो का वध किया जाता था।* वधू को एक पत्थर के ऊपर खडा कराकर औपचारिक रूप स वर उसका हाथ अपने हाथो म लेता था और उसके साथ

[1] ऋग्वेद, १०/८५/३६

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथा स ।
भगो अयमा सविता पुरंधिमह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ॥

घर की अग्नि के चतुर्दिक परिक्रमा करता था। इस कृत्य के पश्चात् विवाह सम्पन्न हुआ मान लिया जाता था। इसी के पश्चात् पति का 'हस्तग्राभ' (जो हाथ पकड़ता है) भी कहा जाता था। विवाह संस्कार के समाप्त हो जाने पर वर अपनी वधू को एक गाड़ी में बैठा कर वैवाहिक जलूस (बरात) के साथ अपने घर ले जाता था।'

विवाह संस्कार का पूर्ण विवरण हमें गृह्य-सूत्रों में उपलब्ध होता है, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी यद्यपि वैवाहिक विधि विधानों को इस समय अभिव्यक्ति प्राप्त हो चुकी थी। उपनिषदों के युग में आश्रम व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो चुकी थी जिसमें अन्याश्रमों के साथ गृहस्थाश्रम की महत्ता सर्वाधिक थी। गृहस्थाश्रम की आधार शिला विवाह संस्कार ही था। विवाह संस्कार जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, क्योंकि इसी संस्कार के अवसर पर वर वधू अपने नवीन जीवन के महान् उत्तर-दायित्व को उठाने की प्रतिज्ञा करते थे। विवाह संस्कार के अवसर पर होने वाली सप्तपदी नामक पद्धति में वर वधू से कहता है कि प्रिय! हमारे वैवाहिक जीवन के लक्ष्य होंगे—

(१) अन्नादि आवश्यक सामग्री (२) बल (३) आर्थिक सम्पत्ति (४) सुख और मन प्रसाद (५) सन्तान पालन (६) दीर्घायुष्य (७) परस्पर प्रेम। यहाँ नहीं आगे भी परस्पर एक दूसरे से कहते हैं कि 'तुम्हारा हृदय मेरे व्रत के अनुकूल हो तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो मेरे कथन को प्रेम पूर्वक एक मन होकर सुनो। भगवान् प्रजापति तुमको मुझमें अनुरक्त करें।[1] वे परस्पर यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि यह जो तुम्हारा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाए। यह जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाए।[2]

वस्तुतः विवाह संस्कार गृहस्थ जीवन की सफलता के लिए आवश्यक तत्व है। डा० मङ्गलदेव ने विवाह संस्कार का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—

विवाह विषयोपभोग के असंयत जीवन का आरम्भ नहीं है। वह तो वास्तव में, गृहस्थ जीवन के पूर्ण उत्तरदायित्व को समझने वाले दम्पति के लिए जीवन संघर्ष में और राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त और प्रविष्ट होने का एक महान् प्रतीक है।[3]

वैदिक भारत में विवाह संस्कार इसलिए भी अनिवार्य हो जाता है क्योंकि पत्नी के बिना कोई व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता था। यतः भारतीय धार्मिक जीवन

---

[1] पारस्कर गृह्यसूत्र १/८ मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

[2] मन्त्र ब्राह्मण १/३/९ यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥

[3] भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा पृ० १४८

का अनिवाय तत्त्व है। यन के बिना वह "अयनिय" कहा जाता था — 'अयज्ञियो वा एव योऽपत्नीक" एकाकी पुरुष सवदा अपूर्ण है क्योंकि पत्नी उसका अर्द्ध भाग है। मनु ने भी आयु का द्वितीय भाग गृहस्थाश्रम मे व्यतीत करने के लिए माना है। याज्ञवल्क्य स्मृति म तैत्तिरीय ब्राह्मण के ऊपर के वचन का समर्थन इस प्रकार किया गया है—अपत्नीको नरो भूय कर्मभ्यो न जायते ब्राह्मण क्षत्रियो वापि वैश्य शूद्रोपि वा नर । कोई भी अपत्नीक व्यक्ति चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय या वैश्य अथवा शूद्र, धार्मिक क्रियाओ का अधिकारी नही हो सकता। आशय यहा है कि जब जीवन की सर्वाङ्गीण क्रियाओ म नारी का महत्त्व अनिवाय है तो फिर विवाह-सस्कार के महत्त्व के सम्बन्ध म कहना ही क्या ?

विभिन्न स्मृतियो मे आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम क्रमश (१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व (७) राक्षस तथा (८) पैशाच हैं।[1]

आश्वलायन गृह्य-सूत्र म भी इसका विधान उपलब्ध होता था। इन आठ प्रकार के विवाहो म प्रथम चार प्रकार के प्रशस्त माने जाते हैं शेष अप्रशस्त।

पैशाच—सबसे अधिक अप्रशस्त विवाह का प्रकार पैशाच था, इसके अनुसार वह छल-कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार प्राप्त कर लेता था। दूसरे शब्दो म अचेतन सुप्त या मत्त कन्या के साथ मैथुन करना पैशाच विवाह है।

एकान्त मे एकाकी, सुप्त अथवा मत्त कन्या के साथ मैथुन करना ही पैशाच विवाह का प्रकार है।[2] सम्भव तो यह भी है कि पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति म इसका प्रचलन रहा होगा वहीं से यह नामकरण हुआ है।

राक्षस—मनु के कथनानुसार रोती-पीटती कन्या को उसके सम्बन्धियो को मार पीटकर बलात् अपहरण कर लेना राक्षस विवाह कहलाता था।[3]

यह पद्धति प्राचीन युद्धप्रिय जनो मे प्रचलित थी। मनु के अनुसार क्षत्रियो के लिए राक्षस विवाह अनुचित नहीं है। महाभारत म भीष्म ने भी इसे क्षत्रियो के लिए प्रशस्त माना है। याज्ञवल्क्य आदि इस विवाह पद्धति को युद्ध से उत्पन्न हुआ मानते हैं—'युद्ध हरणेन राक्षस राक्षसो युद्ध हरणादिति।

गान्धर्व—विवाह का यह तीसरा प्रकार था। आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार जिसम पुरुष एव स्त्री परस्पर निश्चय कर एक दूसरे के साथ गमन करते हैं वह

---

[1] मनु ३/२१ ब्राह्मो दैवस्तथा आर्ष प्राजापत्यस्तथासुर ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम ॥

[2] मनु ३/३४ सुप्ता मत्ता प्रमत्ता वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहाना पैशाचश्चाष्टमोऽधम ॥

[3] मनु ३/३३ हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्ती रुदती गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरण राक्षसो विधिरुच्यते ॥

गान्धर्व विवाह कहा जाता है। हारीत और गौतम के मत में जिसमें कन्या स्वयं अपने पति का चुनाव करती है, वह गान्धर्व विवाह कहलाता है। मनु के अनुसार कन्या एवं पुरुष कामुकता वश जो स्वेच्छा से सम्भोग करते हैं वह गान्धर्व विवाह कहलाता है।[1]

यह विवाह प्राचीनतम विवाह प्रकारों में से एक है। अथर्ववेद में एक स्थल पर गन्धर्व पतियों का उल्लेख मिलता है। हिमाचल के निकट भू भाग में अधिक प्रचलित होने से इसको गान्धर्व नाम से प्रसिद्धि हुई है। महाभारत में इस विवाह के प्रकार की प्रशंसा की गई है क्योंकि इसके मूल में दो व्यक्तियों का पारस्परिक प्रेम होता है— 'सकामायाः सकामेन निमन्त्र श्रेष्ठ उच्यते।" किन्तु धार्मिक दृष्टिकोण इस विवाह को अच्छा नहीं मानता है।

आसुर—आश्वलायनगृह्य सूत्र विवाह के इस प्रकार को गान्धर्व से अच्छा मानता है। मनु के कथनानुसार जिस विवाह में पुरुष कन्या के माता पिता को यथा शक्ति धन देकर कन्या को प्राप्त कर लेता है विवाह का वह प्रकार आसुर है।[2]

विवाह के इस प्रकार में धन ही प्रधान निर्णायक माध्यम होता है। वैसे तो यह सौदेबाजी ही थी जिसमें धन लेकर कन्या बेच दी जाती थी। कुछ धर्म शास्त्रकार इसे "मानुष" अभिधान प्रदान करते हैं।

प्राजापत्य—आश्वलायन गृह्य सूत्र के अनुसार जिस विवाह में पति-पत्नी को समान धर्म के आचरण का उपदेश दिया जाता था वह प्रजापत्य विवाह का प्रकार था। सहधर्म चरत इति प्राजापत्य" ।[3]

इस विवाह में पिता अपनी कन्या का पाणिग्रहण संस्कार योग्य वर के साथ कर देता था जिससे दोनों ही अपने नागरिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का साथ साथ पालन करें। प्राजापत्य नाम स्वयं इस बात का सूचक है कि नवदम्पति प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति, उसका पालन पोषण करने के लिए ही विवाह कर रहे हैं।

आर्ष—यह विवाह पूर्वोक्त सभी से श्रेष्ठ है। इसमें कन्या का पिता वर से यज्ञादि विहित कार्य करने के लिए एक अथवा दो गो मिथुन प्राप्त करता था।[4]

---

[1] मनुस्मृति ३/ २ इच्छयाऽन्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्व स तु विज्ञेयो मैथुन्य कामसम्भव ॥

[2] मनुस्मृति ३/३१ ज्ञातिभ्यो द्रविण दत्वा कन्याय चैव शक्तित ।
कन्या प्रदान विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥

[3] मनुस्मृति ३/३० सहनो चरता धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधि स्मृत ॥

मनुस्मृति अ० ३/२६ एक गोमिथुन द्वे वा वरादादाय धर्मत ।
कन्या प्रदान विधिवदार्षो धर्म स उच्यते ॥

गोमिथुन ग्रहण करना कन्या का मूल्य नही था। भारतीय समस्त धम ग्रन्थो के अनुसार जब कोई युवक कन्या के पिता को एक गोमिथुन प्रदान कर उससे विवाह करता है तो वह आर्ष' कहलाता है। इस विवाह को 'आर्ष' इसलिए कहा जाता है क्योकि यह ऋषि परम्परा म प्रचलित था। डा० अविनाशचन्द्र ने लिखा है— 'जब उसके विस्तृत ज्ञान तथा आध्यात्मिक योग्यता के कारण किसी ऋषि के साथ किसी कन्या का विवाह किया जाता था तो विवाह का वह प्रकार आर्ष कहलाता था।'

दव— आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलकृत्य स दव" इस विवाह के प्रकार म पिता कन्या को अलकृत करके आरब्ध यज्ञ म पुरोहित को दे देता था। यह दान दव यज्ञ क अवसर पर किया जाता था अत इस विवाह का नाम दव था। बोधायन गृह्यसूत्र के अनुसार कन्या दक्षिणा के रूप म दी जाती थी— दक्षिणासु दीयमानास्वन्तर्वेदि यत्त्विजे स दैव" इसलिए इसे दव' सज्ञा प्रदान की गई है। मनु के अनुसार यज्ञ म बडे बडे विद्वानो का वरण कर उसम कम करने वाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना वह दव विवाह है।[1]

ब्राह्म—आश्वलायन गृह्यसूत्र, मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति तथा वशिष्ठस्मृति क अनुसार ब्राह्म विवाह, विवाह का सवश्रेष्ठ प्रकार था। यह ब्राह्मणो के योग्य था अत इस ब्राह्म' नामक सज्ञा दी गई है। इस विवाह म पिता सवगुण सम्पन्न वर को स्वय आमंत्रित कर उसका विधिवत् सत्कार कर दक्षिणा के साथ यथाशक्ति वस्त्राभूषणो से अलकृत कन्या का दान करता था।[2]

यह प्रकार आज भी प्रचलित है तथा इसका आभास हम ऋग्वेदीय—सोम सूर्या के विवाह म भी मिल जाता ह।

इन विवाहो के अतिरिक्त एक-दो विवाह क प्रकार और भी प्रचलित हैं किन्तु व विशेष रूप स उल्लेखनीय नहा हैं। सनाट न वन्कि इन्डक्स' मे लिखा है कि—

आय लोग विवाह क विषय म सवण तथा असगोत्र विवाह दोना नियमो का अनुसरण करते थे।' वदिक ग्रन्था के पर्यालोचन से तथा विवाह के इन प्रकारा को पढ़कर हम *निष्कष पर पहुचत हैं कि उस काल म वर वधू अत्यन्त प्रौढ होते थ* अत समय-समय पर वर-वधू स्वेच्छया भी विवाह कर लिया करते थ।

---

[1] मनुस्मति ३/२८
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कम कुवते।
अलकृत्य सुतादान दव धम प्रचक्षत॥

[2] मनुस्मृति ३/२९ आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवत स्वयम।
आहूय दान कन्याया ब्राह्मो धम प्रकीर्तित॥

गान्धर्व विवाह कहा जाता है। हारीत और गौतम के मत में जिसमें कन्या स्वयं अपने पति का चुनाव करती है, वह गान्धर्व विवाह कहलाता है। मनु के अनुसार कन्या एवं पुरुष कामुकता वश जो स्वेच्छा से सयोग करते हैं वह गान्धर्व विवाह कहलाता है।[1]

यह विवाह प्राचीनतम विवाह प्रकारों में से एक है। अथर्ववेद में एक स्थल पर गान्धर्व पतियों का उल्लेख मिलता है। हिमालय के निकट भू भाग में अधिक प्रचलित होने से इसको गान्धर्व नाम से प्रसिद्धि हुई है। महाभारत में इस विवाह के प्रकार की प्रशंसा की गई है, क्योंकि इसके मूल में दो व्यक्तियों का पारस्परिक प्रेम होता है— 'सकामायाः सकामेन निमन्त्रः श्रेष्ठ उच्यते।" किन्तु धार्मिक दृष्टिकोण इस विवाह को श्रेष्ठ नहीं मानता है।

आसुर—आश्वलायनगृह्य सूत्र विवाह के इस प्रकार को मान्यता से अच्छा मानता है। मनु के कथनानुसार जिस विवाह में पुरुष कन्या के माता पिता को यथाशक्ति धन देकर कन्या को प्राप्त कर लेता है विवाह का यह प्रकार आसुर है।[2]

विवाह के इस प्रकार में धन ही प्रधान निर्णायक माध्यम होता है। वस्तुतः यह सौदेबाजी ही थी जिसमें धन लेकर कन्या बेच दी जाती थी। कुछ धर्म शास्त्रकार इसे 'मानुष' अभिधान प्रदान करते हैं।

प्राजापत्य—आश्वलायन गृह्य सूत्र के अनुसार जिस विवाह में पति-पत्नी को समान धर्म के आचरण का उपदेश दिया जाता था वह प्रजापत्य विवाह का प्रकार था। 'सहधर्म चरत इति प्राजापत्य'।[3]

इस विवाह में पिता अपनी कन्या का पाणिग्रहण संस्कार योग्य वर के साथ कर देता था जिससे दोनों ही अपने नागरिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का साथ साथ पालन करें। प्राजापत्य नाम स्वयं इस बात का सूचक है कि नवदम्पति प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति, उसका पालन पोषण करने के लिए ही विवाह कर रहे हैं।

आर्ष—यह विवाह पूर्वोक्त सभी से श्रेष्ठ है। इसमें कन्या का पिता वर से यथाविधि विहित कार्य करने के लिए एक अथवा दो गो मिथुन प्राप्त करता था।[4]

---

[1] मनुस्मृति ३/३२ इच्छयाऽन्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥

[2] मनुस्मृति ३/३१ ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्या प्रदानं विधिवदासुरो धर्म उच्यते ॥

[3] मनुस्मृति ३/३० सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥

[4] मनुस्मृति अ० ३/२९ एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥

गोमिथुन ग्रहण करना कन्या का मूल्य नही था। भारतीय समस्त धर्म ग्रन्थो के अनुसार जब कोई युवक कन्या के पिता को एक गोमिथुन प्रदान कर उससे विवाह करता है तो वह 'आर्ष' कहलाता है। इस विवाह को 'आर्ष' इसलिए कहा जाता है क्योकि यह ऋषि परम्परा म प्रचलित था। डा० अविनाशचन्द्र ने लिखा है—'जब उसके विस्तृत ज्ञान तथा आध्यात्मिक योग्यता के कारण किसी ऋषि के साथ किसी कन्या का विवाह किया जाता था तो विवाह का वह प्रकार आर्ष कहलाता था।'

दैव—आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार "ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलङ्कृत्य स दैव" इस विवाह के प्रकार म पिता कन्या को अलङ्कृत करके आरब्ध यज्ञ मे पुरोहित को दे देता था। यह दान दैव यज्ञ के अवसर पर किया जाता था अत इस विवाह का नाम दैव था। बोधायन गृह्यसूत्र के अनुसार कन्या दक्षिणा के रूप म दी जाती थी—'दक्षिणासु दीयमानास्वन्तर्वेदि यत्तत्विजे स दैव" इसलिए इसे 'दैव' सज्ञा प्रदान की गई है। मनु के अनुसार यज्ञ म बड़े बड़े विद्वानो का वरण कर उसम कर्म करने वाले विद्वान् को वस्त्र आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना, वह दैव विवाह है।[1]

ब्राह्म—आश्वलायन गृह्यसूत्र, मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति तथा वशिष्ठस्मृति के अनुसार ब्राह्म विवाह, विवाह का सर्वश्रेष्ठ प्रकार था। यह ब्राह्मणो के योग्य था अत इस ब्राह्म नामक सज्ञा दी गई है। इस विवाह म पिता सद्गुण सम्पन्न वर को स्वय आमन्त्रित कर उसका विधिवत् सत्कार कर दक्षिणा के साथ यथाशक्ति वस्त्राभूषणों स अलकृत कन्या का दान करता था।[2]

यह प्रकार आज भी प्रचलित है तथा इसका आभास हम ऋग्वेदीय—सोम सूर्या के विवाह म भी मिल जाता ह।

इन विवाहो के अतिरिक्त एक-दो विवाह क प्रकार और भी प्रचलित हैं किन्तु वे विशेष रूप स उल्लखनीय नहीं हैं। सनाट ने अन्कि इन्टक्स म लिखा है कि—

आर्य लोग विवाह क विषय म सवर्ण तथा असगोत्र विवाह दोनो नियमा का अनुसरण करते थे। वैदिक ग्रन्था क पर्यालोचन से तथा विवाह के इन प्रकारा को पढकर हम निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि उस काल मे वर वधू अत्यन्त प्रौढ होते थ, अत समय समय पर वर-वधू स्वेच्छया भी विवाह कर लिया करते थ।

---

[1] मनुस्मृति ३/२८
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलङ्कृत्य सुतादान दैव धर्मं प्रचक्षत॥

[2] मनुस्मृति ३/२९ आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवत स्वयम।
आहूय दान कन्याया ब्राह्मो धर्म प्रकीर्तित॥

पंच महायज्ञ

प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों में यज्ञ भी प्रधान है। वैदिक भारत में यज्ञ का प्राधान्य था। वैदिक भारत में मानव जीवन की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का एकमात्र आधार यज्ञ था, यहाँ की प्रत्येक क्रिया में वेदों की ऋचाओं के माध्यम से यज्ञ का विधान था। भारतीय संस्कृति में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के समस्त कार्यों में यज्ञ का आवश्यक विधान था, किसी भी प्रसन्नतादायक समारोह या उत्सव में यज्ञ का होना परमावश्यक था। इसीलिए यहाँ के जीवन में कर्मकाण्ड एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यज्ञों के महत्त्व की स्वीकृति वेदों में उद्घोषित है। अथर्ववेद में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यज्ञ को विश्व की नाभि कहा गया है—"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः"। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है कि संसार की उत्पत्ति ही यज्ञ से हुई है वही संसार का प्रथम धर्म भी था—यज्ञेनयज्ञमयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। यजुर्वेद में भी सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ को माना है। यज्ञ को ही प्रजापति व विष्णु कहा गया है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म प्रजापतिर्वैयज्ञ। आशय यही है कि वैदिक धर्म एवं वैदिक संस्कृति में यज्ञ का प्रमुख स्थान है।

प्राचीन भारतीय हिन्दू जाति ने नित्य के धार्मिक कृत्यों में पाँच महायज्ञों का अनिवार्य विधान किया है। मनुस्मृतिकार मनु ने अपनी रचना के तीसरे अध्याय में लिखा है कि प्रत्येक गृहस्थ से पाँच प्रकार की हिंसाएँ प्रतिदिन होती हैं (चूल्हा चक्की झाड़ू ओखली मूसल और घटादि से) इन हिंसाओं के प्रायश्चित्त स्वरूप मनु ने पाँच महायज्ञों का विधान किया है। मनु ने लिखा है कि जो गृहस्थ पंच महायज्ञों का यथाशक्ति त्याग नहीं करता वह गृह में रहता हुआ भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता। मनूक्त पंचमहायज्ञ निम्न हैं—(१) ऋषियज्ञ, (२) देवयज्ञ (३) भूतयज्ञ, (४) नृयज्ञ (५) पितृयज्ञ—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्।[1]

अर्थात् उपर्युक्त पंचयज्ञों को यथाशक्ति छोड़ना नहीं चाहिए अपितु इनका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। इन पंच यज्ञों को महायज्ञ कहा गया है क्योंकि अन्य यज्ञ नैमित्तिक होते हैं परन्तु ये नित्य के कर्तव्य हैं और मनुष्य के दैनिक जीवन से इनका गहरा सम्बन्ध है। ये महायज्ञ यदि नित्य विधिपूर्वक श्रद्धा के साथ किये जाते हैं तो मनुष्य का जीवन निरन्तर उन्नत पवित्र और महान् हो जाता है और अन्ततः वह मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है। जहाँ तक इनकी उपयोगिता का प्रश्न है कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़कर, इनका मौलिक अभिप्राय यही है कि प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि दृष्टि और सर्व भूत हित के आदर्शों के प्रकाश में ही अपने वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। उसको ज्ञान और विद्या की

---

[1] मनु० ४/२१

उन्नति म (=ब्रह्म यन) विश्व को नियन्त्रण मे रखने वाली देवी शक्तियों म (=देवयन), अपने पित पितामह आदि की परम्परा मे (=पितयन), प्राणियों क हित म (=भूतयन), और मानव के महत्त्व तथा मानव कल्याण म (=मनुष्य यन) बराबर आस्था रखनी चाहिए।'

हमारा विश्वास है। कि पचयनों का व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए महत्त्व है।

ऋषियज्ञ

इसको ब्रह्मयज्ञ भी कहा जाता है, इस यन क अन्तगत स्वाध्याय और सन्ध्योपासन य दो कम आते हैं स्वाध्याय के दो अथ हैं, एक तो यह कि मनुष्य प्रतिदिन प्रात और सन्ध्या सद्ग्र थो का पठन-पाठन और चिन्तन करे। परिणामस्वरूप मनुष्य के दुगुणों का क्षय होकर सद्गुणो की अभिवृद्धि होगी। स्वाध्याय से यह भी आशय है कि मनुष्य स्वय प्रतिदिन आत्म निरीक्षण कर, आत्म निरीक्षण करते हुए अपने दुगुणों का परित्याग और सद्गुणों की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न करे।

ब्रह्म-यन का द्वितीय अङ्ग सन्ध्योपासन है इसम ईश्वर की उपासना प्रमुख है। मनु ने सन्ध्योपासना करने के समय का विधान मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में किया है। प्रात काल आकाश में जब नक्षत्र शेष रह जावें तब से लेकर सूयदशन होने तक गायत्री का जप करते हुए—अथ सहित उसका मनन करते हुए अपना आसन लगाए रहे और इसी भाति सायकाल सूयास्त के समय म लकर जब तक प्रचुर नक्षत्र आकाश म आविभू त न हो जायें तब तक निरन्तर सन्ध्योपासना करता रहे।[1] मनु क अनुसार सन्ध्या करने का स्थान सुन्दर, खुली हवा वाला, जलाशय का तट अथवा उद्यान मे होना चाहिए। मनु का मत है कि प्रात की गई सन्ध्या स रात्रि क तथा साय कृत सन्ध्या से दिन के दुष्कर्मों तथा दुर्वासनाओं का शमन होता है।

सन्ध्या की विधि का भी मनु ने निर्देश करते हुए लिखा है कि सन्ध्या म पहले आचमन अगस्पश और माजन की क्रिया के बाद प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम की सर्वाधिक सरल रीति यह है कि 'नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय का ऊपर की ओर सकोचन करते हुए भीतर की वायु को बलपूवक बाहर निकाल दें और फिर उसको ही यथाशक्ति रोके रहें। बाहर और भीतर वायु को रोकने का कम स कम इतना अभ्यास करना चाहिए कि सन्ध्या का प्राणायाम मन्त्र अन्दर ही अन्दर स्थिरता के साथ तीन-तीन बार जपा जा सके। तब तक प्राणायाम होगा। इसी प्रकार के कम स कम तीन प्राणायाम तो सन्ध्या म अवश्य करने चाहिए।' मनु ने प्राणायाम की तुलना अग्नि के ताप स करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार धातुओं का अग्नि म तपाने से उनका मल बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करने स मनुष्य

---

[1] पूर्वां सध्याजपस्तिष्ठेत्सावित्रीमक दशनात।
पश्चिमा तु समासीन सम्यगृक्षविभावनात्।

पंच महायज्ञ

प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों में यज्ञ भी प्रधान है। वैदिक भारत में यज्ञों का प्राधान्य था। वैदिक भारत में मानव जीवन की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का एकमात्र आधार यज्ञ था, वहाँ की प्रत्येक क्रिया में वेदों की ऋचाओं के माध्यम से यज्ञ का विधान था। भारतीय संस्कृति में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के समस्त कार्यों में यज्ञों का आवश्यक विधान था, किसी भी प्रसन्नतादायक समारोह या उत्सव में यज्ञ का होना परमावश्यक था। इसीलिए यहाँ के जीवन में कर्मकाण्ड एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यज्ञों के महत्त्व की स्वीकृति वेदों में उद्घोषित है। अथर्ववेद में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यज्ञ को विश्व की नाभि कहा गया है—'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि'। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है कि संसार की उत्पत्ति ही यज्ञ से हुई है, वही संसार का प्रथम धर्म भी था—यज्ञेनयज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। यजुर्वेद में भी सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ को माना है। यज्ञ को ही प्रजापति व विष्णु कहा गया है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म प्रजापतिर्वैयज्ञ। आशय यही है कि वैदिक धर्म एवं वैदिक संस्कृति में यज्ञ का प्रमुख स्थान है।

प्राचीन भारतीय हिन्दू जाति ने नित्य के धार्मिक कृत्यों में पाँच महायज्ञों का अनिवार्य विधान किया है। मनुस्मृतिकार मनु ने अपनी रचना के तीसरे अध्याय में लिखा है कि प्रत्येक गृहस्थ से पाँच प्रकार की हिंसाएँ प्रतिदिन होती हैं (चूल्हा, चक्की झाड़ू, ओखली मूसल, और घटादि से) इन हिंसाओं के प्रायश्चित स्वरूप मनु ने पाँच महायज्ञों का विधान किया है। मनु ने लिखा है कि जो गृहस्थ पंच महायज्ञों का यथाशक्ति त्याग नहीं करता वह गृह में रहता हुआ भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता। मनूक्त पंचमहायज्ञ निम्न हैं—(१) ऋषियज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) भूतयज्ञ (४) नृयज्ञ (५) पितृयज्ञ—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्।[१]

अर्थात् उपर्युक्त पंचयज्ञों को यथाशक्ति छोड़ना नहीं चाहिए अपितु इनका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। इन पंच यज्ञों को महायज्ञ कहा गया है क्योंकि अन्य यज्ञ नैमित्तिक होते हैं परन्तु ये नित्य के कर्तव्य हैं, और मनुष्य के दैनिक जीवन से इनका गहरा सम्बन्ध है। ये महायज्ञ यदि नित्य विधिपूर्वक श्रद्धा के साथ किये जाते हैं तो मनुष्य का जीवन निरन्तर उन्नत, पवित्र और महान् हो जाता है और अन्तत वह मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है। जहाँ तक इनकी उपयोगिता का प्रश्न है, कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़कर, इनका मौलिक अभिप्राय यही है कि प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि दृष्टि और सर्व भूत हित के आदर्शों के प्रकाश में ही अपने वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। उसको ज्ञान और विद्या की

---
[१] मनु० ४/२१

उन्नति म (=ब्रह्म यन), विश्व को नियन्त्रण मे रखने वाली दवी शक्तिया म (=दवयन) अपन पितृ पितामह आदि की परम्परा म (=पितयन) प्राणिया क हित म (=भूतयन), और मानव के महत्त्व तथा मानव कल्याण म (=मनुष्य यन) बराबर आस्था रखनी चाहिए।"

हमारा विश्वास है। कि पचयना का व्यक्ति और समाज दाना ही के लिए महत्त्व है।

ऋषियज्ञ

इसको ब्रह्मयन भी कहा जाता है, इस यन क अन्तगत स्वाध्याय और सन्ध्योपासन य दो कम आते हैं स्वाध्याय के दो अथ है, एक तो यह कि मनुष्य प्रतिदिन प्रात और सन्ध्या सद्ग्रन्थो का पठन-पाठन और चिन्तन करे। परिणामस्वरूप मनुष्य के दुगु णा का क्षय होकर सद्गुणो की अभिवृद्धि होगी। स्वाध्याय स यह भी आशय है कि मनुष्य स्वय प्रतिदिन आत्म निरीक्षण करे, आत्म निरीक्षण करत हुए अपन दुगु णा का परित्याग और सद्गुणा की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न करे।

ब्रह्म यन का द्वितीय अङ्ग स ध्योपासन है इसम इश्वर की उपासना प्रमुख है। मनु न सन्ध्योपासना करने के समय का विधान मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में किया है। प्रात काल आकाश में जब नक्षत्र शेप रह जावें तब स लेकर सूयदशन होने तक गायत्री का जप करते हुए—अथ सहित उसका मनन करत हुए अपना आसन लगाए रहे और इसी भाँति सायकाल सूर्यास्त के समय स लकर जब तक प्रचुर नक्षत्र आकाश म आविभू त न हो जायें तब तक निरन्तर स ध्योपासना करता रहे।[1] मनु के अनुसार सन्ध्या करने का स्थान सु दर, खुली हवा वाला जलाशय का तट अथवा उद्यान म होना चाहिए। मनु का मत है कि प्रात की गई सन्ध्या स रात्रि के तथा साय कृत सन्ध्या स दिन के दुष्कर्मों तथा दुवासनाओ का शमन होता है।

सन्ध्या का विधि का भी मनु ने निर्देश करते हुए लिखा है कि सन्ध्या म पहल आचमन, अगस्पश और माजन की क्रिया के बाद प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम की सर्वाधिक सरल रीति यह है कि 'नाभि के नीच से मूलेन्द्रिय का ऊपर की ओर सकोचन करते हुए भीतर की वायु को बलपूवक बाहर निकाल दें और फिर उसको ही यथाशक्ति रोके रह। बाहर और भीतर वायु को रोकन का कम स कम इतना अभ्यास करना चाहिए कि सन्ध्या का प्राणायाम मन्त्र अ दर ही अन्दर स्थिरता के साथ तीन-तीन बार जपा जा सके। तब तक प्राणायाम होगा। इसी प्रकार के कम स कम तीन प्राणायाम तो सन्ध्या म अवश्य करने चाहिए।" मनु ने प्राणायाम की तुलना अग्नि के ताप स करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार धातुओ को अग्नि म तपाने से उनका मल बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करने म मनुष्य

---

[1] पूर्वां सध्याजपस्तिष्ठेत्सावित्रीमक दर्शनात।
पश्चिमा तु समासीन सम्यगृक्षविभावनात।

की इन्द्रियों के समस्त दोष दूर हो जाते हैं। इससे आरोग्य और आयु का विकास होता है। सन्ध्या में प्राणायाम, प्राणायाम के बाद अघमर्षण मन्त्र जिनमें परमात्मा सृष्टि का महत्त्व तथा पाप से निवृत्ति का विधान है तदनन्तर मनसा परिक्रमा और उपस्थान के मन्त्रों में परमात्मा के नैकट्य का अनुभव, गायत्री मन्त्र से परमात्मा के सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और तेजस्वी रूप की अनुभूति और अपनी बुद्धि को सद्मार्ग में लाने की प्रेरणा की प्रार्थना और अन्त में ईश्वर को नमस्कार करते हुए सन्ध्योपासन को समाप्त करते हैं।

उपर्युक्त सन्ध्योपासना में मानव के निर्माण का प्रयत्न स्पष्ट परिलक्षित होता है व्यक्ति-व्यक्ति के निर्माण से समाज और राष्ट्र के निर्माण का प्रयत्न स्पष्ट है। मानवमात्र जब आत्म निरीक्षण करता हुआ परमात्मा में निमग्न होता है, तभी विश्व कल्याण सम्भव है। यही सन्ध्योपासना का मूल तत्त्व है।

देवयज्ञ

देवयज्ञ का दूसरा नाम अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र भी प्रातः सायं करना चाहिए। वेदमन्त्रों के द्वारा किया यह अग्निहोत्र मानव मात्र का कल्याण करता है। इससे वातावरण की शुद्धि होती है। क्योंकि अग्निहोत्र करते समय प्रत्येक व्यक्ति शुद्ध पवित्र होकर उस स्थान को भी स्वच्छ करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी तथा आसपास की सफाई करता है, स्वस्तिवाचन शान्ति प्रकरण के मन्त्रों से विश्वकल्याण की कामना परक मन्त्रों का उच्चारण करता है। कभी कभी ये यज्ञ विशालरूप में किए जाते हैं उस समय अनेक व्यक्ति परस्पर आदान प्रदान करते हुए सामाजिक क्षमता मैत्री भाव के विकास में भी योग देते हैं। इस प्रकार यज्ञ राष्ट्र के लिए उपयोगी तत्त्व सिद्ध होते हैं।

भूतयज्ञ

भूतयज्ञ का दूसरा नाम बलिवैश्वदेव यज्ञ भी है। भूतयज्ञ का विधान भोजन करने से पूर्व होता है। इस यज्ञ में मिष्ठान्न आदि भोजन की आहुतियाँ अग्नि में डाली जाती हैं। तदनन्तर कुत्ता भंगी कोढ़ी आदि प्राणियों के लिए तथा पशु पक्षी, कीट पतंग आदि के लिए भोजन का भाग देकर सतुष्ट किया जाता है। इस प्रकार भूतयज्ञ में दान, एवं त्याग की भावना के साथ साथ असमर्थ प्राणियों की मंगल कामना भी निहित है।

नृयज्ञ

नृयज्ञ को अतिथियज्ञ भी कहते हैं। इसमें अतिथि अभ्यागत, साधु महात्मा सज्जन इत्यादि को भोजन वस्त्र दक्षिणा इत्यादि से सन्तुष्ट करके उनके सत्संग का लाभ उठाया जाता है। अतिथि-सेवा से गृहस्थ को एक उत्तम फल मिलता है। यह गृहस्थी का सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है। एक धर्मग्रन्थ में लिखा है कि यज्ञ, दान,

अग्निहोत्र इत्यादि से गृहस्थ को उतना फल नही मिल सकता, जितना अतिथि की पूजा से । चाहे हजारो मन समिधा और सैकडो घडे घत का होम करे, कि तु यदि अतिथि को आपने ■ तुष्ट नही किया तो वह होम यथ है । इसलिए अतिथि सेवा अवश्य करनी चाहिए । इस यज्ञ से त्याग दान एव सेवा की भावना का प्रसार होता ह । विद्वानो का आदर होता है । इस प्रकार यह यज्ञ भी समाज के कल्याण के लिए अपेक्षित है ।

पितयज्ञ

पितृयज्ञ से आशय माता पिता, आचाय आदि गुरुजना की सेवा सुश्रूषा तथा आज्ञा पालन करते हुए श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करना है । इस यज्ञ से सष्टि विकास की प्रक्रिया म भी महत्त्वपूण योगदान मिलता है, जसे हमारे माता पिता ने हम उत्पन्न कर सस्कृति म योगदान करके एक पीढी का विकास किया है उसी प्रकार हमारा कत्तव्य है कि हम आगे की पीढिया को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील रहे । इस प्रकार सृष्टि विकास एव ज्ञान धारा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए पितृयज्ञ नितात अपेक्षित है ।

वर्ण-व्यवस्था

वण शब्द की निष्पत्ति वर्णो वृणुते" से हुइ है जिसका अथ ह वरण करना, वरण करने योग्य गुण और कर्मों को देखकर यथायोग्य जो उनका वरण तथा जो व्यवस्था है, वह वण व्यवस्था ह । वण-व्यवस्था एव जाति-व्यवस्था ये दोनो ही शब्द लगभग पर्यायवाची हे । विश्व म भारतवष के अतिरिक्त ऐसा अ य कोइ राष्ट्र नहा ह जो जाति क भार स इतना आक्रा त हो । आज भारतवष म जाति भेदोपभेद इतनी अधिकता को प्राप्त हो चुका ह कि उसकी गणना गगातट पर फले हुए बालू के कणा के समान सम्भव नही ह । यह वण-व्यवस्था अथवा जाति प्रथा नूतन नही ह इसकी सत्ता महाभारत काल म भी मिलती है । उपनिषदो म भी जातियो के उल्लख मिल जाते हैं । वदिक साहित्य के एक दो म त्रा म भी ब्राह्मण राजयादि श दो क सकत मिलते हैं । इस प्रथा को सवप्रथम किसने आविष्कृत किया था नामत यद्यपि किसी का उल्लेख नही किया जा सकता है, फिर भी इतना तो निश्चय ही है कि यह प्रथा पुरातन है और इसके मूल म सामाजिक व्यवस्था को सुगठित करना ही उद्देश्य था । विश्व के अ य राष्ट्रा म भी मनुष्यो क विभिन्न वर्गों मे विभक्त होने का प्रथा का निर्देश मिलता है । उदाहरण के लिए, प्लेटो न अपनी पुस्तक रिपब्लिक" म मनुष्यो की चार जातिया का सकेत किया है । आर्यों की ईरानी शाखा को भी यह वर्गीय विभाजन ज्ञात था ।

ऋग्वद काल के ऋषियो को जाति प्रथा के सम्ब ध म विशेष जानकारी नहीं था कि तु व ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य और शूद्र के रूप म मनुष्या क विभाजन से अवश्य ही परिचित थ—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजय कृत । उरू तदस्य यद् वश्य

पदभ्यां शूद्रो अजायत"[1] वेद के इस मन्त्र में मनुष्य समाज की मानव शरीर से तुलना की गई है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋग्वेद संहिताओं में विस्तृत उल्लेख नहीं है फिर भी इस एक मन्त्र में ही समस्त सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख कर दिया गया है। एवं सच्चे ब्राह्मण का क्या आदर्श होना चाहिए यह शरीर के मुख की ओर देखकर जाना जा सकता है। इस मुख भाग में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो कि निस्वार्थ भाव से समस्त शरीर का हित चिन्तन करती हैं। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्वयं ग्रीष्म, शरद में कष्ट सहती हुई भी सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करता है और तपस्वी मुख स्वयं कष्ट सहता हुआ अपने लिए कुछ न रखता हुआ भोज्य पदार्थ शरीर के अन्दर प्रवित कर देता है। वस्तुतः समाज में ब्राह्मण वर्ग का प्राचीन काल में यही आदर्श था और आज होना भी चाहिए। ज्ञानेन्द्रियाँ उसके ज्ञान की प्रतीक हैं, जो निःस्वार्थ भाव से कर्म करने का संकेत करती हैं। उपयुक्त मन्त्र ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त में भी मिलता है, जिसकी सत्ता अर्वाचीन स्वीकार की गई है। इसीलिए मैकडोनल का कहना है कि ऋग्वेद काल में जाति प्रथा नहीं थी। ऋग्वेद के मुख्य भाग की अवस्था का इसमें यथार्थ चित्रण नहीं है क्योंकि इस काल में परस्पर वर्ण (Colour) का अन्तर ही प्रधानतः वर्ण विभाजन का आधार था। इस काल में केवल दो ही वर्ण थे—गौर एवं कृष्ण। यह भी कहा जाता है कि जिस समय ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण हो रहा था उस विश्वामित्र एवं वशिष्ठ के समय में पुरोहित वर्ग, राजन्य वर्ग परम्परागत न था। इसलिए एक मन्त्र में कथन मिलता है कि मैं कवि हूँ मेरे पिता वैद्य हैं, माता पीसनहारी है।[1] ऋग्वेद कालीन समस्त समाज एक वर्ग था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वसामर्थ्यानुसार कार्य किया करता था। इसीलिए राज्य भी कृषि एवं उद्योग धन्धों का कार्य किया करते थे। पुरोहित वर्ग भी परम्परागत न था। आर्यों के छोटे छोटे समूहों को अनार्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक था कि वे केन्द्रित शासन सस्थापित करें। अतः स्वतन्त्र रहने से यह कार्य अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुआ। साथ ही व्यवसायी व कृषक भी इन पर भरोसा करने लगे और इन्होंने शस्त्रों का धारण करना छोड़ दिया। पहले व्यक्तिगत यज्ञ होते थे, किन्तु बाद में सभ्यता के विकास एवं मिश्रण से स्वयं ही सम्पूर्ण यज्ञ कार्य करना कठिन हो गया। अतः इस कार्य विशेष के लिए जिस वर्ग की स्थापना हुई, वह पुरोहित वर्ग था। इन दोनों से अवशिष्ट वैश्य कहलाये। इस प्रकार इन वर्गों को परवर्ती जाति प्रथा—वर्ण व्यवस्था का मूलाधार स्वीकार किया जा सकता है। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने जाति प्रथा के सम्बन्ध में जो कुछ विचार किया है उसके निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जातिप्रथा का विकास आर्यों ने भारत में आने से पूर्व ही कर लिया होगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि जातियाँ उनके भारत प्रवेश से पूर्व ही बन चुकी होंगी और शूद्र रूप में कुछ व्यक्ति उनके साथ में

---

[1] ऋग्वेद पृ० १०/९०/१२

आय हुगे और अधिकांश यहाँ का विजित वा ही शूद्रों म परिगणित हुआ होगा। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि — वदिक साहित्य म इस प्रथा (जाति प्रथा) के कुछ मूल बीज जरूर वत्तमान हैं पर तु उस युग म यह प्रथा धम और समाज का इतना जबरदस्त अग निश्चय ही नहीं बना थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों और धम गृह्य श्रौत सूत्रों मे शायद ही कहीं जाति शब्द वा यवहार आधुनिक अथ मे हुआ है।' द्विवेदी जी जाति एव वण म अ तर मानते हुए भी वदिक वण-व्यवस्था को आज की जाति प्रथा को जटिल बनान का उत्तरदायित्व अवश्य देते हैं। कुछ भी सही, वदिक वण व्यवस्था ज म व जातिगत न होकर गुण कम स्वभावानुसार थी, जिसे स्वामी दयान द और महात्मा गाधी न हृदय से स्वीकार किया है।

वण व्यवस्था के उद्‌भव एव विकास के सम्ब ध म पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार विमश किया है। कि तु गम्भीर विचार होने पर भी आज तक वण-व्यवस्था के सम्ब ध म सवसम्मत मत स्थिर नहीं किया जा सका है। पाश्चात्य विद्वानों म से बनके, म्योर तथा जिमर ऋग्वदिक काल म वण यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। सिनाट का भी कुछ एसा ही मत है। लेकिन रून, लुडविग एव ओल्डनबग इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार ऋग्वदिक समय म वणव्यवस्था की सत्ता विद्यमान थी। वण-व्यवस्था पर विचार करते हुए मक्समूलर महोदय ने लिखा है कि निश्चयत कुछ नहीं कहा जा सकता कि वदिक काल म वण-व्यवस्था का वही स्वरूप प्रचलित था, जो कि आजकल समाज व्यवस्था का मुख्याधार बना हुआ है। गरट प्राचीनतम भारत म परम्परागत वण यवस्था स्वीकार नहीं करता और न वह वदों म वण-व्यवस्था का कोई उदाहरण ही देखता है। किन्तु वबर इस युग म वण यवस्था का रूप निश्चित देखत हैं। वस्तुत भारतवष के उस पुरातन युग म वण यवस्था थी अवश्य किन्तु ज म स नहीं अपितु गुण कम से। नेसफील्ड ने लिखा है कि कम के वल और कम की नींव पर भारतीय वर्णों की यवस्था हुई है। इसीलिए रसल महोदय भी वर्णों के उत्कर्षापकष को यवसाय एव उनके निम्नाधार पर देखते हैं। यहाँ भी वण व्यवस्था का मूलाधार कम या और उस काल म यह वण यवस्था इतनी कठोर न थी। कनल अल्काट ने वण व्यवस्था को आज के समान कठोर स्वीकार नहीं किया है। उसक अनुसार प्राचीन समय म जातियाँ अपरिवत्तनशील न थी। जाति ब धन उदार थे। व्यासदव महर्षि बन, विश्वामित्र महर्षि कहलाय और सूत जी न धर्मोपदेश किया इसी कारण उनको यश प्राप्त हुआ। इसी प्रकार के विचार आपस्तम्ब धमसूत्र म मिलत हैं कि धम के आचरण स नीच वण पूव उच्च वण को प्राप्त हो जाता है और उसकी जाति परिवर्तित हो जाती है तथा अधर्माचरण स पूव पूव वण अधो अधो वर्णों को प्राप्त होता है।

धमचयया जघ यो वण पूव पूव वणमापद्यत जातिपरिवृत्तौ।
अधमचयया पूर्वो वणा जघ य जघ य वणमापद्यत जातिपरिवृत्तौ।

कुछ भी रहो हमारा तो अपना यह विचार है कि यजुर्वेद एवं ब्राह्मण साहित्य के काल म वर्ण शब्द का प्रयोग सामाजिक संस्था (Social order) के अर्थ म भी किया जाने लगा था। जाति संस्था ब्राह्मणवादी है। अतः ब्राह्मण धर्म के विस्तार के साथ ही यह विकसित हुई है। इसी के अनुरूप मनुस्मृति आदि म ब्राह्मणों के सर्वातिशायी महत्त्व की उद्घोषणा है। इस जाति प्रथा का आदर्श था—

The doctrine of the religious unity of the family which is symbolized by the offerings made to deceased ancestors"

और कुछ विद्वानों की दृष्टि म यजुर्वेद काल १०००—८०० ई० पू० म जाति प्रथा की सत्ता विद्यमान थी। महाभारत काल म ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्धारण मिलता है। महाभारत के अनुशासन पर्व एवं महाभारतीय गीता भाग म भी वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी श्लोक हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल तक वर्ण व्यवस्था यहाँ पर्याप्त विकसित एवं व्यवस्थित हो चुकी थी। वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान यह तो ब्राह्मण का शाश्वत धर्म है। वेदों का पढ़ाना, यज्ञ मान का यज्ञ कराना और दान लेना, उसकी जीविका के लिए कर्म हैं। सत्य मनोनिग्रह, तप और शौचाचार का पालन ये उसके सनातन धर्म हैं।[1] यज्ञ करना और कराना दान लेना तथा दान देना वेद पढ़ना एवं पढ़ाना—इन छः कर्मों का आश्रय लेने वाला ब्राह्मण धर्म का भागी होता है। स्वाध्यायशील होना ब्राह्मण का मुख्य धर्म है। यज्ञ करना सनातन धर्म है। अपनी शक्ति के अनुसार दान देना उसके लिए प्रशंसनीय धर्म है।[2]

महाभारत म क्षत्रियों के कर्म एवं अधिकारों पर विचार करते हुए लिखा है कि क्षत्रिय का प्रथम धर्म प्रजारक्षण—पालन है। इसी को परवर्ती महाकवि कालिदास ने क्षत्रात किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः लिखा है। अर्थात जो क्षत आक्रमण आपत्ति से रक्षा करता है वही संसार म क्षत्रिय है जो कि वैदिक राजन्य की प्रतिध्वनि है। महाभारतीय क्षत्रिय कर्मों म प्रजापालन के अतिरिक्त प्रजा की आय के षष्ठभाग का उपभोक्ता राजा धर्म का फल प्राप्त करता है। इसके साथ ही इन्द्रिय संयम स्वाध्याय, अग्निहोत्र, कर्म, दान अध्ययन यज्ञोपवीत धारण, यज्ञ

---

[1] म० अ० शा० १४१/४० ३१
स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
कर्माण्यध्यापनं चैव, याजनं च प्रतिग्रहः ॥
सत्यं शान्तिः तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः ॥

[2] यजनं याजनं चैव तथा दानं प्रतिग्रहो।
अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्माधर्मभाग् द्विजः ॥
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि ॥

उत्थान धार्मिक कार्यों का सम्पादन, सवका का भरण पोषण आरम्भ किये हुए का को सफल वनाना अपराधी को उचित दण्ड देना वैदिक यज्ञादि का अनुष्ठान करना याय की रक्षा एव सत्य भाषण, आदि कम राजा (क्षत्रिय) के लिए आवश्यक हैं।[१]

महाभारत म वैश्या के कर्मों पर विचार करत हुए लिखा है कि पशुओ क पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्र कम दान अध्ययन ■ माग का आश्रय लकर सदा चार का पालन, अतिथि सत्कार शम दम, ब्राह्मणा का स्वागत सत्कार और त्याग सब वश्या के सनातन धम हैं।[२] समष्टि रूप म द्विजा (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) क मुख्य धम सत्य का पालन, सत्य भाषण, सत्य व्यवहार सद्भाव क रूप म मानव अप सत्य धम का ही पालन करता है तथा यज्ञ स्वाध्याय और दान य तीन द्विज मा के लिए सामान्य धा हैं—

द्विजातीनामृत धर्मोह्येकश्चव लक्षण ।
यज्ञाध्ययन दानानित्रय साधारणा स्मृता ॥

—म० व० प० १५०/३

महाभारत म शूद्र का परम धम उपयु क्त तानो वर्णों की सेवा करना लिख है। जो शूद्र सत्यवादी, जितेंद्रिय, और घर आये हुए अतिथि की सेवा करने वाला है वह महान् तप का सचय कर लेता है। उसका सेवा रूप धम उसके लिए कठोर तप है—

शूद्र धम परोनित्यशुश्रूषाच द्विजातिषु ।
सशूद्र सशितनपा सत्यवादी जितेंद्रिय ।
शुश्रूषुरतिथि प्राप्त तप सचिनुते महत् ॥

—म० अ० १४१/५७ ५

यदि वह एसा नहा करता है तो वह समाज क लिए अहितकर है।

गीता म भी भगवान कृष्ण न ब्राह्मण, क्षत्रिय वश्य तथा शूद्र के कर्मों क

---

१ म० शा० आ० १४१।८४ ५५

क्षत्रियस्य स्मृतो धम प्रजापालनमादित ।
निर्दिष्ट फल भोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यत ॥
तस्य राज परोधर्मो दम्न स्वाध्याय एव च ॥
यज्ञोपवीतधारण यज्ञो धम क्रियास्तथा ।
भृत्याना भरणं धम कृते कर्मण्यमोघता ॥
सम्यग्दण्डे स्थिति धर्मो वेद क्रतुक्रिया ।
व्यवहार स्थिति धर्म सत्यवाक्य रतिस्तथा ॥
व यस्य सतत धम पाशुपाल्य कृषिस्तथा ।
अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
वाणिज्य सत्पथस्थानमातिथ्य प्रशमोदम ।
विप्राणा स्वागत त्यागो वश्य धम सनातन ।

पृथक-पृथक निर्देश किया है।[1] क्रमश: ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के गुण कर्म इस प्रकार वहाँ निर्दिष्ट है—शम दम तथा तीनों प्रकार के तप, शौच, क्षमा, अन्त:करण की सरलता ज्ञान विज्ञान और शास्त्रीय वचनों में श्रद्धा विश्वास ये सभी ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। गीता १८/४२

क्षत्रिय के कर्मों का निर्देश करते हुए लिखा है कि शौर्य, तेज, धैर्य दक्षता, युद्ध से न भागना दान देना तथा शासन करना—ये क्षत्रियों के लिए विहित स्वाभाविक कर्म हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। गीता १८/४३

भगवान कृष्ण ने वैश्यों के कर्त्तव्य इस प्रकार बताये हैं—कृषि, गौरक्षा, और वाणिज्य—ये तीनों वैश्य कर्म है, अर्थात् वैश्य जाति के स्वाभाविक कर्म हैं—

कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। गीता १८।४४

उपर्युक्त कर्मों का भलीभाँति अनुष्ठान किए जाने पर स्वर्ग रूप फल की प्राप्ति होती है क्योंकि अपने कर्मों में तत्पर हुए वर्णाश्रमावलम्बी मृत्यु के उपरान्त परलोक में कर्मों का फल भोग कर बचे हुए कर्म फल के अनुसार श्रेष्ठ देश, काल, जाति, धर्म आयु विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा आदि से युक्त जन्म ग्रहण करते हैं।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत (गीता) काल तक जातिप्रथा गुण कर्मानुसार सत्ता प्राप्त कर चुकी थी। यहीं से जन्म के अनुसार जाति की जड़ें जमना प्रारम्भ हो जाती है। परवर्ती समग्र साहित्य इसका निदर्शन है। धर्मशास्त्र के जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उन सभी में उपर्युक्त विचारधारा की ओर वर्णानुसार निर्दिष्ट गुणों का उल्लेख मिलता है।

मनु ने अपनी मनुस्मृति में भी चारों वर्णों के कर्मों का निर्देश किया है। उनके मत में ब्राह्मण का कार्य ज्ञान का प्रसार एवं शान्ति स्थापना है। उसे समस्त आध्यात्मिक व व्यावहारिक ज्ञान का आगार होना चाहिए—

---

[1] गीता १८।४१ ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।

[2] एतेषां जाति विहितानां कर्मणां सम्यगनुष्ठितानां स्वर्ग प्राप्तिः फलं स्वभावतः ।
वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्ठ देश जाति कुल धर्मायु श्रुतवृत्त वित्त सुखमेधसो जन्मप्रतिपद्यन्ते ।
—आ० सू० २/२/२/३

सर्वेषा ब्राह्मणो विद्याद् वृत्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥

अर्थात् ब्राह्मण समस्त वर्णों की आजीविका के उपायों को जानकर उन्हें बताये और स्वयं अपने कर्त्तव्यों के पालन में निरत रहे। ब्राह्मण के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए मनु लिखते हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु० १/८८

पढ़ना पढ़ाना यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना ये ब्राह्मण के छः कर्त्तव्य हैं। शुक्रनीति में ब्राह्मण के गुण कर्मों का संकेत इस प्रकार किया गया है—जो पुरुष ज्ञान, कर्म और उपासना के द्वारा ईश्वर की आराधना में लीन रहता है, जो शान्त, संयमी और दयालु है। वही ज्ञान, दम दयादि सम्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण है अर्थात् इन सभी गुणों से विभूषित ब्राह्मण को होना चाहिए—

ज्ञानकर्मोपासनाभिः देवताराधने रतः ।
शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः । शुक्रनीति १/४०

ब्राह्मण समाज की विचार शक्ति एवं मस्तिष्क थे तो क्षत्रिय बाहु। वेद ने भी कहा है— 'बाहू राजन्यः कृतः'। शरीर की रक्षा करने का कार्य भुजायें ही करती हैं। जीवन के सामान्य से सामान्य अथवा विशिष्ट से विशिष्ट अवसर पर हम यह देख सकते हैं कि यदि कोई शत्रु हमारे ऊपर आघात करना चाहता है तो हाथ ही सबसे पहले उसके प्रतिकार के लिए बढ़ते हैं। यदि पैर में काँटा लग जाये अथवा शरीर पर मक्खी बैठ जाये उस अवसर पर भी हाथ ही आगे बढ़ते हैं। इसी प्रकार समाज की रक्षा के लिए भी क्षत्रिय ही आगे आते थे अतः वेद ने क्षत्रियों को बाहु कहा है। शुक्रनीति ने भी लोक की रक्षा करने में चतुर व्यक्ति अथवा वर्ग को क्षत्रिय कहा है। जो व्यक्ति शूर आत्मसंयमी पराक्रमी दुष्टों के दमन करने में समर्थ हो, वही वस्तुतः क्षत्रिय कहा जा सकता है। मनुस्मृतिकार ने भी प्रजा की रक्षा दान, यज्ञ करना, वेद का पढ़ना पढ़ाना तथा विषयों में न फँसना क्षत्रिय के धर्म माने हैं—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ मनु० १/८९

शुक्रनीति में वैश्य के कर्त्तव्यों का विवेचन इस प्रकार मिलता है—जो क्रय विक्रय में निपुण हैं जो निरन्तर व्यापार द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं जो पशुओं की रक्षा और कृषि के काम में संलग्न रहते हैं वे वैश्य हैं। मनुस्मृति में भी वैश्यों का काम पशुओं की रक्षा दान यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना, व्यापार एवं ब्याज द्वारा धनोपार्जन बताया गया है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु० १/८९

शूद्रों के कर्तव्य एवं अधिकारों का महाभारत (गीता) के समान ही मनुस्मृति एवं शुक्रनीति में उल्लेख किया गया है। शुक्राचार्य लिखते हैं—शूद्रों को भी अपने अन्दर शौर्य, शान्ति, जितेन्द्रियत्व धारण करना चाहिए, तथा द्विजों की सेवा-पूजा में लगे रहना चाहिए। मनु ने भी लिखा है—शूद्र का एक ही कार्य है और वह प्रथम तीन वर्णों के मनुष्यों में ईर्ष्या न करते हुए उनकी सेवा करना—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० १/९१

प्राचीन वर्ण व्यवस्था का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि वह गुण कर्मानुसार ही थी। इसीलिए महाभारत के शान्तिपर्व में भृगु कहते हैं कि—

सत्य, दान, अद्रोह, अक्रूरता, उचित लज्जा, करुणा और तप ये गुण जहाँ दिखाई दें वही ब्राह्मण है।[1] यही नहीं आगे यह भी लिखा है, यदि शूद्र कुलोत्पन्न किसी पुरुष के अन्दर ये गुण प्राप्त हों तो वह शूद्र नहीं अपितु ब्राह्मण है और यदि किसी ब्राह्मण-कुलोत्पन्न मनुष्य में इन गुणों का अभाव हो, वह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है।[2] महाभारत में प्राप्त पुरोहित का लक्षण भी इसी प्रसंग में दर्शनीय है। वहाँ स्पष्ट निर्देश है कि जिसके अन्दर अक्रूरता, सत्यवादिता, अहिंसा, तप, सरलता, ईर्ष्या का अभाव, अभिमान राहित्य, उचित लज्जा, सहनशक्ति, मन संयम और शान्ति ये गुण पाये जायें उसी को पुरोहित कहते हैं अन्य किसी को नहीं।[3]

चारों वर्णों में ब्राह्मण क्षत्रिय को लगभग समान महत्त्व प्रदान किया है। एक यदि ज्ञान का आगार होना चाहिए तो दूसरा शक्ति का। दोनों के अविरोध रूप में होने पर ही राष्ट्रीय विकास सम्भव है और जब इन दोनों में ही विरोध होता है वहाँ से राष्ट्र के विभाजन एवं पतन का प्रारम्भ हो जाता है। चारों वर्णों में शूद्रों को सबसे कम उत्तरदायित्व प्रदान किया गया है। उन्हें कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं, न धन कमाने व राष्ट्र की रक्षा के लिए जीवन को खतरे में डालने की ही आवश्यकता है। उनका एकमात्र कर्म एक ओर स्वामी की सेवा तो दूसरी ओर पश्या

---

[1] सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ म० भा० शा० प०

[2] शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न दृश्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

[3] आनृशंस्यं सत्यवाद्यमहिंसा तप आर्जवम्।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते॥

को धन का स्वामी बनाकर आर्थिक सामंजस्य का अधिकार दिया गया। किंतु वैश्य को ब्राह्मण व क्षत्रियों के समान कोई महान उत्तरदायित्व नहीं दिया गया उन्हें तप की अपेक्षा विलास के साधन प्रदान किये गये। प्रतिष्ठा, कीर्ति, शक्ति और धन ये सभी पदार्थ एक साथ किसी को नहीं दिये जा सकते। यदि यश प्रिय है तो भोग विलास पर लात मारकर स्वार्थ रहित तपोमय जीवन व्यतीत करो और यदि शक्ति की अभिलाषा है तो लोकरक्षा का भार लेना होगा धन का मोह त्यागना होगा। इन परिस्थितियों में समान वितरण की भावना के मध्य भारतीय वर्ण व्यवस्था का उद्भव हुआ था और जब तक वह पारस्परिक सहयोग की भावना रही, भारतीय समाज एवं भारत राष्ट्र सुखी रहा, किंतु जब से जन्म के अनुसार वर्णव्यवस्था विकसित होने लगी, समाज में ऊँच नीच की भावना भी पल्लवित होने लगी। समाज में, राष्ट्र में इस जातिप्रथा ने जो कुछ अच्छा या बुरा किया वह सर्वविदित ही है।

यह वर्णव्यवस्था भारतीय समाज में आज शताब्दियों से चली आ रही है और इसके द्वारा उत्पन्न कुछ विषमताओं और हानियों के होने पर भी भारतीय समाज इसे छोड़ना नहीं चाहता है। इससे पता चलता है कि इसमें कुछ गुण भी अवश्य है। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है 'वर्ण व्यवस्था में कुछ न कुछ विशिष्ट गुण अवश्य है। इसी कारण वह उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सहस्रों वर्षों से विद्यमान है। यदि वर्ण व्यवस्था में यह आवश्यक गुण न होता तो उसका अब तक पतन अवश्य ही हो गया होता।' वस्तुतः वर्ण व्यवस्था ने पुरातन भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बाँधकर धार्मिक अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने की शक्ति प्रदान की थी संस्कृति की रक्षा की थी रक्त की पवित्रता की रक्षा में इसने योग दिया था, अनेक सामाजिक कुरीतियों के निवारण में योग दिया था। सामाजिक वैषम्य को दूर कर समान अधिकार प्रदान किये थे। तपोमय आदर्श जीवन व्यतीत करते हुए आदर्श समाज के निर्माण की प्रेरणा दी थी इसलिए मनवर विरसन ने लिखा है वर्णव्यवस्था मनुष्य को स्वार्थ त्याग का पाठ पढ़ाती है, दुराचार से रोकती है, दारिद्रय को दूर करती है और उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है। किंतु जहाँ एक बार इस वर्णव्यवस्था ने राष्ट्रीय एकता का निर्माण किया था सामाजिक उन्नति की थी, समाज में समान अधिकार एवं धन का वितरण किया था, सद्भाव का प्रसार किया था वहीं दूसरी ओर इसी वर्ण व्यवस्था ने केंद्रित राष्ट्रीय शक्ति को छिन्न भिन्न किया, सामाजिक एकता को नष्ट किया परिणामस्वरूप राजनीतिक एकता स्वयं नष्ट हो गई। समाज में संकुचित विचारधारा का प्रसार किया। परिणामस्वरूप मुट्ठी भर यवनों ने सदा ही भारत को पद दलित किया छिन्न भिन्न किया। इसी वर्ण व्यवस्था ने भारतीय जन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव डाला। आज भारत का प्रत्येक विचारक इस वैषम्योत्पादक प्रथा की आलोचना करता है किसी किसी ने तो इस जाति प्रथा को भारतीय समाज के लिए अभिशाप तक कहा है क्योंकि भारतीय समाज के विशाल संगठन को यह रोग घुन की तरह खा रहा है। भारतीय समाज की आधार

भित्ति वर्ण-व्यवस्था के पुनरुत्थान में यह महान् बाधा है। भारतीय आदर्शों के बीच में यह चन्द्र के कलंक के समान है।

आश्रम व्यवस्था

भारतीय समाज की आधारशिला पुरातन काल से आश्रम-व्यवस्था रही है। जीवन के मर्म को हृदयंगम करके ही आश्रम-व्यवस्था को विकसित किया गया था। प्रत्येक व्यक्ति को चारों आश्रमों में प्रवेश करना पड़ता था। इस आश्रम व्यवस्था ने भारतीय मानव को प्राणान्वित करते हुए संघर्षपूर्ण इस भवसागर में आगे बढ़ने की क्षमता प्रदान की है। वस्तुतः यह ठीक ही है कि संघर्ष ही जीवन (Life is struggle) और शक्ति के बिना संग्राम में विजय लाभ सम्भव नहीं है। इसी सर्वाङ्गीण शक्ति के उपार्जन के लिए भारतीय समाज में आश्रम धर्म का विधान किया गया है। सामर्थ्यवान् व्यक्ति ही उस परम तत्त्व से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। शक्ति के अभाव में महाशक्तिरूपिणी त्रिगुणमयी माया से निस्तार सम्भव नहीं है। उस त्रिगुणमयी दुरत्यया माया पर विजय प्राप्त करने के लिए गीता में भगवान् की शरण प्राप्ति का निर्देश है।[1] परमात्मा की शरण में अथवा परमात्मा से सम्बन्ध शक्तिशाली व्यक्ति ही स्थापित कर सकता है। वही इस माया के साथ संग्राम में विजयलाभ कर सकता है। माया किसके अधीन रह सकती है, इस विषय में सप्तशती में महामाया स्वयं कहती है—

> यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
> यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

मेरे साथ संग्राम में जो विजयी होता है, मेरे दर्प को जो दबा सकता है, मेरी स्पर्द्धा के सामने प्रतिस्पर्द्धी होकर जो खड़ा रह सकता है वही मेरे ऊपर प्रभुत्व करने योग्य है। प्राचीन ऋषियों मुनियों ने इसी शक्ति संचय के लिए आश्रम व्यवस्था की योजना की थी। मनुष्य की आयु का मान सौ वर्ष मानते हुए इन सौ वर्षों को चार आश्रमों में विभक्त किया गया था। उनके नाम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। महाभारत में लिखा है कि यह आश्रम व्यवस्था रूपी चार पदों वाली सीढ़ी है जो ब्रह्म की ओर क्रमशः ले जाती है। जो इस सीढ़ी पर चढ़ने में समर्थ होकर चढ़ जाता है वह अन्त में ब्रह्मलोक वा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[2] ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक

---

[1] गीता ७/१४ दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

[2] महाभारत शा० प० अ० २४२ १५ १६
चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते॥
ब्रह्मचारी गृहस्थ च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुक।
यथोक्तचारिणः सर्वे, गच्छन्ति परमांगतिम्॥

बालक को अपना जीवन यतीत करना होता था, जहाँ गुरुकुलो का पवित्र वायुमण्डल पितृ-तुल्य वीतराग आचाय मनीषि उपा याय वग से शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति का सुअवसर प्राप्त होता था। इस काल म विद्यार्थी ब्रह्मचय का पालन करता हुआ सागोपाग वदादि शास्त्रो का अध्ययन तथा विभिन्न ज्ञान विज्ञानो का उपाजन किया करत थे। ब्रह्मचय— ब्रह्म अर्थात इश्वर की प्राप्ति तथा वेद के यथाथ ज्ञान सम्पादन के लिए विशेष व्रत के कारण इस व्रत का नाम ब्रह्मचय रखा जाता था।" इस समग्र व्रत काल के तीन भाग किये जाते थ जिनके नाम क्रमश वसु, रुद्र और आदित्य थे। यूनातियून चौबीस वष पय त ब्रह्मचय व्रत का पालन करने वालो को आदित्य ब्रह्मचारी कहा जाता था। शारीरिक मानसिक, वाचिक पवित्रता तथा पूण आत्म सयम ब्रह्मचय व्रत का मूलाधार तथा प्रयोजन है। इ ही के द्वारा पूण शारीरिक व मानसिक विकास सम्भव है। यह काल तपस्या का काल होता था। इसम बालको को नाना प्रकार से महाप्रकृति के साथ सम वय स्थापित करने की शिक्षा दी जाती थी। अनेक प्रकार के शारीरिक तप शीत ग्रीष्मादि के वेग को सहन करने के लिए नगे बदन खाली पर नग्न सिर रखना यम सूर्योपस्थान आदि तपस्या के अङ्ग थ। यम नियमो का पालन करते हुए प्रकृति मे निहित समस्त शक्तियो से प्राणा वित होना इस काल की विशेषता थी। पृथ्वी म निहित विद्युत शक्ति के साथ पार्थिव शरीर का जो नसर्गिक सम्ब ध है उसे नग्न शरीर, नग्नपाद नग्न सिर रह कर इस काल मे ग्रहण किया जाता था। मनु न इसीलिए ब्रह्मचारियो को छूता, छाता आदि धारण करन का निषेध किया है क्योकि इस काल म उपार्जित शक्ति ज्ञान एव सयम, गहस्थाश्रम की धार्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थाश्रम की तपस्या और स या साश्रम का ब्रह्मज्ञान सभी इस ब्रह्मचर्याश्रम म व्रत तप एव वीयरक्षा पर ही निभर करते है। मनु के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु आश्रम म रहते समय इ द्रिय सयम करके तपोबल बढाने के लिए निम्न नियमो का पालन करे। उनको मधु, मास ग ध द्रव्य माल्य, रस आदि का सेवन और स्त्री सम्ब ध का त्याग करना चाहिए। जो वस्तु स्वभावत मधुर है पर तु किसी कारण से अम्ल हो गया है, इस प्रकार की वस्तु ब्रह्म चारी को कदापि सेवन नही करनी चाहिए और न ही किसी जीव की हिंसा करनी चाहिए।[1]

ब्रह्मचारी को तलमदन आखो म अजन पादुका व छात्र धारण नही करना चाहिए और न ही काम क्रोध लोभ नृत्य गात वाद्य अक्ष क्रीडा, मनुष्यो के साथ वृथा वादवि वाद या दापत्शन मिथ्या वचन स्त्रियो क प्रति कटाक्ष या आलिगन,

---

[1] मनु० २/१७७ सेवेतेमास्तुनियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन
सन्नियम्येन्द्रिय ग्रामतपो वद्धयमात्मन
वजयेन्मधुमास च ग धमाल्यरसान स्त्रिय
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम ॥

दूसरों का अपकार ये सभी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य कर्म हैं, अतः नहीं करने चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त भी मनुजी ने ब्रह्मचारियों के लिए विधान बताये हैं, जिनके पालन से ब्रह्मचारी की तपस्या में व्याघात उपस्थित नहीं हो सकता, वह निर्द्वन्द्व शारीरिक, मानसिक शक्ति संचय करता हुआ ईश्वर की प्राप्ति करने में समर्थ हो सकता है – ब्रह्मचारी सदैव एकाकी शयन करे, कभी वीर्यपात न करे, इच्छा से वीर्यपात करने पर ब्रह्मचारी का व्रतभंग हो जाता है। यदि इच्छा न होने पर कभी स्वप्न में शुक्र नाश हो जाय तो स्नान और सूर्यदेव की पूजा करके तीन बार 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' अर्थात् मेरा वीर्य मेरे में पुनः लौट आवे का पाठ करे। यह कुछ ब्रह्मचर्य पालन के विधान हैं।[2]

संसार में प्रायशः देखा यह जाता है कि एक वस्तु अथवा कार्य से मनुष्य प्रधानतः आधिभौतिक आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। किन्तु ब्रह्मचर्य एक ऐसी तपस्या है जो तीनों प्रकार की शक्ति संचय का एकमात्र आधार है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

सत्येनलभ्यस्तपसाह्येष आत्मा।
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥३/५

सत्य तपस्या ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य ज्ञान रूप प्रदीप के लिए तैल रूप है और संसार समुद्र में पथभ्रष्ट प्राणियों के लिए आकाशदीप के समान हैं। इसी ब्रह्मचर्य के पालन से आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति करता हुआ मानव परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता था। छान्दोग्योपनिषद् का कथन है कि—

"अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येणह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।"

ब्रह्मचर्य ही यज्ञ और इष्ट कृत्य है जिसमें मनुष्य आत्मा को प्राप्त हो जाता है गीता का भी कथन है—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

---

[1] मनु० २/१७८ १७९ अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥

[2] मनु० २/१८० १८१ एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥

वेदज्ञाता मनीषी जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासना रहित यतिगण जिस परमपद की प्राप्ति करते हैं, जिस परमपद की इच्छा से साधक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं उसका विषय मैं संक्षेप से करता हूँ। वस्तुतः जिस शक्ति के द्वारा महर्षिगण प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके दिग्दिगन्त में उसकी छटा फहराते थे और जिस शक्ति के द्वारा उनके समाधि शुद्ध अन्तःकरण में वेद की ज्योति प्रतिफलित हुआ करती थी वह शक्ति ऊर्ध्वरेता महर्षियों में ब्रह्म की ही शक्ति है। छान्दोग्योपनिषद में इन्द्र विरोचन सम्वाद में इस सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया था कि केवल ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। ब्रह्माजी पहले देव दानवों के इन दोनों प्रतिनिधियों को बत्तीस बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन की आज्ञा देते हैं। किन्तु पूर्ण ब्रह्मज्ञान इन्द्र ही कर पाता है जो इसके बाद भी अनेक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का साधना करता है। योग का सिद्धान्त है कि मन, वायु और वीर्य्य तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। इनमें से एक भी वशीभूत हो तो और दो भी वशीभूत हो जाते हैं, जिसका वीर्य्य वशीभूत ब्रह्मचर्य के द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है। और मन के वशीभूत होने से निर्विषय अन्तःकरण में ब्रह्मज्ञान का स्फुरण होता है। यही ब्रह्मचर्य पालन के आध्यात्मिक लाभ हैं।

ब्रह्मचर्य के पालन से आधिदैविक उन्नति भी होती है। योगदर्शन में लिखा है—

'ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से परम शक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद में लिखा है कि—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दति तेषामेवैष।
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारी भवति॥

ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोक में सिद्ध पुरुष कामचारी होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य द्वारा दैवी शक्ति लाभ का ही फल है। इसी शक्ति के प्राप्त होने से ही भीष्म पितामह को इच्छामृत्यु प्राप्त हुई थी और शरशय्या पर शयन करते हुए पवित्र ब्रह्मज्ञान का धर्मोपदेश किया था।

ब्रह्मचर्य से आधिभौतिक उन्नति भी होती है। कालिदास की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"[1]

वस्तुतः स्थूल शरीर रक्षा के बिना मनुष्य सर्वाङ्गीण उन्नति नहीं कर सकता है। मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति शारीरिक स्वास्थ्य पर ही निर्भर है। स्वास्थ्य ब्रह्मचर्य पालन पर ही निर्भर है। क्योंकि चिकित्सा शास्त्र का सिद्धान्त है कि खाया हुआ अन्न पाकस्थली में जाकर पहले रस बनाता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य्य बनता है। इस प्रकार

---

1 कुमारसम्भव, ५/३३

अन्न के रस से एक मास में वीर्य बनता है। चालीस बिन्दु रक्त से एक बिन्दु वीर्य बनता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर रक्षा के लिए वीर्यरक्षा का महत्व कितना अधिक है। यह वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए तदनुरूप आचरण का पालन करते हुए ही सम्भव है। ब्रह्मचर्य पालन के सम्बन्ध में दक्ष संहिता में लिखा है कि—

ब्रह्मचर्य सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

स्मरण कीर्तन केलि दर्शन, गुप्तवार्त्तालाप, सङ्कल्प चेष्टा, और क्रिया समाप्ति ये ही मैथुन के आठ अंग हैं, इनसे विपरीत ब्रह्मचर्य है जो कि सदा पालन करने योग्य है। इसके पूरे पालन के लिए शरीर मन बुद्धि तीनों को ही संयत रखना ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। ब्रह्मचारी को जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सात्विक आहार भी करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य भी दो प्रकार का बताया गया है—एक नैष्ठिक दूसरा उपकुर्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम की आज्ञा नहीं है आजन्म ब्रह्मचर्य पालन का विधान है। यदि शिष्य इतना समर्थ है कि वह आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सके तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की आज्ञा दे जाबाल मुनि का कहना है कि ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त करके गृहस्थी होवे। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थी बने। वानप्रस्थाश्रम के बाद संन्यास ग्रहण करे। वैराग्य का उदय होते ही संन्यास लेवे—

ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।
जा० श्रु० १४

इस प्रकार भारतीय समाज व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास करते हुए ऊपर हमने दो प्रकार के ब्रह्मचारियों का निर्देश किया है। एक नैष्ठिक और दूसरे उपकुर्वाण। जो ब्रह्मचारी आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करने में समर्थ नहीं है वह गुरु के आश्रम में कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक विद्याभ्यास करने के उपरान्त गुरु की यथासाध्य दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से व्रत समाप्ति का स्नान करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। मनु ने लिखा है—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत् ॥[1]

---

[1] मनु० ३/१ २

ब्रह्मचारी तीन वेद समाप्त करने के लिए गुरु के आश्रम म ब्रह्मचय धारण पूवक छत्तीस वष, अठारह वष या नौ वष तक निवास करें। तीन वद, दो वेद या एक वेद का अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचय के साथ गह आश्रम मे प्रवेश करे और आश्रम म गुरु की आना से यथाविधि व्रत स्नान समावत्तन करके द्विज सुलक्षणा सवर्णा कन्या का पाणिग्रहण करे—

गुरुणाऽनुमत स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

गहस्थाश्रम का सवप्रधान सस्कार विवाह सस्कार है। इस सस्कार के तीन उद्देश्य हैं—

१ अनगल अथवा उच्छ्रृङ्खल प्रवृत्ति का निरोध
२ पुत्रोत्पादन द्वारा वश की रक्षा
३ ईश्वर की भक्ति का अभ्यास।

मनुष्य का मन अतीव चचल है, मनुष्य की इन्द्रियां चचल मन का साथ देती हैं। ससार चक्र म नारी एव पुरुष का विधान ही इस रूप म हुआ है कि मानव का मन स्वतन्त्र होने से इन्द्रिय लालसा एव भोग विलास की ओर उन्मुख होता है। प्रत्यक मानव के हृदय मे स्त्रियो के लिए और प्रत्येक नारी के हृदय म नर के लिए रतिभाव होता है। यह रतिभाव या भोग का भाव प्राकृतिक रूप से सावदेशिक एव सावकालिक है। किन्तु यदि इस विलास भावना का मुक्त भोग की ओर उन्मुख कर दिया जाय तो मानवता का विनाश अनिवाय हो उठेगा, सामाजिक व्यवस्था ध्वस्त हो उठगी, नतिकतावादी मान्यताए भी अपनी अन्तिम जीवन श्वास लेने लगेगी इसक साथ साथ समस्त सामाजिक व्यवस्था ध्वस म मिलकर पानी माग उठगी। इन्ही समस्त मान्यताओ और व्यवस्थाओ के सचालन के लिए एक पुरुष और एक स्त्री को परस्पर धम भावना के साथ बाधकर भाव शुद्धि पूवक विभिन्न नियमो म आबद्ध कर सामाजिक व्यवस्था के सचालन के लिए गहस्थाश्रम म विवाह सस्कार का विधान किया गया है।

विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति द्वारा वश रक्षा और पितृ ऋण से उऋण होना है—

'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी '

वाक्य इसी विचारधारा का प्रतिपादन करता है। मनुजी ने भी लिखा है कि—ऋषि ऋण देव ऋण और पितृ ऋण तीनों ऋणों से उऋण होकर मोक्ष म चित्त को लगाना चाहिए। ऋण त्रय से मुक्त हुए बिना जो व्यक्ति मोक्ष धम का पालन एव आश्रय लेता है वह पतन को प्राप्त करता है। स्वाध्याय द्वारा ऋषि ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण और यज्ञ साधना द्वारा देव ऋण से गहस्थ मुक्त होते हैं—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यध ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए विधान है कि उसके समस्त ऋण ज्ञानोपार्जन से उऋण हो जाते हैं। उसे उक्त ऋणत्रय से मुक्त होने की आवश्यकता नहीं। उसके ऋण ज्ञान यज्ञ में ही लय हो जाते हैं। किन्तु एक गृहस्थी को पितृ ऋणादि से उऋण होने के लिए ऊपर निर्दिष्ट आचरण करने चाहिए।

गृहस्थाश्रम को विभिन्न आचार्यों ने ज्येष्ठाश्रम कहकर उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। मनु का तो यहाँ तक कहना है कि जो अक्षय स्वर्ग और इस लोक में सुख की कामना करते हैं उन्हें प्रयत्नपूर्वक इस आश्रम के धर्मों का पालन करना चाहिए। निर्बलेन्द्रिय पुरुष इस आश्रम का भली भाँति निर्वाह नहीं कर सकते हैं। मानव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ विभिन्न परिस्थितियों में स्वयं रहता हुआ और उन परिस्थितियों का अनुभव करता हुआ विशुद्ध प्रेम, स्वार्थ त्याग, दूसरों के लिए कष्ट उठाना, सहानुभूति आदि के पाठ गृहस्थाश्रम में रहते हुए अधिकतर सीख सकता है।

गृहस्थाश्रम की सफलता एवं विवाह के उद्देश्यों की पूर्णता के लिए विद्वानों ने विवाह के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। विवाह करते समय उनका ध्यान रखना चाहिए—(१) विभिन्न रूप गुण और मनोकामनाओं वाले दम्पत्ति का गृहस्थ जीवन कभी सुखी नहीं रह सकता और न अच्छी सन्तान ही उत्पन्न हो सकती है। (२) स्त्री-पुरुष में प्रेम की पूर्णता न होने से अच्छी सन्तान नहीं होती है। (३) कन्या के सुलक्षण एवं सद्गुणान्वित न होने से भावी जीवन में भी अमङ्गल की सम्भावना रहती है। (४) माता पिता के शारीरिक मानसिक दोष और गुण से सन्तान में अवतरित होते हैं। अतः दोषपूर्ण वर कन्या में से एक भी नहीं होना चाहिए। (५) कन्या की आयु पुरुष से कम होनी चाहिए अन्यथा पुरुष का पुरुषत्व नाश, भयङ्कर रोग और अकाल मृत्यु की सम्भावना के साथ क्षीण एवं रुग्ण सन्तानोत्पत्ति होती है। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

अविलुप्त ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
अनन्य पूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥

गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए अनुरूपा भिन्न गोत्रीया और पुरुष से अल्पवयस्का तथा पूर्व अविवाहित कन्या का पाणिग्रहण करे। भगवान् मनु ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। विस्तार के भय से यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं।

विवाह के आठ प्रकारों का निर्देश मनु ने किया है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमें चार प्रशस्त एवं परवर्ती चार अप्रशस्त माने गये हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह ब्रह्म तेज सम्पन्न एवं शिष्ट सम्मत आचरण युक्त होती है। ऐसी सन्तानें स्वस्थ शारीरिक, धनवान, यशस्वी होती हैं तथा अन्य विवाह के प्रकारों

से क्रूर मिथ्याभाषी, धर्म-वेद द्वेषी सन्तान उत्पन्न होती है। अनिन्दित स्त्री विवाह से अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्री विवाह से निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है अतः निन्दित विवाहों से बचना चाहिए।

गृहस्थों का परिवार एक राज्य की भांति है। जिस प्रकार राजा की योग्यता न्याय शक्ति एवं अनुशासन के राज्य में शान्ति तथा वैभव की वृद्धि होती है उसी प्रकार एक सद्गृहस्थ के कार्यों पर परिवार की शान्ति एवं वैभव की प्राप्ति निर्भर रहती है। अतः गृहस्थी को सद् आचरण एवं सहानुभूति पूर्ण अपनी नियमावली से अपने परिवार को सुखी बनाना चाहिए। परिवार रूपी यह छोटा सा राज्य समाज रूपी वृहद्राज्य के अन्तर्गत है अतः सामाजिक उन्नति वैभव एवं शान्ति के लिए पारिवारिक शान्ति एवं वैभव अपेक्षित है। गृहस्थी का परम धर्म यह है कि सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिए वह सामाजिक अनुशासन का पालन करे और उसकी अवज्ञा न करे और सामाजिक हित के लिए यथावसर अपने स्वार्थ का परित्याग भी करे। जाति और कुटुम्बी जनों को भी अपने साथ लेकर चलता हुआ उन्नति करे। एक गृहस्थी को समाज में समाज की उन्नति के लिए सदाचरण करने चाहिए तथा उसकी उन्नति में योगदान देना चाहिए क्योंकि गृहस्थाश्रम ही एक वह आश्रम है जिस पर सम्पूर्ण समाज व चारों आश्रमों के व्यक्तियों की जीविका के निर्वाह का भार होता है। गृहस्थी व्यक्ति से ही प्राचीन काल में ब्रह्मचारी भिक्षा व धन अध्ययनादि के लिए प्राप्त करते थे गृहस्थी पर ही उनके भोजन वस्त्र अध्ययनादि का भार था, और संन्यासी भी गृहस्थी व्यक्तियों के ऊपर ही भोजनाच्छादन के लिए निर्भर रहते थे क्योंकि ब्रह्मचारी वानप्रस्थी व संन्यासी धन से सर्वदा परे रहते थे। आशय यही है कि सम्पूर्ण समाज की धन भोजनादि की व्यवस्था का भार गृहस्थी पर था, यदि वही गृहस्थी मानसिक रूप में अस्वस्थ व दुश्चरित्र हो अथवा उसकी भावनाएँ ही विकृत हो तो उसके धन पर पलने वाले समाज के इन आश्रमवासियों पर प्रभाव अवश्यम्भावी है। कहा जाता है—जैसा खाये अन्न वैसा बने मन। अतः गृहस्थाश्रमी को पूर्ण मानवीय गुणों से अलंकृत होना चाहिए धार्मिक संस्कारों से पूर्ण होना चाहिए, ऐसा होने पर ही समाज की उन्नति सम्भव है।

शास्त्रज्ञ मनीषियों के अनुसार जीवन के लगभग पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहकर समाज का हित करने के उपरान्त शुद्ध प्रेम दया सहानुभूति करुणा एवं स्वार्थ त्यागादि गुणों से युक्त हो वानप्रस्थाश्रम में मनुष्य को प्रविष्ट होना चाहिए। किस समय व किन परिस्थितियों में वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए, इसका निर्देश करते हुए मनु जी ने लिखा है—

स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करके यथाविधि जितेन्द्रिय रहता हुआ वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हो। गृहस्थ जब देखे कि वृद्धावस्था के लक्षण दिखाई पड़ने लगे हैं और पुत्र का पुत्र हो गया है उस समय उसे वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा

ल लेनी चाहिए। ग्राम के आहार विहार एव परिच्छदादि का परित्याग कर स्त्री को पुत्र के पास रखकर अथवा स्त्री के साथ हो वन म चला जाय—

एव गृहाश्रम स्थित्वा विधिवत्स्नातकोद्विज ।
वन वस तुनियतो यथावद्विजितेन्द्रिय ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मन ।
अपत्यस्यैव चापत्य तदारण्य समाश्रयेत ॥
स त्यज्य ग्राम्यमाहार सवञ्चैव परिच्छदम ।
पुत्रपु भार्यां निक्षिप्य वन गच्छेत्सहैव वा ॥ मनु ६/१ ३

इस प्रकार एक गृहस्थी विषयभाग से निवृत्त होकर धर्माचरण पूवक योग साधन द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए वानप्रस्थाश्रम म प्रविष्ट होता था। वानप्रस्थाश्रम म रहता हुआ वह नि स्वाथ भाव स विभिन्न शास्त्रो का स्वाध्याय करता हुआ कुछ शिष्यो के साथ निवास करता था और उन्हे विद्यादान करता था। नि स्वाथ भाव स किया गया उसका यह काय सामाजिक अभ्युदय का कारण बनता था। आर्थिक समस्या के समाधान का जनक था। आन वाली पीढी के लिए समाज म स्थान रिक्त करता था। परिणामत बेकारी की समस्या शिक्षा की समस्या के हल के साथ सामाजिक स तुलन भी बना रहता था। यही नहीं एसे तत्त्वदर्शी वानप्रस्थियो ने उपनिषद तथा दशन जस ज्ञान का आविर्भाव किया था। इस प्रकार के स्वाथ त्यागी मनीषी जब तक भारतीय समाज म रहे सामाजिक व्यवस्था सुव्यवस्थित रही और समाज भी सुखी रहा। वानप्रस्थाश्रम व उसकी जीवनचर्या निवृत्ति माग का द्वार है। पूवजन्मार्जित कर्मो स नायन ही कोई म रास्ता बन सके यह आश्रम मानव को उस ओर उन्मुख करन म समथ है। वानप्रस्थाश्रम म सयत जीवन व्यतीत करने स उस व्यक्ति को क्या लाभ होता है इसका वणन करत हुए मुण्डकोपनिषद म लिखा है—

तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्त ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति
यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा। मुण्डक २/११

भिक्षावृत्ति का आश्रय करके जो विद्वान शान्त स्वभाव वानप्रस्थ अरण्य म निवास करत हुए तपस्या और श्रद्धा का सेवन करत है व पुण्यपाप स मुक्त होकर उत्तरायण पथ स अमर अव्यय पुरुष के लोक म अर्थात् ब्रह्मलोक म जाते हैं।

चारो आश्रमो म अन्तिम स यासाश्रम है जिनम प्रवेशाधिकार गुण कम स्वभाव के अनुसार केवल ब्राह्मण को था इस आश्रम म प्रविष्ट होते समय प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रतिज्ञा करनी पडती थी कि—आज मैंने पुत्र विषयक धन विषयक और यश विषयक कामनाओ का सवथा परित्याग कर दिया है, मरे से प्रत्येक व्यक्ति को अभय प्राप्त है—

पुत्रपणा वित्तपणा लोकपणा या परित्यक्ता मत्त सर्वेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा।

इस प्रकार के पवित्र सवजन हिताय व्रत को धारण कर विश्व की कल्याण कामना का लक्ष्य बनाकर देश देशा तरो म यहाँ के स यासी भ्रमण किया करत थे उपदश दिया करते थे शाति और अहिंसा के प्रचार के साथ भारतीय ज्ञान का दान किया करते थे और प्राप्त करते थे विश्व गुरु का पद। इन्हीं स यासियो को ही तो भारत का अग्रजन्मा कहा जाता था जिन्हें लक्ष्य कर मनु न लिखा था—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वस्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सवमानवा ।। मनुस्मृति २/१

यही ब्रह्मज्ञानी, शान्त, दान्त, जीवन के अनुभवो से अनाना प्रकार म निमग्न व्यक्तियो को ज्ञान दीप्ति से आलोकित किया करते थे। इसी प्रकार के व्यक्तियो को जिन्होंने अपने वानप्रस्थी जीवन मे सन्तुलन प्राप्त किया है सवस्व त्यागकर सन्यासाश्रम म प्रवेश का विधान मनु ने किया है—

वनपु तु विहृत्येव तृतीय भागमायुप
चतुथमायुपो भाग त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्
आश्रमादाश्रम गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रिय
भिक्षाबलि परिश्रान्त प्रव्रजन प्रेत्य वद्धते।। मनु० ६/३३

अर्थात् आयु का तृतीय भाग यथाविधि वानप्रस्थाश्रम म व्यतीत कर आयु क चतुथ भाग म नि सग होकर स यास ग्रहण करे। एक आश्रम स दूसरे आश्रम को ग्रहण करता हुआ अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जितेन्द्रियता के साथ जब भिक्षा बलि आदि कर्मों से श्रा त हो तब स यास ग्रहण करने स परलोक म उन्नति होती है। स यास का यह क्रमानुसार विधान है, जिसम मानव जीवन के समग्र विधि विधानो को पूण कर लिया जाता है। किन्तु एक दूसरा रूप भी है—जब ब्रह्मचय आश्रम स भी अपन सामर्थ्य के अनुरूप सन्यासाश्रम ग्रहण होता है।

स यासाश्रम निवृत्ति की पूर्ण चरितार्थता है। जिस व्रत का प्रारम्भ ब्रह्मचय आश्रम म हुआ था उसकी पूणता चतुथ आश्रम में होती है। यह आश्रम पूण निष्कामी व्यक्ति के लिए ही है। गीता म भी स यासी उसी को कहा है—जो कम फल की इच्छा न करके कत्तव्य कम करता है वही सन्यासी अथवा योगी है निरग्नि व अक्रिय होने से ही कोइ व्यक्ति स यासी नही होता है। काम्य-कर्मों का त्याग ही सन्यास है और सकल कर्मो का फल त्याग ही त्याग है। कम त्याग मात्र ही त्याग नही है—

अनाश्रित कम्मफल काय कम्म करोति य ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निन चाऽक्रिय ।।
काम्यानां कम्मणा न्यास सन्यास कवयो विदु ।
सवकमफल त्याग प्राहुस्त्याग विचक्षणा ।।

इसलिए निष्काम जगत्कल्याणकर काय सयासी का परम कत्त य है। सयासी निष्काम कम द्वारा अपनी सत्ता को विराट सत्ता से मिलाकर सच्चिदान द स्वरूप को प्राप्त करता है।

यह भारतीय प्राचीन आश्रम व्यवस्था थी, जिसने भारतीय सस्कृति को सदा स प्रभावित किया है, यहा के रहन सहन को प्रभावित किया है। यहा के भाव एव भावनाओ को प्रभावित किया है, समाज का स तुलन स्थापित करने के साथ ऐहिकामुष्मिक अभ्युदय भी प्रदान किया है।

उपसहार

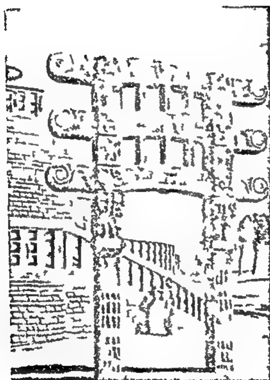
यह भारतीय सस्कृति का एक लेखा जोखा है। भारतीय सस्कृति प्राचीनतम एव महत्त्वपूण रही है और आज भी महत्त्वपूण है। शताब्दियो तक इस देश की सस्कृति ने एशिया के अधिकाश भाग पर आध्यात्मिक आलोक का प्रसार किया है, ज्ञान का प्रसार किया है और विश्व के देशो का नेतृत्व करते हुए मानवीय सस्कृति का विकास किया है। भारतीय ऋषि मुनियो ने एशिया को जो कुछ दिया, वह महान् था। भारत विश्व का शिक्षा गुरु रहा है। ईसा से पूव एक सहस्र वष स जब हिन्दू सस्कृति का सश्लेषण और समन्वय हो चुका था ईसवी सन् १००० के लगभग तक के सुदीघ युग म भारत सभ्य बनाने वाला देश था क्योंकि इस युग म भारत म सास्कृतिक एकीकरण हो रहा था और साथ ही साथ लका, ब्रह्मा, श्याम, कम्बोडिया, मलाया इण्डोनेशिया और मध्य एशिया के तुर्किस्तान तथा अफगानिस्तान के अधिकाश भाग म भारत की सस्कृति का विस्तार हो रहा था एव भारत की आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पक के कारण चीन, कोरिया और जापान का रूपान्तर हो रहा था।" यह इतिहास सिद्ध तथ्य है। भारत और भारत की सस्कृति इन राष्ट्रो म सभ्यता तथा ज्ञान का कवल आलोक-दीप प्रज्वलित करन वाला ही नही था अपितु भारतीय बौद्ध प्रचारको ब्राह्मणों और व्यापारियों न इन देशो की सस्कृति सभ्यता एव व्यापार को भी प्रभावित किया था परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञान ललित-कला, और शिल्प तथा उद्योग म भी इन राष्ट्रो ने भारत स प्रेरणा लेकर अपना सर्वांगीण अभ्युदय किया था। इन एशिया क राष्ट्रों क दनन्दिन व्यापारो, पूजा उपासना और सास्कृतिक विचारों म भारत की महान् देन का अनुसधान सहज ही किया जा सकता है

मा नो माता भारती भूविभासताम्"

परिशिष्ट

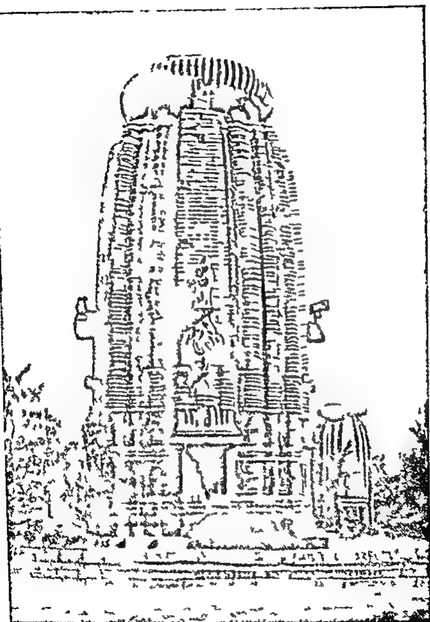
चित्रावली

चित्र सं०—१



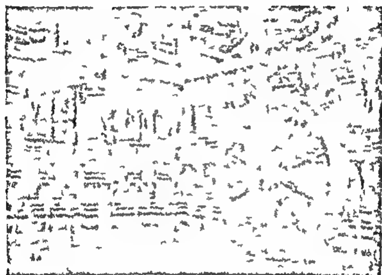
साची स्तूप का प्रवश द्वार
(शुङ्गकाल ई० पू० द्वितीय शतक)

चित्र सं०—८



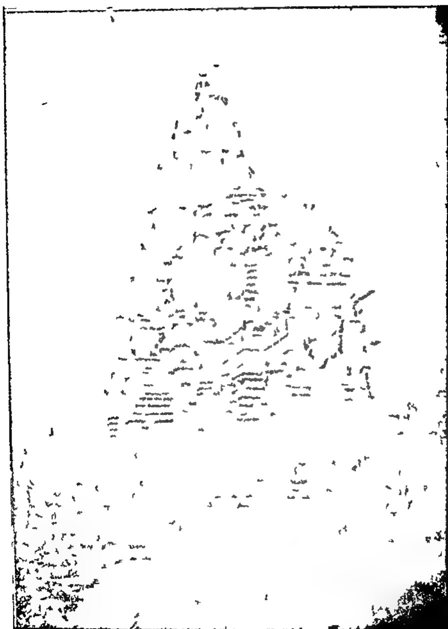
मुक्तेश्वर का मन्दिर (भुवनेश्वर)
(ई० ६५०)

चित्र सं०—५



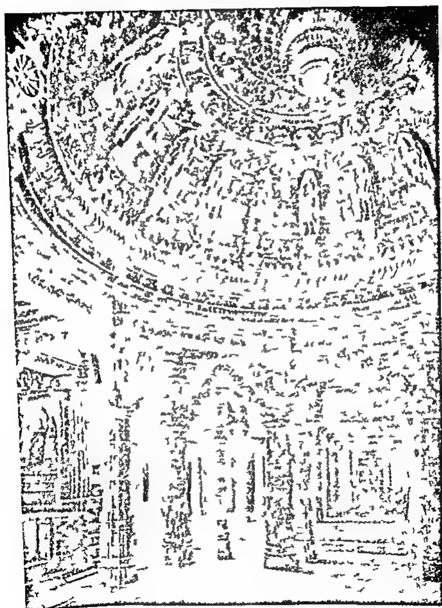
कोणार्क के सूर्य मंदिर का जगमोहन (उडीसा)
समय १३०० ई०

चित्र स०—६



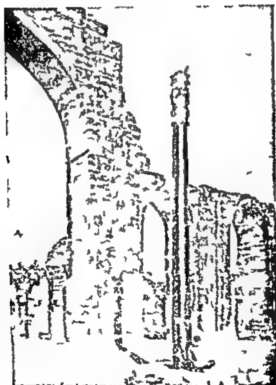
क दारयानाथ महादेव खजुराहो मन्दिर (बु देलखण्ड)
दशम शतक

चित्र सं०—७



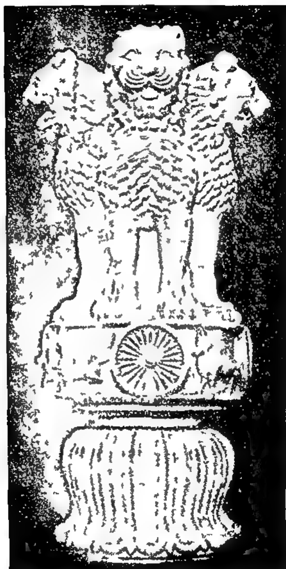
माउण्ट आबू स्थित दिलवाडा मन्दिर की भीतरी छत
(विमलशाह का मन्दिर १०३१ ई०)

चित्र सं०—८



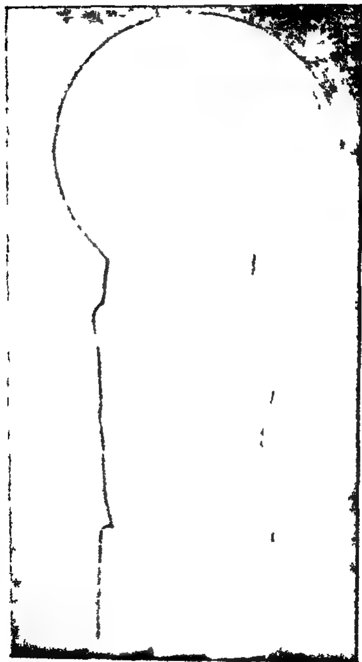
महरौली स्थित चन्द्रगुप्त का लौह स्तम्भ
(गुप्तकाल)

चित्र स०—९

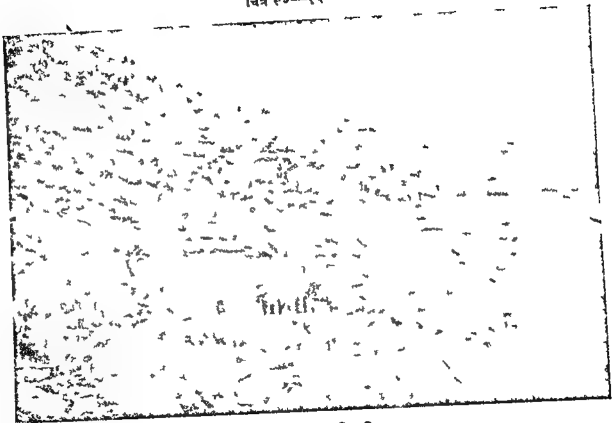


अशोक स्तम्भ चौमुखे सिंह वाला परगहा
(सारनाथ)

चित्र नं०—१२



चित्र ९७—१३



अजंता गुफा का समष्टि चित्र

चित्र सं०—१६



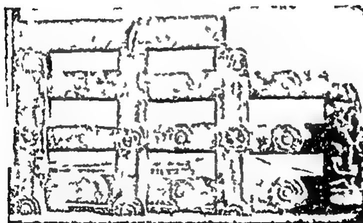
प्रसाधिका
(कुषाणकाल [illegible])

चित्र सं०—१७



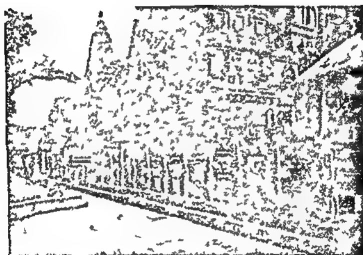
स्त्री मूर्ति ।मट्टी
(बुन दी बाग)

चित्र सं०—१८



बोधगया रेलिङ्गस

चित्र सं०—१९



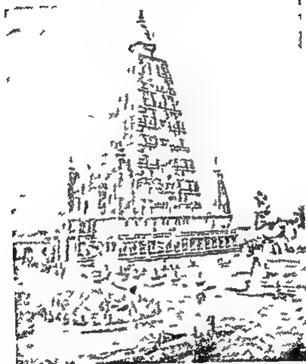
बोधगया मन्दिर रेलिंग

चित्र सं०—२०



मिथुन दम्पति (वाघगया)

चित्र स०—२१



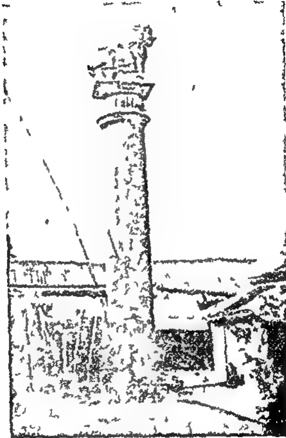
वोध गया मन्दिर

चित्र सं०—२२



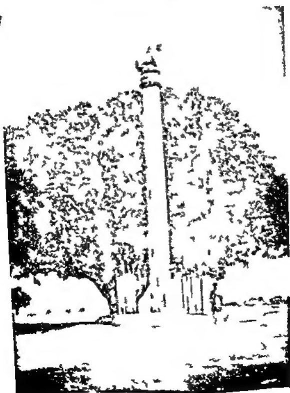
बुद्ध
(मुलतानगज)

चित्र सं०—२३



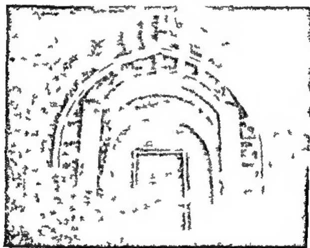
अशोक शिरा स्तम्भ
(लोरियान दनगढ़)

चित्र स०—२४



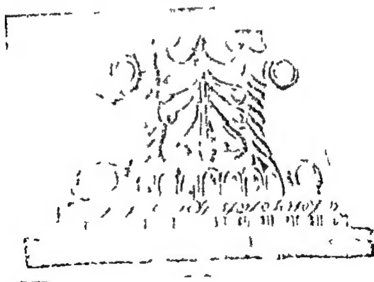
वसाढ की लाट

चित्र सं०—२५



लोमष ऋषि की गुफा

चित्र सं०—२६



स्तम्भ शिरा
उत्खनन कुम्हरार